गुरु रविदास और कबीरदास की वाणी का दार्शनिक – सामाजिक आधार: तुलनात्मक अध्ययन

GURU RAVIDAS AUR KABIRDAS KI VANI KA DARSHNIK–SAMAJIK ADHAR: TULANATMAK ADHYAYAN

पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ के भाषा संकाय के
अन्तर्गत पी-एच० डी० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

2007

शोधकर्त्री

हरप्रीत कौर

गुरु रविदास पीठ
पंजाब विश्वविद्यालय
चण्डीगढ़

आभार

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध परमवंदनीया, श्रद्धेया प्रो० श्रीमती संतोष कुमारी शर्मा के शुभाशीर्वाद से सम्पन्न हुआ है। उनकी सहज आत्मीयता, वात्सल्यपूर्ण व्यवहार तथा सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण ने शोध-कार्य में सर्वत्र मेरा मार्ग प्रशस्त किया है। सरल एवं सुकोमल निर्देशों के लिए मैं उनका अन्तः करण से आभार प्रकट करती हूँ । उन्होंने मेरी अज्ञानजनित त्रुटियों का परिमार्जन करके मुझे सदैव प्रोत्साहित किया है। अत्यधिक व्यस्त होते हुए भी अपने शिष्यों को समय देना, उनका पथ-प्रदर्शन करना एवं उनके हित के विषय में सोचना आपके व्यक्तित्व के अलंकरण हैं। यह मेरा सौभाग्य है कि आपके अधीन शोध-कार्य करने का अवसर मुझे प्राप्त हुआ है जो कि करूणा-वरूणालय परमात्मा की अपार कृपा से सम्भव हो पाया है तथा साथ ही मैं आदरणीय, सहृदय, शांत वृत्ति के व्यक्तित्व से धनी प्रो० लक्ष्मीनारायण शर्मा जी की बहुत आभारी हूँ जिन्होंने शोध-कार्य की अवधि में भरपूर प्रोत्साहन प्रदान किया। आपके अमूल्य सुझावों ने पग-पग पर मेरा मार्ग-दर्शन किया है।

मैं अपने गुरु परमसंत ठाकर सिंह जी महाराज के प्रति भी नतमस्तक हूँ जिनसे मैंने नाम दान लिया हुआ है और जिनकी अपार कृपा के फलस्वरूप यह शोध-कार्य सम्पन्न हुआ है। अपने माता-पिता तथा छोटे भाई करनजीत सिंह राजा के प्रति मैं कृतज्ञता प्रकट करती हूँ जो मेरी शोध-साधना में निरंतर प्रेरणा एवं प्रोत्साहन के स्रोत रहे हैं। उन सभी सहृदय व शुभाकांक्षी सज्जन मित्रों की भी मैं हार्दिक शुक्रगुज़ार हूँ, जिन्होंने शोध-कार्य की अवधि में न केवल मुझे प्रोत्साहित किया बल्कि पग-पग पर सहायता भी की।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में मैंने त्रुटियों को दूर करने का भरसक प्रयास किया है, फिर भी इसमें गुणों के साथ-साथ अनेक दोषों का पाया जाना सम्भव है। अतः उनके लिए मैं आशा करती हूँ कि सारस्वत मनीषी मुझ अकिंचन को क्षमासहित अनुगृहीत करेंगे।

Harpreet Kaur
31 May 2007

हरप्रीत कौर

अनुक्रमणिका

क्र० सं०			पृष्ठ सं०
1	प्रथमः अध्याय	**विषय स्थापन तथा प्रबन्ध समायोजन**	1 – 12
		1.1 प्रस्तावना	
		1.2 सम्बद्ध साहित्य का सर्वेक्षण	
		1.3 विषय सम्बन्धी मौलिकता	
		1.4 विषय परिसीमन	
		1.5 अध्यायों का क्रम और समायोजन	
2	द्वितीयः अध्याय	**भक्तिकाव्य तथा संतमत की पृष्ठभूमि**	13 – 120
		2.1 भक्ति के विकास का संक्षिप्त परिचय	
		2.11 वेदों में भक्ति	
		2.12 सूत्र-ग्रंथों में भक्ति	
		2.13 नारद पाञ्चरात्र में भक्ति	
		2.14 पुराणों में भक्ति	
		2.15 दक्षिण भारत में भक्ति	
		2.16 उत्तर भारत में भक्ति	
		2.2 हिन्दी साहित्य में भक्ति का उदय और विकास	
		2.3 भक्तिकालीनः साहित्य की सामान्य प्रवृत्तियाँ	
		2.31 गुरु का महत्त्व	
		2.32 नाम स्मरण तथा गुण कीर्तन	
		2.33 भक्ति की प्रधानता	
		2.34 लोकभाषा की प्रधानता	
		2.35 समन्वयात्मकता	
		2.36 एकेश्वरवाद और मुक्ति की प्रेरणा	
		2.37 अहंकार का त्याग	
		2.38 काव्योद्देश्य	
		2.39 नैतिकता	
		2.310 सांस्कृतिक दृष्टि	
		2.4 निर्गुण भक्तिकाव्य	
		2.41 निर्गुण शब्द का अर्थ और विकास	
		2.42 निर्गुण भक्तिकाव्य	
		2.421 निर्गुण भक्तिकाव्य का स्वरूप और सन्त	
		2.422 निर्गुण भक्तिकाव्य का स्वरूप और सूफी	
		2.423 निर्गुण भक्तिकाव्य का स्वरूप और रामकाव्य	
		2.424 निर्गुण भक्तिकाव्य का स्वरूप और कृष्णकाव्य	

2.5 भक्ति साहित्य : संत काव्य की भूमिका
2.51 भक्ति साहित्य
2.52 संत शब्द की व्युत्पत्ति तथा अर्थ
2.53 भारतीय साहित्य में संत शब्द का प्रयोग
2.54 विभिन्न विद्वानों की दृष्टि में 'संत' शब्द से अभिप्राय
2.55 रूढ़िगत 'संत' शब्द
2.56 संत काव्य की भूमिका
2.6 संत काव्य की सामान्य प्रवृत्तियाँ
2.61 निर्गुण ब्रह्म में विश्वास
2.62 ज्ञान महिमा
2.63 गुरु महिमा
2.64 भक्ति और ऐहिक कार्य में एकता
2.65 कथनी तथा करनी में एकरूपता
2.66 बहुदेववाद तथा अवतारवाद का विरोध
2.67 जाति-पाति और आडम्बरों का विरोध
2.68 माया से सावधानता
2.69 रहस्यवाद
2.610 मानवतावादी दृष्टि
2.7 संत मत के विभिन्न पक्ष
2.71 धार्मिक पक्ष
2.72 दार्शनिक पक्ष
2.73 साधनापरक पक्ष
2.74 सामाजिक पक्ष
2.8 संत काव्य पर विविध धर्मों एवं सम्प्रदायों का प्रभाव
2.81 वैदिक वाङ्मय और संत कवि
2.82 वैष्णव सम्प्रदाय और संत कवि
2.83 जैनधर्म और संत कवि
2.84 बौद्ध धर्म और संत कवि
2.85 सिद्ध सम्प्रदाय और संत कवि
2.86 नाथपंथ और संत कवि
2.87 महाराष्ट्रीय संत सम्प्रदाय
2.88 इस्लाम धर्म और संत कवि
2.9 संत काव्य की परम्परा और विकास
2.10 निष्कर्ष

3 **तृतीयः अध्याय** गुरु रविदास का जीवन, व्यक्तित्व तथा वाणी की विशेषताएँ 121 – 246
3.1 गुरु रविदास का जीवन चरित
3.11 सामान्य परिचय
3.12 गुरु रविदास के विभिन्न नाम

3.13 गुरु रविदास जीवन चरित
3.131 जन्म संवत्
3.132 जन्म - स्थान
3.133 जाति
3.134 माता - पिता तथा परिवार
3.135 बाल्यावस्था और शिक्षा
3.136 दीक्षा - गुरु
3.137 व्यवसाय
3.138 परमात्मा से साक्षात्कार
3.139 महाप्रस्थान
3.2 गुरु रविदास - व्यक्तित्व
3.21 सामान्य परिचय
3.22 रविदास व्यक्तित्व
3.221 सरल जीवन
3.222 विनम्र स्वभाव
3.223 सेवा
3.224 समद्रष्टा
3.225 सदन
3.226 पांडित्य
3.227 संगीतज्ञ
3.228 सर्व - जन - श्रद्धेय - भक्त
3.229 महान् विचारक
3.2210आदर्श मानववादी
3.3 गुरु रविदास वाणी का प्रतिपाद्य
3.31 सामान्य परिचय
3.32 गुरु रविदास - वाणी
3.33 गुरु रविदास वाणी का प्रतिपाद्य
3.331 मानव समानता
3.332 निष्काम कर्म भावना
3.333 श्रम साधना
3.334 संतोष और त्याग
3.335 पंच विकार
3.336 चार वर्णों की सुस्पष्ट व्याख्या
3.337 अहिंसा एवं शाकाहार
3.338 स्वराज्य
3.339 वचन - पालन
3.3310 स्वाधीनता
3.3311 वासनाओं का त्याग

3.3312 लोकमंगल की भावना
3.4 गुरु रविदास की भक्ति भावना
3.41 मध्यकाल की संत विचारधारा में भक्ति का सामान्य परिचय
3.42 गुरु रविदास जी की भक्ति भावना
3.43 गुरु रविदास जी के अनुसार भक्ति की महत्ता
3.5 मध्ययुगीन वैष्णव मत का रविदास पर प्रभाव
3.51 वैष्णव मत का सामान्य परिचय
3.52 मध्ययुगीन वैष्णव संस्कृति की विशेषता
3.521 प्राचीनता
3.522 संघर्षमूलकता
3.523 समन्वयात्मकता
3.524 सामाजिक प्रगतिशीलता
3.525 आध्यात्मिकता
3.526 वर्णव्यवस्था
3.527 राष्ट्रीयता
3.53 वैष्णव भक्ति का प्रभाव
3.54 गुरु रविदास पर वैष्णव मत का प्रभाव
3.6 गुरु रविदास की रहस्यानुभूति
3.61 सूफी तथा संतों के रहस्यवाद का सामान्य परिचय
3.62 रविदास की रहस्यानुभूति
3.621 भावनात्मक रहस्यवाद
3.622 यौगिक अथवा साधनात्मक रहस्यवाद
3.623 दाम्पत्य रूपक
3.7 गुरु रविदास का धार्मिक चिन्तन
3.71 सन्तों का व्यापक धर्म और उसका रूप
3.72 गुरु रविदास का धार्मिक चिन्तन
3.8 भारतीय संस्कृति के प्रेरक संत गुरु रविदास
3.81 संत काव्य में लोक संस्कृति
3.82 गुरु रविदास की सांस्कृतिक चेतना
3.9 निष्कर्ष

4 चतुर्थः अध्याय कबीरदास : जीवन व्यक्तित्व, रचना संसार और विचार 247 – 352
4.1 कबीरदास का जीवन-परिचय
4.11 अन्तर्साक्ष्य तथा बाह्यर्साक्ष्य
4.12 जीवन-वृत्त विवेचन
4.121 समय, जन्म-तिथि तथा जन्म-स्थान
4.122 माता-पिता व जाति

4.123 नाम
4.124 गुरु तथा विद्याध्ययन
4.125 पारिवारिक जीवन और व्यवसाय
4.126 मृत्यु - तिथि तथा स्थान
4.127 अन्तिम संस्कार

4.2 कबीर व्यक्तित्व विश्लेषण
4.21 व्यक्तित्व का आधार और विशेषताएँ
4.211 सत्यान्वेषी और श्रमजीवी
4.212 बुद्धिवादी और उच्चकोटि के संत
4.213 अक्खड़, फक्कड़ एवं मस्तमौला
4.214 अखण्ड आत्मविश्वास
4.215 प्रेम के पक्षधर और जनहितवादी
4.216 क्रांतिधर्मी

4.3 कबीर की भक्ति भावना
4.31 सामान्य परिचय
4.311 भक्ति का केन्द्रीय भाव
4.312 भक्ति आलम्बन: परम तत्त्व
4.313 भक्ति की दुस्साध्यता
4.314 भक्ति का लक्ष्य
4.315 अनन्यता
4.316 निष्कामता
4.32 भक्ति के प्रेरक तत्त्व
4.321 भगवद् कृपा
4.322 गुरु सेवा
4.323 जगत् की अनित्यता
4.324 भक्तिरस और माधुर्य
4.325 सत्संगति
4.33 भक्ति की विशिष्टता
4.331 भाव - भक्ति
4.332 प्रेमलक्षणा - भक्ति
4.333 योग मिश्रित - भक्ति
4.334 नारदी भक्ति
4.335 नवधा भक्ति

4.4 कबीर की योग साधना
4.41 सामान्य परिचय
4.411 हठयोग
4.412 शब्द - सुरति - योग

4.413 सहजयोग
4.414 भक्तियोग
4.415 सिद्धावस्था
4.5 कबीर का रहस्यवाद
4.51 सामान्य परिचय
4.52 रहस्यवाद की आस्थाएँ तथा परिस्थितियाँ
4.53 रहस्यवाद के भेद
4.531 भावात्मक रहस्यवाद
4.532 साधानात्मक रहस्यवाद
4.533 रहस्यवाद की पारिभाषिक शब्दावली
4.534 अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद
4.54 रहस्यवाद की विशेषता
4.6 कबीरदास की उलटवासियाँ
4.61 सामान्य परिचय
4.62 उलटवासियों के प्रकार
4.621 प्रकृति आधारित उलटवासियाँ
4.622 शैली आधारित उलटवासियाँ
4.623 विषयाधारित उलटवासियाँ
4.624 प्रयोजनाधारित उलटवासियाँ
4.625 रचना की दृष्टि से
4.7 कबीरदास के धर्म सम्बन्धी विचार
4.71 सामान्य परिचय
4.72 धर्म सम्बन्धी विचार
4.721 धर्म ग्रन्थ
4.722 तीर्थ सेवन आदि सम्बन्धी भावना
4.723 कर्म - ज्ञान - भक्ति
4.724 प्रेम और एकता
4.725 सतगुरु
4.726 योगसाधना
4.727 आराधना
4.728 'राम' नाम
4.729 समरसता
4.7210 स्वानुभूति
4.8 निष्कर्ष

5 पंचमः अध्याय गुरु रविदास और कबीरदास की दार्शनिक विचारधारा 353 – 454

5.1 दर्शन शब्द का अर्थ एवं भारतीय दर्शन का संक्षिप्त परिचय
5.11 दर्शन का सामान्य परिचय

5.12 विभिन्न विद्वानों का दर्शन सम्बन्धित मत
5.13 भारतीय दर्शन
5.14 भारतीय दर्शन के विकास में वेद तथा उपनिषद् की महत्ता
5.2 सन्त साहित्य की दार्शनिक विचारधारा
5.3 गुरु रविदास और कबीरदास की वाणी के दार्शनिक विचार
5.31 सामान्य परिचय
5.32 गुरु रविदास और कबीरदास के ब्रह्म सम्बन्धी विचार
5.321 गुरु रविदास के ब्रह्म सम्बन्धी विचार
5.3211 ब्रह्म का अव्यक्त रूप
5.3212 ब्रह्म का व्यक्त रूप
5.3213 रविदास जी के राम
5.322 कबीरदास के ब्रह्म सम्बन्धी विचार
5.3221 ब्रह्म का अव्यक्त रूप
5.3222 ब्रह्म का व्यक्त रूप
5.3223 कबीरदास जी के राम
5.33 गुरु रविदास और कबीरदास के जीवात्मा सम्बन्धी विचार
5.331 गुरु रविदास के जीवात्मा सम्बन्धी विचार
5.3311 अद्वैतभाव
5.3312 द्वैतभाव
5.3313 जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध
5.3314 ज्योति, मन, आनन्द रूपों में वर्णन
5.3315 मनुष्य
5.3316 कर्म-बन्धन
5.332 कबीरदास के जीवात्मा सम्बन्धी विचार
5.3321 अद्वैतभाव
5.3322 द्वैतभाव
5.3323 जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध
5.3324 विविध रूपकों द्वारा जीवात्मा-वर्णन
5.3325 जीव और ब्रह्म का तादात्म्य
5.34 गुरु रविदास और कबीरदास के जगत् सम्बन्धी विचार
5.341 गुरु रविदास के जगत् सम्बन्धी विचार
5.3411 सैद्धान्तिक रूप
5.3412 व्यावहारिक रूप
5.342 कबीरदास के जगत् सम्बन्धी विचार
5.3421 सृष्टि-सम्बन्धी जिज्ञासा
5.3422 जगत् सत्ता का स्वरूप

5.3423 सृष्टि - विकास
5.3424 सृष्टि रचना में कारण - कार्य - सम्बन्ध
5.35 गुरु रविदास और कबीरदास के माया सम्बन्धी विचार
5.351 गुरु रविदास के माया सम्बन्धी विचार
5.3511 माया का विधेयात्मक रूप
5.3512 माया का निषेधात्मक रूप
5.352 कबीरदास के माया सम्बन्धी विचार
5.3521 माया - तत्त्व
5.3522 माया का स्वरूप और स्वभाव
5.3523 माया के विविध नाम
5.3524 माया का स्थान और विस्तार
5.3525 माया और मायापति
5.3526 माया के भेद
5.3527 माया का निवारण
5.36 गुरु रविदास और कबीरदास के गुरु सम्बन्धी विचार
5.361 गुरु रविदास के गुरु सम्बन्धी विचार
5.3611 गुरु - ज्ञान - ज्योति प्रदाता है
5.3612 गुरु की महत्ता
5.3613 गुरु भाग्य से प्राप्त होता है
5.3614 भवसागर से पार लगाता है
5.3615 हरि, गुरु एवं साधु में समानता
5.3616 माधव सतगुरु है
5.362 कबीरदास के गुरु सम्बन्धी विचार
5.3621 गुरु - ज्ञान का मार्ग है
5.3622 गुरु हितैषी है
5.3623 गुरु की महिमा
5.3624 सत्गुरु सच्चा शूरवीर है
5.3625 अज्ञानी गुरु की निन्दा
5.3626 भवसागर से पार लगाता है
5.3627 गुरु गोविंद समान
5.3628 गुरु - शिष्य समान
5.3629 गुरु गोविंद से बड़ा
5.36210 ईश्वर और विवेक गुरु
5.37 निष्कर्ष

6 षष्ठः अध्याय **गुरु रविदास और कबीरदास की वाणी का सामाजिक आधार** 455 – 516

6.1 मध्यकाल का सामान्य परिचय

6.2 गुरु रविदास और कबीरदास के समाज का सामान्य चित्रण

6.21 समाज की स्थिति

6.22 हिन्दू – मुस्लिम में राम – रहीम का झगड़ा

6.23 विकारग्रस्त समाज

6.24 अकर्मण्यता और आर्थिक असमानता

6.3 गुरु रविदास और कबीरदास के सामाजिक विचार

6.31 गुरु रविदास और कबीरदास के जाति तथा वर्ण व्यवस्था सम्बन्धी विचार

6.311 गुरु रविदास के जाति तथा वर्ण व्यवस्था सम्बन्धी विचार

6.3111 जातिवाद के विरोधी

6.3112 चार वर्ण सम्बन्धी विचार

6.3113 परब्रह्म – स्रोत

6.3114 ऊंच – नीच का विरोध

6.3115 कर्म सम्बन्धी विचार

6.312 कबीरदास के जाति तथा वर्ण व्यवस्था सम्बन्धी विचार

6.3121 जातिवाद के विरोधी

6.3122 वर्णाश्रम व्यवस्था सम्बन्धी विचार

6.3123 सबका स्रोतः परब्रह्म

6.3124 ऊंच – नीच का विरोध

6.3125 कर्म सम्बन्धी विचार

6.32 गुरु रविदास और कबीरदास के धर्म – संप्रदाय सम्बन्धी विचार

6.321 गुरु रविदास के धर्म – संप्रदाय सम्बन्धी विचार

6.3211 ईश्वर नाम

6.3212 हिन्दू – मुसलमान

6.3213 मन्दिर – मस्जिद तथा मुल्ला – पंडित

6.3214 माला, तिलक, तीर्थ, व्रत, मूर्तिपूजा

6.3215 योगी सम्बन्धी विचार

6.3216 काबा कासी समान

6.322 कबीरदास के धर्म – संप्रदाय सम्बन्धी विचार

6.3221 ईश्वर नाम

6.3222 हिन्दू - मुसलमान
6.3223 मन्दिर - मस्जिद तथा मुल्ला - पंडित
6.3224 माला, तिलक तीर्थ, व्रत, मूर्तिपूजा
6.3225 योगी सम्बन्धी विचार
6.3226 वैष्णव, शाक्त सम्बन्धी विचार
6.3227 काबा कासी समान
6.33 गुरु रविदास और कबीरदास के धन सम्बन्धी विचार
6.331 गुरु रविदास के धन सम्बन्धी विचार
6.3311 धन त्याग में सुख
6.3312 सत धर्म
6.3313 समानता
6.332 कबीरदास के धन सम्बन्धी विचार
6.3321 निर्धन की स्थिति
6.3322 धनी - निर्धन की स्थिति में अन्तर
6.3323 भाग्य
6.3324 धन अभिमान व्यर्थ
6.3325 धन संचय व्यर्थ
6.3326 धन की कामना
6.34 गुरु रविदास और कबीरदास का नारी सम्बन्धी दृष्टिकोण
6.341 गुरु रविदास के नारी सम्बन्धी विचार
6.3411 निन्दनीय रूप
6.34111 पर - स्त्री गमन की निंदा
6.34112 नारी निंदा
6.3412 सुस्त्री रूप
6.34121 पति - पत्नी प्रेम
6.34122 पति - पत्नी सम्बन्ध
6.34123 सती रूप
6.342 कबीरदास के नारी सम्बन्धी विचार
6.3421 निन्दनीय रूप
6.34211 पर - स्त्री गमन की निंदा
6.34212 नारी निंदा
6.34213कनक और कामिनी रूप
6.34214 माया रूप
6.34215 नर - नारी
6.3422 पूजनीय रूप
6.34221 जगत् जननी
6.34222 माता रूप
6.34223 सती रूप
6.34224 पतिव्रता

6.35 गुरु रविदास और कबीरदास के मानवतावाद सम्बन्धी विचार
6.351 गुरु रविदास के मानवतावाद सम्बन्धी विचार
6.3511 सत्य
6.3512 अहिंसा और प्रेम
6.3513 अहंकार का त्याग तथा दया भाव
6.352 कबीरदास के मानवतावाद सम्बन्धी विचार
6.3521 सत्य
6.3522 अहिंसा और प्रेम
6.3523 अहंकार का त्याग तथा दया भाव
6.4 निष्कर्ष

7 **सप्तमः अध्याय** **उपसंहारः शोध का सार** 517 – 532

परिशिष्ट 533 – 550

सहायक ग्रन्थ सूची

पत्र – पत्रिकाएँ

प्रथमः अध्याय

विषय स्थापन तथा प्रबन्ध समायोजन

1.1 प्रस्तावना

वाणी का साधारण अर्थ-मुँह से निकलने वाले सार्थक शब्द या वचन है। वाणी, अन्तः शक्ति का उद्‌गार है। वाणी अन्तर्भावना को प्रसारित करती है, सत्यासत्य निर्णय करने की स्वतन्त्रता प्रदान करती है। किसी की निन्दा नहीं करती, किसी का मज़ाक नहीं उड़ाती और भूले भटके को आश्रय प्रदान कर उसे निर्भय बना देती है। वाणी सन्तों के आन्तरिक सत्य का अकाट्य प्रमाण कही जा सकती है। वाणी में सन्त-साधक का अन्तर्मुखी अनुभव निहित रहता है। वाणी में अनुभव का गुरुत्व होने के कारण वह अधिक सांस्कृतिक, अधिक वैश्विक और अधिक आन्तरिक प्रकाश से सम्पन्न होती है।

वाणी को सँचयित बनाए रखने का मध्यकालीन विधान, वाणी को प्रायः कंठस्थ करके सुरक्षित बनाए रखने का था। भक्तिकाल के महान् प्रचारक तथा सुधारक निर्गुनिए संतों की वाणी हमारे साहित्य की एक अमूल्य निधि, और हमारी संस्कृति की एक अनुपम थाती है। यद्यपि निर्गुणिया संत निरक्षर थे। अतः उनके विचारों का आधार शास्त्रज्ञान नहीं था, परन्तु उनका ज्ञान उनकी अनुभूति का प्रतिफल था। अनुभूति के आधार पर स्थित संतों का ज्ञान इतना सत्य था कि उसका खंडन नहीं किया जा सकता। संतों ने अपने विचार सुबोध वाणी में अभिव्यक्त किए। इनके मुखार बिन्द से निकले शब्दों ने समाज को सच्चा बल प्रदान किया।

गुरु रविदास और कबीरदास जी भारत के महान् सन्त गुरुओं में ऐसे व्यक्तित्व से सुशोभित थे जिन्होंने स्वयं अपना नेतृत्त्व और निर्माण किया था। वह द्रष्टा थे, स्रष्टा थे, युग प्रवर्त्तक थे। आप जिस काल में, अवतरित हुए थे उसकी ऐतिहासिक और राजनीतिक पृष्ठभूमि मुसलमानों के आगमन से प्रारम्भ होती है। संतों के समय में सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक क्रान्तियाँ अपने चरम शिखर पर थीं। ब्राह्मणों ने इस धार्मिक संघर्ष से बचने के लिए धर्म के नियमों को अत्यंत कड़ा कर दिया था। इस संकुचन से कर्मकांड और बाह्याडंबर को लगातार प्रोत्साहन मिल रहा था। धर्म और मर्यादा के नाम पर चारों और उत्पीड़न और शोषण का साम्राज्य था। उस समय में कर्मकाण्डी भेषाचारी सम्प्रदाय भी बहुत से पैदा हो चुके थे, जिस कारण इनमें से असल-नकल की पहचान करनी अत्यावश्यक हो गई थी। यह समय अशांति, संघर्ष, निराशा और आपसी भेदभाव का रहा। विदेशी आक्रमणकारी शक्तियों ने इससे सब कुछ छीन लिया था। सत्ता पर मुसलमानों के अधिकार से हिन्दुओं की दशा हीन हो गयी थी। वह अपनी रक्षा करने में असमर्थ थे। आत्मग्लानि के साथ अपनी आँखों के सम्मुख अपनी मान-मर्यादा को उजड़ते और लूटते देख कर भी वह कुछ नहीं कर पा रहे थे। हिन्दू धर्म जहाँ अपने विभिन्न धार्मिक और दार्शनिक संप्रदायों के संघर्ष और उनके कुपरिणामों से तो त्रस्त था ही, वहीं उसे इस्लाम जैसे कट्टरपंथी विदेशी धर्म से भी टक्कर लेनी पड़ी।

समाज और धर्म में अनेक बुराईयाँ घर कर चुकी थीं। समाज की वर्ण-व्यवस्था ने ही समाज को खोखला कर दिया। ऐसे विकट समय में जनता को किसी सच्चे और निष्ठावान दर्शक की तलाश थी जो उन्हें उनका स्वत्व प्रदान करे, उन्हें उनका खोया हुआ मान-सम्मान लौटा सके, इन सभी कुचक्रों से बाहर निकाल कर

सत्य-मार्ग की ओर प्रवृत्त कर सके। ऐसी राजनीतिक विशृंखलता, धार्मिक अनास्था, सामाजिक अव्यवस्था, आर्थिक दरिद्रता के युग में गुरु रविदास और कबीरदास जैसे लोक-नायक महात्माओं ने जन्म लिया जो आम जनता से उदय हुये थे। इन जन नायक सन्तों ने अपने संघर्षमय जीवन द्वारा सोये हुए भारत को जगाया और सामाजिक संकीर्णता एवं साम्प्रदायिकता की दलदल से बाहर निकाल कर समाज को स्वच्छ एवं स्वस्थ बनाकर आशा की नई किरण भरी। अपनी वाणी द्वारा सामाजिक विषमताओं का घोर विरोध करके जीर्णशीर्ण पद-दलित एवं शोषित समाज को परिस्थितियों से जूझना सिखाकर नवजीवन का पाठ पढ़ाया।

1.2 सम्बद्ध साहित्य का सर्वेक्षण

1. **डॉ० रामजीलाल 'सहायक': कबीर-दर्शन, हिन्दी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, 1962**

प्रस्तुत ग्रन्थ में लेखक ने भारतीय चिंतनधारा के अनुरूप कबीर के दार्शनिक विचारों की विवेचना की है। कबीर के दार्शनिक सिद्धान्तों को 'कबीर-दर्शन' की संज्ञा दी गयी है। कबीर का संक्षिप्त परिचय, दार्शनिक पृष्ठभूमि, दार्शनिक सिद्धान्त, मोक्ष आदि का विवेचन तथा साधना-पक्ष में ज्ञान-मनोविज्ञान, योग-साधना, भक्ति साधना, निष्काम कर्मयोग आदि का वर्णन है।

2. **त्रिलोकी नारायण दीक्षित: हिन्दी सन्त साहित्य, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1963**

प्रस्तुत पुस्तक में सन्त-मत या सन्त-दर्शन का विवेचन करके काव्य-कला की दृष्टि से सन्तों के साहित्य का विवेचन किया गया है।

3. **डॉ० सावित्री शुक्लः सन्त–साहित्य की सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, विश्वविद्यालय हिन्दी प्रकाशन, लखनऊ विश्वविद्यालय, 1963**

प्रस्तुत पुस्तक में संत-काव्य के उद्‌गम के कारण एवं भक्ति सम्प्रदाय का विकास, सामाजिक परिस्थितियाँ एवं संतों का योगदान के साथ धार्मिक परिस्थितियाँ एवं दर्शन का वर्णन किया गया है।

4. **डॉक्टर केशनीप्रसाद चौरसियाः मध्यकालीन हिन्दी सन्त विचार और साधना, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, 1965**

प्रस्तुत ग्रन्थ में सन्त साहित्य की विशिष्ट विचारधारा जो प्रायः बिखरी हुई प्राप्त होती है लेखक ने उसका विधिवत् संयोजन करते हुए वैज्ञानिक ढंग से विकासोन्मुखी सरणियाँ बनाकर उनकी वस्तुगत एकरूपता प्रस्तुत की है। इस दृष्टि से यह ग्रन्थ विशेष महत्त्वपूर्ण है।

5. **आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ादः रविदास दर्शन, श्री गुरु रविदास संस्थान, चण्डीगढ़, 1973**

प्रस्तुत पुस्तक 'रविदास दर्शन' रविदास जी की साखियों (दोहों) का संकलन है। भक्ति का विकास, गुरु रविदास जी का संक्षिप्त परिचय, वाणी, विचारधारा, भक्ति साधना सम्बन्धी भी जानकारी दी गई है।

6. **आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ादः गुरु रविदास नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, नयी दिल्ली, 1975**

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने रामानंद का भक्ति-आंदोलन और रविदास जी का जीवन, वाणी की विशेषताएं एवं विचारधारा, भक्ति भावना तथा भक्ति साधना, रविदास जी की समाज को देन आदि का परिचय दिया है।

7. **डॉ० पदम गुरचरन सिंहः संत रविदास विचारक और कवि, नव-चिन्तन प्रकाशन, जालन्धर, 1977**

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने रविदास जी का जीवन-चरित, युगीन-परिवेश, वैचारिक प्रेरणाएं, चिन्तन धारा वाणी-सौष्ठव से सम्बन्धित तथ्यों की ओर ध्यान प्रकट किया है।

8. **डॉ० भोलानाथ तिवारीः कबीर जीवन और दर्शन, साहित्य भवन, इलाहाबाद, 1978**

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने कबीर की जीवनी तथा विचारधारा संबंधी अधुनातन खोजों को बड़ी सुलझी हुई शैली में प्रस्तुत किया है। इसमें कबीर जी के दार्शनिक, धार्मिक, आचारिक और सामाजिक विचारों के साथ-साथ योगदर्शन, काव्यत्त्व, भाषा-शैली आदि सम्बन्धी जानकारी उपलब्ध होती है।

9. **यज्ञदत्त शर्माः कबीर साहित्य और सिद्धान्त, अक्षरम्, सोनीपत (हरियाणा), 1990**

प्रस्तुत ग्रन्थ में कवि के जीवन सम्बन्धी घटनाओं, उनकी समकालीन वैचारिक, धार्मिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों और साहित्यिक मान्यताओं का विवेचन प्रस्तुत किया है।

10. **डॉ० रामसजन पाण्डेयः सन्तों की सांस्कृतिक संसृति, उपकार प्रकाशन, दिल्ली, 1995**

प्रस्तुत पुस्तक में सन्त-कवियों के कृतित्त्व को अवधान में रखकर और सामान्य रूप से सम्पूर्ण निर्गुण काव्य को सजग मन से भावित करके इस कृति में संतों की सांस्कृतिक संसृति को शब्दांकित करने की चेष्टा की गयी है।

11. **डॉ० रामचन्द्र तिवारी: कबीर मीमांसा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1999**

प्रस्तुत कृति संत कवि कबीर के जीवन एवं कृतित्व के संतुलित एवं आग्रह-मुक्त मूल्यांकन का एक विनम्र प्रयास है। इसमें कबीर युगीन समाज और संस्कृति, जीवन-वृत्त, भक्ति, रहस्यवाद, दार्शनिक विचार, समाज-दर्शन आदि की जानकारी उपलब्ध होती है।

12. **डॉ० रमेश मेहरा : भक्त रविदास, कुनाल पब्लिकेशन, दिल्ली, 2001**

प्रस्तुत पुस्तक में भक्त रविदास जी का जीवन परिचय व उनकी वाणी की संक्षिप्त विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है। इसमें रविदास के भक्त, कर्मयोगी, समाज सुधारक रूपों का भी वर्णन है। उनकी दार्शनिकता, रविदास की वाणी की प्रासंगिकता, उनके पद एवं साखियाँ भी संकलित हैं।

13. **डॉ० महीप सिंह: आदिग्रन्थ में संगृहीत सन्त कवि, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, 2003**

प्रस्तुत पुस्तक में आदिग्रन्थ के सम्पादन की पृष्ठभूमि, आन्तरिक संरचना, वैचारिक पृष्ठभूमि के साथ-साथ भारत में भक्ति-आन्दोलन का उदय, आदिग्रन्थ में संगृहीत सन्त कवियों की रचनाओं का विश्लेषण एवं उनकी समान अवधारणाओं का वर्णन है।

14. **सं० मीरा गौतम: गुरु रविदास: वाणी एवं महत्त्व, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003**

प्रस्तुत पुस्तक को अनेक विद्वानों और विशेषज्ञों के आलेखों से संवारा गया है। जिसमें रविदास जी से सम्बन्धित अनेक विषयों को उजागर किया गया है। इसमें

आपकी वाणी, श्रम-दर्शन, धार्मिक चेतना, मानवीय-दृष्टि, काव्य-चेतना, भक्ति-तत्त्व, अनुभूति तथा अभिव्यंजना-पक्ष आदि पर विचार प्रकट किये गये हैं।

15. **सं० प्रो० (श्रीमती) सन्तोष कुमारी शर्माः** **सौम्य सन्त गुरु रविदास, पब्लिकेशन ब्यूरो, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़, 2004**

प्रस्तुत पुस्तक में रविदास जी के दर्शन एवं उनकी वाणी को ले कर अनेक विद्वानों के लेख संकलित है। इसमें रविदास जी का अभिव्यंजना शिल्प, सांस्कृतिक चेतना और युग बोध, दार्शनिक चिंतन का व्यावहारिक पक्ष, लोकमंगल, सामाजिक चेतना, उनकी वाणी की युग युगीनता आदि पर विचार किया गया है।

16. **मन्जु त्रिपाठीः** **कबीर एवं उनके समसामयिक निर्गुण-संतों की भक्ति पद्धति, नमन प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005**

प्रस्तुत पुस्तक में कबीर और उनके समकालीन हिन्दी संतों का व्यवस्थित, गंभीर एवं तात्विक अनुशीलन करके इनकी वाणी में निहित एकता, समता, सहजता तथा मानवीयता के उदात्त मूल्यों को पहचाना, परखा और उजागर किया है।

1.3 विषय सम्बन्धी मौलिकता

मध्ययुग को भारतीय संस्कृति की जीवनी शक्ति का परीक्षा-काल कहा जाता है । मध्ययुग के इतिहास को किसी ने ''अंधायुग'' अथवा ''काला युग'' कहा तो किसी ने ''सामन्तवादियों'' और ''रूढ़िवादियों'' का युग कहा। फिर भी, हिन्दी साहित्य के इतिहास के चारों कालों में इस काल की अपनी विशेषता है। जहाँ अनेक संतों और भक्तों का आगमन हुआ जिन्होंने भारतीय समाज को अंधकार से निकाल

कर रोशनी की ओर जाने का नया मार्ग दिखाया। मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य आध्यात्मिक समृद्धि से सम्पत्र होने के कारण साहित्य के इतिहासकारों ने इसे 'स्वर्णयुग' कहा है और इतिहास के विषय का वर्गीकरण करते हुए इस युग को 'भक्तिकाल' की संज्ञा दी है। भक्तिकालीन हिन्दी साहित्य सगुण और निर्गुण-अध्यात्म की इन दो धाराओं में प्रवाहित हुआ है। जहाँ सगुण भक्ति में 'राम' और 'कृष्ण' इन दो शाखाओं का विकास हुआ। वहीं निर्गुण भक्ति में 'सूफी' और 'सन्त' शाखा का परिचलन हुआ। समूचे भक्तिकाल में निर्गुणधारा की सन्त शाखा का अपना महत्व है इसमें वे सन्त आये जिन्होंने निम्न जाति में जन्म लेकर भी अपनी वाणी एवं विचारों से जन सामान्य को शांत किया और रूढ़ि, आडम्बर, अंधविश्वासों आदि को समाप्त किया। गुरु रविदास और कबीरदास जी का नाम संत साहित्य में बड़े आदर से लिया जाता है। शोध कार्य के लिए जब प्रारंभिक अध्ययन तथा विचार विमर्श के पश्चात् यह विषय सामने आया तो यह मेरी रुचि के सर्वथा अनुकूल लगा।

मैंने इन दोनों संतों की वाणी के दार्शनिक- सामाजिक आधार के तुलनात्मक अध्ययन को चुना। इन दोनों संतों में बहुत सी समानताएं पाई जाती हैं । परन्तु अपनी बात को कहने का ढंग दोनों का बिल्कुल भिन्न है। गुरु रविदास और कबीरदास दोनों ही महासागर हैं। अन्तर केवल इतना है कि कबीर-महासागर में लगातार ज्वार-भाटा आता रहता है जबकि रविदास-महासागर शान्त, स्निग्ध, धीर और गंभीर है। आज तक गुरु रविदास और कबीरदास जी पर काफी कुछ लिखा जा चुका है परन्तु उनकी वाणी का दार्शनिक-सामाजिक आधार का तुलनात्मक अध्ययन नहीं हुआ। इस दृष्टि से यह विषय काफी नवीन एवं रोचक है। अत: विषय ''गुरु रविदास और कबीरदास

की वाणी का दार्शनिक- सामाजिक आधार: तुलनात्मक अध्ययन'' सर्वथा मेरी रुचि के अनुकूल तथा महत्वपूर्ण होने के साथ- साथ अत्यन्त मौलिक है जिसमें इन महान् संतों पर शोध कार्य करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है।

1.4 विषय परिसीमन

प्रत्येक शोध प्रबन्ध का परिसीमन उसके मूल्यांकन एवं तलस्पर्शी अध्ययन की दृष्टि से अनिवार्य है जिससे उसे एक निश्चित दिशा मिलती है। शोधार्थी के लिए यह आवश्यक है कि शोध का कार्य करते समय वह अपना एक निश्चित लक्ष्य निर्धारित कर ले ताकि उसे इधर-उधर भटकना न पड़े। विषय विशाल होने से निश्चित निष्कर्ष में पहुँचने में बाधा हो सकती है परिसीमन द्वारा विवेचन- आवृत्ति से भी बचते हैं और विषय को वैज्ञानिकता भी मिलती है। इन्हीं बातों को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत शोध के विषय ''गुरु रविदास और कबीरदास की वाणी का दार्शनिक- सामाजिक आधार: तुलनात्मक अध्ययन'' को मैंने चुना। जो कि परिसीमित है तथा यही हमारे शोध कार्य की सीमा-रेखा निर्धारित कर उसे एक निश्चित दिशा भी प्रदान करता है।

1.5 अध्यायों का क्रम और समायोजन

शोध प्रबन्ध को अध्ययन की सुविधा के लिए सात अध्यायों में विभाजित किया गया है।

प्रथम अध्याय 'विषय स्थापन तथा प्रबन्ध समायोजन' के अन्तर्गत विषय सम्बन्धी प्रस्तावना तथा सम्बद्ध साहित्य का सर्वेक्षण किया गया है । इसके अन्तर्गत उन महत्वपूर्ण ग्रन्थों पर संक्षिप्त विचार किया गया है जो विवेच्य विषय से संबधित

हैं। साथ ही विषय की मौलिकता पर विचार प्रकट करते हुए उसके परिसीमन पर भी प्रकाश डाला गया है।

द्वितीय अध्याय 'भक्तिकाव्य तथा संतमत की पृष्ठभूमि' में भक्ति के बीज का वेदों में वर्तमान होना तथा भक्ति के विकास का वर्णन किया गया है। इसमें भक्ति की निर्गुणधारा की संत शाखा पर विशेष ध्यान दिया गया है । भक्तिकाल में जो प्रवृत्तियाँ उजागर हुई उसका वर्णन भी यहाँ किया गया है। सन्तों पर विभिन्न सम्प्रदायों एवं धर्मो का प्रभाव तथा सन्त काव्य की परम्परा का विकास आदि पर विचार किया गया है।

तृतीय अध्याय ' गुरु रविदास का जीवन, व्यक्तित्व तथा वाणी की विशेषताएँ' के अन्तर्गत रविदास जी के जीवन चरित सम्बन्धी जानकारी, उनके व्यक्तित्व तथा वाणी की विशेषताओं का वर्णन किया गया है। रविदास जी की भक्ति, उन पर वैष्णव मत का प्रभाव, रहस्यानुभूति, उनका धार्मिक चिन्तन आदि पर विचार प्रकट किये गये हैं। रविदास जी के द्वारा भारतीय संस्कृति को जो रूप प्राप्त हुआ इस अध्याय की विशेषता है।

चतुर्थ अध्याय 'कबीरदास: जीवन व्यक्तित्व, रचना संसार और विचार' के अन्तर्गत कबीर का जीवन परिचय, व्यक्तित्व विश्लेषण, उनकी भक्ति सम्बन्धी परिचय दिया गया है। कबीर जी का रहस्यवाद, उसकी परिस्थितियाँ, भेद तथा विशेषता का वर्णन किया गया है । कबीर जी की उलटवासियों के अन्तर्गत उसके प्रकारों पर विचार प्रकट किये गये हैं। कबीर जी के धर्म सम्बन्धी विचारों में उनका सहज धर्म जो कि सब प्रकार से सात्विक, सरल, सहज, भावात्मक और बौद्धिक है का वर्णन किया गया है।

पंचम अध्याय 'गुरु रविदास और कबीरदास की दार्शनिक विचारधारा' में भारतीय दर्शन की संक्षिप्त जानकारी प्रस्तुत की गई है । भारतीय दर्शन का मूल मन्त्र आत्मा को जानने की ओर रहा है । भारतीय चिंतन का केंद्रबिन्दु आत्मा है इसीलिए हमारे यहाँ आत्मज्ञान पर इतना बल दिया गया है। गुरु रविदास और कबीरदास का लक्ष्य दार्शनिक मत-विशेष का प्रचार-प्रसार नहीं था। ये उन्हीं सिद्धान्तों को मानते थे जो सत्य की कसौटी पर खरे उतरते थे। इनकी दार्शनिक विचारधारा किसी शास्त्र पर आधारित न होकर आत्मानुभूति पर आधारित है। इनके दार्शनिक विचारों में बहुत कम अंतर है, क्योंकि दोनों ही संत निर्गुणधारा के थे और उनकी मान्यताएँ एक सी थीं। इस अध्याय में दोनों संतों के ब्रह्म, जीव, जगत्, माया, गुरु पर विचार प्रकट किये गये हैं।

षष्ठ अध्याय ' गुरु रविदास और कबीरदास की वाणी का सामाजिक आधार' में मध्यकाल का सामान्य परिचय, रविदास और कबीरदास के समाज का सामान्य चित्रण के बारे में बताया गया है। रविदास और कबीरदास के सामाजिक विचार लगभग एक जैसे हैं। दोनों ही सामाजिक साम्य के प्रबल पक्षधर हैं। दोनों में सामाजिक विषमता के प्रति तीव्र रोषभाव है। किन्तु इस रोष को प्रकट करने की शैली में दोनों में पर्याप्त अन्तर है। कबीर उग्र स्वभाव वाले थे जो सामाजिक भेदभाव के विरुद्ध बुलन्द आवाज़ में बोलते थे जबकि रविदास सामाजिक दुर्बलताओं के प्रति सादगीपूर्ण असंतोष व्यक्त करते हुए विनम्र ढंग से अपना मत व्यक्त करते थे। प्रस्तुत अध्याय में दोनों संतों के जाति तथा वर्ण व्यवस्था, धर्म-सम्प्रदाय, धन, नारी मानवतावाद के प्रति विचारों को प्रकट किया गया है।

सातवें अध्याय में उपसंहार के अन्तर्गत शोध का सार एवं निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है।

द्वितीयः अध्याय

भक्तिकाव्य तथा संतमत की पृष्ठभूमि

2.1 भक्ति के विकास का संक्षिप्त परिचय

भारतीय धर्म-साधना के इतिहास में भक्ति-मार्ग का विशिष्ट स्थान है। भक्ति की विकसित धारणा के मूल में एक विस्तृत इतिहास भी है, जो हमें पौराणिक युग से पूर्व वैदिक-युग और उससे भी पूर्व वैदिक-काल की उपासना-पद्धति से अवगत कराता है।

वैदिक भक्ति-परम्परा के समानान्तर दक्षिण भारत में द्रविड़-संस्कृतिगर्भित पृथक् भक्ति-परम्परा का सूत्रपात हो चुका था। यह परम्परा ईसा-पूर्व कई शताब्दियों से चली आ रही थी। इसमें उपास्य की कल्पना स्त्री रूप में ही की जाती थी, वेद के पुरूष रूप की भांति नहीं। इसके अन्तर्गत 'पूजा' को भक्ति का मुख्य साधन माना गया। तत्कालीन पूजा विधान की प्रेरणा बौद्धिक या हार्दिक न होकर बाह्य अथवा भय प्रेरित थी।

वैदिक-युग का असभ्य समाज भय एवं आतंक से देव-पूजन करता कि कहीं उनका कुछ अनिष्ट न हो सके। वह सर्वप्रथम प्राकृतिक शक्तियों के प्रति अपनी श्रद्धा समर्पित करता और कल्याण की कामना करता था। प्राकृतिक वस्तुओं अथवा घटनाओं के मूल में किसी देवता की कल्पना करना और उसको प्रसन्न रखने के लिए यज्ञादि का आयोजन करता था। विनय अथवा प्रार्थना, बाह्य विधानों का अनुसरण कर लोग अपना अभ्युदय मनाते थे। उनका ध्यान ऐहिक सुखों की प्राप्ति पर केन्द्रित था और अन्तःकरण की अपेक्षा बाह्य विधानों में प्रवृत्त रहते थे।

शुभाशुभ परिणामों में विश्वास होने के कारण उनके यज्ञादि कर्मकाण्ड श्रद्धा से अनुप्राणित थे। श्रद्धाविहीन यज्ञ का कोई अर्थ न था। शनैःशनै हृदय पक्ष का भी संयोग हुआ और देव प्रार्थनाओं में बाह्य विधानों के अतिरिक्त प्रेम-भावना का भी संचार होने लगा। ''मननशीलता और भावुकता का ही प्रतीक उषा स्तुति आदि की गई और भगवान की पुरूष रूप में भावना ऋग्वेद के पुरूष सूक्त-द्वारा व्यक्त की गई और इस प्रकार नारायण रूप में उपासना प्रारम्भ हो गई।''[1]

2.11 वेदों में भक्ति

वेद शब्द का अर्थ

''वेद'' शब्द की निष्पत्ति संस्कृत भाषा की 'विद्' धातु से होती है, जिसका मुख्य अर्थ है--ज्ञान।''[2] आर्यों के विशेष धार्मिक साहित्य को ''वेद'' नाम दिया जाता है। इस नाम के अन्तर्गत 'ऋग्वेद', 'सामवेद', 'यजुर्वेद' और 'अथर्ववेद' इन चार वेदों को ग्रहण किया जाता है। ''स्वामी दयानन्द ने वेद का अर्थ इस प्रकार दिया है- ''*विदन्ति जानन्ति विद्यन्ते भवन्ति विन्दन्ति सर्वा विद्या* यैर्येषु वा स वेदः''। अर्थात् जिनके द्वारा हम सभी विद्याओं को जानते हैं और जिनमें सभी विद्यायें निहित हैं, वे वेद हैं।''[3] ''वेदों को आम्नाय, आगम और श्रुति भी कहा जाता है। सभी शास्त्रों का मूल होने से इनको आम्नाय और आगम कहा गया है एवं सुनकर अध्ययन करने तथा स्मरण रखने की परम्परा होने के कारण इनको श्रुति कहा गया।''[4]

महत्त्व

वेदों का महत्त्व केवल भारत में ही नहीं अपितु विश्व के विद्वानों, विचारकों और समालोचकों ने भी स्वीकार किया है। ये मानव जाति के प्राचीनतम साहित्य को

---

1 डॉ० विद्या मिश्र-वाल्मीकि रामायण एवं राम-चरित-मानस का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० 2
2 डॉ० कृष्णकुमार-वैदिक साहित्य का इतिहास, पृ० 5
3 डॉ० कृष्णकुमार-वैदिक साहित्य का इतिहास, पृ० 6
4 डॉ० कृष्णकुमार-वैदिक साहित्य का इतिहास, पृ० 6

प्रस्तुत करते हैं। आर्यों की सभ्यता और साहित्य का आरम्भ वेदों के आविर्भाव से हुआ। भारतीय धर्म, भाषा, साहित्य, सभ्यता, संस्कृति और कला इन सभी के विकास और उन्नति में वेदों का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण योग है। वेद केवल आध्यात्मिक ज्ञान के स्रोत ही नहीं अपितु मौलिक ज्ञान के भण्डार हैं। इन सभी का मूल आधार वेद ही हैं।

वेदों के रचयिता

भारतीय परम्परा ने वेदों को ज्ञान का परम पवित्र कोश माना और विमलज्ञान होने के कारण वेदमन्त्रों के रचयिताओं को ऋषि का नाम दिया गया। ''यास्क ने ऋषि शब्द का अर्थ लिखा है-''ऋषयो मन्त्रद्रष्टार:''। अर्थात् मन्त्रों के अर्थों को देखने वाले, समझने वाले और उसके मार्ग को उद्घाटित करने वाले ऋषि हैं।''[1] डॉ० गणेशदत्त शर्मा के अनुसार- ''विमलज्ञान के आकर होने के कारण ही सम्भवत: वेदमन्त्रों के रचयिताओं को ऋषि कहा गया है। किन्तु स्वयं ऋग्वेद में मन्त्रों द्वारा देवताओं की उपासना करने वालों को ऋषि के अतिरिक्त कवि, मेधावी तथा विप्र आदि विशेषण प्रदान किये गये हैं।''[2] वेदों जैसा विलक्षण ज्ञान उत्तम बुद्धि का ही परिणाम हो सकता है, वेदमन्त्रों को प्रस्तुत करनेवालों के लिए ऋषि, कवि, विप्र तथा मेधावी नाम सार्थक ही है।

ऋग्वेद में भक्ति के बीज

''वेदमन्त्रों के संग्रह का नाम संहिता है। संहिताएँ चार हैं-ऋक्संहिता, यजु: संहिता, सामसंहिता तथा अथर्वसंहिता।''[3] संहिताओं के अतिरिक्त ब्राह्मण ग्रन्थ,

---

1 डॉ० कृष्णकुमार-वैदिक साहित्य का इतिहास, पृ० 5

2 डॉ० गणेशदत्त शर्मा- ऋग्वेद में दार्शनिक तत्त्व, पृ० 4

3 डॉ० गणेशदत्त शर्मा- ऋग्वेद में दार्शनिक तत्त्व, पृ० 4

आरण्यक, उपनिषद् एवं वेदांग, वैदिक साहित्य की परिधि में आते हैं। वैदिक संहिताओं में ऋग्वेद सबसे प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण है। इसे हम भारतीय संस्कृति, धर्म एवं दर्शन का मूलस्रोत कह सकते हैं। ''ऋग्वेद के नाम से इसके विषय का आभास मिल जाता है। ऋक् शब्द का अर्थ है- जिससे स्तुति की जाये। अत: स्तुतिपरक मन्त्रों का समुदाय-ही ऋग्वेद-संहिता है।''[1] ऋग्वेद सूक्तों में श्रद्धा एवं भक्ति द्वारा देवताओं का स्तवन किया गया है। ऋग्वेद में सोम, वरूण, गाय की स्तुति, यज्ञविधान, दार्शनिक विषय, जीव की गति तथा पुनर्जन्म, सुसंस्कृत नारी का स्वरूप, दान का महत्त्व तथा चातुर्वर्ण्यव्यवस्था का उल्लेख मिलता है। ''डॉ० वेणीप्रसाद के शब्दों में ऋग्वेद में मनुष्य और देवताओं का जैसा सम्बन्ध है वैसा आगे के हिन्दू साहित्य में नहीं।- - - - भारतीय भक्ति-सम्प्रदाय का आदिस्रोत ऋग्वेद है। यहाँ कुछ मन्त्रों में आदमी और देवता के बीच में गाढ़े प्रेम और मित्रता की कल्पना की गई है।''[2] ऋग्वेद में अग्नि, सूर्य, उषा, इन्द्र, वरुण, पृथ्वी आदि देवताओं की स्तुति व उनका मानवीकरण किया गया तथा उनसे सुख-समृद्धि एवं वैभव की प्रार्थना की।

वेदों में भक्ति भावना

सामान्यत: यही धारणा प्रचलित है कि वेद आध्यात्मिक ज्ञान के स्रोत हैं और इनमें ईश्वर की प्राप्ति, मोक्ष, पारलौकिक सुख आदि का ही वर्णन है। उनमें भक्ति का विवरण नहीं मिलता परन्तु, ऐसा नहीं है। वेदों में भक्ति के बीज विद्यमान है। डॉ० सुमन शर्मा के अनुसार ''वास्तव में वेद ही भक्ति के आदि ग्रन्थ हैं। वेदों में वर्णित भक्त भगवान् के प्रति पूर्णरूप से आत्मसमर्पित होता है।''[3] वेदों में भी अनेक स्थानों पर भक्ति की महत्ता बतायी गयी है। ''वेद जैसे कर्म तथा ज्ञान का उदय-स्थल है वैसे ही वह भक्ति का भी उद्गम-स्थान है।''[4]

---

1 डॉ० गणेशदत्त शर्मा- ऋग्वेद में दार्शनिक तत्त्व, पृ० 6

2 दुर्गाशंकर मिश्र-भक्ति-काव्य के मूल स्रोत, पृ० 17

3 डॉ० सुमन शर्मा-मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलन का सामाजिक विवेचन, पृ० 4

4 डॉ० सुमन शर्मा-मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलन का सामाजिक विवेचन में उद्धृत, पृ० 4

संहिताओं में कर्मों की विविधता प्रमुखत: वर्णित है और इसमें उल्लिखित विविध स्तुतियाँ संहिताओं को भक्ति का उद्‌गम-स्थल प्रमाणित कर देती हैं। इन प्रार्थनाओं में अनुरागात्मिका भावना दर्शनीय है। संहिता में भक्त की भावना एवं भगवान् की भक्त- वत्सलता के अतिरिक्त भगवान् का स्वरूप भी वर्णित है। 'ब्राह्मण' का शब्द व्युत्पत्ति है जो ब्रह्म (वेद) से सम्बन्ध है वह ब्राह्मण कहलाता है। वेदों की प्रत्येक ऋचा, प्रत्येक प्रार्थना मंत्र, प्रत्येक वस्तु जो देवताओं को समर्पित होती है, ब्राह्मण है। ब्राह्मण साहित्य में धर्म के अन्तर्गत यज्ञ की प्रधानता पर बल दिया गया और इसे यज्ञ प्रधान युग स्वीकार किया गया। यज्ञ और कर्मकाण्ड का ही बोलबाला था। यज्ञ इन्द्रादि देवों के निमित्त किये गये। 'ब्राह्मणों' में विष्णु 'सोम' के प्रतिनिधि कहे गये और रूद्र अग्नि के प्रतिनिधि माने गये।

आरण्यक ग्रन्थ धार्मिक एवं दार्शनिक हैं जिनका सम्बन्ध वन से विशेष है। अरण्य में जो व्याख्यान एवं अध्ययन हुआ उनका नाम अरण्यक हो गया । इनका अनुशीलन वान प्रस्थी लोग किया करते थे। इनमें याज्ञिक क्रियाएँ एवं वानप्रस्थियों के कर्त्तव्य वर्णित है। इस समय योग का प्रचार हुआ। आन्तरिक साधना पर विशेष ध्यान आकर्षित हुआ। साधक भक्ति की और स्वत: आकृष्ट हुये। उपनिषद्‌ों ने ब्राह्मणकाल की याज्ञिक प्रमुखता और कर्मकाण्ड की महत्ता का खण्डन किया और ज्ञानतत्त्व की प्रतिष्ठा की ।

उपनिषद् ज्ञान, भक्ति, कर्म समन्वित है। ''भक्ति का सर्वप्रथम उल्लेख 'श्वेताश्वेतर उपनिषद्' (6133) में मिलता है।''[1] उपनिषद् काल में उपासना का स्वरूप विस्तृत होता गया। ''उपनिषद् में प्रत्येक वस्तु का तात्विक विवेचन किया

---

1 डॉ० नगेन्द्र-हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 88

गया है। परन्तु इसके साथ ही साथ उपनिषद् में उपासना का महत्त्व, उपास्य का स्वरूप तथा उपासक के लक्षणों का भी विस्तृत उल्लेख मिलता है।''[1]

ब्रह्म के साकार रूप में विष्णु का रूप उपास्य माना गया और यह धारणा की गई कि वह पालक और रक्षक है। भावना और ज्ञान दोनों का समन्वीकरण होने लगा। स्वार्थमूलक प्रवृत्तियों के स्थान पर सात्विक प्रवृत्तियों का उदय हुआ। बुद्धि-योग और भावयोग का स्वर्ण सुगंध संयोग हुआ। ब्रह्म के सगुण और निर्गुण दोनों स्वरूपों के साथ भक्ति का सिद्धान्त मान्य हुआ। कर्म और उपासना के समन्वय पर भक्ति आधारित हुई। लोक कल्याण कामना, अहिंसात्मक प्रवृत्ति, सर्ववाद जैसी भावना का प्रवर्त्तन हुआ। मनुष्य का मन ईश्वर की ओर आकर्षित हुआ। यही भक्ति का मूल-तत्त्व हुआ, जिसमें स्वत: प्रेम हो जाना और यही भगवद्भक्ति का मूल रूप कहलाया।

2.12 सूत्र-ग्रंथों में भक्ति

भक्ति के सैद्धांतिक स्वरूप का विकास सूत्र-ग्रंथों में हुआ। 'सूत्र-ग्रंथों' में सूत्रात्मक शैली के द्वारा व्यापक विषयों का समाहार किया गया। विविध विषयों के व्यावहारिक रूप को 'सूत्र' रूप में स्मरण रखना सुलभ हो गया और विविध विधानों का विवरण दिया गया। जिसमें स्पष्टत: 'वैधी' भक्ति का स्वरूप है। इस प्रकार ये 'सूत्र' ग्रन्थ अप्रत्यक्ष रूपेण भक्ति के ही पृष्ठभूमि-विधायक हैं।

2.13 नारद पाञ्चरात्र में भक्ति

पाञ्चरात्र संहिताओं का निर्माण गुप्त-वंश में हुआ। भगवान् के भक्तों को भागवत कहा जाने के कारण यह धर्म भागवत् धर्म या पाञ्चरात्र मत कहलाया। सात्वत नरेशों ने इसका विशेष प्रचार किया। जिस कारण यह सात्वत मत भी कहलाता

---

1 डॉ० विद्या मिश्र-वाल्मीकि रामायण एवं राग-चरित-मानस का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० 5

है। इनका समय महाभारत काल माना जाता है। पाञ्चरात्र की शब्द व्युत्पत्ति है, पाञ्चरात्र । 'रात्र' का अर्थ ज्ञान है। इनमें पाँच विषयों परमतत्त्व, भुक्ति, मुक्ति, योग तथा विषय (संसार) का निरूपण किया गया है इसलिये इनका नाम पाञ्चरात्र है।

नारद-भक्ति-सूत्र' भारतीय साहित्य-परम्परा का एक ऐसा ग्रन्थ है, जिसमें पहली बार भक्ति के स्वरूप का सांगोपांग विवेचन किया गया है तथा जिसका प्रतिपाद्य एक मात्र भक्ति है। शांडिल्य-भक्ति-सूत्र रचना-काल की दृष्टि से इससे भी पूर्व ठहरता है, पर उसमें विवेचन सम्बन्धी स्पष्टता नहीं । नारद भक्ति-सूत्र के अनुसार भक्ति का उपलब्धकर्त्ता इच्छा रहित, शोक रहित, द्वेष रहित होकर निर्विकार हो जाता है इतना ही नहीं वह 'आत्माराम' भी हो जाता है। नारद ने भक्ति को कर्म एवं ज्ञान से श्रेष्ठतर घोषित किया है। ज्ञान भक्ति का साधन हो सकता है किन्तु भक्ति स्वयं साध्य है। भक्ति को पाकर मनुष्य सिद्ध, अमर और तृप्त हो जाता है।

2.14 पुराणों में भक्ति

''सनातन धर्म के सुदृढ़ स्तम्भ, भक्ति भावना के अमूल्य मणि-रत्न इन पुराणों का भक्ति के विकास में प्रमुखतम स्थान है। जिस परम तत्त्व को वेदों ने गूढ़ रक्खा, इन पुराणों ने उसी को सौंदर्य-शिरोमणि रूप में प्रेम वश रूप प्रदान कर दिया।''[1] ''पुराणों को पंचम वेद कहा जाता है। पुराणों में भी भक्ति के महत्त्व का वर्णन किया गया है।''[2] इन 18 पुराणों में से अधिकांश पुराण वैष्णव धर्म से सम्बन्धित है। इन सभी पुराणों में श्रीमद्भागवत् की महिमा अवर्णनीय है। यह सभी दृष्टियों में सर्वश्रेष्ठ और भक्ति-शास्त्र है। भगवान के स्वरूप का विस्तृत विवेचन भागवत् में मिलता है। भगवान के त्रिगुणात्मक रूप (सत्, रज, तम धारी) विष्णु,

---

1 डॉ० विद्या मिश्र-वाल्मीकि रामायण एवं राम-चरित-मानस का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० 11

2 डॉ० सुमन शर्मा-मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलन का सामाजिक विवेचन, पृ० 6

ब्रह्मा, महेश की व्याख्या की है। इस ग्रन्थ में भगवान के विविध अवतारों एवं प्रमुख शक्तियों का भी उल्लेख किया गया है।

भागवत्-पुराण के पश्चात् 'विष्णु-पुराण' की गणना की जाती है। विष्णु-पुराण में परब्रह्म का दूसरा नाम 'भगवान' भी कहा गया है। उनकी प्राप्ति का उपाय स्वांध्याय तथा योग बताया गया है। 'रामानुज-सम्प्रदाय' में इस पुराण का विशेष महत्त्व माना जाता है। इसमें आध्यात्मिक तत्त्वों की विस्तृत विवेचना की गई है। पौराणिक युग में 'विष्णु' की महत्ता विशेष रूप से स्थापित हुई। विष्णु-पुराण, नारदीय, गरूड़, पद्म, ब्रह्म, वैवर्त, भागवत-पुराणादि इसका निदर्शन है। ''वेदान्त में वर्णित 'अपरोक्षानुभूति' ही पुराणों में प्रेमलक्षणा भक्ति एवं पराभक्ति के नाम से विकसित हुई । वैधी भक्ति की अपेक्षाकृत रागानुगा भक्ति का पूर्ण रूपेण विकास हुआ। बहिरंग की अपेक्षा अन्तरंग भाव तरंगित हो उठा।''[1]

2.15 दक्षिण भारत में भक्ति

आलवार सन्तों में भक्ति

वैदिक भक्ति को सुधार कर उसका सरल रूप भक्तों के समक्ष प्रस्तुत करने का श्रेय तमिलनाडु के आलवार सन्तों को जाता है। ''दक्षिण-भारत में वैष्णव-आचार्यों को 'आलवार' कहा गया। यह एक तमिल भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है-भगवत्-भक्ति में लीन व्यक्ति।''[2] विद्वानों ने आलवार भक्तों की संख्या 12 मानी है। ये समकालीन नहीं थे उनके आविर्भाव का काल लगभग छः सौ वर्षों तक व्याप्त रहा। ''तमिल में छठी से नवीं शताब्दी तक जिस साहित्य का निर्माण हुआ वह पूर्णरूप से भक्ति साहित्य है। यह काल तमिल-साहित्य के इतिहास में भक्ति-काल के नाम से प्रसिद्ध है।''[3] ''इन आलवारों में दो-एक को छोड़कर प्रायः सभी निम्न

---

1 डॉ० विद्या मिश्र-वाल्मीकि रामायण एवं राम-चरित-मानस का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० 14

2 डॉ० सुमन शर्मा-मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलन का सामाजिक विवेचन, पृ० 9

3 डॉ० सुमन शर्मा-मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलन का सामाजिक विवेचन, पृ० 9

समझी जानेवाली जातियों में उत्पन्न हुए थे। इनका कोई साम्प्रदायिक क्रम नहीं था, किन्तु इनकी आध्यात्मिक मनोवृत्ति प्रायः एक-सी थी।''[1] ये भक्त अधिक विद्वान न थे, पर ये उच्चकोटि के साधक थे। इनका रहन-सहन सीधा-सादा था तथा ये अपनी नम्रता, सरलता के लिए विख्यात थे। इनके तमिल भाषा में रचे हुए बहुत-से गीत हैं। इनका लिखित संकलन नवीं शताब्दी में नाथमुनि ने किया था। आलवारों की रचनाओं का संग्रह 'दिव्य-प्रबन्धम्' कहलाता है। इस ग्रन्थ को 'तमिल वेद' भी कहा जाता है। उसमें 4000 गीत संग्रहीत हैं। आलवार-भक्तों ने भक्ति-मार्ग को सर्वश्रेष्ठ बताया और नाम-स्मरण को महत्त्व दिया। इन्होंने जाति-पाति तथा ऊंच-नीच का भेद मिटाकर सबके लिए भक्ति का मार्ग खोल दिया। आलवार ब्रह्म के सच्चे प्रेमी थे। इन्होंने अपने युग में भक्तिमय धार्मिक वातावरण की सृष्टि की।

वैष्णव आचार्यों में भक्ति

आलवारों के पश्चात् दक्षिण भारत में वैष्णव धर्म का प्रचार करने वाले भक्त 'आचार्य' के नाम से प्रसिद्ध हुए । इन आचार्यों ने वेदों एवं आलवार सन्तों के भक्ति-ग्रन्थों का गम्भीर अध्ययन कर, दोनों का समन्वय कर भक्ति को शास्त्रीय पद प्रदान किया । यही कारण है कि इन्हें उभय वेदान्ती भी कहा गया। आचार्य वेदान्त के प्रकाण्ड पण्डित थे। इनमें बुद्धि-पक्ष की प्रधानता थी। रंगनाथ मुनि को आदि आचार्य कहा जाता है। आप शठकोपाचार्य की शिष्य-परम्परा में थे। आपके द्वारा प्रवर्तित मत 'विशिष्टाद्वैतवाद' कहलाया। आपकी शिष्य-परम्परा में आलवार एवं वैदिक ग्रन्थों का प्रचार एवं प्रसार हुआ। आपने तमिल भक्ति-काव्यों के पुनरूद्धार के साथ-साथ वैष्णव-मत के प्रचार का कार्य सम्पन्न किया। नाथमुनि द्वारा अंकुरित वैष्णव-सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को पूर्ण रूप से विकसित करने का श्रेय श्री रामानुज को ही है। अपने ग्रंथ श्री-भाष्य में आपने विशिष्टाद्वैत का समर्थन कर बौद्धों की अनीश्वरवादिता एवं शंकराचार्य के अद्वैतवाद का खण्डन किया। मध्वाचार्य

---

1 डॉ० महीप सिंह-आदिग्रन्थ में संगृहीत सन्त कवि, पृ० 31

ने अपना मत महाराष्ट्र प्रान्त के दक्षिणी भाग में चलाया जो माध्यम-मत, भेदवादी, द्वैतवादी या ब्रह्म-सम्प्रदाय कहलाया। श्रीमद्भागवत को अपने मत का विशिष्ट आधार मानते हुए शंकराचार्य के अद्वैत और रामानुज के विशिष्टाद्वैत का खण्डन करते हुए मध्वाचार्य ने ईश्वर, जीव और प्रकृति के पाँच-पाँच भेदों पर विशेष रूप से विचार किया। ''मध्वाचार्य का महत्त्व इस दृष्टि से बहुत अधिक माना जाता है कि उन्होंने प्राचीन वासुदेव धर्म और भागवत धर्म के स्थान पर नवीन वैष्णव धर्म का सृजन कर व्यवस्थित रूप से भक्ति-भावना को उत्तरी भारत में सुदृढ़ बनाने का प्रयास किया।''[1]

दक्षिण-भारत में श्री सम्प्रदाय और मध्व सम्प्रदाय भक्ति के विकास की अटूट शृंखलायें हैं जो पुराणकाल और उत्तरी भारत के भक्ति आन्दोलन के मध्यकाल को दृढ़तम रूप प्रदान करती हैं। दक्षिण भारत की भक्ति की प्रबल लहर ने उत्तरी भारत में प्रबलतम रूप धारण कर लिया। हिन्दी साहित्य के इतिहास में भक्ति पूर्ण साहित्य के काल को 'स्वर्ण युग' नाम प्रदान किया।

2.16 उत्तर-भारत में भक्ति

उत्तर भारत में भक्ति धारा के प्रचार एवं प्रसार का श्रेय स्वामी रामानन्द को जाता है। स्वामी रामानन्द भारत में रामानुजाचार्य की राम भक्ति के प्रथम प्रचारक माने जाते हैं। रामानन्द ने रामानुजाचार्य के मत का अवलम्बन लेकर एक नवीन सुधार आन्दोलन द्वारा जन समूह में भक्ति भावना प्रतिष्ठित कर दी। आपने अपने गुरु की अपेक्षाकृत अपना उपास्य बैकुण्ठ निवासी विष्णु न मानकर लोकसंग्रह कर्त्ता अवतारी राम माना और अपने गुरु से भी अधिक विशाल दृष्टिकोण अपनाया।

---

1 दुर्गाशंकर मिश्र-भक्ति काव्य के मूल स्रोत, पृ० 102

जाति-पाँति एवं ऊँच-नीच के भेद को खत्म कर भक्ति की पावन धारा को घर-घर तक पहुँचाया । उन्होंने राम के निर्गुण-सगुण दोनों रूपों की उपासना को उचित और संगत बताया। ''स्वामी रामानन्द के पूर्ववर्ती आचार्य संस्कृत भाषा को देव भाषा मानकर, उसी के माध्यम से अपनी भक्ति और विचार शैली को व्यक्त करते थे। स्वामी रामानन्द ने जन-भाषा को अपना आधार बनाया, जिसका परिणाम यह हुआ कि भक्ति-आन्दोलन जन-जन में लोकप्रिय हो गया।''[1]

स्वामी रामानन्द को 'मध्य युग की स्वाधीन चिन्ता का गुरु कहा जाता है। आपने भक्ति का प्रचार लोक भाषा में किया। जिस निम्न-वर्ग को ब्राह्मणों ने अछूता कहा रामानन्द जी ने उन्हीं को भक्ति का अधिकारी बना दिया। आपके प्रमुख 12 शिष्य माने जाते हैं। जो निम्न-जाति से सम्बन्धित थे। आपके इन्हीं शिष्यों के द्वारा भक्ति के रूप में परिवर्तन आया। उस समय की परिस्थितियों में भक्ति ने समाज को आश्रय प्रदान किया। भारत के विकलांग समाज को पूर्ण बनाने का बीड़ा रामानन्द जी ने उठाया। भक्ति अब ब्राह्मणों के राजपथ तक सीमित न रहकर जन सामान्य तक पहुँची। रामानन्द जी की शिष्य मंडली में ब्रह्म के सगुण एवं निर्गुण दोनों रूपों के उपासक थे। राम भक्ति का विकास दोनों में भिन्न रूपों में हुआ। निर्गुण भक्तों में राम का अर्थ दाशरथि राम से न होकर वरन् सर्वत्र रमनेवाले ब्रह्म से लिया गया और सगुण में अवतारी राम की पूजा का प्रचलन हुआ।

मध्ययुग में यद्यपि रामानन्द ने राम भक्ति को प्रतिष्ठित किया परन्तु उस राम भक्ति का विकास तुलसी द्वारा सम्यक् रूपेण हुआ और कबीरादि ने उनका शिष्यत्व ग्रहण कर रामनामाश्रय से 'संत मत' का प्रचार किया।

---

1 डॉ० महीप सिंह-आदिग्रन्थ में संगृहीत सन्त कवि, पृ० 60

2.2 हिन्दी साहित्य में भक्ति का उदय और विकास

''भक्ति' संस्कृत के 'भज्' धातु से सम्बद्ध है जिसका अर्थ है: सेवा करना। इसमें 'क्ति' प्रत्यय लगाकर 'भक्ति' शब्द निर्मित किया गया । 'क्ति' से आशय है: प्रेम। इस प्रकार 'भक्ति' में भज् (सेवा) तथा क्ति (प्रेम) का समन्वय है और यह शब्द धातु तथा प्रत्यय के सम्मिलित योग से अपने अर्थ को ध्वनित करता है।''[1] भगवान् की सेवा करने की स्थिति में ही भक्ति का स्वरूप बनता है। सेवा उपासना के द्वारा अपने उपास्यदेव के गुणों का अनुभव करना और उसके प्रति श्रद्धावान् बनना है। उपासना का अर्थ है: समीप बैठना। उप-समीप, आसन-बैठना। पास बैठकर उसका चिन्तन, उसके अनुग्रह और उसकी सर्वशक्तिमत्ता पर विश्वास-यह सब उपासना या भक्ति है।

वेदत्रयी (ऋक, यजु, साम) में भक्ति मार्ग पर अग्रसर होने के लिए तीन सीढ़ियों का निर्देशन है। ज्ञान, कर्म, उपासना। ज्ञान से इष्ट के स्वरूप का बोध होता है, कर्म लक्ष्य तक पहुंचाता है और उपासना द्वारा उसका सान्निधय प्राप्त होता है।

भक्ति के सम्बन्ध में श्रीमद्भागवत का वह प्रारम्भिक कथा प्रसंग अत्यन्त उल्लेखनीय है जिसमें भागवतकार ने देवर्षि नारद की भक्ति से भेंट और स्वयम् भक्ति के मुखारबिन्द से उसका आत्मपरिचय दिलाया है। भागवत माहात्म्य में कहा गया है कि नारदजी कलियुग में भटकते-भटकते यमुना तट पहुँच गए और वहाँ भक्ति नामक युवती से उनकी भेंट हुई। भक्ति ने दुखी होकर कहा कि मैं द्रविड़ देश में उत्पन्न हुई, कर्णाटक में बढ़ी, महाराष्ट्र में यत्र-तत्र सम्मानित हुई, किन्तु गुजरात में मुझे बुढ़ापे ने आ घेरा। अब जब से मैं वृन्दावन आई तो पुनः परम सुन्दरी

---

1 प्रेमशंकर-भक्तिचिन्तन की भूमिका, पृ० 61

नवयुवती के समान कांतिमयी बन गई, पर वह फिर भी दुखी रही क्योंकि उसके दोनों पुत्र 'ज्ञान' और 'वैराग्य', दीन, क्षीण विपन्न और जर्जर स्थिति में है तो उसे बड़ी ग्लानि हुई। भागवत की यह कथा भक्ति के प्रादुर्भाव और विकास की ओर संकेत करने वाली है। डॉ० वेंकट शर्मा के शब्दों में-''भागवत के माहात्म्य-वर्णन में वह कथा अत्यन्त विस्तारपूर्वक विधि से वर्णित की गई है जिसका आशय यह है कि 'भागवत' ही भक्ति के प्रवर्त्तन, पोषण और विकास का 'आकर' ग्रंथ है जिसकी क्रोड़ में ज्ञान और वैराग्य का पुत्रवत् परिपालन हुआ है। उस कथा की व्यंजना भक्तियोग के प्रादुर्भाव और विकास की ओर संकेत करने वाली है।''[1]

''भक्ति का अर्थ है परमात्मा के चिन्तन द्वारा उससे योगयुक्त होने की विधि। पूजा-पाठ इत्यादि सब इसी श्रेणी के अनुष्ठान हैं।''[2] भगवद्गीता में भगवान् कृष्ण ने कहा है कि योग की प्रक्रिया का आश्रय लेते हुए परमात्मा में चित्त लगाने के लिए पहले उसके समग्र रूप को जान लेना चाहिए। परमात्मा का रूप मन में स्पष्ट होने से ही भक्ति सफल हो सकती है।

संत विनोबाभाजी भावे ने भक्ति के सम्बन्ध में अपने विचार प्रस्तुत करते हुए कहा कि ''भक्ति का लक्षण ही यह है कि वह अपने को शून्य समझता है और अपने आसपास जो है उसको पूर्ण समझता है, परमेश्वर का रूप समझता है भक्त यही सोचे कि हमारे सामने जितनी मूर्तियाँ उपस्थित हैं, वे हमारे स्वामी के ही रूप हैं और हम उनके सेवक हैं। यही सेवा भाव है, यही दास्य भाव है और यही भक्ति है।''[3]

---

1 डॉ० वेंकट शर्मा-भक्तिकाव्य का अंतर्दर्शन, पृ० 13

2 गुरुदत्त-श्रीमद्भगवद् गीता: एक अध्ययन, पृ० 240

3 सं० हनुमान प्रसाद पोद्दार-कल्याण, वर्ष 29, संख्या 4

डॉ० वेंकटशर्मा का यह कथन अत्यन्त सुन्दर और विचारणीय है। कि ''भगवान से भी उनकी भक्ति बड़ी है, की लौकिक सूक्ति का चिंतन-पक्ष में केवल इतना अर्थ हो सकता है कि जब दार्शनिक प्रतिपत्त्यों के वाग्जाल में उलझ कर मानव का सीमित ज्ञान उस असीम तत्त्व की सम्पूर्ण व्यंजना नहीं कर पाता तो फिर उसकी संवेदनशील आर्द्रता को सिद्धान्तों की पाषाणवत् जड़ता और स्थिरता में कैसे नियंत्रित किया जा सकता है कहते हैं, 'कृष्ण से राधा बड़ी थो' जिसका लाक्षणिक अर्थ यही हो सकता है कि भगवान से बड़ी उनकी आराधना (भक्ति) होती है।''[1]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने धर्म का प्रवाह कर्म, ज्ञान और भक्ति से माना है और इन तीनों के सामंजस्य से धर्म अपनी पूर्ण सजीव दशा में रहता है और एक के भी अभाव से वह विकलांग हो जाता है। कर्म के बिना वह लूला लँगड़ा, ज्ञान के बिना अंधा और भक्ति के बिना हृदयविहीन क्या निष्प्राण रहता है। ''भक्ति की निष्पत्ति श्रद्धा और प्रेम के योग से होती है।''[2]

''हिन्दी के कई विद्वानों का मत है कि हिन्दी साहित्य में भक्ति युग का आविर्भाव राजनीतिक पराजय का परिणाम है जबकि दूसरे कुछ विद्वान इसे एक अविच्छिन्न सांस्कृतिक, धार्मिक एवं सामाजिक भावना का परिणाम मानते हैं। इनके लिए यह एक आन्दोलन है और महा-आन्दोलन है जो कि भारतीय साधना के इतिहास में अप्रतिम है।''[3]

ईसा की आठवीं-नवमी शताब्दी में भारत का राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक वातावरण क्षुब्धता से भर गया था। देश कई छोटे-छोटे टुकड़ों में बँट गया

---

1 डॉ० वेंकट शर्मा-भक्तिकाव्य का अंतर्दर्शन, पृ० 11-12

2 रामचन्द्र शुक्ल-हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ०46

3 डॉ० शिवकुमार शर्मा-हिन्दी साहित्य: युग और प्रवृत्तियाँ, पृ० 111

था। बौद्ध धर्म विकृत होकर 'वज्रयान' सम्प्रदाय के रूप में फैला हुआ था, जहाँ तन्त्रवाद अपनी चरम सीमा को छू गया था। भारत में बुद्ध धर्म का उद्‌भव हिन्दू धर्म पर मात्र सुधार नहीं था बल्कि यह एक विद्रोह था, एक क्रान्ति थी। इसका मूल उद्देश्य ब्राह्मणवाद का समूल नाश था। जिस अवतारवाद पर बुद्ध ने अविश्वास प्रकट किया था, उसे ही अपनाकर बुद्ध के चेले स्वयं आलोचना का विषय बन गए थे। ब्राह्मण धर्म के पाखण्ड का उनमें भी प्रवेश हो रहा था। बौद्ध धर्म के ह्रास के बाद जगद्‌गुरु शंकराचार्य ने वैदिक धर्म की पुनःस्थापना की और अद्वैत मत का प्रचार किया। ''शंकराचार्य का उदय भारतीय चिन्तन के क्षेत्र में इस दृष्टि से एक युगान्तकारी घटना है कि उन्होंने अपनी प्रतिभा से वैदिक विचारधारा को नयी अर्थदीप्ति दी, एक प्रकार से वह उस चिन्तन का पुनर्जन्म है। वेदान्त की जो धारा जैन, बौद्ध धर्म के प्रहार से मन्थर हो गई थी, उसे शंकर ने नयी गति प्रदान की और विद्वानों का विचार है कि यदि उनका आविर्भाव न हुआ होता तो सम्भव था कि वेदान्त हमेशा के लिए लड़खड़ा जाता।''[1]

हिन्दी साहित्य में भक्ति के उदय और विकास का श्री गणेश दक्षिण भारत से हुआ था। इसका अभिप्राय यह नहीं कि इससे पूर्व ऐसा साहित्य रचा नहीं गया था। दक्षिण के आलवार भक्तों के द्वारा भक्ति को जो नया रूप और विकास प्राप्त हुआ था। उसी से पूरे उत्तर भारत में एक जन आन्दोलन शुरू हो गया था। जिसके पुरोधा हुये स्वामी रामानन्द।

''भगती द्राविड़ ऊपजी लाए रामानन्द।।
परगट किया कबीर ने सप्त दीप नव खंड।।'[2]

---

1 प्रेमशंकर - भक्तिकाव्य की भूमिका, पृ० 101

2 डॉ० महीप सिंह - आदिग्रन्थ में संगृहीत सन्त कवि, पृ० 31

भक्तिकाल के इस बहुचर्चित कथन के अनुसार भक्ति का जन्म द्रविड़ प्रदेश में हुआ, जिसे स्वामी रामानन्द उत्तर में लाये और कबीर ने उसे सात द्वीप और नौ खण्डों में प्रचारित किया। इस उक्ति से यह स्पष्ट होता है कि भक्ति का जन्म दक्षिण के द्रविड़ प्रदेश में हुआ था। मध्यकालीन दक्षिण में भक्ति के आविर्भाव का एक कारण यह भी माना जाता है कि वहाँ की राजनीतिक स्थिति उत्तर की अपेक्षा अधिक सुरक्षित थी। उत्तर भारत आठवीं शती के आरम्भ से ही इस्लाम के आक्रमण झेलने लगा था। ''तमिल प्रदेश के आडवर' अथवा 'आलवार' सन्तों द्वारा जिस ईश्वर-भक्ति की परम्परा वहाँ विकसित हुई, उसी से दक्षिण प्रदेश में आचार्यों का आविर्भाव हुआ और वही परम्परा महाराष्ट्र, गुजरात होती हुई उत्तर भारत में आ गयी।''[1]

आलवार भक्त वैष्णव सम्प्रदाय के आदि गुरु माने जाते हैं। ''आलवारों के पूर्व वैष्णव-भक्ति का जो रूप दिखाई देता है, उसमें भक्ति का सरल एवं व्यावहारिक रूप नहीं था, केवल वैदिक धर्म की व्यवस्था के अनुसार निर्मित रूप ही व्यवहृत था।''[2] दक्षिण भारत में वैष्णव-आचार्यों को 'आलवार' कहा गया तमिल भाषा के इस शब्द का अर्थ है-भगवत् भक्ति में लीन व्यक्ति। आलवार भक्तों की संख्या 12 मानी जाती है। ये अधिक विद्वान नहीं थे, पर उच्चकोटि के साधक थे और आध्यात्मिक साधना में लीन रहते थे। यह अपने सीधे-सादे रहन-सहन, नम्रता और सरलता के लिए विख्यात थे। आलवार भक्तों ने भक्ति-मार्ग को सर्वश्रेष्ठ बताया और भक्ति के प्रचार में कुछ अवशेष नहीं रहने दिया था। वे 'ईश्वर के दीवाने' थे। उनमें से एक राजा, दूसरा भिखारी, तीसरी एक स्त्री और चौथा एक शूद्र था। जाति,

---

1 डॉ० महीप सिंह-आदिग्रन्थ में संगृहीत सन्त कवि, पृ० 31

2 डॉ० वी० एन० फिलिप-मध्यकालीन हिन्दी भक्ति साहित्य की प्रासंगिकता, पृ० 180

पद और संस्कृति का कोई प्रतिबंध नहीं था। उन्होंने नाम-स्मरण को महत्त्व दिया। ऊंच-नीच, स्त्री-पुरूष, धनी-निर्धन सभी को भगवान् की दृष्टि में समान माना। भक्ति का मार्ग सम्पूर्ण जनता के लिए खोल दिया । आलवारों ने गुरु और सत्संग का महत्त्व बताया । आलवारों ने संस्कृत भाषा को नहीं अपनाया उन्होंने अपने सिद्धान्तों का प्रचार तमिल प्रदेश की जनभाषा में किया। आलवार ब्रह्म के सच्चे प्रेमी थे और इन्होंने अपने युग में भक्तिमय धार्मिक वातावरण की सृष्टि की।

आलवारों के पश्चात् दक्षिण भारत में वैष्णव धर्म का प्रचार करने वाले भक्त 'आचार्य' के नाम से प्रसिद्ध हुए। जिन्होंने भक्ति को दार्शनिक आधार प्रदान किया। रंगनाथमुनि को आदि आचार्य कहा जाता है। अन्य प्रमुख आचार्यों में यामुनाचार्य, रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य, मध्वाचार्य, विष्णुस्वामी आदि के नाम विशेष प्रसिद्ध हैं। रंगनाथमुनि शठकोपाचार्य की शिष्य-परम्परा में थे। रंगनाथमुनि ने वैष्णवों का संगठन, आलवारों के भक्तिपूर्ण गीतों का संग्रह, मन्दिरों में कीर्तन एवं वैष्णव सिद्धांतों की दार्शनिक व्याख्या की जिनसे भक्ति परम्परा को नया बल मिला । ''सन् 1000 ई० के आसपास यामुनाचार्य ने प्रपत्ति-सिद्धान्त को जन्म दिया । उन्हीं के प्रपौत्र रामानुज थे जिन्होंने भक्ति-आन्दोलन को पूर्णतः दार्शनिक पृष्ठभूमि प्रदान करके 'विशिष्टाद्वैतवाद' का पद दिया।''[1]

रामानुज ने दार्शनिक स्तर पर शंकराचार्य की अपेक्षाकृत तार्किक निर्गुनिया व्याख्या के स्थान पर विशिष्टाद्वैत का प्रचार-प्रसार किया। वैष्णव भक्ति प्रचार के लिए और श्री सम्प्रदाय को शक्तिशाली बनाने के लिए रामानुज ने चौहत्तर प्रमुख शिष्यों को मठों की व्यवस्था के लिए निश्चित किया, इन्हें 'सिंहासनाधिपति' कहा जाता

---

1 सरनामसिंह शर्मा-भक्ति-दर्शन, पृ० 214

था। ये शिष्य योग्य विद्वान थे और श्री-वैष्णव-सम्प्रदाय में निष्णात। रामानुजादि आचार्यों का संबंध दक्षिण से था। उनके मत की विशेष प्रतिष्ठा दक्षिण में हुई थी। रामानुजाचार्य की ही शिष्य-परम्परा में स्वामी रामानन्द हुये जिन्होंने दक्षिण के आचार्यों के मत को अधिक सार्वजनिक रूप देकर उत्तर भारत में प्रचलित करने का श्रेय प्राप्त किया।

रामानुज के उपरांत भक्ति का एक व्यापक आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। जिसमें भक्ति की एक प्रखर और पवित्र धारा बह निकली। भक्ति की इस धारा में अनेक उपास्य देवों और उपासना में अनेक स्रोतों का प्रादुर्भाव हुआ। परन्तु मूल धारा में कुछ भी अन्तर न पड़ा वह एक रस बहती रही और भक्ति अधिकाधिक शक्तिसंपन्न होती गई । साथ ही जनता का विशेष मनोरंजन और दुःख निवारण भी होता गया। इन अनेक भक्ति संप्रदायों का हमारे साहित्य पर भी प्रभाव पड़ा और हिन्दी में एक प्रकार की व्यापकता और आध्यात्मिकता का समावेश हुआ।

जिस समय हिन्दी-प्रदेश में वैष्णव भक्ति-आन्दोलन की लहरें उठीं उस समय देश की राजनीति में उत्क्रांतियाँ हो रही थीं। उत्तर-भारत के अन्तिम हिन्दू-सम्राट हर्षवर्द्धन की मृत्यु के पश्चात् देश विविध भागों में बंट चुका था और अपनी गरिमा खो चुका था। उस समय देश की राज्य-सत्ता तुर्कों और अफगानों के हाथों चली गई थी। उनके उपरान्त मुगलों का शासन आया और उन्होंने अपना प्रभुत्त्व जमाया । देश की इसी राजनीतिक पराधीनता के काल में हमारा मध्यकालीन हिन्दी-भक्ति काव्य विकसित हुआ।

उत्तर भारत में भक्ति के प्रचार एवं प्रसार का श्रेय स्वामी रामानन्द को जाता है। स्वामी रामानन्द मध्यकालीन धर्मसाधना और चिन्ताधारा के सबसे बड़े गुरु थे।

स्वामी रामानन्द ने भक्ति का ऐसा सेतु तैयार किया जो इनकी परिधि में आया उसका कल्याण हो गया। ये अपने युग के एक बड़े क्रांतिकारी, समाज-सुधारक, पथ-प्रदर्शक, आध्यात्मिक नेता थे। आप ने उस युग की निराशाजनक परिस्थितियों का अध्ययन कर महान् क्रांतिकारी कदम उठाए थे।

डॉ० रामसजन पाण्डेय ने डॉ० हरिश्चन्द्र वर्मा के कथन को रेखांकनीय किया है कि ''रामानन्द के युग में, चौदहवीं शदी में श्री सम्प्रदाय वड़कलै और तेन्कलै नामक दो शाखाओं में विभक्त हो गया था । बड़कलै शाखा में संस्कृत भाषा को महत्त्व दिया जाता था और निम्न जाति के प्रपन्न भक्तों को आदरणीय मानने के बावजूद उन्हें ब्राह्मणों के समकक्ष नहीं माना गया था। इसके विपरीत तेन्कलै शाखा में लोक-भाषा तेलुगू को महत्त्व दिया गया था और जाति-पाति का भेद भुलाकर शूद्रों को भी विप्रों के समान गौरवास्पद समझा गया था। रामानन्द ने श्री सम्प्रदाय की इसी लोकप्रिय तेन्कलै शाखा को विकसित करके स्वतंत्र रामावत सम्प्रदाय का रूप दिया जिसमें राम के सगुण और निर्गुण दोनों रूपों को मान्यता प्रदान की गयी तथा जनभाषा को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया गया।''[1]

स्वामी रामानन्द ने सार्वभौमिक मानवता की स्थापना की। उन्होंने जाति-पाति, ऊंच-नीच, छुआछूत को मान्यता नहीं दी । उन्होंने ब्राह्मण-शूद्र सभी को समान समझा। अपनी मान्यताओं का प्रचार लोक-भाषा में किया । हिन्दी उस समय जनता-जनार्दन की सामान्य भाषा थी, इसलिए वैष्णव भक्ति का अमर संदेश वहन करने का श्रेय उसी को प्राप्त हुआ। मध्ययुग का हिन्दी साहित्य हिन्दी के इतिहास में तो उत्कृष्टता की दृष्टि से अतुलनीय है।

---

1 डॉ० रामसजन पाण्डेय-निर्गुण काव्य की सांस्कृतिक भूमिका, पृ० 132-133

हिन्दी के इस उत्कर्ष-वर्द्धन में तत्कालीन-अभ्युत्थान ने विशेष सहायता पहुँचाई। महात्मा रामानंद ने भक्ति को लोकव्यापक बनाकर और सभी भेद मिटाकर जनता की भाषा में अपने उपदेश दिये, तब हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धि का विकास हुआ और बड़े-बड़े महाकवियों के आविर्भाव से उसका उत्कर्ष साधन हुआ। स्वामी रामानन्द ने भक्ति का द्वार सबके लिए खोल दिया। ''स्वामी रामानन्द द्वारा प्रचारित रामभक्ति का सर्वाधिक शक्तिशाली, विशाल और महान् आन्दोलन बिजली की चमक के समान भारतीय जीवन के तिमिरावृत आकाश पर कौंध उठा और पूनम की शीतल पीयूष ज्योत्स्ना के समान समस्त आकाश पर छा गया। सगुण और निर्गुण दोनों रूपों में रामनाम का प्रचार रामानन्द और उनके शिष्यों द्वारा हुआ।''[1] स्वामी रामानन्द की शिष्य-परम्परा में एक ओर तो कबीर रविदास हुए जिन्होंने अपने उपदेशों के द्वारा हिन्दी को अमरत्त्व प्रदान किया और दूसरी ओर महात्मा तुलसीदास ने अपनी दिव्य वाणी के द्वारा हिन्दी को गर्व से सम्मानित किया।

2.3 भक्तिकालीन: साहित्य की सामान्य प्रवृत्तियाँ

हिन्दी भक्ति साहित्य की आध्यात्मिकता एवं समृद्धि के दृष्टिकोण से मध्ययुग को 'भक्तिकाल' एवं 'स्वर्णयुग' के नाम से अभिहित किया जाता है। कथ्य और शिल्प दोनों दृष्टियों से इसका विशेष महत्त्व है। भक्तिकाल का साहित्य अपने पूर्ववर्ती तथा परवर्ती कालों के साहित्य से निश्चित रूप से उत्तम है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी भक्ति साहित्य के सम्बन्ध में लिखते हैं-''समूचे भारतीय इतिहास में अपने ढंग का अकेला साहित्य है। इसी का नाम भक्ति साहित्य है। यह एक नई दुनिया है।''[2] मध्यकालीन हिन्दी भक्ति साहित्य भारत की महिमामयी परम्परा का अक्षय है और हिन्दी साहित्य के इतिहास का महत्वपूर्ण अंग है।

---

1 डॉ० जयनाथ नलिन-भक्तिकाव्य में माधुर्य भाव का स्वरूप, पृ० 45

2 डॉ० शिवकुमार शर्मा-हिन्दी साहित्य: युग और प्रवृत्तियाँ में उद्धृत, पृ०115

प्रत्येक साहित्यिक रचना अपने समय की विशेष परिस्थितियों की उपज होती है और उसमें परम्परा का अंश भी निहित होता है। जहाँ इसकी सामाजिक-सांस्कृतिक तथा लौकिक-आध्यात्मिक महत्ता अक्षुण्ण है, वहीं दूसरी ओर यह युग भाषा, काव्य-रूप, छन्द-विधान तथा काव्य-शैली आदि की दृष्टि से बेजोड़ है। इस साहित्य की एक अपनी विशेषता है जहां जीवन के सभी विषाद नैराशय और कुठाएं धुल जाती हैं। भक्तियुगीन कवियों ने जिन मानवीय मूल्यों की स्थापना की, सामाजिक सौमनस्य, वसुधैव कुटुम्बकम् का सन्देश दिया और मानव-कल्याण का मार्ग प्रशस्त किया उसमें न केवल समाज में नई जागृति आई बल्कि आज भी इस साहित्य की महक से जन-जीवन को तृप्ति मिल रही है।

भक्तिकाल में निर्गुण और सगुण दो धाराओं का विकास हुआ था जिसमें ब्रह्म के सगुण एवं निर्गुण इन उभय पक्षों के प्रति भक्ति की प्रगाढ़ भावना से प्रेरित होकर साहित्य स्वत: फूट पड़ा। इनमें परस्पर भिन्न मत, विश्वास, विचार और मान्यतायें थीं। प्रत्येक काल की अपनी मान्य विशेषताएँ ही उस काल के साहित्य को एक दूसरे से पृथक् करती हैं। जितनी सबलता से भक्तिकाल के साहित्य ने जन-जीवन को प्रभावित किया, अन्य किसी भी काल का साहित्य न कर सका। इसकी यही विशेषता सर्वाधिक महान् और ग्राह्य है। भक्ति साहित्य ने मानव-जीवन को एक नया पथ दिखाया और आशा-आकांक्षा से भरा जीवन जीने की कला सिखाई । इन समस्त तथ्यों में ही भक्तिकाल के साहित्य की सामान्य विशेषताओं का मूल्यांकन किया जा सकता है जो इसकी दोनों धाराओं में समान रूप से विद्यमान थीं।

2.3। गुरु का महत्त्व

सामान्यत: 'गु' का अर्थ अन्धेरा और 'रु' का अर्थ उस अन्धेरे को दूर करने वाला किया गया है जिसका तात्पर्य है कि गुरु अज्ञान के अंधेरे को दूर करता है।

संतों ने गुरु को श्रेष्ठ साधन माना है। गुरु की कृपा के बिना दुर्बुद्धि का शमन नहीं होता। गुरु की महती अनुकम्पा से आन्तरिक अवगुणों का नाश होता है, तभी पूर्ण ब्रह्म, परमेश्वर सर्वथा दिखायी पड़ता है। गुरु को तीनों लोकों से बड़ा बतलाया गया है। गुरु और परमात्मा में किसी प्रकार का भेद नहीं होता। इसलिए परमात्मा की अनन्यभक्ति की भांति ही गुरु के प्रति भी अनन्य-भक्ति का भाव बनाये रखना चाहिए। संत वाणी में गुरु के महत्त्व को बताते हुए कहा गया है कि गुरु ईश्वर-नियुक्त होते हैं। गुरु-शिष्य का सम्बन्ध अनेक जन्म-जन्मान्तरों से चला आता है और यह गुरु निश्चित समय पर निश्चित शिष्य को कृतार्थ किया करते हैं। भक्तिकाल की निर्गुण तथा सगुण धारा दोनों में गुरु की महिमा का समान रूप से प्रतिपादन मिलता है। गुरु को परमेश्वर से भी बड़ा बताया गया है। कबीर ने गुरु को गोविन्द से बड़ा बताते हुए कहा है-

'' गुरु गोविन्द दोनों खड़े, का के लागू पाय।
बलिहारी गुरु आपने, जिन गोविन्द दियो बताय।।''[1]

रविदास ने गुरु की महिमा बताते हुए कहा है

"'रविदास' मानुष जन्म मंह, हौं चिंतउं गुरु एक।
आद अंत मेरो सतगुरु, राखै सभन की टेक।।'[2]

गुरु अमरदास जी ने गुरु शब्द की महिमा बताते हुए कहा है

''सो चेतै जिसु आप चेताए।
गुर कै सबदि बसै मनि आए।
आपे वेखै आपे बूझै आपै आपु समाइदा।''[3]

---

1 डॉ० पुष्पपाल सिंह-कबीर ग्रन्थावली (सटीक), पृ० 21
2 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद-रविदास दर्शन, पृ० 44
3 डॉ० जयराम मिश्र-श्री गुरु ग्रंथ-दर्शन, पृ० 275

तुलसी अपने गुरु के प्रति श्रद्धा प्रकट करते हैं-

"बंदउँ गुरु पद कंज कृपा सिन्धु नररूप हरि।
महामोह तम पुंज जासु बचन रवि कर निकर।।"[1]

2.32 नाम स्मरण तथा गुण कीर्तन

भक्तिकालीन साहित्य में 'नाम स्मरण एवं 'गुणकीर्तन' पर विशेष बल दिया गया। 'नाम स्मरण' का अर्थ है 'प्रभु का सतत चिन्तन'। सन्तों ने नाम की महिमा बतलाते हुए कहा है कि जीव किसी भी परिस्थिति में क्यों न हो, उसे परमात्मा के नाम को नहीं भूलना चाहिए नाम स्मरण के द्वारा यम का भय नहीं रहता और काम आदि वासनाएँ खत्म होती हैं। यह अपना बुरा प्रभाव नहीं डालतीं। जीव को आवागमन के चक्कर से मुक्ति मिलती है। "अमृत का धर्म है अमर बना देना, तुष्टि, पुष्टि और क्षुधा-निवृत्ति करना । जो अमृत पीता है, वह अमर धर्मा हो जाता है। इसी प्रकार जो नाम रूपी अमृत पीता है, वह नामी के साथ मिलकर एक हो जाता है।"[2] संतों ने नाम को जप, तप, संयम आदि सभी कुछ माना है। नाम का महत्त्व अमूल्य है। सन्तों द्वारा वर्णित अजपा-जप, नामस्मरण है। कबीर ने कीर्तन को भक्ति के प्रधान साधनों में माना हैं गुरु नानक ने कीर्तन में अडिग विश्वास को बताया और इसे भक्तिसाधना का मुख्य अंग स्वीकार किया है। कबीर ने भक्तसमाज को कीर्तन के लिए प्रेरित करते हुए कहा है-

" कबीर कहता जात हूँ, सुणता है सब कोई।
राम कहें भला होइगा, नहिं तर भला न होई।।"[3]

कबीरदास हरिनाम की ओर ही अपनी चिंता व्यक्त करते हैं-

''च्यंता तौ हरिं नाँव की, और न चिंता दास।"[4]

---

1 तुलसीदास-श्रीरामचरित्मानस, बालकाण्ड, पृ०2
2 डॉ० जयराम मिश्र-श्री गुरु ग्रंथ-दर्शन, पृ० 141
3 रामचन्द्र श्रीवास्तव 'चन्द्र'-कबीर-साखी-सुधा, पृ० 151
4 डॉ० पुष्पपाल सिंह-कबीर ग्रन्थावली (सटीक), पृ० 91

सन्तों, सूफियों तथा सगुण साधकों ने कीर्तन, भजन तथा नाम स्मरण को समान रूप से महत्त्व दिया है। तुलसी का कहना है -

"कलि जुग केवल नाम अधारा ।
सुमरि सुमरि, उतरें भव पारा।।"[1]

सूर की गुणात्मक प्रेमाभक्ति में कीर्तन, स्मरण एवं जप को पूरा-पूरा महत्त्व मिला है। भक्तिकालीन कवियों ने प्रभु नाम का निरंतर स्मरण करने को कहा है क्योंकि इसी से परमात्मा की प्रप्ति होती है। अन्य संत-भक्तों की भांति रविदास जी प्रभु-भक्ति में नाम की महिमा स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि सतयुग में सत्य का, त्रेता में यज्ञा का और द्वापर में पूजाचार का आधार था, लेकिन कलियुग में तो केवल 'नाम' का ही आधार है।

"सतिजुगि सतु तेता जगी दुआपरि पूजाचार।
तीनौं जुग तीनौं दिड़ै कलि केवल नाम अधार।"[2]

2.3 3 भक्ति की प्रधानता

इस काव्य की चारों धाराओं ने ईश्वराराधन के लिए भक्ति पर समान बल दिया है। संतवाणी में भक्ति की महत्तता बतलाते हुए कहा है कि भक्ति- प्रेम-सुख औरों से नहीं जाना जाता; चाहे वे पण्डित, बहुपाठी या ज्ञानी हों। आत्मनिष्ठ जीवनमुक्त भी हो तो भी उनके लिये भक्ति-सुख दुर्लभ है। नारायण यदि कृपा करें तो ही यह रहस्य जाना जा सकता है। भक्ति से बड़े से बड़ा पापी तर जाता है। संतों ने सभी को भक्ति का अधिकारी माना है। वंश, जाति आदि सामाजिक भेदभाव कोई

---

1 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद-रविदास दर्शन में उद्धृत, पृ०106
2 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद-रविदास दर्शन, पृ०106

भी उसमें बाधक नहीं है। रैदास इस विषय में वाल्मीकि का उदाहरण देते हुए नीच कुल में उत्पन्न व नीचकर्म करने वाले लोगों को ढाढस बंधाते है कि भक्ति द्वारा अमरपद प्राप्त किया जा सकता है-

"रे चित चेति चेत अचेतन,
काहे न बालमीकहिं देख ।
किसु जाति तें किह पदहिं अमरियो,
राम भगति बिसेख ।।"[1]

रविदास अजामिल, गज, गणिका आदि का उदाहरण देते हुए भक्ति की महत्तता के बारे में कहते हैं-

"अजामल पिंगुला लुभत कुंचर,
गऐ हरि कै पास।
जैसे दुरमति निस्तरे,
तूं क्यूं न तरहिं 'रविदास' ।।"[2]

तुलसीदास भक्ति की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि इसी भक्ति रूपी मणि के पा जाने पर भक्त के लिए विष भी अमृत के समान हो जाता है-

''गरल सुधासम अरि हित होई। तेहि मनि बिनु सुख पाव न कोई।।
ब्यापहिं मानस रोग न भारी। जिन्ह के बस सब जीव दुखारी।।
राम भगति मनि उर बस जाकें। दुख लवलेस न सपनेहुँ ताकें।''[3]

---

1 आचार्च पृथ्वीसिंह आज़ाद-रविदास दर्शन, पृ० 100
2 आचार्च पृथ्वीसिंह आज़ाद-रविदास दर्शन, पृ० 101
3 तुलसीदास-श्रीरामचरित्मानस, उत्तरकाण्ड, पृ० 490

यद्यपि कबीर के ईश्वर निराकर हैं और वे ज्ञान गम्य हैं किन्तु भक्ति के बिना उसकी प्राप्ति नहीं होती। भक्ति ज्ञान का प्रमुख साधन है।

''हरि भक्ति जाने बिना बूड़ि मुआ संसार।''[1]

जायसी ने शरीयत, तरीकत, हकीकत और मारिफत इन चार साधनाओं को भगवद्भक्ति के लिए आवश्यक बताया है। भक्ति के महत्त्व को बताते हुए संत वाणी में कहा है कि ''भक्ति का भेद जो जानता है उसके द्वार पर अष्ट महासिद्धियाँ लोटा करती हैं, 'जाओ' कहने से भी नहीं जातीं।''[2]

2.3 4 लोकभाषा की प्रधानता

भक्तिकाल के साहित्य में सन्तों एवं भक्त कवियों ने लोकभाषा को प्रमुखता प्रदान की। इस युग का साहित्य राजाश्रित न होकर लोकाश्रित बना था। उस समय की परिस्थितियों के अनुसार यह साहित्य की मांग थी। कबीर आदि सन्त कवियों ने सधुक्कड़ी भाषा के माध्यम से अपना संदेश जनता तक पहुँचाया। जायसी ने लोकप्रचलित भाषा अवधी का प्रयोग किया। सूर आदि कृष्णभक्त कवियों ने ब्रजभाषा का प्रयोग किया। यद्यपि तुलसी का संस्कृत भाषा पर पूर्ण अधिकार था फिर भी, उन्होंने अपने साहित्य का सृजन अवधी तथा ब्रजभाषा में किया था। इस युग के काव्य में लोकगीतों और लोककथाओं को बहुत सम्मान मिला। लोकपरिचित दृष्टान्तों, रूपकों, प्रतीकों तथा लोकोक्तियों का यथायोग्य प्रयोग किया गया। अपने विचारों को जनमानस तक पहुंचाने के लिए भक्ति काव्य के कवियों ने लोकप्रचलित भाषा शैली का प्रयोग किया।

---

1 डॉ० शिवकुमार शर्मा - हिन्दी साहित्य: युग और प्रवृत्तियाँ , पृ० 116

2 सं० हुनमान प्रसाद पोद्दार - संत वाणी, पृ० 64

2.3 5 समन्वयात्मकता

समूचे भक्ति-साहित्य की यह सर्वाधिक और प्रमुख विशेषता रही है। 'सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा' और 'ज्ञानहिं भक्तिहिं नहिं कछु भेदा' कहकर उस युग में निर्गुण और समुण के साथ-साथ ज्ञान और भक्ति में भी समन्वय की भावना लाने का सफल प्रयास हुआ। ब्रह्म के सगुण और निर्गुण रूप में असीम आस्था अभिव्यक्त की गई। सन्तों की वाणियों में चुनौती के साथ-साथ उनका अंतिम उद्देश्य वर्ग-भेद मिटाकर समन्वयात्मकता लाना है।

भक्ति, कर्म और ज्ञान के समन्वय के साथ-साथ शील, शक्ति और सौन्दर्य राम और कृष्ण के जीवन में देखने को मिलता है। भाषायी समन्वय में लोकभाषाओं के साथ-साथ ब्रज और अवधी जैसी साहित्यिक भाषाओं का भी समन्वय प्रस्तुत किया गया। प्रबंध और मुक्तक दोनों प्रकार के काव्य रचे गये। भाव-पक्ष के समन्वय के साथ-साथ कला-पक्ष का समन्वय भी देखने को मिलता है। जहाँ परम्परागत काव्य शैलियों को अपनाया वहीं समकालिक शैलियों में भी काव्य रचा गया।

2.3 6 एकेश्वरवाद और मुक्ति की प्रेरणा

भक्तिकाल में जहाँ साधना-पद्धतियों और आराध्यों के नामों में विभिन्नता थी वहीं सबने एकेश्वरवाद की भावना को बढ़ाया। भक्तिकाल के सभी कवियों ने इसकी पूर्ति का प्रयास किया इसलिए किसी भी कवि ने जातिवाद और ऊँच-नीच का समर्थन नहीं किया। भक्ति के क्षेत्र में हिन्दू और मुसलमान, उच्च और निम्न सभी समान थे। 'रविदास' ने इस सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा कि जब तक कृष्ण, करीम, राम, रहीम, हरि, राघव-इन सब को एक रूप नहीं मान लिया जाता प्रभु प्राप्ति के निमित्त की गई पूजा व आराधना सब निष्फल है।

''क्रिस्न करीम-राम हरि राघव,
जब लग एकै ऐक नहीं पेख्य ।।
बेद कतेब कुरान पुराननि,
सहजि ऐक नहिं देख्या।।
जोई जोई करि पूजिऐ सोई सोई कांची,
सहजि भाइ सति होई।।''[1]

कबीरदास ने भी जातिवाद का विरोध किया और एकेश्वरवाद का समर्थन किया। सन्त एवं भक्त कवियों ने भक्ति के क्षेत्र को विशाल किया तथा उसमें हर जाति-वर्ग ने सहारा पाया। मुक्ति के द्वार में सबसे बड़ी रूकावट 'माया' से बचने की सलाह दी। कबीर ने बार-बार चेतावनी दी है कि माया हरि-स्मरण में सबसे बड़ी बाधक है और कुमति की जन्मदातृ है। यह जीव और परमात्मा के मध्य व्यवधान खड़ा कर देती है, आत्मा को परमात्मा से नहीं मिलने देती-

''कबीर माया पापणीं, हरि सूं करै हराम।
मुखि कड़ियाली कुमति की, कहण न देई राम।।''[2]

तुलसीदास ने उत्तरकाण्ड में माया के प्रति अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि जीव माया के बंधन में बंधकर अनेक तरह के नाच करता है-

''सो मायाबस भयउ गोसाईं। बँध्यो कीर मरकट की नाईं ।
जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई ।।''[3]

2.37 अहंकार का त्याग

भक्तिकाल के साहित्य में भगवद्-प्राप्ति के लिए अहं की भावना को त्याज्य बताया है क्योंकि मान और प्रेम परस्पर विरोधी है। यह अहंकार का रोग सारे संसार

---

1 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद-रविदास दर्शन, पृ० 80
2 सं० श्यामसुंदरदास-कबीर ग्रन्थावली, पृ० 28
3 तुलसीदास-श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, पृ० 487

को व्याप्त है। इसी रोग से जन्म-मरण के दु:खों का क्रम निरन्तर चलता रहता है। गुरु की कृपा से कोई विरला पुरूष इस रोग से मुक्ति पा सकता है। यह अहंभाव समस्त पृथकताओं, बंधनों का कारण है। यह अंह की भावना महान् अन्धकार है। जिसमें पड़कर जीव अपने वास्तविक रुप को नहीं पहचान पाता। इसी के कारण जीव बंधन में है और उसके मन में परमात्मा का वास नहीं हो पाता। अहंकार को संतों एवं भक्तों ने भयानक रोग माना है जिसमें केवल मनुष्य ही नहीं बल्कि पवन, पानी, वैश्वानर, धरती, सातों समुद्र, नदियाँ, खण्ड, पाताल, षट् दर्शन, सभी पर इसका प्रभुत्त्व है। यहाँ तक कि त्रिदेव, (ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी इस रोग से मुक्त नहीं है।

पंडितगण पढ़-पढ़कर अपने विद्यागत अहंकार में डूबे हुए हैं, मौनी लोग अपने मौन-व्रत के अभिमान में डूबे रहते हैं। जितने भी जोगी, जंगम, सन्यासी हैं, सभी अहंकार में है सद् गुरु की प्राप्ति के बिना यह अहंकार रूपी रोग खत्म नहीं होता । इसके नष्ट होने पर परमात्मा का हृदय में निवास होता है।

> *''नानक सतगुरि मिलीऐ हउमै गई ता सचु बसिआ मन आइ।*
> *सचु कमावै सचि रहे, सचे सेवि समाइ।।''*[1]

2.38 काव्योद्देश्य

भक्ति-काव्य राजाश्रित न होकर लोकाश्रित है जिसमें मानव के हित को प्रमुखता प्रदान की गई है। उस युग में जन मानस की स्थिति करूणामयी थी। समाज में घोर अत्याचार और पाप बढ़ रहा था, पाखण्ड का बोलबाला था साधारण जनता अंधेरे में भटक रही थी और एक ऐसी शक्ति की राह देख रही थी जो उन्हें इस गर्त से बाहर निकाले। ऐसी अन्धकारमयी स्थिति में जहां सन्तों एवं भक्त कवियों ने उनको नई दिशा प्रदान की वहीं उनकी वाणियों ने उनके जीवन में ज्ञान का प्रकाश

---

1 डॉ० जयराम मिश्र-श्री गुरु ग्रंथ-दर्शन में उद्धृत, पृ० 139

जलाया और उन्हें सत्मार्ग दिखाया। इस युग का साहित्य किसी राजा या व्यक्ति विशेष को प्रसन्न करने के लिए नहीं था अपितु इसमें समाज की सच्चाई को प्राथमिकता दी गई थी। यह साहित्य लोकमंगल की भावना को लेकर रचा गया था। इसी कारण इसमें जीवन एवं अध्यात्म तत्त्वों को उजागर करने वाले तत्त्व विद्यमान है, जीवन जीने की आशा और आकांक्षा तथा आनन्दोल्लास आदि पूर्ण रूप से है। जहाँ कबीर ने 'आंखिन देखि' कहकर लोगों को सत्य से अवगत कराया, वहीं जायसी ने प्रेम को प्राथमिकता दी। तुलसीदास के काव्य में राग के वर्णन से और सूर के काव्य की बालकृष्ण लीलाओं ने लोगों के हृदय को छू लिया ।

2.39 नैतिकता

भक्तिकाल के साहित्य में नैतिकता एवं चरित्र-सुधार की भावना भी सर्वत्र विद्यमान है। हमारे प्राचीन साहित्य वेदों, पुराणों, रामायण, महाभारत आदि में नीति के तथ्य और उपदेश प्राप्त होते हैं। संस्कृत-काव्य और नाटकों में यत्र-तत्र नीति पदावली मिलती है। पालि-साहित्य में नीति काव्य का बाहुल्य है, क्योंकि उसमें उपदेश अधिक है। बौद्ध सिद्धों तथा जैन सन्तों की रचनाओं में त्याग, संयम, दया, क्षमा, सत्य, अहिंसा आदि को विशेष महत्त्व दिया गया है। नाथपन्थियों और वज्रयानी सिद्धों की रचनाओं में भी उपदेशों की ही प्राथमिकता है। हमारे देश में नीतिकाव्य की परम्परा प्राचीनकाल से ही चली आ रही है, भक्तिकाल में इसका विकसित होना स्वाभाविक था।

हमारे आलोच्य युग में ऐसी परिस्थितियां बन गई थीं जिसमें नैतिकता की भावना खत्म होती जा रही थी। समाज को ऐसे गिरते देखकर सन्तों एवं भक्तों ने नीतिपर्रक उपदेश दिये। भक्तिकाल में मुख्य रूप से कबीर, नानक, दादू आदि ने नीति सम्बन्धी उपदेश दिये।

2.3 10 सांस्कृतिक दृष्टि

भक्तिकाल के साहित्य के अंतर्गत हमें भारतीय संस्कृति की आत्मा के सहज दर्शन होते हैं। सभ्यता, धर्म, दर्शन, चरित्र, आचार-विचार सभी यहाँ साकार हो उठा है। इसका भावपक्ष और कलापक्ष संस्कृति के उदात्त ताने-बाने पर बुना गया है। सन्त एवं भक्त कवियों ने अपनी वाणियों में अध्यात्म-समन्वित मानवीय सांस्कृतिक चेतनाओं को उभारने का सफल प्रयास किया है।

भक्ति साहित्य में हमें जीवन के सत्य, सुन्दर और शिव का समन्वित रुप देखने को मिलता है। इस साहित्य का निर्माण आत्मा-परमात्मा के समन्वय के लिए ही रचा गया। इसमें धर्म की उच्चतम व्याख्या जहाँ देखने को मिलती है, वहीं काव्य का उद्देश्य भी उच्च-स्तर का है जिसमें जनमानस को शांति मिली है। भाव-पक्ष की प्रधानता होते हुए भी कला-पक्ष कहीं शिथिल नहीं है। परोपकार, सर्वजन-हिताय, जाति-पांति का विरोध आदि भावनाओं को जगा पाने में ही भक्ति-साहित्य पूर्णतः सफल हुआ है। इसके साहित्य का स्वर राजमहलों में ही नहीं गली-गली गूँजा। भक्ति-रस की इस पावन गंगा में लीन होकर जन-मानस को आश्रय मिला। इस साहित्य की सबसे बड़ी देन यह है कि इसने भारतीय संस्कृति को एक नई दिशा दिखाकर उसको नये रूप में ढाला। इसकी इन्हीं विशेषताओं के कारण इसको 'स्वर्ण-युग' भी कहा गया।

2.4 निर्गुण भक्तिकाव्य

2.41 निर्गुण शब्द का अर्थ और विकास

''निर्गुण' से अभिप्राय है जो गुणों की सीमा में बांधा न जा सके। इसका पारिभाषिक अर्थ गुणातीत होता है। निर्गुण ब्रह्म का अर्थ है उसमें जीव के हेयगुण,

राग-द्वेष आदि नहीं है।''[1] संसार में जो कुछ दृश्यमान है उसका आदि स्रोत एक ही सत्य है। निर्गुण और सगुण दोनों ही भावनाओं का उद्‌गम उस एक 'सत्य' की अनुभूति के पश्चात् ही हुआ है। ''भगवान् का साकार रूप भी सत्य है और निराकार भी सत्य है। तुम्हें जो अच्छा लगे, उसी में विश्वास कर, तुम उसे पुकारो तो तुम उसी एक को पाओगे। मिसरी की डाली चाहे जिस ओर से, चाहे जिस ढंग से तोड़कर खाओ वह मीठी लगेगी ही।''[2]

निर्गुण शब्द अपने पारिभाषित रूप में सत्वादि गुणों से रहित समझी जाने वाली एक ऐसी अनिर्वचनीय सत्ता का बोधक है, जिसे परमतत्त्व, परमात्मा अथवा ब्रह्म जैसी संज्ञाओं द्वारा अभिहित किया जाता है। जो सत्त, रज और तम तीनों गुणों से परे हैं। गुणविवर्जित का अर्थ इन गुणों की सीमाओं का वर्जन है। अतः निर्गुण से तात्पर्य है जो गुणों से भी ऊपर है। जिसे हम किसी भी परिधि में बांध नहीं सकते। वह सृष्टिकर्ता, पालक और सहायक अन्यतम है जिसका कोई अंत नहीं है।

निर्गुण शब्द के प्रयोग का आरम्भ हमें वेदों से ही मिलना आरम्भ हो जाता है। कतिपय विद्वानों का विश्वास है कि ऋग्वेद में इन्द्र, मित्र, वरूण, अग्नि, गरुत्मान, यम और मातरिश्वा आदि को एक ही सत्ता का पर्याय बताया गया है, जिससे भारतीय दर्शन में विवेच्य एकेश्वरवाद की पुष्टि होती है।

''इन्द्र मित्रं वरुणमग्निमाहुरयो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।।''[3]

अर्थात्-वह (परमेश्वर) एक है तथापि उसे मनीषियों ने इन्द्र, मित्र, वरूण, अग्नि, दिव्य, सुपर्ण, गरुत्मान, यम, मातरिश्वा (वायु) इस प्रकार बहुत नामों से कहा है।

---

1 सं० प्रो० (श्रीमती) सन्तोष कुमारी शर्मा-सौम्य सन्त गुरु रविदास, पृ० 102

2 सं० हनुमानप्रसाद पोद्दार-संतवाणी, पृ० 123

3 डॉ० आशा गुप्ता-मध्ययुगीन सगुण एवं निर्गुण हिन्दी साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन में उद्‌धृत, पृ० 3

वैदिक संहिताओं में ईश्वर के लिए अनेक वाचक शब्द हैं। 'आत्मा' का प्रयोग सबसे अधिक किया गया है और दूसरा प्रयुक्त वाचक शब्द 'पुरूष' है। विद्वानों का विश्वास है-ब्रह्म सम्बन्धी संहितान्तर्गत श्रुतियाँ निर्गुण पुरूष का वर्णन करती हैं। वह 'अक्षरात्परतः परः' के रूप में कथित हुआ है। डॉ० आशा गुप्ता ने पंचदशीकार के कथन का इस प्रकार उल्लेख किया है ''कि वेद में प्रणव की जितनी भी उपासनाएँ हैं वे प्रायः सब की सब निर्गुण ही हैं। कहीं-कहीं सगुणोपासना का आभास होता है।''[1] वैदिक काल के आर्य इन्द्रादि देवताओं की जो उपासना करते थे, उनसे सगुण उपासना का बोध होता है। अतः यह कहा जा सकता है कि वैदिक काल में ही ब्रह्मज्ञान निर्गुण व सगुण दोनों रूपों में विद्यमान था। आत्मज्ञान के साथ ही निर्गुण और सगुण दोनों विशेषणों का उद्भव हुआ। वैदिक काल में ही मनुष्य का ऐसा विश्वास बन गया था कि कोई तो ऐसी सत्ता है जो इस ब्रह्माण्ड को चला रही है। जैसे-जैसे मनुष्य की बुद्धि का विकास होता गया उसने अनेक देवताओं में सर्वशक्तिमान एकदेव या ईश्वर की कल्पना प्रस्थापित की। प्राचीनकाल के आर्यों ने अनेक देवता माने थे परन्तु एक ईश्वर की कल्पना ऋग्वेद काल में हो चुकी थी और यह माना जाने लगा कि अन्य सब देवता उसी के स्वरूप हैं।

उपनिषद्ों में ब्रह्म के सगुण व निर्गुण दोनों प्रकार के वर्णन पाये जाते हैं। 'श्वेताश्वेतरोपनिषद्' में ब्रह्म के लिए स्पष्ट रूप से निर्गुण शब्द का प्रयोग किया गया है-

''एको देवः सर्वभूतेषू गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च।''[2]

---

1 डॉ० आशा गुप्ता-मध्ययुगीन सगुण एवं निर्गुण हिन्दी साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० 3

2 डॉ० आशा गुप्ता-मध्ययुगीन सगुण एवं निर्गुण हिन्दी साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन में उद्धृत, पृ० 5

गीता में ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप के साथ सगुण रूप को बड़ी सूक्ष्मता के साथ स्पष्ट किया गया है। जहाँ अजम्, अव्ययम्, अनादिम्, अक्षरम् अविनश्यन्तम् का प्रयोग है। वह ब्रह्म की निर्गुण परिभाषा के अन्तर्गत आता है। लेकिन जहाँ 'सर्वभूतानाम् सनातन्म बीजम्' या 'सर्वस्य प्रभवः' जैसे कथन का प्रयोग है वहाँ उसके सगुण रूप के दर्शन होते हैं। सांख्यसूत्रों में ईश्वर के सगुण रूप की चर्चा बिल्कुल नहीं है। कपिल ने प्रमाण के अभाव के कारण ईश्वर की सत्ता को ही स्वीकार नहीं किया। कपिल ने आत्मा की सत्ता को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया और उसे सर्वोपरि ठहराया और अन्त में आत्मा को 'निर्गुण' विशेषण से विभूषित किया। पतंजलि के योगसूत्र में ईश्वरसम्बन्धी कुछ सूत्र हैं। उसमें ईश्वर की जो व्याख्या की गई है उसमें उनके गुणों का वर्णन नहीं है और प्रत्यक्ष रूप से ईश्वर को निर्गुण ही माना है। भगवद्गीता में जिस सगुण ब्रह्म ही ओर संकेत या उसका विकास पुराणों में हुआ। विष्णु पुराण में निर्गुण भक्ति को अगम और सगुण भक्ति को सुगम बताते हुए सगुण भक्ति का ही विधान बताया गया है।

''आचार्य शंकर के अनुसार ब्रह्म स्वयं सिद्ध, सृष्टि का अभिन्न निमित्तोपादान कारण, सगुण-निर्गुण और मन-वाणी का अविषय है। उपासना-भेद से उसके स्वरूप में औपाधिकता एवं अनेकरूपता है। सृष्टि का कर्त्ता हो कर भी वह अकर्त्ता है एवं अविद्या तथा गाया का अधिष्ठान होते हुए भी तज्जन्य विकारों से मुक्त है।''[1] शंकराचार्य ने ब्रह्म की सत्ता मानते हुए उसके समस्त गुणों का खण्डन किया था। उनके अनुसार गुणों का आरोप भेद-व्यवहार के योग्य सगुण ब्रह्म में होता है, निर्गुण में नहीं। शंकर सिद्धान्त में मुख्य निराकार ब्रह्म की प्रतिष्ठा है। शंकराचार्य जी एक अलौकिक प्रतिभा-सम्पन्न महापुरूष थे। कहते हैं, आठ वर्ष की आयु में उन्होंने

---

1 शान्तिस्वरूप त्रिपाठी-शांकर अद्वैत वेदान्त का निर्गुण काव्य पर प्रभाव, पृ० 95

चारों वेदों का और 12 वर्ष की आयु तक सभी शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। सोलह वर्ष की उम्र में उन्होंने प्रस्थान त्रयी पर भाष्य लिख डाला था और 32 वर्ष में ही वे समाधिस्थ हो गए। आचार्य शंकर ने ब्रह्म को निराकार और आकृतियों तथा गुणों से शून्य माना है। उनके अनुसार ब्रह्म निराकार ही है, परन्तु जिस प्रकार प्रकाश किसी आकार युक्त आश्रय को प्राप्त करके तदाकार होता है उसी प्रकार निर्गुण ब्रह्म गुणों से युक्त हो जाने पर साकार हो जाता है। किन्तु ब्रह्म के साकार हो जाने पर ब्रह्म का निर्गुण निराकार स्वरूप बाधित नहीं होता, उपासना की दृष्टि से निर्गुण ब्रह्म ही साकार एवं सगुण रूप में प्रतिष्ठित होता है।

शंकराचार्य ने जब तर्कसहित ब्रह्म के समस्त गुणराहित्य की स्थापना की तब उनके बाद रामानुज ही ऐसे आचार्य हुए जिन्होंने तर्क सहित ब्रह्म में अप्राकृत गुणों का समावेश सिद्ध किया और ब्रह्म को कल्याणकारी गुणों से परिपूर्ण माना। श्रुतियों के 'नेति नेति' को समझाते हुए उन्होंने कहा है कि जितना उसको कहा गया है वह उतना ही नहीं है। ब्रह्म सत् चित्त आनन्द इन तीनों गुणों से युक्त है। वह 'विष्णु' रूप में है। ''रामानुज के समय से उपासना और भक्ति पर आचार्यों ने अधिक बल दिया। ब्रह्म के निर्गुण सगुण रूप की व्याख्या करना उनका ध्येय नहीं था। निर्गुण ब्रह्म को मानते हुए ब्रह्म के सगुण स्वरूप के किसी विशेष रूप को लेकर उसकी उपासना करना इन आचार्यों का इष्ट था।''[1]

रामानुज की परम्परा में रामानन्द हुए जिन्होंने तत्त्ववाद की अधिक व्याख्या न करके राम की भक्ति का प्रचार किया। आप ने ब्रह्म के सगुण अवतार राम को परमइष्ट के रूप में स्वीकार किया । उधर निम्बार्क ने कृष्ण की उपासना का प्रचलन

---

1 डॉ० आशा गुप्ता-मध्ययुगीन सगुण एवं निर्गुण हिन्दी साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० 10

किया। परवर्ती आचार्यों का आपसी मतभेद इस बात को लेकर था कि वह सगुण किस प्रकार का है न कि भगवान् निर्गुण है कि सगुण। आगे चलकर 16वीं शताब्दी में वल्लभाचार्य ने सगुण को ही असली रूप तथा निर्गुण को उसका तिरोहित रूप कहा।

इन सब से तात्पर्य यह है कि ब्रह्म के सगुण और निर्गुण दोनों रूपों को लेकर भारतीय साहित्य में प्राचीन काल से ही विचार होना प्रारम्भ हुआ और साहित्य के विकास के साथ ही ये दोनों विचारधारायें विकसित होती गई।

2.42 निर्गुण भक्तिकाव्य

ईश्वर के निराकार रूप के बारे में ऋग्वेदादि भाष्यभूगिका में ऐसा उल्लेख मिलता है कि ''परमेश्वर सर्वशक्तिमान है, उसमें ऐसी शंका करनी सर्वथा व्यर्थ है, क्योंकि मुख और प्राणादि साधनों के बिना भी परमेश्वर में मुख और प्राणादि के काम करने का अनन्त सामर्थ्य है कि मुख के बिना मुख का काम और प्राणादि के बिना प्राणादि का काम वह अपने सामर्थ्य से यथावत् कर सकता है।''[1] ''जब जगत् उत्पन्न नहीं हुआ था, उस समय निराकार ईश्वर ने सम्पूर्ण जगत् को बनाया- - - - - । जैसे वेदों में अत्यन्त सूक्ष्म विद्या का रचन ईश्वर ने किया है, वैसे ही जगत् में भी नेत्र आदि पदार्थों का अत्यन्त आश्चर्यरूप रचन किया है।''[2]

ज्ञान और भक्ति दो विरोधी मार्ग न होकर परस्पर सम्बद्ध है। ज्ञान की अनुभूति ही भक्ति है। भक्तिकाल में मुख्य रूप से दो काव्य धाराएँ प्रवाहित हुई-निर्गुण काव्यधारा और सगुण काव्यधारा । इन धाराओं के विकास के

---

1 ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका- पृ०9

2 ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-पृ० 9

साथ-साथ यह माना जाने लगा कि निर्गुण ब्रह्म का सम्बन्ध ज्ञान-मार्ग के साथ है और सगुण ब्रह्म का भक्ति के साथ । जिस समय देश में इन धाराओं का विकास हुआ उस समय मुख्य रूप से हिन्दू और मुसलमान अपने-अपने धर्म को उच्च घोषित करने में लगे हुए थे। एक ही वातावरण में रहते हुए उनके राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक विचार किसी भी दृष्टि से मेल नहीं खाते थे। एक ओर इस्लाम के एकेश्वरवाद का प्रचार हो रहा था तो दूसरी ओर वैष्णव धर्म अपना प्रचार करने में लगा हुआ था। मुसलमानों के 'अल्लाह' का स्वरूप हिन्दुओं के 'परमेश्वर' के स्वरूप जैसा नहीं था। इस समय तक आते-आते उत्तर भारत में बौद्ध धर्म तो केवल अपने आदर्श मात्र को छोड़ गया था। इस बात से अधिकतर विद्वान सहमत हैं कि बौद्धधर्म की भस्म पर ही सन्तमत का प्रादुर्भाव हुआ था। बौद्धधर्म की निर्गुण (शून्य) विचारधारा सिद्धों से होकर नाथों तक पहुँची थी और सन्तों ने नाथों से उसको ग्रहण किया था।

निर्गुण भक्तिधारा की सन्त काव्य परम्परा के प्रमुख प्रवर्त्तक कबीर के समय में उत्तर भारत की धार्मिक विचारधारा अनेक प्रकार के प्रभावों से समन्वित थी। उस समय बौद्ध धर्म का प्रगट रूप शेष न था। किन्तु उसके विचार-मात्र जनसमाज में थे। नाथों ने बौद्ध धर्म की परम्परागत साधना, धर्म, चिन्तन संयम, विरक्ति, प्राणायाम के आदि को अपने रूप से अंगीकार कर लिया। ऐसे धार्मिक वातावरण में जहाँ अनेक सम्प्रदाय धर्म के नाम पर चल पड़े थे, सन्तों ने ईश्वर के निर्गुण रूप को अपनाया। उन्होंने ज्ञान तत्त्व वेदान्त से, प्रेम तत्त्व सूफियों से, भक्ति तत्त्व वैष्णवों से, सुरति-निरति आदि शब्द योगियों की बानियों से लिया और एक निर्गुण, निराकार, निर्लेप, अगम, अगोचर ब्रह्म के रूप को श्रेष्ठ बताया। जो सर्वव्यापी, सर्वान्तरयामी तथा सृष्टिकर्त्ता है।

2.421 निर्गुण भक्तिकाव्य का स्वरूप और सन्त

निर्गुण काव्यधारा का उदय रूढ़िवादी अंध विश्वास प्रधान धार्मिक संप्रदायों की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ था। सन्त काव्य बहुत कुछ उस युग की माँग का उपयुक्त उत्तर है। इसलिए इसमें ईश्वर के उस रूप को मान्यता मिली है जो हिन्दू-मुसलमान दोनों को ग्राह्य हो। निर्गुण सन्तों ने परमात्मा के निराकार रूप को प्राथमिकता दी। उन्होंने बहुदेववाद, अवतारवाद और ईश्वर के साकार रूप का विरोध किया। परमात्मा के जितने भी नाम हैं-अल्लाह, राम, रहीम, हरि आदि सभी को एक ही ईश्वर के माना है। उन्होंने बहुदेववादी को परकीया की तरह माना जैसे परकीया से उसका पति कभी प्रसन्न नहीं हो सकता, उसी प्रकार एक ईश्वर को छोड़कर अन्य देवों की उपासना करने वाले भक्त से भगवान खुश नहीं हो सकता। संतों के अनुसार पूजा, नैवेद्य आरती आदि जितने भी स्थूल साधन हैं सब महत्त्वहीन हैं। तीर्थ स्थानों का भी कुछ महत्त्व नहीं। मंदिरों में जाकर घंटा बजाना संतों की दृष्टि में उपासना नहीं, वरन् ढोंग है। वास्तविक साधना का इससे कोई सम्बन्ध नहीं है। संतों ने परमेश्वर को घट-घट में, प्रत्येक जीव में वर्तमान माना है। सन्तों का काव्य बहुत स्पष्ट और प्रभावशाली है।

संतों ने ब्रह्म को जगत् के निर्माण से पूर्व, उसके मध्य में तथा प्रलय के पश्चात् भी एक रूप कहा है। वह सब समय में एक सा रहता है वह चिरनित्य है। वह जड़-चेतन, कीट-पतंगों तथा छोटे-बड़े सभी पदार्थों में समाया हुआ है। जगत् के सारे पदार्थ व प्राणी उसके अंगरूप हैं। उसकी गति सब स्थानों पर है। वह सर्वव्यापक है वही इस जगत् को बनाने वाला और नाश करने वाला है। संतों ने ब्रह्म को सर्व-निवासी माना है। वह घट-घट में समाया हुआ है, परन्तु उसकी सत्य ज्योति

का प्रकाश उस समय तक नहीं देखा जा सकता है और न ही अनुभव किया जा सकता है जब तक रामनाम रूपी चकमक पत्थर के साथ अपने हृदय को घर्षित नहीं किया जाता।

कबीर निराकारवादी थे। निराकार की प्राप्ति ज्ञान से संभव है। वह घट में बसता है, उसे बाहर खोजने की आवश्यकता नहीं है। कबीर ने बार-बार 'राम' शब्द का प्रयोग किया है, किन्तु उनका राम दाशरथि राम न होकर परम ब्रह्म का प्रतीक है-

''दशरथ सुत तिहु लोक बखाना।
राम नाम का मरम है आना।।''[1]

रविदास जी ने भी अपने इसी तरह के विचार प्रकट किए हैं। उन्होंने भी 'राम' परमब्रह्म को माना है न कि दशरथ के पुत्र को। वे जिस राम की आराधना करते हैं वे तो सर्वव्यापक है। इस विश्वरूपी परिवार में समाये हुए हैं-

''रविदास' हमारो राम जी, दसरथ करि सुत नांहि।
राम हनउ मंहि रमि रह्यो, बिसब कुटंबह मांहि।।''[2]

गुरु नानक देव जी ने रामावतार के सम्बन्ध में अपने विचार इस तरह प्रकट किए हैं-

''मन महि झूरै रामचन्दु सीता लछमणु जोगु।
हणवंतरू आराधिआ आइआ करि संजोगु।।
भूला दैतु न समझई तिनि प्रभ कीए काम।
नानक बेपरवाह सो, किरतु न मिटई राम।।''[3]

---

1 डॉ० शिवकुमार शर्मा-हिन्दी साहित्य: युग और प्रवृत्तियाँ, पृ०138
2 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद-रविदास दर्शन, पृ० 1
3 डॉ० जयराम मिश्र-श्री गुरु ग्रंथ-दर्शन, पृ० 91

अर्थात्, ''रामचन्द्र ने सीता और लक्ष्मण के लिए मन में दुःख प्रकट किया। उन्होंने हनुमान जी को स्मरण किया और संयोगवश वे आ गए। मूर्ख रावण यह नहीं समझता था कि मेरी मृत्यु का कारण राम नहीं, परमात्मा है। 'नानक' कहते हैं कि परमात्मा सर्वथा स्वतंत्र है, क्योंकि राम भी भाग्य-रेखा नहीं मेट सके।''[1]

संतों ने कई स्थानों पर ब्रह्म को निर्गुण-सगुण से भी ऊपर माना है। परमात्मा निर्गुण है या सगुण, यह अनुभूति का विषय है। इस विषय में विवाद व्यर्थ है। वह एक है, अद्वितीय है। संत कवि दादू इस विषय में कहते हैं-

दादू श्रगुण नृगुण द्वै रहे, जैसा हौ तैसा लीन्ह।
हरि सुमिरण त्यौ लाइये, का जांणौं का कीन्ह।'[2]

रविदास जी के लिए ब्रह्म के सगुण निर्गुण दोनों रूप ग्राह्य हैं-

''अगुन सगुन दौ सम करि जान्यौ, चहुं दिस दरसन तोरा।'[3]

कबीरदास ने भी अपनी इस भावना को व्यक्त किया है। राम को निर्गुण-निराकार रुप ही नहीं दिया; निर्गुण सगुण से भी परे उसे माना गया है-

''निर्गुण सरगुण से परे तहां हमारा ध्यान।'[4]

गुरु अमरदास जी ने इसी बात को पुष्ट करने के लिए स्पष्ट कह दिया कि परमात्मा निर्गुण और सगुण स्वरूप अपने आप ही है। जो इस महान् तत्त्व को पहचानता है, वही वास्तविक पंडित है-

''निरगुण सरगुणु आपे सोई।
सतु पछाणै सो पंडितु होई।।'[5]

---

1 डॉ० जयराम मिश्र-श्री गुरु ग्रंथ-दर्शन, पृ० 91
2 रामबक्ष-दादूदयाल, पृ० 73
3 सं० आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद-युग प्रवर्त्तक संतगुरु रविदास में उद्धृत, पृ० 66
4 डॉ० जयनाथ 'नलिन'- भक्तिकाव्य में माधुर्य भाव का स्वरूप में उद्धृत, पृ० 31
5 डॉ० जयराम मिश्र-श्री गुरु ग्रंथ-दर्शन में उद्धृत, पृ० 94

गुरु अर्जुन देव ने भी एक स्थल पर कहा है कि किसी के पास निर्गुण स्वरूप है, किसी के पास सगुण स्वरूप किन्तु मेरा स्वामी तो दोनों ही स्वरूपों में क्रीड़ा कर रहा है-

''निरगुनु आपि सरगुन भी ओही।
कला धारि जिनि सगली गोही।।''[1]

संतों ने जहाँ परमात्मा के निर्गुण और सगुण रूप का वर्णन किया है उसमें अवतार धारण को नहीं माना है। उनका ब्रह्म एक है और अजन्मा है।

2.422 निर्गुण भक्तिकाव्य का स्वरूप और सूफी

भक्तिकाल में निर्गुण को आराध्य मानकर चलनेवाली एक और साधना-पद्धति भी दिखाई देती है-यह है सूफियों की प्रेमपद्धति। सन्तों और सूफियों ने ईश्वर के निराकार रूप को माना। दोनों का उद्देश्य परमसत्ता के साथ एकत्व स्थापित करना है। दोनों पद्धतियों में साधना, प्रेम और ज्ञान है । जहाँ सूफियों में प्रेम की प्रधानता है वहीं सन्तों में ज्ञान की। सन्तों और सूफियों ने जन-सामान्य में निर्गुण भक्ति का प्रचार किया। ये पहले सन्त और साधक हैं बाद में कवि। अत: कविता इनके लिए साधन थी न कि साध्य। सूफियों के अनुसार यह संसार ब्रह्म कृत है। संसार में उसी का स्वरूप है। सूफियों ने यद्यपि माया को स्थान नहीं दिया किन्तु शैतान के अस्तित्त्व को माना है जो जीव को ब्रह्म से मिलने में बाधा पहुँचाता है।

जब निर्गुण भक्ति में माधुर्य भाव का समावेश होता है तब रहस्यवाद का उदय होता है। रहस्यवाद माधुर्य भाव की निर्गुण भक्ति ही है। इसमें माधुर्य भाव को अभिव्यक्त करने के लिए नायक और नायिका के रूप में साधक और साध्य की परिकल्पना अनिवार्य हो जाती है। यहाँ इस बात को महत्त्व नहीं दिया जाता कि ब्रह्म

---

1 डॉ० जयराम मिश्र-श्री गुरु ग्रंथ-दर्शन में उद्धृत, पृ० 95

नायक है या नायिका। रहस्यवाद में ब्रह्म और आत्मा के सम्बन्ध को प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त किया जाता है। ये प्रतीक भी नर और नारी के रूप में हैं जो इसी लोक से सम्बन्धित हैं परन्तु इसमें प्रयुक्त प्रतीक नर और नारी हमेशा एक नहीं रहते। ब्रह्म और आत्मा की भावना किसी भी नर और नारी के रूप में की जाती है। निर्गुण भक्ति में निर्गुण ही भक्ति का प्रत्यक्ष आलम्बन है, जबकि रहस्यवाद में निर्गुण ब्रह्म को प्रिया या प्रिय के रूप में व्यक्त किया जाता है। लेकिन यहां मूल उद्देश्य निर्गुण ब्रह्म से मिलन के आनन्द का भोग ही है। जहाँ कबीर का स्थान सन्त-काव्य में सर्वोच्च है वहीं जायसी का सूफी काव्य में। कबीर का ज्ञान मस्तिष्क से सम्बद्ध है जबकि जायसी का प्रेम रहस्य से।

2.423 निर्गुण भक्तिकाव्य का स्वरूप और रामकाव्य

तुलसी के आराध्य राम ब्रह्म स्वरूप हैं। वे ही संसार के कर्त्ता हैं। यद्यपि तुलसी ने उन्हें दशरथ सुत माना है, किन्तु वे साधारण लौकिक जीव नहीं है। उनके राजसिंहासन के समय वेद उन्हीं को निर्गुण कह कर उनकी स्तुति करते हैं। उनके अवतार लेने के पीछे भी एक कारण है और वे यह है कि वे पृथ्वी के भार को कम करना चाहते हैं, परन्तु वे निराकार हैं और सच्चिदानन्द स्वरूप हैं। उनको साधारण समझने वाले प्राणी अज्ञानी हैं। तुलसी ने निर्गुण सगुण में कुछ भेद नहीं माना हैं। निर्गुण ब्रह्म ही भक्तों के कारण अवतार धारण करते हैं-

'' सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा।।
अगुन अरूप अलख अज जोइ। भगत प्रेम बस सगुन सो होई।''[1]

इनका ईश्वर सगुण है। ज्ञान, कर्म और भक्ति में से भक्ति को ही अपने उपजीव्य के रूप मे ग्रहण किया है। यद्यपि इन्होंने ज्ञान की अवहेलना तो नहीं की पर उसे भक्ति जैसा समर्थ भी नहीं बताया । मध्यकालीन सगुण भक्त कवियों का

---

1 तुलसीदास - श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड, पृ० 53

उपास्य सगुण है और उन्होंने इसके गुणों को अप्राकृतिक माना है प्रभु को अप्राकृतिक माना है। प्रभु के दिव्य गुण ह्रास-विकास रहित हैं। भगवान का यह स्वरूप हृदय और बुद्धि की पहुंच से परे है। ''इन्हें उपासना-क्षेत्र में ईश्वर का सगुण रूप मान्य है अन्यथा इनके यहां भी निर्गुण ईश्वर की ही स्वीकृति है। इनके लिए भगवान चल भी है और अचल भी, मूर्त भी है और अमूर्त भी, वामन भी है और विराट भी, सगुण भी है और निर्गुण भी। वस्तुतः वह अनिर्वचनीय है और कालातीत है किन्तु उसका अपनी समग्रता में किसी काल में अवतरित होना असंभव नहीं।''[1]

सगुणोपासक तुलसीदास के लिए भी निर्गुण की सत्ता अमान्य नहीं है। वे तो भक्ति के लिये दोनों रूपों का ध्यान अनिवार्य मानते हैं। आराध्य देव के निर्गुण रूप को समझे बिना सगुण भक्ति भी सम्भव नहीं है।

''हिय निर्गुन, नयनन्हि सगुन, रसना राम सुनाम।
मनहुं परट-संपुट लसत, तुलसी ललित ललाम।।''[2]

2.424 निर्गुण भक्तिकाव्य का स्वरूप और कृष्णकाव्य

कृष्णभक्त कवियों में प्रमुख सूरदास तथा अष्ठछाप के अन्य कवियों ने कृष्ण की जोकि उनके इष्टदेव हैं- पूर्ण ब्रह्म पुरूषोत्तम माना है। जिनके सगुण निर्गुण दो रूप हैं। सूरदास की भक्ति-भावना का पुष्टिमार्ग सिद्धान्त भगवदनुग्रह है। इसी को आधार मानकर वे वात्सल्य, सख्य और माधुर्य भाव की व्यंजना में लीन रहे । पुष्टिमार्ग में दीक्षित होने के पूर्व वे विनय के पदों की रचना किया करते थे। उनके

---

1 डॉ० शिवकुमार शर्मा- हिन्दी साहित्य: युग और प्रवृत्तियाँ, पृ० 196-197

2 डॉ० नगेन्द्र- हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 116

कुछ पदों में निर्गुण साधना-पद्धति का संकेत मिलता है । ऐसे पद्यों में सूर ने ब्रह्मज्ञानियों के समान माया का वर्णन किया है।

''नैननि निरखि स्याम स्वरूप
रह्यो घट-घट व्यापि सोई जोति रूप अनूप।''[1]

ब्रह्म का निर्गुण रूप अगम है अत: सगुण का आधार आवश्यक है। सगुण रूप की लीला का गुणगान ही सूर ने आध्यात्मिक सिद्धि का साधन माना है। उन्होंने कृष्ण को पूर्ण पुरुषोत्तम माना है तथा उन्हीं से ब्रह्मा, विष्णु, महेश तथा चौबीस लीलावतार प्रसूत हुये हैं।

मीरा के प्रभु हरि अविनाशी हैं। सर्वगुण सम्पन्न होना के कारण वे मनोहर रूपधारी हैं। सिद्धान्त रूप से मीरा के प्रभु निर्गुण ही है। जो समस्त संसार में व्याप्त है, किन्तु व्यवहार की दृष्टि में वे ठाकुर की मूर्ति में भी विद्यमान हैं। तभी तो मीरा वृन्दावन के मन्दिरों में कृष्ण के सम्मुख आत्म विभोर होकर नृत्य करती हैं। साथ ही साथ निर्गुण होने के कारण उनका मिलना कठिन है। मीरा ने निर्गुण तथा सगुण दोनों में उपासना की है। अत: हम कह सकते हैं कि आध्यात्मिक अनुभव में मीरा के निराकार रूप व्याप्त है, दूसरी ओर वह सगुण कृष्णभक्ति की साकार प्रतिमा है।

निष्कर्ष में कहा जा सकता है कि भक्ति की निर्गुण तथा सगुण धाराओं में ईश्वर के निर्गुण और सगुण दोनों रूप विद्यमान हैं। इनमें मुख्य रूप से ईश्वर की आराधना पर बल दिया गया है। जहाँ आकर सारे भेद मिट जाते हैं। भगवान जिस रूप

---

1 डॉ० शिवकुमार शर्मा-हिन्दी साहित्य: युग और प्रवृत्तियाँ , पृ० 253

में है उसे ठीक उसी रूप में व्यक्त करना सम्भव ही नहीं है। वास्तव में उसका अनुभव तो गूँगे के गुड़ की तरह हैं। उसे शब्दों में नहीं बाँधा जा सकता।

2.5 भक्ति साहित्यः संत काव्य की भूमिका

साहित्य में किसी एक काल की वर्त्तमान संस्कृति का समूचा इतिहास निहित होता है। वह किसी एक जाति अथवा समाज की सम्पूर्ण संस्कृति की उपज होता है। साहित्य में उस समय की संस्कृति के आत्मदर्शन होते हैं। भारतीय संस्कृति की धारा जिसका प्रारम्भ हम वैदिक युग के प्राचीन आर्यों से मानते हैं उसको समय-समय पर कितने ही आक्रमणकारियों ने प्रभावित किया परन्तु इसका प्रवाह अवरूद्ध नहीं हुआ। जिस प्रकार गंगा के प्रवाह में आकर बहुत सी छोटी-बड़ी नदियाँ उसमें मिल जाती हैं उसी प्रकार भारतीय संस्कृति की धारा में अन्य संस्कृतियाँ उसका अंग बन गईं। यद्यपि भारतीय संस्कृति में समय-समय पर अनेक नवीन तत्त्वों का समावेश हुआ परन्तु इसके दृढ़ स्तम्भ को और अस्तित्त्व को कोई नहीं मिटा सका बल्कि यह अपेक्षाकृत अधिक सम्पन्न और समृद्ध हुई। भारतीय संस्कृति धर्म प्रधान संस्कृति है, धर्म इसका आधार स्तम्भ भी है और प्राण भी।

हिन्दी साहित्य के मध्ययुग का सारा भक्ति साहित्य एक विशेष श्रेणी का साहित्य है, जिसमें मत-साधना-पद्धति और आचार-विचार सम्बन्धी मतभेदों के होते हुए भी एक साम्य है। यह साहित्य सम्पूर्ण रूप से सामाजिक सम्बन्ध से जुड़ा हुआ है। जिसमें उस युग की सामाजिक स्थिति समाज-सुधार तथा आचारों-विचारों का सुन्दर चित्र अंकित किया गया है। मध्यकालीन भक्ति साहित्य की ओर देखने से पता चलता है कि समूचे भक्ति साहित्य में सामाजिक चेतना का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है। विभिन्न विदेशी आक्रमणों तथा उनके यहाँ बस जाने से अनेक मत-मतान्तरों, पन्थों, सम्प्रदायों, चिन्तन-धाराओं अथवा साधना पद्धतियों की शाखाओं तथा उपशाखाओं

का जन्म हुआ और इनके विस्तार, विकास और प्रसार से भारतीय संस्कृति की जड़ें और गहरी होती चली गईं। इस साहित्य की इन्हीं विशेषताओं के कारण भक्ति साहित्य अपनी विशालता, प्रौढ़ता, गुण महत्त्व तथा आदर्श-निष्ठा के कारण हिन्दी साहित्य में सर्वोच्च स्थान रखता है।

2.51 भक्ति साहित्य

हिन्दी साहित्य के इतिहास के चारों कालों में भक्तिकाल का स्थान सर्वोपरि है। विद्वानों ने इसे स्वर्ण-युग के नाम से भी सुशोभित किया है। इस काल का साहित्य निश्चित रूप से उत्तम है। जिसमें भक्ति की दो धाराएँ निर्गुण तथा सगुण प्रवाहित हुई, जिनमें मत-भेद होते हुए भी उद्देश्य एक ही रहा। निर्गुण धारा में पुनः दो शाखाएँ ज्ञानाश्रयी तथा प्रेमाश्रयी शाखा विकसित हुई। इष्टदेव के भेद से सगुण शाखा भी दो शाखाओं में विभक्त हो गई- रामाश्रयी शाखा तथा कृष्णाश्रयी शाखा। सगुणधारा के साधक कवि भक्त कहलाये गये। इनका विश्वास था कि ब्रह्म निर्गुण-निराकार होते हुये भी अन्याय, अत्याचार और अधर्म का नाश कर 'धर्म संस्थापनाय' रूप एवं आकार ग्रहण किया करता है। इनकी यह मान्यता पौराणिक अवतारवाद पर आधारित है। इसमें कुछ भक्तों ने 'माधुर्य भाव' को प्रश्रय दिया और कुछ ने 'मर्यादा भाव' को। रामाश्रयी शाखा जिसमें राम को इष्टदेव माना गया, रामभक्तों ने राम के मर्यादा पुरूषोत्तम, शक्तिशील और सौन्दर्य से मुक्त रूप की उपासना को स्थान दिया। कृष्णाश्रयी शाखा जिसमें कवियों ने श्री कृष्ण को आराध्य मानकर भक्ति साधना के स्तर पर लीला बिहारी कृष्ण को माधुर्य भाव की उपासना पर बल दिया। उसकी लीलाओं का अंग बनकर उसकी कृपा प्राप्त करने की प्रेरणा दी।

निर्गुण भक्तिधारा के साधक कवि सन्त और सूफी कहे गये। इन्होंने ईश्वर को एक माना, उसे निर्गुण निराकार कहा और उसकी सत्ता को सर्वत्र विद्यमान माना है। इसलिए उसे मन्दिर, मस्जिद या काबा-काशी जाकर खोजना व्यर्थ है। उसे अपने भीतर ही, आत्मा और मन में अनुभूत किया जा सकता है और यह अनुभूति ज्ञान और प्रेम के द्वारा ही सम्भव है। ज्ञानाश्रयी शाखा में बुद्धिवाद का अवलम्बन ले ईश्वर के ज्ञानस्वरूप को ग्रहण किया गया तथा प्रेमाश्रयी शाखा में हृदय तत्त्व को प्रधानता दी गई।

हिन्दी भक्ति साहित्य में सन्तों के निर्गुणवाद और भक्तों के सगुणवाद में अनेक समानताएं भी सम्मिलित हैं। जो इस साहित्य के मूल में है, वह है भक्त का भगवान् के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध। निर्गुणमत के भक्त हों या सगुणमत के, भगवान् के साथ उन्होंने कोई-न-कोई अपना सम्बन्ध पाया है। कबीर कहते हैं- 'हे भगवान्! तू मेरी माँ है, मैं तेरा बालक हूँ; मेरा अवगुण क्यों नहीं बख्श देता?

''हरि जननी, मैं बालक तेरा। काहे न औंगुन बगसहु मेरा।।''[1]

सूरदास कहते हैं-'तुम्हारी भक्ति ही मेरे प्राण हैं, अगर यही छूट गई तो भक्त जियेगा कैसे? पानी बिना प्राण कहीं रह सकता है?

''तुम्हारी भक्ति हमारे प्रान।
छूटि गये कैसे जन जीवन ज्यों पानी बिन प्रान।।''[2]

भक्ति साहित्य में भक्त और भगवान् को समान बताया गया है। प्रेम का आधार ही समानता है। गुरु को ईश्वर का रूप समझा गया है। भक्त और भगवान् की तरह भक्ति की महिमा भी अपरम्पार है। इस युग के सगुण और निर्गुण दोनों मतों में

---

1 डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी-हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० 94

2 डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी-हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० 95

नाम की महिमा भी खूब गाई है। रामचरितमानस के आरम्भ में ही विस्तारपूर्वक बताया गया है कि राम की अपेक्षा राम का नाम अधिक उपकारी है।

भक्ति साहित्य में अनुभूति की गहनता और भावप्रणता अधिक पाई जाती है। यह साहित्य एक महती साधना और प्रेमोल्लास का देश है। जहाँ जीवन के सभी विषाद मिट जाते हैं। इस साहित्य में उच्च धर्म की व्याख्या के साथ-साथ उच्च कोटि के काव्य के भी दर्शन होते हैं। यह साहित्य परम भक्ति का साहित्य है, जिसमें हृदय, मन और आत्मा को शांति मिलती है। भक्ति साहित्य में आडम्बरविहीन एक सुचितापूर्ण सरल जीवन की सरल झाँकी है। जिससे यह साहित्य एकदम अनुपम और विलक्षण बनता है। भक्तिकाल का काव्य राज्याश्रय में नहीं पला बल्कि आत्म-प्रेरणा का फल है जिसमें निश्छल आत्माभिव्यक्ति के साथ-साथ सत्य, उल्लास, आनन्द और युग निर्माणकारिणी प्रेरणा है। इसमें लोकभाषा का प्रयोग होने से यह साहित्य जनता के अधिक निकट पहुँचा। हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत जिस भक्ति-साहित्य में आध्यात्मिक-चेतनाओं की सर्जना हुई, उसका व्यवहार-जगत् से सम्बन्धित सांस्कृतिक, राष्ट्रीय और जातीय महत्त्व भी है। भारतीय संस्कृति की वह परम्परा जो वैदिक काल से निरन्तर प्रवहमान थी उसे मध्यकाल के सन्तों ने युगानुरूप परिपुष्ट करने में विशेष योगदान दिया।

2.52 संत शब्द की व्युत्पत्ति तथा अर्थ

''संत शब्द भारतमूलक है जो 'सं' (सम्यक्)+'त' (तरण) के योग से बना है। जिसका अर्थ है, वह श्रेष्ठ व्यक्ति जो संसार-सागर को ''सम्यक् रूप से तर ले'' अर्थात् लोक-परलोक सँवार सके।''[1]

---

1 रामप्रसाद मिश्र- हिन्दी साहित्य का वस्तुपरक इतिहास, पृ० 156

''डॉ० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल के मतानुसार 'संत' शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से सम्भव है। यह 'सत' का बहुवचन हो सकता है, जिसका हिन्दी में एक वचन में प्रयोग हुआ है, अथवा 'शांत' का अपभ्रंश रूप हो सकता है, जैसे पाली भाषा में होता है। पहली व्युत्पत्ति से 'संत' के अर्थ होंगे जो सत् है अथवा जिसे 'सत्' की अनुभूति हो चुकी हो। दूसरी व्युत्पत्ति से इसका आशय होगा जिसकी कामनाएं शांत हो चुकी हैं। दोनों ही अर्थ संत शब्द पर ठीक उतरते हैं।''[1]

आचार्य परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार "'सत' शब्द हिन्दी भाषा के अंतर्गत एक वचन में प्रयुक्त होता है, किन्तु यह मूलतः संस्कृत शब्द 'सन' का बहुवचन है। 'सन्' शब्द भी (अस्=होना) धातु से बने हुए, 'सत' का पुल्लिंग रूप है जो 'शतृ' प्रत्यय लगाकर, प्रस्तुत किया जाता है और जिसका अर्थ केवल 'होनेवाला' वा 'रहनेवाला' हो सकता है। इस प्रकार संत शब्द का मौलिक अर्थ 'शुद्ध अस्तित्त्व' भात्र का ही बोधक है और इसका प्रयोग भी, इसी कारण, उस नित्य वस्तु वा परम तत्त्व के लिए अपेक्षित होगा जिसका नाश कभी नहीं होता, जो 'सदा एकरस व अविकृत रूप में विद्यमान' रहा करता है और जिसे 'सत्य' के नाम से भी अभिहित किया जा सकता है।"[2]

बौद्धों के पालि भाषा में लिखित प्रसिद्ध धर्म-ग्रन्थ 'धम्मपद' में यह शब्द 'शान्त' के अर्थ में प्रयुक्त दिखाई देता है।

''मैत्रीविहारवान् भिक्षुः, प्रसत्रो बुद्धशासने।
अधिगच्छेत् पदं शान्तं, संसारोपशमं सुखम् ।।।।।"[3]

---

1 डॉ० सावित्री शुक्ल-संत-साहित्य की सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में उद्धृत, पृ० 1

2 परशुराम चतुर्वेदी- उत्तरी भारत की संत-परम्परा, पृ० 4

3 इन्द्र-धम्मपद- भिक्षु वर्ग, पृ० 178

अर्थात् ''जो मैत्रीभाव से विहार करने वाला है, जो भगवान् बुद्ध के शासन में प्रसन्न रहता है, वह शान्त पद को तथा संसारचक्र को समाप्त करने वाले सख को प्राप्त करता है।''[1]

कुछ विद्वानों ने इसे अंग्रेजी शब्द सेंट (Saint) का समानार्थक एवं उसका हिन्दी रूपान्तर सिद्ध करने का प्रयास किया है, ''Saint(सेंट) शब्द, वस्तुतः लैटिन Sancio (सैंशियों=पवित्र कर देना) के आधार पर निर्मित, Sanctus (सैंक्टस) शब्द से बनता है जिसका अभिप्राय, इसी कारण, 'पवित्र' होता है और वह ईसाई धर्म के कतिपय प्राचीन महात्माओं के लिए 'पवित्रात्मा' के अर्थ में प्रयुक्त होता है।''[2]

जो हो, संत शब्द की व्युत्पत्ति में सभी विद्वानों ने उनमें ब्रह्म की ही भिन्न-भिन्न गुणों की सत्ता अनुभव की है। अतः संत ईश्वरोन्मुख कोई भी सज्जन पुरूष हो सकता है या संत वह निर्लिप्त व्यक्ति है, जिसने एकमात्र सत्य का अनुभव कर लिया है।

2.53 भारतीय साहित्य में संत शब्द का प्रयोग

भारतीय साहित्य में 'संत' शब्द का प्रयोग अपने व्यापक अर्थ में अत्यन्त प्राचीन काल वैदिक काल से हो रहा है। **वैदिक काल** में 'सत्' परमात्मा या ब्रह्म के पर्याय रूप में प्रयोग किया जाता रहा है। ऋग्वेद में कहा गया है कि क्रान्तदर्शी विप्रलोग उस एक व अद्वितीय 'सत्' का ही वर्णन अनेक प्रकार से किया करते हैं।

''सुपर्ण विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति''[3]

छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि आरंभ में एक अद्वितीय सत् ही वर्तमान था।

---

1 इन्द्र-धम्मपद, भिक्षु वर्ग, पृ० 179

2 परशुराम चतुर्वेदी- उत्तरी भारत की संत-परम्परा, पृ० 4

3 बाबूराव जोशी-सन्त-काव्य में परोक्षसत्ता का स्वरूप में उद्धृत, पृ० 2

''सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवा द्वितीयं''[1]

तैत्तिरीयोपनिषद् में सत् (है) और असत् (नहीं है) के द्वारा परमात्मा को सत्स्वरूप कहा गया है-

''असन्नेव स भवति। असद् ब्रह्मेति वेद् चेत्।
अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद्। सन्तमेनं विदुर्बुधाः।।''[2]

''अर्थात् यदि कोई पुरूष 'ब्रह्म असत् है' जानता है तो वह स्वयं भी असत् हो जाता है और यदि वह जानता है कि 'ब्रह्म है' तो ब्रह्मवेत्ता लोग उसे भी सत् समझा करते हैं। यहां 'सत्' शब्द का प्रयोग उस पुरूष के लिए किया गया है जिसे परमात्मा की सत्ता पर पूरा विश्वास हो गया हो । ऐसे मनुष्य को ज्ञानी और महापुरूष 'सन्त' (सत्पुरूष) कहते हैं।''[3]

लौकिक संस्कृत-साहित्य में आकर 'सत्' शब्द के अर्थ में परिवर्तन हो जाता है।

महाभारत में 'सन्त' शब्द का प्रयोग सदाचारी और धर्माचारी के अर्थ में हुआ है। महाभारतकार के अनुसार 'आचार सन्तों का प्रमुख लक्षण है।' वह मानव में भी सन्तत्व का दर्शन करता है।

''आचारलक्षण धर्मः, सन्तश्चाचारलक्षणः।''[4]

गीता में भी 'सत्' शब्द का विभिन्न सन्दर्भों में अनेक अर्थों में प्रयोग मिलता है। गीता में इस शब्द का प्रयोग पाँच प्रकार से हुआ है। गीता के अनुसार 'सत्' नाम ब्रह्म का है।

---

1 बाबूराव जोशी-सन्त-काव्य में परोक्षसत्ता का स्वरूप में उद्धृत, पृ० 2
2 डॉ० विनीता कुमारी-हिन्दी सन्त साहित्य के स्रोत में उद्धृत, पृ० 2
3 डॉ० विनीता कुमारी-हिन्दी सन्त साहित्य के स्रोत, पृ० 2
4 परशुराम चतुर्वेदी-उत्तरी भारत की संत परम्परा में उद्धृत, पृ० 3

''ओं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।''[1]

तदर्थ कर्म अर्थात् अपने योगक्षेम के हेतु कोई भी कर्म न करके वासुदेव के हेतु कर्म करना 'सत्' है।

''कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते''[2]

यज्ञ, दान, तप में स्थित को सत् कहते हैं-

''यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।''[3]

सद्भाव व साधुभाव रखकर प्राणीमात्र से सुहृद्भाव रखना, सर्वभूत हितरत रहना और राग द्वेष आदि द्वंदों में न पड़ना भी 'सत्' ही है।

''सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।''[4]

प्रशस्त कर्म करना वा आत्मोद्धारक मांगलिक कर्म करना भी 'सत्' कहा जाता है।

''प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छेन्दः पार्थ! युज्यते।''[5]

'भागवत् पुराण में 'सन्त' शब्द का प्रयोग 'पुण्यात्मा के अर्थ में हुआ है। भागवतकार के अनुसार पवित्रात्मा एवं तीर्थों को भी पवित्र करने वाला सन्त है।

''प्रायेण तीर्थाभिगमापदेशैः स्वयंहि तीर्थानि पुनन्ति संतः।''[6]

कालिदास ने 'संत' का प्रयोग बुद्धिमान के अर्थ में किया है।

''सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते, मूढः परप्रत्ययनेय बुद्धिः।।''[7]

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन वैदिक साहित्य और लौकिक साहित्य में 'सन्त' शब्द के दो अर्थ मिलते हैं। 'सन्त' शब्द का प्रयोग पहले तो परमतत्त्व के लिए

---

1 श्रीमद्भगवद्गीता- अध्याय 17 श्लोक 23, पृ० 268
2 श्रीमद्भगवद्गीता- अध्याय 17 श्लोक 27, पृ० 275
3 श्रीमद्भगवद्गीता- अध्याय 17 श्लोक 27, पृ० 275
4 श्रीमद्भगवद्गीता- अध्याय 17 श्लोक 26, पृ० 273
5 श्रीमद्भगवद्गीता- अध्याय 17 श्लोक 26, पृ० 273
6 परशुराम चतुर्वेदी-उत्तरी भारत की संत परम्परा में उद्धृत, पृ० 3
7 परशुराम चतुर्वेदी-उत्तरी भारत की संत परम्परा में उद्धृत, पृ० 3

हुआ तथा बाद में ऐसे व्यक्ति के लिये हुआ जिसमें अनेक अनुकरणीय गुण हो। वह पवित्रात्मा, सदाचारी, सद-असद् विवेक सम्पन्न हो, सज्जन हो अर्थात् जिसमें सभी श्रेष्ठ गुण हों।

मध्ययुगीन साहित्य में इन्हीं अर्थों का विकास हुआ है और हिन्दी साहित्य में इसी परम्परा का अनुसरण स्पष्ट झलकता है। ''सन्त कवियों ने इसका प्रयोग दो अर्थों में किया है - (1) सम्बोधन के रूप में और (2) सन्तों की साधनागत एवं जीवनगत विशेषताओं को दिखाने के लिए।''[1] ''स्वामी रामानन्द के अनुसार सन्त वही है जो सांसारिक विपत्ति से संघर्ष करता हुआ विजय प्राप्त करता है।''[2]

''पिड पड़े तो सद्गुरु लाजै, ग्यान की कोठड़ी पड़त लहपूरा।
पचि मुआ संसार निकस्या कोइ सन्त जन सूरा।।'[3]

कबीरदास ने भी उसे 'सन्त' माना है जो वैररहित हो, निष्कामी हो, ईश्वर के प्रति अनुराग रखे, विषय-वासनाओं से विरक्त रहे-

''निरवैरी निहकामता, सांई सेती नेह ।
विषया सु न्यारा रहे, संतन का अंग रह।।'[4]

कबीर अन्य स्थल पर संतों के लक्षण बताते हुए कहते हैं-

''संत न छाड़ै संतई, जे कोटिक मिलै असंत।
चँदन भुवंगा बेठिया, तउ सीतलता न तजंत।।'[5]

---

1 बाबूराव जोशी-सन्त काव्य में परोक्षसत्ता का स्वरूप, पृ० 3
2 बाबूराव जोशी-सन्त काव्य में परोक्षसत्ता का स्वरूप, पृ० 3
3 बाबूराव जोशी-सन्त काव्य में परोक्षसत्ता का स्वरूप में उद्धृत, पृ० 3
4 डॉ० पुष्पपाल सिंह-कबीर ग्रन्थावली (सटीक), पृ० 208
5 डॉ० पुष्पपाल सिंह-कबीर ग्रन्थावली (सटीक), पृ० 208

अर्थात् सन्त करोड़ों असन्तों के बीच में रहकर भी अपनी वृत्ति का परित्याग नहीं कर सकता। चन्दन के वृक्ष पर सर्प लिपटे रहते हैं तो भी वह अपनी शीतलता नहीं त्यागता।

सुन्दरदास संतों के बारे में कहते हैं कि ''ब्रह्म के दो रूप हैं निर्गुण और सगुण। निर्गुण ब्रह्म 'स्व' स्वरूप है और सगुण का अर्थ है ब्रह्म का सन्त रूप में अवतार।''[1]

''द्वै रूप ब्रह्म के जानै। निर्गुण अरु सगुन पिछानै।
निर्गुण निज रूप न्यारा। पुनि सगुन सन्त अवतारा।।''[2]

पलटू साहब के मतानुसार 'राम' और 'संत' भिन्न नहीं हैं। दोनों में पूर्ण एकात्मकता है।

''संत और राम को एक के जानियै
दूसरा भेद ना तनिक आनै।''[3]

इसी प्रकार संत गरीबदास के मत से साई और संत दोनों में कोई भेद नहीं है।

''साई सरीखे संत है, यामें मीन न मेख।।''[4]

दादू दयाल संतों को संसार में अमोल रतन के समान मानते हैं जिनका मोल तोला नहीं जा सकता।

"दादू इस संसार मैं, ए दोइ रतन अमोल।
इक साईं इक संतजन, इनका मोल न तोल।।"[5]

---

1 बाबूराव जोशी - सन्त काव्य में परोक्षसत्ता का स्वरूप में उद्धृत, पृ० 3
2 बाबूराव जोशी - सन्त काव्य में परोक्षसत्ता का स्वरूप में उद्धृत, पृ० 3
3 डॉ० सावित्री शुक्ल - संत - साहित्य की सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में उद्धृत, पृ० 2
4 डॉ० सावित्री शुक्ल - संत - साहित्य की सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में उद्धृत, पृ० 2
5 रामबक्ष - दादू दयाल, पृ०76

सगुण भक्त कवि तुलसीदास संतों के विषय में कहते हैं कि संत वे होते हैं जो दूसरों के दुख से दुखी होते हैं-

''सन्त हृदय नवनीत समाना, कहा कबिन्ह परि कहै न जाना।।
निज परिताप द्रवइ नवनीता, पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता।''[1]

निष्कर्ष में हम कह सकते हैं कि 'संत' शब्द अपने विभिन्न रूपों में प्रयुक्त होता है। जो चिरन्तन सत्य की अनुभूति कर चुका है जिसने उस दिव्य ज्योति के दर्शन कर लिये हैं और उसी में सायुज्य प्राप्त कर लिया है वही संत है। सन्त विवेकी,दयावान, क्षमाशील, त्यागी, विश्व-बन्धुत्व में विश्वास करने वाला और समस्त विकारों से परे होता है। वह जहाँ भी जाता है वहीं चारों तरफ ज्ञान का आलोक फैलाता रहता है। वह आध्यात्मिकता का ऐसा रूप है जो व्यवहार में सिद्ध हो चुका है।

2.54 विभिन्न विद्वानों की दृष्टि में 'संत' शब्द से अभिप्राय

(क) **संतवाणी** ''जो मन की मलिनता से रहित, दुनिया के जंजाल से मुक्त और लौकिक तृष्णा से विमुख है वही सच्चा संत है।''[2]

(ख) **डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल** के अनुसार ''सन्त अध्यात्म विद्या का व्यवहार सिद्ध स्वरूप है। अध्यात्मवादी तत्त्वचिन्तक जिन महान् सिद्धान्तों का अन्वेषण और निरूपण करते चले आये हैं, उनको उसे स्वयं अपने में अनुभूति हुई होती है। उनका उसे शास्त्रीय वाचनिक ज्ञान हो न हो, दर्शन अवश्य होता है। वह अध्यात्म का व्याख्याता चाहे न हो अध्यात्मचेता होता है। वह द्रष्टा है।'' पुनः

---

1 तुलसीदास-श्रीरामचरित्मानस, उत्तरकाण्ड, पृ० 494

2 सं० हनुमान प्रसाद पोद्दार-संतवाणी, पृ० 95

आगे उन्होंने कहा है ''द्रष्टा सन्त एकमात्र सन्तत्त्व को अपने में और अपने को एकमात्र सन्तत्त्व में देखता है, इसलिए वह सन्त है।''[1]

(ग) सन्त साहित्य के मर्मज्ञ **श्री वियोगी हरि** के अनुसार ''सत्य आचरण जिन्होंने अपने जीवन में पूरा किया, सत्य का चिन्तन किया, सत्य को वाणी पर उतारा, मन, वचन, कर्म से उसका आचरण किया और आचरण करने के बाद जो रसास्वादन मिला उसे सारे संसार में बिखेर देने के लिए जिनके मन में व्याकुलता होती है, जिन्हें लगता है कि उन्हें जो मुधर रस मिला वह दूसरों को भी देते चले जाएँ वे ही सन्त है।''[2]

(घ) ''**डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल** का कहना है ''संत वह है जो पृथ्वी पर निवास करते हुए दिव्य-लोक का संदेश भूतल पर लाता है, जो पक्षी के समान आकाश में उड़कर भी वृक्ष पर आकर विश्राम करता है, जो व्यष्टि के केन्द्र में ऊँचा उठकर समष्टि-जीवन के प्रति आस्थावान् होता है, जो स्वार्थ को त्याग कर सामूहिक-हित की बातें सोचता हैं।''[3]

(ड़) ''**आचार्य विनय मोहन** के अनुसार व्यावहारिक दृष्टि से इसका अर्थ है जो आत्मोन्नति सहित परमात्मा के मिलन भाव को साध्य मानकर लोक-मंगल की कामना करता है।''[4]

(च) ''**आचार्य परशुराम चतुर्वेदी** के अनुसार 'संत' शब्द, इस विचार से उस व्यक्ति की ओर संकेत करता है जिसने सत् रूपी परमतत्त्व का अनुभव कर

---

1 डॉ० विनीता कुमारी-हिन्दी सन्त साहित्य के स्रोत में उद्धृत, पृ० 4
2 डॉ० विनीता कुमारी-हिन्दी सन्त साहित्य के स्रोत में उद्धृत, पृ० 4
3 डॉ० विनीता कुमारी-हिन्दी सन्त साहित्य के स्रोत में उद्धृत, पृ० 4
4 डॉ० शिवकुमार शर्मा-हिन्दी साहित्य: युग और प्रवृत्तियाँ , पृ० 119

लिया हो और जो, इस प्रकार, अपने व्यक्तित्व से ऊपर उठकर, उसके साथ तद्रूप हो गया हो। जो सत्य स्वरूप नित्य सिद्ध वस्तु का साक्षात्कार कर चुका है अथवा अपरोक्ष की उपलब्धि के फलस्वरूप अखण्ड सत्य में प्रतिष्ठित हो गया है वही संत है।''[1]

2.55 रूढ़िगत 'संत' शब्द

''संत' शब्द का प्रयोग किसी समय विशेष रूप से केवल उन भक्तों के लिए ही होने लगा जो पंढरपुर वाले विट्ठल भगवान के उपासक अथवा वारकरी संप्रदाय के प्रमुख प्रचारक थे जिनकी भक्ति में निर्गुणोपासना की प्रधानता थी। इन लोगों में से भी ज्ञानदेव, नामदेव, एकनाथ एवं तुकाराम जैसे भक्तों के नाम लिये जाते हैं जो सभी महाराष्ट्र से सम्बद्ध थे।''[2] वारकारी सम्प्रदाय में निर्गुणोपासना की यह प्रवृत्ति बहुत कुछ नाथ-सम्प्रदाय से आई थी। नाथ-सम्प्रदाय में 'निर्गुण' शब्द का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है। वे अपने हृदयस्थ यौगिक ब्रह्म को 'निर्गुण' ही मानते थे। संत शब्द वारकरी सम्प्रदाय वालों के लिए रूढ़ सा हो गया तथा अनेक बातों में उन्हीं के समान होने के कारण, उत्तरी भारत में कबीर साहब तथा अन्य लोगों के पीछे भी वही नामकरण हो गया। सगुण भक्ति के कवियों: सूर, तुलसी आदि के लिये भक्त शब्द का प्रयोग होने लगा। जिसमें अवतारवाद को प्रमुखता मिली। जिन्होंने ईश्वर के अवतारी रूप को स्वीकार किया। उन्हें सगुणोपासक और भक्त कहा जाने लगा।

सामान्यत: सभी निर्गुण भक्त कवियों को 'संत' ही कहा जाता है। उनका साहित्य 'सन्त-साहित्य' इसलिए कहलाया क्योंकि उसमें 'संत' पद की अवधारणा उनके साहित्य की केन्द्रीय अवधारणाओं में से एक रही है। सगुण कवियों का आदर्श

---

1 परशुराम-चतुर्वेदी-उत्तरी भारत की संत-परम्परा, पृ० 5

2 डॉ० विनोता कुमारी-हिन्दी सन्त साहित्य के स्रोत, पृ० 5

'भक्त' है, निर्गुण का आदर्श 'संत' है। ''तत्त्वतः 'सन्त' और 'भक्त' में कोई अन्तर नहीं है। 'भक्त' भगवान की धारणा करता है और 'सन्त' सत् की। दोनों ही पारमार्थिक सत्य से सम्बन्धित हैं। साहित्यिक विचारक निर्गुणोपासकों को सन्त तथा सगुणोपासकों को उनसे पृथक करने के लिए भक्त कहते आये हैं। निश्चय ही यह अन्तर व्यावहारिक है, सैद्धान्तिक नहीं।''[1]

''वैदिक युग से लेकर मध्ययुग तक के साहित्य में एक ओर सन्त शब्द का प्रयोग परम तत्त्व के साधक के अर्थ में हुआ है और दूसरी ओर साधु, सत्पुरूष और भक्त के अर्थ में। एक अर्थ में वह ब्रह्म है और दूसरे में ब्रह्म का स्वरूप। वैदिक और लौकिक साहित्य में विभिन्न रूपों में सन्त शब्द 'अस्तित्त्व वाला' और 'साधुभाव' के अर्थ में व्यवहृत मिलता है। आज का सन्त शब्द इस सत् का ही तद्भव रूप ज्ञात होता है।''[2] हिन्दी-साहित्य में 'सन्त' शब्द निर्गुण साधकों के लिए आज रूढ़ हो गया है आचार्य शुक्ल ने नामदेव एवं कबीर द्वारा प्रवर्त्तित भक्ति-धारा को 'निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा' की संज्ञा से अभिहित किया है। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसे 'निर्गुण भक्ति साहित्य तथा डॉ० रामकुमार वर्मा ने भक्ति साहित्य तथा डॉ० रामकुमार वर्मा ने इसे 'सन्त-काव्य- परम्परा' का नाम दिया है। भारतीय धर्म-साधना परक साहित्य के क्षेत्र में मध्यकालीन सन्तों का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। सन्तों की विशाल परम्परा ने हिन्दी-साहित्य और विशाल जन-मानस को जो बौद्धिक, आध्यात्मिक बहुमूल्य रत्न प्रदान किये, वे अनुपम हैं।

---

1 बाबूराव जोशी-सन्त काव्य में परोक्षसत्ता का स्वरूप, पृ० 4

2 बाबूराव जोशी-सन्त काव्य में परोक्षसत्ता का स्वरूप, पृ० 5

2.56 संत काव्य की भूमिका

''निर्गुण धारा के कवियों ने अपनी परंपरा को व्यवस्थित रखने के लिए जिन काव्यों की रचना की, वह संतकाव्य कहलाया''[1] अपनी कुछ विशिष्टताओं के कारण संतों की राह भक्त कवियों से भिन्न थी। संतों के अनुसार आदर्श काव्य वही है जो सोद्देश्य हो और उनका उद्देश्य परक साहित्य अपने निजी अनुभवों का प्रकाशन था। एकाध को छोड़कर प्राय: सभी संत अशिक्षित या अर्द्धशिक्षित थे।

सन्त मत का भवन 'कागद लेखि' पर आधारित न होकर 'आंखिन देखी' की नींव पर आधारित है। इसमें अनुभव ज्ञान को जितनी महत्तता दी गई है उतनी निगम, आगम, पुराणादि को नहीं। इसका यह अर्थ नहीं कि यह मत भारत की प्राचीन धार्मिक मान्यताओं की उपेक्षा करके चला है। भारतीय धर्म साधना के इतिहास को देखने से पता चलता है कि सन्त-काव्य बौद्ध धर्म और उसके साहित्य से अनुप्राणित है। इसमें बौद्ध धर्म का शून्यवाद, नाथ-संप्रदाय का योग और अवधूत-भावना तथा वज्रयानी सिद्धों की संधा भाषा की उलटवासियों तक का समाहार है। जिस समय संत काव्य का विकास हुआ उस समय देश की राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक स्थिति पतन की ओर जा रही थी। राजनीतिक दृष्टि से यह युग सत्ता केन्द्रों के उत्थान, पतन का युग रहा। देश में अस्थिरता और अशान्ति छायी हुई थी। समाज में भी जाति और धर्म के नाम पर भेदभाव बढ़ गया था। पर्दा-प्रथा, बाल-विवाह, सती-प्रथा, छुआछूत, जातियां-उपजातियां अनेक बुराईयों की संख्या में वृद्धि हुई। मध्यकाल में हिन्दू और मुस्लिम धर्म में तनाव काफी बढ़ गया था। दोनों के आचार-विचार एक दूसरे से नितान्त भिन्न थे। हिन्दू अपनी प्राचीन गौरवमयी परम्परा पर गर्व कर रहे थे और मुसलमान विजेता होने के कारण

---

1 ओमप्रकाश त्रिपाठी-संत साहित्य और लोकमंगल, पृ० 13

अहंकार वश थे। पंडित और मुल्ला दोनों ही धर्मों के अनुयायी अपने-अपने धर्मों के प्रति मदांध थे और समाज को पथभ्रष्ट कर रहे थे। वे अपने लाभ के लिये भोली-भाली जनता को भड़का रहे थे और धर्म के नाम पर ईष्या की भावना जगा रहे थे। देश के ऐसे समय में जब ज्ञान, धर्म और भक्ति अपनी राहों से भटक गये, बाह्याडम्बरों और पाखण्ड का बोलबाला बढ़ गया उस समय देश को सर्वथा नयी दिशा दिखाने का काम संत कवियों ने किया। जिन्होंने भक्ति, ज्ञान, उपासना, शास्त्र-अध्ययन, आध्यात्मिक-चिन्तन, दार्शनिक वाद-विवाद को एक सीमित परिधि से निकालकर समाज के उस वर्ग के बीच पहुँचा दिया जो इससे पूरी तरह वंचित था।

संत कवि समाज के ऐसे द्रष्टा थे जो सभी प्राणियों को सुखी देखना चाहते थे, वे समाज के सभी दुःख-दारिद्रय को अपने सिर पर लेकर लोगों का बोझ हल्का करना चाहते थे। उस समय चारों तरफ अन्याय, अत्याचार, शोषण एवं उत्पीड़न का साम्राज्य छाया हुआ था। समाज के सारे बंधन रूढ़िग्रस्त हो गये थे। तत्कालीन समाज में प्रमुख रूप से दो ही धर्मो का प्रभाव छाया हुआ था हिन्दू और मुसलमान में गहरी खाई थी दोनों के आचार-विचार का कोई मेल न था। एक यदि गाय को मातृत्त्व का प्यार देता था तो दूसरे उसे काटकर अल्ला की प्राप्ति में सहायक समझता था। एक का आराध्य राम था तो दूसरे का रहीम। संतों ने बड़े ही तटस्थ भाव से दोनों की दुर्बलताओं को समाज के सामने रखा और उनमें समन्वय की भावना लाने का प्रयास किया। संतों का धर्म न तो हिन्दू था और न मुसलमान। उनका धर्म तो सहज-मानव धर्म था, जो दोनों के लिए उपयोगी था। ''संत मत में ऐसे ईश्वर की भावना मानी गई, जो हिन्दू और मुसलमानों के धर्म में समान रूप से ग्राह्य हो सके। उसके कोई मुख-माथा, रूप-कुरूप नहीं है, वह एक है। वह निर्गुण और सगुण दोनों से परे रहकर पुष्प की सुगन्धि से भी सूक्ष्म है। वह सर्वशक्तिमय, सर्वव्यापक

और अखंड ज्योति-स्वरूप है। उसे जानने के लिये आत्म-ज्ञान की आवश्यकता है। हिन्दुओं का राम और मुसलमानों का रहीम उसी ईश्वर का रूपान्तर मात्र है। उसका ध्यान ही महान् धर्म है। इस प्रकार हिन्दू-मुसलमानों की संस्कृति के मिश्रण से ईश्वर के इस रूप का प्रचार हुआ।''[1] संत कबीर जो संत काव्य परम्परा के मुख प्रवर्त्तक थे उन्होंने इन दोनों को सही मार्ग दिखाया और इन दोनों के अन्दर जो पाखण्ड था उसे अपनी वाणी से फटकारा। कबीर ने इन दोनों पर अपने शब्दों द्वारा प्रहार करते हुए कहा-

''जो तू तुरक तुरकनी जाया, तउ भीतर खतना क्यों न कराया।
जो तू ब्राह्मन ब्राह्मनी जाया, तउ आन बाट क्यों नहीं आया।।''[2]

सभी सन्त कवि गृहस्थ थे। उन्होंने मूड़ मुड़ाकर या दाढ़ी-मूँछ और जटा बढ़ाकर जो साधु बनने का प्रदर्शन करते हैं सन्तों ने उन्हें घृणा के पात्र बताया। संतों ने जहाँ वैष्णवों की मूर्ति-पूजा, अवतारवाद, तीर्थ-व्रत, तिलक, माला तथा ऊंच-नीच की भावना का विरोध किया वहीं दूसरी ओर मुसलमानों के हलाल, रोजा और नमाज आदि को भी मानने से इन्कार किया। कबीरदास ने अपने एक पद से दोनों को सोचने के लिए मजबूर कर दिया-

''अरे, इन दोउन राह न पाई।
हिन्दू अपनी करै बड़ाई, गागर छुवन न देई।।
वेस्या के पायन तर सोवै, यह देखो हिन्दुवाई।
मुसलमान के पीर औलिया, मुर्गा मुर्गी खाई।
खाला केरी बेटी ब्याहैं, घरहिं में करै सगाई।।''[3]

---

1 डॉ० रामकुमार वर्मा-हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० 193
2 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद-रविदास दर्शन में उद्धृत, पृ०155
3 ओम प्रकाश त्रिपाठी-संत साहित्य और लोकमंगल में उद्धृत, पृ० 22

संत बाह्य आचारों तथा मिथ्याडम्बरों के कट्टर विरोधी थे, उन्होंने दिल खोल कर इनकी निन्दा की। उनके कथनों में ऐसे व्यंग्यपूर्ण रूप मिलते हैं, जिनसे विरोधी तिलमिला उठे। ''शास्त्रीय तथा पुस्तकीय ज्ञान का सहारा लिये बिना उन्होंने अपने जीवन के प्रत्यक्ष अनुभवों के बल पर जो तीव्र और तीक्ष्ण व्यंजनाएँ की हैं, वे हिन्दी के भक्ति-काव्य में अनुपम और अद्वितीय हैं। आत्मपीड़ित जनता के दु:ख-दर्दों में उन्होंने रामबाण-औषधि का काम किया है।''[1] सन्तों के विचारों में सत्य इतना सही और सशक्त है कि विरोधी लोगों को भी सिर झुकाना पड़ा। उस समय मत-मतांतरों में विकृत्तियाँ आ गई थीं, संतों ने उन पर कठोर व्यंग्य करते हुए उनकी खिल्ली उड़ाई जो महीन मार करने वाली थी। सन्तों ने समाज को दुर्बल बनाने वाले सभी प्रकार के आडम्बरों एवं कर्मकाण्डों का विरोध किया। उन्होंने धार्मिक विधि-विधानों का पालन करने की बजाय चरित्र-बल पर अधिक ध्यान दिया। इन्होंने वर्गभेद और जातिभेद का तिरस्कार करते हुए समाज को एक सूत्र में बाँधने का प्रयास किया। संतों ने कथनी और करनी में एक्य के आधार पर आचरणगत श्रेष्ठता पर बल दिया।

सन्तों ने कर्मण्य जीवन व्यतीत कर समाज में अकर्मण्यता का परिहार करने का प्रयत्न किया। कर्म और व्यवसाय में भी किसी प्रकार के भेदभाव को स्वीकार नहीं किया। उनकी दृष्टि में वही मानव श्रेष्ठ व महान् है जिसने अपने में मानवीय गुणों का विकास कर लिया है। ''धर्म, अर्थ, कर्म, जाति, प्रदेश, रूप, रंग आदि किसी भी आधार पर उन्होंने मानव-मानव में भेद को स्वीकार नहीं किया और इस प्रकार मानव-गानव की एकता और समता के स्वर से समाज को निनादित कर दिया।''[2]

---

1 डॉ० वेंकट शर्मा-भक्तिकाव्य का अंतर्दर्शन, पृ० 127

2 डॉ० विनीता कुमारी-हिन्दी सन्त साहित्य के स्रोत, पृ० 59

सन्तों के निर्भीक स्वभाव ने जहां एक ओर समाज को निर्भीकता प्रदान की वहीं दूसरी ओर उनकी स्पष्टवादिता ने समाज में प्रखर व प्रबल सनातन सत्य की प्रतिष्ठा कर निःसंकोच उसका प्रतिपादन भी किया।

2.6 संत काव्य की सामान्य प्रवृत्तियाँ

संतों का आविर्भाव ऐसी विषम परिस्थिति में हुआ, जब अज्ञान के अन्धकार और शोषण के साम्राज्य में डूबते हुए समाज का पथ-प्रदर्शन करने वाला कोई नहीं था। तत्कालीन सामाजिक विषमताओं, आर्थिक विसंगतियों और मिथ्याचारों ने समाज को जर्जरित कर दिया था। धर्म के नाम पर अनेक सम्प्रदाय, अनेक मत-मतान्तर और अनेक देवी-देवता कल्पित कर लिये गये। पुरोहितवाद और कर्मकाण्ड के प्रभुत्व से समाज का शोषण हो रहा था। समाज में ब्राह्मणों का प्रभुत्त्व होने से शूद्रों के लिए मन्दिर-प्रवेश तथा धर्म-ग्रंथों का अध्ययन भी निषिद्ध था। तब ऐसे पथभ्रष्ट समाज में संतों ने अपने अदम्य साहस, नैतिक बल और क्रान्तिकारी विचारों से मानवीय मूल्यों को प्रतिष्ठित कर मानवता का उद्धार किया। इन्होंने विकृत धार्मिक परम्पराओं और समाज की जर्जर मान्यताओं को अन्धकार से निकालकर स्वच्छ वायुमण्डल में ले जाने का काम किया। संतों ने अस्वस्थ समाज को स्वस्थ बनाने का प्रयास किया। सन्त जन मूलतः कवि और काव्यकार नहीं थे, कविता रचना उनका उद्देश्य नहीं था। बस भक्ति, प्रेम, विश्वास और समाज-सुधार के आवेश में सन्तों के मुख से जो अटपटी वाणी सहसा मुखरित हुई, वही उनका काव्य बन गया जिसने समाज का पथ-प्रदर्शन किया। संतों के यहाँ बनावटी या सजाया-संवारा कुछ नहीं है, यहाँ निजी अनुभूतियों की गहन सरसता है। इन समस्त बातों को ध्यान में रखकर सन्त-साहित्य की अग्रलिखित प्रवृत्तियाँ मानी जाती हैं-

2.61 निर्गुण ब्रह्म में विश्वास

संत कवियों ने भगवान् के सगुण और निर्गुण इन दो रूपों में से निर्गुण रूप का निर्वाचन किया। संत साहित्य की मूलभूत प्रवृत्ति निर्गुणोपासना अथवा निर्गुण ईश्वर में विश्वास है। यही वह केंद्रीय प्रवृत्ति है, जिस पर संतों की अन्य प्रवृत्तियाँ आधारित हैं। इनका निर्गुण ब्रह्म पंच-भौतिक तत्त्वों से परे अनाम और अजन्मा है। संतों ने निर्गुण ब्रह्म को विश्व का कर्त्ता-धर्त्ता, नियन्ता, शासक और अधिपति ही नहीं, व्यापक तत्त्व भी माना है जो घट घट में, कण कण में, अणु परमाणु में व्याप्त है, वही एकमात्र हमारे अन्दर सार वस्तु है। संतों का ब्रह्म ऐसा अनादि तत्त्व है जो समस्त जगत् की उत्पत्ति का कारण है और अन्ततः विश्व के अनन्त रूप उसी एक में विलीन हो जाता है। वह ऐसी परम् ज्योति है जिसकी समता कोई नहीं कर सकता। ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि उस ज्योति के अंश हैं। करोड़ों ब्रह्मा उसके समक्ष वेद पढ़ते रहते हैं, करोड़ों कृष्ण उसके द्वार रक्षक हैं, वहाँ अखण्ड वाद्य वादन होता रहता है। कबीर की यह मान्यता है कि उस ब्रह्म को किसी सीमा में बाँधना भ्रान्तिमूलक है, वह अनन्त है, अखण्ड है, भूमा है, पूर्ण है। वह निर्गुण-सगुण दोनों से अतीत है। कबीर ब्रह्म की सत्ता को सर्वव्यापक स्वीकार करते हैं। एक स्थल पर वे कहते हैं-

''कस्तूरी कुण्डल बसै, मृग ढूँढै बन माहिं।
ऐसे घट घट राम हैं, दुनिया देखे नांहिं।।''[1]

रविदास इस सृष्टि का समस्त विस्तार एक ही ब्रह्म से मानते हैं और वही ब्रह्म सारे संसार में फैला हुआ है सारे शरीर एक ही मिट्टी से बने हुए हैं और सब की रचना करने वाला एक ब्रह्म ही है-

''रविदास एकै ब्रह्म का, होइ रह्यो सगल पसार।
एकै माटी सब घट सजै, एकै सभ कूं सरजनहार।।''[2]

---

1 डॉ० पुष्पपाल सिंह-कबीर ग्रन्थावली (सटीक), पृ० 68

2 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद-रविदास दर्शन, पृ० 54

संत दादू दयाल के अनुसार दूध में घृत के समान वह सभी प्राणियों में रम रहा है, वाक्य ज्ञान में निपुण प्रवचन देने वाले अनेक लोग हैं, किन्तु दुग्ध में घृतरूपी ब्रह्म को मथकर निकाल लेने वाले लोग विरले हैं-

''घीव, दूध में रमि रह्या, व्यापक सबही ठौर।
दादू वकता बहुत है मंथि-काढ़े ते और।।''[1]

संतों का ब्रह्म सत्, रज, तम तीनों गुणों से परे है। वह जन्म-मरण से मुक्त है। वह न हिन्दू है, न तुर्क। अल्लाह और राम उसके अभिधान मात्र हैं। वस्तुतः वह अनिर्वचनीय है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश माया के ही स्वरूप हैं। वह अविगत पुरूष इनसे परे और अनुपम है। वह ऊँच-नीच सभी प्राणियों में है। उसकी परमज्योति सब में विद्यमान है।

2.62 ज्ञान महिमा

संत साहित्य की प्रमुख विशेषता ज्ञान की महत्ता मानी जा सकती है। यहाँ पुस्तकीय ज्ञान की अपेक्षा स्वानुभूत ज्ञान का मार्ग अपनाया गया है। सगुण की उपासना तो मूर्तिपूजा आदि के सहारे अज्ञानी व्यक्ति भी कर सकता है, किंतु निर्गुण ब्रह्म की उपासना वही कर सकता है, जिसकी ज्ञान की आँखे खुली हों। संतों का ज्ञान शास्त्रीय ज्ञान नहीं है अपितु यह तो आत्मज्ञान है। इस ज्ञान को तो उन्होंने साधना और अनुभव से प्राप्त किया था। जो उनके जीवन की निर्मल दृष्टि थी। ''संतों के पास ज्ञान की आँखे थीं, बुद्धि थी और सत्संग उनका गुरु था।''[2] कागजी ज्ञानियों को तो उन्होंने अनुभव शून्य माना और उनमें व्यावहारिकता की कमी बताई। नामदेव ने हिन्दू-मुस्लिम दोनों में से ज्ञानी को श्रेष्ठ बताते हुए कहा है-

''हिन्दू अन्हा तुरकू काणा। दोहांते गिआनी सिआणा।''[3]

---

1 प्रो० वासुदेव सिंह-हिन्दी संत-काव्य समाजशास्त्रीय अध्ययन, पृ० 241

2 डॉ० हुकुम चंदराजपाल-हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० 140

3 डॉ० शं० के आडकर-हिन्दी निर्गुण-काव्य का प्रारम्भ और नामदेव की हिन्दी कविता में उद्धृत, पृ० 263

दादू का भी ऐसा विश्वास था कि न जाने कितने पण्डित लोग वेद-पुराण पढ़ते-पढ़ते मर गए, ब्रह्मा उसका कथन करते करते थक गये किन्तु राम को पहचान न सके।

''दादू केते पुस्तक पढि मुए, पंडित वेद पुरांन।
केते ब्रह्मा कथ गए, नांहिन रांम समांन।।''[1]

संतों ने पंडितों और मौलवियों की कारस्तानी देखकर उन्हें पढ़े-लिखे कूप-मंडूक माना है। उन्होंने समाज को तोड़ने में अपनी प्रतिभा दिखाई थी, जोड़ने में नहीं। हिन्दू और मुसलमान के बीच गहरी खाई खोद दी थी। संतों ने समाज को समझाते हुए साधु की पहचान जाति-वेश से नहीं, उसके ज्ञान से करने की बात कही-

''जाति न पूछो साध की, पूछ लीजिए ज्ञान।''[2]

मध्यकाल में पुस्तकीय ज्ञान की निन्दा का कारण यह भी था कि इस युग तक आते-आते जातिवाद और छुआछूत ने इतना संकीर्ण और घृणित रूप धारण कर लिया था कि समाज के पिछड़े वर्ग के लिए धर्मग्रन्थों का अध्ययन, मन्दिर-प्रवेश तथा भगवद्-भक्ति का द्वार बन्द कर दिया गया था। पंडित धर्मग्रंथों की व्याख्या अपने-अपने ढंग से कर रहे थे, अन्ध-विश्वास में क्रमशः वृद्धि होती गई। संत भ्रमणशील थे, धर्म की ऐसी अवस्था को देखकर उसका तिरस्कार करना स्वाभाविक था। संतों ने स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा की थी पुस्तकीय ज्ञान से कोई भी व्यक्ति पंडित हो सकता है, प्रवचन-निपुण हो सकता है किन्तु ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं कर सकता। उसके लिये स्वच्छ निर्मल हृदय होना चाहिए। अतः हम कह सकते हैं संतों

---

1 रामबक्ष-दादूदयाल, पृ० 76

2 आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी-कबीर, पृ० 324

के ज्ञान का स्वरूप ईश्वर का नाम-स्मरण, आत्मोत्थान, सदाचार, सबका कल्याण, आत्मा-परमात्मा के एकीकरण का प्रयत्न ये सब उनके ज्ञान के विविध स्तर हैं।

2.63 गुरु महिमा

गुरु का स्तवन, वन्दन करना भारतीय संस्कृति और परम्परा का प्रधान अंग रहा है। भारतीय समाज में गुरु का स्थान बड़ा उच्च, महान् और समादरित रहा है। वह धर्म और समाज का नियामक रहा है। संत कवियों में गुरु को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। संतों का ऐसा विश्वास है कि ईश्वर की कृपा भी तभी होती है जब गुरु की कृपा होती है। ज्ञान की प्राप्ति भी गुरु के द्वारा होती है। संतों ने गुरु को ईश्वर तथा कहीं-कहीं ईश्वर से भी बढ़कर माना है। ''गुरु और गोविन्द में बड़ा अन्तर है। एक स्वत: पूर्ण, स्वत: प्रकाश, स्वत: अनादि, अनाम, अमध्य और अनन्त है। दूसरा अपूर्ण को पूर्ण बनाने वाला, सर्वात्मा का रहस्य बताने वाला, ब्रह्म के तत्त्वों को प्रकाशित करने वाला है। एक रहस्य है तो दूसरा उस रहस्य का उद्‌घाटक। फिर दोनों में क्या अंतर है? कौन बड़ा है? रहस्य की अपेक्षा उसका भेद खोलने वाला ही महान् है, कारण कि वह रहस्य के अन्तर्गत गति रखता है। वह उसके अम्तरतम स्वरूप से परिचित है।''[1] संतों ने गुरु के पद की उच्च कल्पना की है उनके अनुसार तीन लोक में कोई भी शक्ति सद्‌गुरु की समता नहीं कर सकती। उस सद्‌गुरु की बड़ी महिमा है उसका नाम लेने मात्र से पातक विनष्ट हो जाते हैं और ध्यान करने से ध्यानी भी स्वयं हरि के समान हो जाता है। संतों ने गुरु को 'सब देवन का देव' माना है गुरु ही सर्वश्रेष्ठ देव है इसी कारण वे सभी देवताओं का परित्याग कर उसी की उपासना करने का उपदेश देते हैं।

---

1 त्रिलोकी नारायण दीक्षित-संत दर्शन, पृ० 19

कबीर अपने गुरु की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि यदि समस्त पृथ्वी को साफ करके कागज के समान लिखने योग्य बना दिया जाय, सभी पेड़ों को छाँट कर लेखनी बना दी जाय और सभी सागरों में स्याही घोल दी जाय, तब भी गुरु की महत्ता का, उसके महत्त्व का उल्लेख नहीं हो सकता-

''धरती सब कागद करूँ, लेखनि सब बनराइ।
सात समुन्द्र की मसि करूँ, गुरु गुन लिखा न जाइ।।''[1]

दादू सच्चे गुरु का महत्त्व बताते हुए कहते हैं-

''दादू साचा गुर मिल्या, साचा दिया दिषाइ।।
साचे सौं साचा मिल्या, साचा रह्या समाइ।।''[2]

इस प्रकार संतों ने गुरु को सर्वोच्च स्थान देते हुए उसकी कृपा को, महिमा को अनंत कहा है, क्योंकि वह अनंत से मेल कराने वाला है। इसलिए कबीर मानते हैं-

''सतगुरु की महिमा अनंत, अनंत किया उपकार।
लोचन अनंत उघाड़िया, अनंत दिखावंण हार।।''[3]

2.64 भक्ति और ऐहिक कार्य में एकता

भक्ति और सांसारिक कार्यों को संतों ने अलग-अलग नहीं समझा। सभी संत गृहस्थ जीवन में विश्वास रखने वाले थे। उन्होंने जंगलों में जाकर भक्ति करने वालों को पाखण्डी बताया। उन्होंने गृहस्थ जीवन में रहकर ही भक्ति करने को कहा। ''भक्ति और जीविका के कर्मों में कोई विरोध नहीं क्योंकि भक्ति हृदय से होती है

---

1 डॉ० आशोक कुमार-सूफी और सन्त काव्य में गुरु सम्बन्धी परिकल्पना में उद्धृत, पृ० 67
2 रामबक्ष-दादूदयाल, पृ० 73
3 डॉ० पुष्पपाल सिंह-कबीर ग्रन्थावली (सटीक), पृ० 82

और कर्म हाथों से। इसीलिए उन्होंने श्रम और भक्ति दोनों को एक दूसरे का पूरक माना है। श्रम से भक्ति सहज होती है और भक्ति से श्रम सहज। संतों ने नाम-स्मरण और श्रम साथ-साथ किया।''[1] इस प्रकार संतों ने नामस्मरण और कर्म का समन्वय स्थापित किया।

कबीर भजन और बुनकरी, नामदेव भजन और दर्जी का काम, रैदास भजन और मोची का काम, सेना भजन और नाई का काम साथ-साथ करते थे। इस प्रकार संतों ने कर्म के साथ-साथ भजन करते-करते परमपद को प्राप्त किया। जो इनकी अद्वितीय विशेषता है। रविदास इस विषय में अपने विचार प्रकट करते हुए कहते हैं कि जिस निष्ठा और भक्ति के साथ ईश्वर की पूजा की जाती है यदि उसी तरह परिश्रम को भी ईश्वरपूजा समझकर किया जाये तो ऐसे परिश्रमी पुरूष को संसार में सदा सुख और शांति मिलती है। परिश्रमी मनुष्य सदा सुखमय तथा शांतिमय जीवन व्यतीत करते हैं-

''सम्र कउ ईसर जानि कै, जउ पूजहि दिन रैन।
'रविदास' तिन्हहि संसार मंह, सदा मिलहि सुख चैन।।''[2]

2.65 कथनी तथा करनी में एकरूपता

संतों का जीवन कथनी और करनी का सुंदर समन्वय है। वे केवल बातचीत या डींग मारने में ही विश्वास नहीं करते। मनुष्य दूसरों को उपदेश तभी दे सकता है जब वह स्वयं क्रियाशील हो। केवल बातों से ही किसी लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होती। कबीर के शब्दों में कथनी तो खाँड की भाँति मीठी मालूम होती है और करनी

---

1 डॉ० शं० के० आडकर-हिन्दी निर्गुण-काव्य का प्रारम्भ और नामदेव की हिन्दी कविता, पृ० 131

2 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद-रविदास दर्शन, पृ० 119

विष की गोली के समान, किन्तु यही हलाहल अमृतवत् मधुर और जीवनोपयोगी बन जाता है यदि कथनी को त्याग कर मानव करनी में संलग्न हो जाय।

''कथनी मीठी खाँड सी, करनी विष की लोय।
कथनी तजि करनी करै, विष से अमरत होय।।''[1]

दादू को ऐसे व्यक्तियों से बड़ा भय प्रतीत होता है जो कहते कुछ और ही हैं और करते हैं कुछ और। ऐसे व्यक्तियों पर भला विश्वास किस प्रकार से किया जा सकता है।

''दादू कथनी और कुछ करनी करै कुछ और।
तिनथें मेरा जिव डरै जिसका ठीक न ठौर।।''[2]

संत होने के लिये कथनी और करनी में सामंजस्य होना भी एक बहुत बड़ी शर्त है। संतों के साहित्य में किसी प्रकार की अतिवादिता के प्रचार की गंध नहीं मिलती। संतों ने व्यवहार और आदर्श के साथ-साथ विचार और आचरण में भी सामंजस्य लाने पर ज़ोर दिया। उन्होंने काल्पनिक बातों और विचारों को महत्त्व नहीं दिया। उन्होंने जो कुछ भी कहा है अपने अनुभव के आधार पर तथा अपने उपदेशों पर आचरण करके ही लिखा है। संतों के अनुसार मनुष्य को वैसा ही आचरण करना चाहिए जैसा वह उपदेश देता हो। वाणी और कर्म में एकता के अभाव से न व्यक्ति का कल्याण सम्भव है और न समाज का।

मध्यकालीन समाज में ऐसे साधु-सन्यासियों की संख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही थी जिनका आचरण निन्दनीय था, जो दम्भ को ही उत्तम आचार मानते थे, स्वयं अभक्ष्य-भक्षण करते थे, किन्तु दूसरों को सात्विकी-वृत्ति का उपदेश देते थे। उस

---

1 त्रिलोकी नारायण दीक्षित-संत दर्शन, पृ० 12
2 त्रिलोकी नारायण दीक्षित-संत दर्शन, पृ० 12

समय ऐसे लोगों की भी कमी न थी जिनके हृदय में कपट था और बाहरी वेश-भूषा प्रभावशाली बनाकर समाज में ठगी का व्यापार करते थे। संत कवियों ने कर्म और वाणी के ऐसे असामंजस्यवादियों पर कठोर प्रहार किया। संतों ने कथनी-करनी की एकता पर बल दिया, उनकी मान्यता थी जब तक व्यक्ति का स्वयं आचरण पवित्र नहीं होता, वह अपनी उत्तम करनी का आदर्श नहीं प्रस्तुत करता, उसके कोरे उपदेश से समाज का कल्याण सम्भव नहीं है। ऐसे प्रवंचक साधुओं को स्वयं सद्गति नहीं प्राप्त हो सकती है।

2.66 बहुदेववाद तथा अवतारवाद का विरोध

मध्यकाल में एक ईश्वर के स्थान पर अनेक देवी-देवताओं की कल्पना कर ली गई थी और इनके उपासकों में प्रायः विवाद होते रहते थे। हिन्दू धर्म में शैव, शाक्त, वैष्णव, स्मार्त, आदि सम्प्रदाय थे जो अपनी-अपनी विधि अनुसार पूजा करते थे। मुस्लिम समाज में भी एकेश्वरवाद के स्थान पर विभिन्न पीर-पैगम्बरों की उपासना होने लगी। संतों ने इन दोनों का विरोध किया। संत कवियों ने बहुदेववाद तथा अवतारवाद की कटु शब्दों में निन्दा की है। कबीर ने अत्यन्त कठोर शब्दावली में ऐसे लोगों पर प्रहार किया। कबीर की दृष्टि में बहुदेव-वादी उस व्यभिचारिणी स्त्री के समान है जो अपने पति को छोड़कर जारों पर आसक्त रहती है।

''नारि कहावे पीव की, रहै और संग सोय।
जार सदा मन सैं बसै, खसम खुशी क्यों होय।।''[1]

एक अन्य स्थल पर वे बहुदेववादी पर प्रहार करते हुए कहते हैं कि वह उस गणिका-पुत्र के समान है जो इस बात को नहीं जानता कि उसका वास्तविक पिता कौन है?

---

1 डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल-हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय में उद्धृत, पृ० 151

''राम पियारे छाड़ि कर, करै आन को जाप।
वेस्वा केरा पूत ज्यूँ, कहै कौन सूँ बाप।।''[1]

संतों ने बार-बार इस बात पर ज़ोर दिया है कि जगत् का कर्त्ता-धर्त्ता एक ही परमात्मा है जिसको हिंदू और मुसलमान दोनों सिर नवाते हैं। संतों को इस बात का खेद है कि लोग एक ईश्वर की सत्ता को न समझकर मूर्खों के समान अनेक देवताओं के समक्ष आत्म-समर्पण करते रहते हैं। इस प्रकार संत कवियों ने बहुदेवोपासना का खुलकर विरोध किया वे समाज में फैलाई विद्वेष और घृणा की भावना का उन्मूलन करना चाहते थे तथा प्रत्येक प्राणी के घट में विद्यमान एक ही परमात्मा के द्वारा मानव-एकता तथा सामाजिक समरसता का प्रचार करना चाहते थे।

संतों ने अवतारवाद की भावना का भी खण्डन किया है। प्राय: यह समझा जाने लगा कि ईश्वर मनुष्य अथवा किसी अन्य प्राणी के रूप में अवतरित होकर धर्म की स्थापना और अधर्म का विनाश करता है। ईश्वर के अवतारों की संख्या में वृद्धि होने लगी-पहले चार अवतार से होते-होते चौबीस अवतारों की कल्पना की गई। इसके साथ ही अन्धविश्वास, बाह्य कर्मकाण्ड तथा पाखण्ड को प्रश्रय मिला। अत: निर्गुणमार्गी संतों ने अवतारवाद का विरोध किया। संतों ने परमात्मा को जन्म-मरण के चक्र से परे माना है, क्योंकि अवतार जन्म-मरण के बंधन में ग्रस्त है। रक्त-मांस के रूप में जन्म लेने वाला कोई शरीरधारी परमात्मा नहीं हो सकता। रविदास ने कहा है कि हरि के समान हीरे का परित्याग करके अन्य की आशा रखना मूर्खता है-

''हरि सा हीरा छांड़ि कै, करैं आन की आस।
ते नर जमपुर जांहिगे, सत भाषै 'रविदास'।।''[2]

---

1 डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल-हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय में उद्धृत, पृ० 151

2 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद-रविदास दर्शन, पृ० 43

संत कवियों ने अवतार के किसी रूप को ग्रहण नहीं किया। वे इस सिद्धान्त के ही विरोधी थे। सन्तों के इस विरोध से उनका तात्पर्य असत्य का निवारण था। ईश्वर के एक रूप को मानकर उसी की आराधना पर बल दिया।

2.67 जाति--पाति और आडम्बरों का विरोध

सन्तों ने जाति-पाति और आडम्बरों का प्रबल विरोध किया। भक्तिकाव्य के जनक स्वामी रामानन्द ने ही भक्ति का द्वार सभी जातियों के लिए खोल दिया था। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की थी कि 'जाति-पांति पूछै नहिं कोई, हरि का भजे सो हरि का होई', किन्तु रामानन्द के शिष्य कबीर ने जातीय व्यवस्था तथा छुआछूत पर तीखी और तिलमिला देने वाली शब्दावली से प्रहार किया। कबीर ने ऊंचे कुल में जन्म लेने को व्यर्थ बताया यदि कर्म ऊँचे न हो। कबीर कहते हैं-''यदि तुम्हारे कर्म ऊँचे (उच्च कोटि) नहीं है तो ऊँचे कुल में जन्म लेने से ही क्या लाभ? जैसे कलश क्यों न सोने का ही हो यदि वह सुरा (शराब) से भरा है तो साधु उसकी निंदा ही करेगा।''[1]

कबीर के समान ही अन्य संतों ने भी जाति-पाति, ऊंच-नीच, छुआछूत आदि अमानवीय भावना के विरुद्ध एक प्रकार का आन्दोलन छेड़ रखा था। उन्होंने देखा कि विद्याविहीन ब्राह्मण भी स्वयं को श्रेष्ठ मानते थे और मिथ्या कुलभिमान से नीची जातियों का अपमान करते थे। रविदास ने गुणों की महत्ता पर बल देते हुए कहा कि उस ब्राह्मण की पूजा मत करो जिस में कोई गुण नहीं है, यदि कोई चांडाल गुणों से भरपूर है, तो उस के चरण पूजने चाहिए-

''रविदास' बाह्मन मति पूजिए, जउ होवै गुनहीन।
पूजिहिं चरन चंडाल के , जउ होवै गुन परवीन।।'[2]

---

1 सं० रामकिशोर शर्मा-कबीर ग्रंथावली (सटीक), पृ० 233

2 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद-रविदास दर्शन, पृ० 131

उस समय समाज में कुत्सित विचार एवं बाह्याडम्बरों का प्राबल्य था। इसी प्रकार सन्तों ने धार्मिक और सामाजिक आडम्बरों का भी खुलकर विरोध किया। उस समय में धर्म और समाज में आडम्बर छाया हुआ था। धर्म के दावेदार मठाधीश बनकर अनाचार की लीलाएँ कर रहे थे। सामाजिक विषमताओं से तंग आकर लोग जाति परिवर्तन को उतारू हो गये थे। सभी सन्तों ने भगवान् की पूजा के लिए जल, पुष्प माला, नैवेद्य, दूध आदि का प्रबंध आडम्बरपूर्ण माना है। भले ही पुजारी इन्हें विशुद्ध और पवित्र समझे। संतों ने मूर्ति-पूजा का भी विरोध किया और कहा मूर्ति-पूजकों को कभी मोक्ष नहीं प्राप्त हो सकता। वे भव-धारा में डूब जाते हैं। कबीर मूर्ति पूजा का खण्डन करते हुए कहते हैं कि पत्थर की मूर्ति को पूजने से यदि परमात्मा मिल सकता है तो मैं पहाड़ की पूजा करूँगा। उसकी अपेक्षा तो यह चक्की भली जिसका पीसा सारा संसार खाता है।

''पाहन पूजे हरि मिलै तो मैं पूजूँ पहार।
ताते यह चाकी भली पीस खाय संसार।।''[1]

संतों ने भक्ति से रहित जप-तप तथा तीर्थ एवं व्रतों पर विश्वास करना भी भ्रम बताया है। बिना विवेक के संसार की कोई साधना सफल नहीं हो सकती। इस प्रकार संतों ने ऐसे ईश्वर की उपासना का सन्देश दिया, जो मन्दिर-मस्जिद की सीमाओं से अधिक व्यापक और विशाल है। इसीलिए दादूदयाल ने कहा कि परमप्रभु की खोज में कोई द्वारका जाता है, कोई काशी की यात्रा करता है और कोई मथुरा की, किन्तु वह हमारे घट के अन्दर विद्यमान है-

'' केई दौड़े द्वारका, कोई काशी जांहि।
केई मथुरा को चले, साहब घट ही मांहि।।''[2]

---

1 डॉ० शं० के० आडकर-हिन्दी निर्गुण-काव्य का प्रारम्भ और नामदेव की हिन्दी कविता में उद्धृत, पृ० 123

2 डॉ० बारेलाल जैन-हिन्दी-साहित्य की सन्त काव्य-परम्परा के परिप्रेक्ष्य में आचार्य विद्यासागर के कृतित्त्व का अनुशीलन में उद्धृत, पृ० 21

2.68 माया से सावधानता

माया से सावधान रहने का सन्देश सभी संत कवियों ने दिया है। ब्रह्म के साथ जीव का सम्बन्ध स्थापित करने में माया ही सबसे बड़ी बाधक है। माया का प्रभाव चतुर्दिक व्याप्त है। उससे जल, थल और गगन का कोई भी जीव जन्तु नहीं बच सका है। कबीर की दृष्टि में माया के दो सर्वाधिक प्रबल अस्त्र कनक और कामिनी रहे हैं। माया अपने जाल में फँसाकर जीव को मोहित करके उसका पथ-भ्रष्ट करती है और हरि-विमुख कर देती है।

कबीरदास ने माया को एक ऐसी व्यापक दुष्ट शक्ति माना है जिसके चुंगल से कोई भी बच नहीं सकता। मनुष्यों की क्षमता क्या, स्वयं देवता भी उससे मुक्त नहीं हो सके। संत कवि दादूदयाल तो माया का प्रभाव इतना शक्तिशाली मानते हैं कि सगुण मार्गियों के उपास्य राम तक उस माया से मुक्त नहीं है। एकमात्र निर्गुण, निराकार ब्रह्म ही माया से रहित है।

''माया रूपी राम कूं सब कोई गावै।
अलख आदि अनादि है, सो दादू ध्यावै।।''[1]

संतों ने माया को महाठगिनी बताते हुए उससे सावधान रहने की विशेष प्रेरणा दी है। आत्मा-परमात्मा के मिलन में यही सबसे बड़ी रूकावट है।

2.69 रहस्यवाद

प्रेम तत्त्व के कारण ही सन्त-काव्य में रहस्यमयता का प्रादुर्भाव हुआ। ''सन्त संप्रदाय में प्रेमासक्ति और रहस्यमयता की प्रवृत्तियाँ विट्ठल संप्रदाय से आई। प्रणयानुभूति के क्षेत्र में पहुंचकर ये खंडन-मंडन की प्रवृत्ति को भूल जाते हैं और इनका मृदुल एवं पेशल हृदय तरल हो जाता है।''[2] प्रकृति के कण-कण में उस

---

1 ओम प्रकाश त्रिपाठी-संत साहित्य और लोकमंगल में उद्धृत, पृ० ०

2 डॉ० शिवकुमार शर्मा-हिन्दी साहित्य: युग और प्रवृत्तियाँ, पृ० 126

अज्ञात सत्ता की झलक पाना, आत्मा को परमात्मा का अंश समझकर उससे सम्मिलन की आकांक्षा व्यक्त करना, उस अज्ञात सत्ता के स्वरूपोद्घाटन-सम्बन्धी भाव व्यक्त करना रहस्यवाद हैं। सन्त काव्य में मुख्यत: अलौकिक प्रेम की अभिव्यंजना हुई जिसे रहस्यवाद की भी संज्ञा दी गई है। साधना के क्षेत्र में जो ब्रह्म है, साहित्य के क्षेत्र में वही रहस्यवाद है। सन्त प्रेम के एकान्त साम्राज्य में पहुँच कर सब कुछ भूल जाते हैं और इनकी आत्मा प्रेमानुभूतियों से व्याकुल हो जाती है। संतों का रहस्यवाद अद्वैतवाद से प्रभावित है। जिसके अनुसार आत्मा-परमात्मा से अभिन्न समझी जाती है। माया के जाल से ग्रस्त होकर जीव स्वयं को ईश्वर से भिन्न समझता है, किन्तु जैसे ही माया का आवरण हट जाता है, आत्मा परमात्मा से मिल जाती है। कबीर कहते है:-

''जल में कुंभ, कुंभ में जल है भीतर बाहर पानी।
फूटा कुंभ जल जलहिं समाना, यह तत कथौं ग्यानी।।''[1]

संतों के यहां साधनात्मक और भावनात्मक दोनों प्रकार की रहस्यमयता के दर्शन होते हैं। कबीर आदि सन्तों की वाणी में जिज्ञासा, खोज, उत्सुकता और मिलन आदि रहस्यवाद की सभी अवस्थाओं के सहज दर्शन हो जाते हैं।

2.610 मानवतावादी दृष्टि

संतों की धर्म भावना का केन्द्र मानवतावाद है। संतों ने मुख्य तौर पर मानव-धर्म की ही स्थापना की। उन्होंने मानव धर्म के दो पहलू नकारात्मक और सकारात्मक किये हैं। नकारात्मक पहलू के अंतर्गत संतों ने जाति-पाति, छुआछूत, सामाजिक विषमता, पाखंड, अत्याचार, जीव-हिंसा, भोगवाद, अंधविश्वास आदि मानवता विरोधी प्रवृत्तियों के प्रति विद्रोह किया है। संतों ने हिंदू-मुसलमानों के अन्दर

---

1 राजेन्द्र सिंह गौड़-संत कबीर दर्शन, पृ० 31

जो बुराईयाँ व्याप्त थीं उन पर कसकर प्रहार किया। वे निर्भीक प्रवृत्ति के थे। जो कहते थे डंके की चोट पर कहते थे। संतों ने मानव धर्म के सकारात्मक पहलू के अंतर्गत प्रेम, अहिंसा, सत्य, करूणा आदि मूल्यों की प्रतिष्ठा की है। इनका साहित्य लोकमंगल की भावना से परिचालित है जो मानव-धर्म की पूर्ण प्रतिष्ठा से प्रेरित है। इनका काव्य मनोरंजन की वस्तु नहीं है। सन्त कवि सामाजिक नैतिकता एवं मर्यादा के कवि थे। इसीलिए ये समाज सुधारक कहलाए। संतों ने समाज के दलित, उपेक्षित और पीड़ित वर्ग के लौकिक-आध्यात्मिक उन्नयन का प्रयास किया। सन्तों ने समाज की विषमताओं को खत्म करने का बीड़ा उठाया था। सन्त सुख के पक्षधर थे। निम्न-जातियों में उत्पन्न संत आजीवन पतितोद्धार के पुनीत कार्य में लगे रहे। इस प्रकार ये संत सच्चे मानवतावादी कवि थे।

निष्कर्ष में हम कह सकते हैं सन्तों ने जिस युग को देखा था वह खोखली सामाजिक व्यवस्था, राजनीति से अव्यवस्थित था। धार्मिक क्षेत्र में पाखण्ड का क्षेत्र था। जिसमें देश में अन्धकार और अशान्ति का वातावरण था। सन्तों ने ऐसे समय में अपनी वाणी से और निर्भीक स्वभाव से अपने को बड़े ज्ञानी कहने वाले पंडित-मुल्लाओं को सही मार्ग दिखाया। लोगों में से नफरत की भावना को खत्म करके एक ईश्वर का नाम बताया।

2.7 सन्त मत के विभिन्न पक्ष

'संत' शब्द 'सत्' शब्द का एक अन्यतम रूप है जिसका वास्तविक अर्थ अस्तित्त्व का बोधक है और जो एक प्रकार से 'सत्य' का भी पर्यायवाची है। संतों का प्रधान लक्षण भी यही हो सकता है कि वे सत्य के प्रति पूरे 'आस्थावान्' हैं और उसी के अनुसार अपना जीवन व्यतीत करते हैं। सत्य की अनुभूति उनमें तादात्म्य का

भाव पैदा करती है, जिससे उनमें एक शक्ति आ जाती है और उनका जीवन-दर्शन ऊँचा उठकर उनके व्यक्तित्व को नितांत शुद्ध, सरल एवं सात्विक रूप प्रदान करता है। इसलिए उनमें संकीर्ण वा संकुचित विचारों के लिए कोई स्थान नहीं रहता और वे सभी धर्मों, संप्रदायों, जातियों वा वर्गों को समान दृष्टि से देखने लग जाते हैं। संतों ने अपनी रचना के सामने न तो 'कविता कविता के लिए, का आदर्श रखा, न उनमुक्त कल्पना के प्रभाव में विविध भावनाओं की दृष्टि कर अपना मनोराज्य स्थापित करने की चेष्टा की। संतों ने अपनी रचना को कभी उसके विषय से अधिक महत्त्व नहीं दिया और न ही उसके शब्द एवं शैली में चमत्कार लाने के पीछे उसके भाव-सौंदर्य के प्रति कभी उदासीन हुए। उन्होंने अपनी गंभीर बात को भी सदा सर्वसाधारण की ही भाषा में व्यक्त किया। सभी सन्त कवि मानवता के सच्चे प्रेमी थे। वे निर्भीक होकर धार्मिक एवं सामाजिक अनाचारों एवं अन्धविश्वासों का कट्टर विरोध करके अपनी विद्रोह भावना को प्रकट करते थे और इनकी निन्दा करते थे। संतों का विश्वास है कि जीवन-मूल्यों और नैतिक गुणों से प्रत्येक व्यक्ति में त्याग, समता की भावना तथा विश्व-बन्धुत्त्व का विचार उत्पन्न हो जाता है। सन्त कवि लोकधर्म के संस्थापक थे जिनका आदर्श पर-पीड़ा को दूर करना और समाज में सुख-शान्ति प्रदान करना था। सन्तों ने अपने युग के साहित्य में समाज, धर्म आदि में प्रगतिशील विचारों का समावेश किया। सन्तों के साहित्य में साधारण जनता को अवलम्बन मिला। जिस कारण उनका साहित्य जन-जीवन का साहित्य भी कहा जाता है। सन्त साहित्य तत्कालीन समाज, धर्म और देश-काल का सच्चा प्रतिबिम्ब है। सन्त कवियों में युग जीवन का स्पन्दन ध्वनित होता है। उसमें सामाजिक एवं धार्मिक चेतना परिलक्षित होती है। अधिकतर सन्त भारतीय जनता का सच्चा प्रतिनिधित्व करते हैं।

2.71 धार्मिक पक्ष

मानव जीवन में धर्म की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। धर्म, प्रत्येक मानव को अपने कर्म, ज्ञान और भक्ति से मिलानेवाली कड़ी है। धर्म वही है, जो व्यक्ति और समाज को नीतिपूर्वक धारण करता है। ईश्वर- चिन्तन के समाहार को धर्म कहते हैं, पर नीतियुक्त कर्म भी धर्म कहा जाता है। धर्म में लोक व्यवहार का विशेष स्थान है उसका आचरण पक्ष बहुत विशाल और श्रेष्ठ है। सच्चा धर्म वास्तव में एक ही है पर बाह्याचारों और अनुष्ठानों के आधार पर प्रत्येक पंथ और धर्म के असंख्य भेद-प्रभेद उत्पन्न हो गए हैं।

धार्मिक दृष्टि से सर्व-धर्म-समन्वय का सार तत्त्व ही वास्तव में सन्त मत है। यह मत सब प्रकार के बंधनों और भेद-भावों से ऊपर उठकर विश्व बन्धुत्व और भ्रातृत्व की प्रेरणा देता है। इस मत का धर्म सामान्यत: विश्व-मानव-धर्म है। इसमें न तो कर्मकांड का बंधन है और न ही वर्ण तथा जाति भेद। सदाचरण, व्यवहार और आचार-विचार की पवित्रता, विषय-वासना से मुक्ति और आवागमन आदि के बन्धन से मुक्ति ही इनके धर्म का सार-तत्त्व है। सन्तों ने केवल किसी एक धर्म को नहीं माना बल्कि भारतीय संस्कृति को धर्म-निरपेक्षता का रूप प्रदान किया। इसके लिए इन्होंने वैयक्तिक एवं लोक-साधना दोनों को प्राय: समान महत्त्व दिया। इस साधना के लिए निम्नलिखित तत्त्वों को अनिवार्य माना है।

(क) ज्ञान का महत्त्व

'ज्ञान' का तत्त्व सन्त मत की साधना में अनिवार्य धर्म है। इन्होंने धर्म ग्रंथों का अनुसरण करने की बजाय स्वानुभूति से सत्य के अनुसंधान पर ज़ोर दिया। ''उपनिषद्‌ों में भी कहा गया है कि विद्या दो प्रकार की होती है-परा और अपरा

अर्थात् शास्त्र-ज्ञान और आत्म-ज्ञान तथा यह निर्णय दिया गया है कि केवल शास्त्र- ज्ञान से कोई भी व्यक्ति सर्वज्ञ नहीं हो सकता। आत्मतत्त्व की जानकारी से जगत् और उसके स्रष्टा का मर्म जाना जा सकता है।''[1] गीता, भागवत आदि शास्त्रों के अध्ययन से मूल तत्त्व को नहीं जाना जा सकता। उस अनादि ब्रह्म सत्पुरूष का साक्षात्कार सच्ची प्रीति से ही सम्भव है। संतों की यह मान्यता है कि ज्ञान से ही सत्य सामने आता है और मानव धर्म का पालन सत्य के बिना असम्भव है। इस मत और साधना-पद्धति में ज्ञान उच्च जानकारी और योग-साधना दोनों का प्रतीक-परिचायक स्वीकार किया गया है। संत गुरु द्वारा दिए गए ज्ञान को ही सच्चा और यथार्थ ज्ञान मानते हैं। उनके विचार में गुरु के ज्ञान के बिना कहीं भी प्रकाश नहीं है। संतों का ऐसा भी विश्वास है कि गुरु शिष्यों को शब्दरुपी आत्मज्ञान की युक्ति बतलाता है। आत्मज्ञान के रहस्य की कुंजी गुरु की कृपा से ही प्राप्त होती है।

(ख) गुरु का महत्त्व

सन्त संप्रदाय में गुरु की सत्ता सर्वोपरि है, अतः उसका महत्त्व ईश्वरवत् और उससे भी बढ़कर है। गुरु में वह शक्ति होती है जिससे वह शिष्य को अपना स्वरूप प्रदान कर सकता है। ''जिस प्रकार नदी नाले गंगा में मिल कर गंगा ही का रूप हो जाते हैं ठीक उसी प्रकार सद्गुरु अधिकारी शिष्य को अपने भीतर एकमेक कर लेता है। शिष्य का व्यक्तित्व अपने गुरु के व्यक्तित्व में विगलित होकर तद्रूप हो जाता है। इस प्रकार शिष्य गुरु की कृपा से राम के रंग में रंग जाता है।''[2] विश्व में क्या उचित है और क्या अनुचित है-अर्थात् विधि-निषेध का सम्यक् ज्ञान गुरु ही प्रदान

---

1 डॉ० वासुदेव सिंह-हिन्दी सन्त काव्य समाजशास्त्रीय अध्ययन, पृ० 256

2 डॉ० हरवंशलाल शर्मा-मध्यकालीन निर्गुण-भक्ति-साधना, पृ० 66

करता है। अत: सन्त साधना में गुरु का स्थान अद्वितीय है। कहीं-कहीं तो गुरु को ही ईश्वर या फिर ईश्वर को ही गुरु स्वीकारा गया है। कबीर गुरु की महानता के बारे में बताते हुए कहते हैं कि उनका गुरु के ज्ञानस्वरूप के साथ ऐक्य स्थापित हो गया है। वे अपनी भावना को इस प्रकार व्यक्त करते हैं -

''कबीर गुरु गरवा मिल्या, रलि गया आटैं लूंण
जाति पांति कुल सब मिटे, नांव धरोगे कौंण।।''[1]

सन्तों ने गुरु के बिना जीवन को व्यर्थ बताया है। उस परमतत्त्व तक पहुँचने का गुरु ही सच्चा मार्ग है। सन्त संप्रदाय में गुरु की सत्ता सर्वोपरि है। सन्त-साधना में गुरु का स्थान अद्वितीय है।

(ग) विधि-निषेध

ग्राह्य-अग्राह्य को ही विधि-निषेध कहा जाता है। जगत् जो वस्तु ग्राह्य है, वह विधि है और जो वर्ज्य है वह निषेध। आत्मदर्शन और अन्त में मुक्ति के लिए पवित्र आचरण और व्यवहार की पवित्रता बनाये रखने के लिए विधि-निषेध का पालन अनिवार्य है। उदारता, शील, क्षमा, सन्तोष, विनम्रता और विवेकादि गुण जीवन की पवित्रता के लिए ग्राह्य है तथा काम, क्रोध लोभादि दोष वर्ज्य है। सन्तकाव्य में उपदेशों द्वारा गुण-ग्रहण तथा दोष-परिहार पर बल दिया गया है। सन्त-काव्य का नीति या उपदेश-पक्ष विधि-निषेध के इसी सिद्धान्त से ही सम्बन्धित है।

(घ) नाम-स्मरण

सन्त साहित्य में 'नाम' का बड़ा गुणगान हुआ है। सन्त कवियों ने 'नाम' को संसार में सार वस्तु माना है। 'नाम' ही मानव को कल्याण दिलाने वाला है। सन्तों ने

---

1 डॉ० पुष्पपाल सिंह-कबीर ग्रन्थावली (सटीक), पृ०80

नाम स्मरण को ब्रह्म की उपासना का सर्वोत्तम साधन माना है। जप, तप, तीरथ, नियम, दान, व्रत आदि 'नाम' जप की तुलना में निःसार और तत्त्व रहित है। संतों ने 'नाम' को सरलतम तथा सर्वश्रेष्ठ साधना कहा है। मानव कष्टों को सहन करके, काया को कष्ट देकर, तप साधन आदि जो करता है वे 'नाम' स्मरण की तुलना में महत्त्वहीन है। सन्त मत ने नाम-स्मरण पर बल देते हुए यह माना है कि इस प्रकार की अन्तःसाधना में किसी भी प्रकार के बाह्य विधान या प्रदर्शन की आवश्यकता नहीं रहती है। नाम-स्मरण से मन स्वतः ही पवित्र और निर्मल होकर प्रभु-भक्ति में विलीन हो जाता है।

इस प्रकार हम सन्त मत के धर्म पक्ष में ज्ञान, गुरु, विधि-निषेध, नाम-स्मरण को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानते हैं।

2.72 दार्शनिक पक्ष

सन्त साहित्य की दार्शनिक विचारधारा किसी विशेष शास्त्र पर आधारित नहीं क्योंकि सन्त-दृष्टि शास्त्रों की अपेक्षा आत्मानुभूति पर विशेष आस्थावान् थी। सन्तों का लक्ष्य जिस प्रकार कविता करना नहीं था, उसी भांति दर्शन की गुत्थी को सुलझाना भी उन्हें अभीष्ट नहीं था। संत लोग न तो दार्शनिक थे, न उन्होंने इसके लिए कभी दावा ही किया है। वे लोग धार्मिक व्यक्ति एवं साधक थे। ''सन्त-साहित्य की दार्शनिक विचारधारा ने उपनिषदों, सिद्धों, नाथों और सूफियों की प्रेममयी अनुभूतिशील चिन्तनशीलता को आधार-स्वरूप मान कर अपने रूप का निर्माण किया है।''[1] समस्त सन्त साधक और कवि प्रायः निम्न जातियों से सम्बन्धित थे। सन्त कवि बहुश्रुत थे। इन्होंने विभिन्न सम्प्रदायों के सज्जनों एवं सन्तों के संसर्ग

---

1 डॉक्टर कोशनीप्रसाद चौरसिया-मध्यकालीन हिन्दी-सन्त विचार और साधना, पृ० 83

में आकर जो कुछ सुना, उसी के आधार पर सार-तत्त्व ग्रहण कर अपने मतों का निर्धारण किया। इन्होंने अपने विचारों में व्यावहारिक सहजता एवं सहज मानवीय स्वाभाविकता को ही स्थान दिया। सन्त-साहित्य के दार्शनिक सिद्धान्त प्रधानतः ब्रह्म, जीव, माया और जगत् इन चार तत्त्वों पर आधारित हैं। इन तत्त्वों के निरूपण में सन्त कवियों ने स्वसंवेध ज्ञान को ही प्रामाणिक माना है। दर्शन के स्तर पर सन्तों के काव्य के मुख्य चार पक्ष स्वीकारे गये हैं-

(क) ब्रह्म

सन्त साधक निर्गुणवादी थे, अतः इनका ब्रह्म निर्गुण, निर्विकल्प तथा निराकार है। सन्त कवि ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप कथन तक ही सीमित नहीं रहे, उन्होंने उसे निर्गुण और सगुण से परे माना। ''सन्तों का ब्रह्म नाम, रूप, जाति और वर्ण से रहित है, परे है। वह अकथ, अलेख तथा अगोचर है। उसकी शक्ति एवं स्वरूप मानव के अनुमान तथा विचार से भी उच्च तथा विस्तृत है। संसार की अपूर्ण भाषा तथा अल्प बुद्धि मानव उसका पूर्ण वर्णन नहीं कर सकता है।''[1] इसे ज्ञान- साधना के बल पर अपने भीतर ही अनुभव किया जा सकता है, ब्रह्म चर्म-चक्षुओं से दर्शन सम्भव नहीं। वह समस्त विश्व में व्याप्त है। उसे बाहर खोजने की आवश्यकता नहीं। वह प्रत्येक कण में विद्यमान है। वह शून्य और निरंजन है। यह सर्वव्यापक एकमात्र ऐसा तत्त्व है जो किसी भी रूप में नहीं बाँधा जा सकता। ''वह वर्णनातीत, अगम्य एवं अकल्पनीय है। वह तो गूंगे का गुड़ है। वह एक है और हिन्दू-मुसलमान, ब्राह्मण तथा शूद्र सबके लिए एक सा है। उसकी प्राप्ति प्रेमानुभूति तथा सहज-समाधि से संभव है। ब्रह्म की प्राप्ति गुरु के बिना असंभव है।''[2] भक्ति साधना के सभी पथ इसी की ओर जाते हैं।

---

1 त्रिलोकी नारायण दीक्षित-संत दर्शन, पृ० 34

2 डॉ० शिवकुमार शर्मा-हिन्दी साहित्य: युग और प्रवृत्तियाँ, पृ० 130

(ख) जीव

जीव ब्रह्म का ही अंश है। ब्रह्म और जीव, जल और लहर के समान कहने को अलग हैं, पर हैं एक ही। दोनों में कोई अंतर प्रतीत नहीं होता। जीव ब्रह्म का ही अंश होने के कारण उसी के समान अविनाशी तत्त्व है। वह सत्य एवं नित्य है। माया के द्वारा दोनों में अन्तर भासित होता है। मायाजन्य आवरण की समाप्ति के बाद यह अन्तर स्वत: ही नहीं रहता। यह उसी भाँति है जिस प्रकार जल में तैरते हुए कुम्भ में भी लहर वाला जल है किन्तु दोनों एक जैसे होते हुए भी अलग-अलग हैं। दोनों का मिलन तभी सम्भव है, जब कुम्भ की सत्ता समाप्त हो जाय।

जीव माया-ग्रस्त होने के कारण अविद्या-अज्ञान के वशीभूत हो जाता है। इस अज्ञान को गुरु की कृपा से ही दूर किया जाता है। जीव के लिए आत्मबोध कठिन होता है। परन्तु इस कठिनाई को पार करने के लिए जीव ब्रह्म के साथ बहुविध सम्बन्धों तथा उसके नाना प्रतीकों की कल्पना करता है। ब्रह्म के प्रति जीव में अनन्य प्रेम का भाव होना चाहिए। इस प्रेम की पूर्णता केवल दाम्पत्य भाव द्वारा ही सम्भव हो सकती है। इसीलिए सन्तों ने साधना- पद्धति में दाम्पत्य भाव को प्रमुखता प्रदान की। अर्थात् वे आत्मा को पत्नी और परमात्मा को पति मान कर अनन्य साधना करने की प्रेरणा देते हैं।

(ग) माया

सन्तों ने माया के अस्तित्त्व को स्वीकार करते हुए इसे व्यभिचारिणी तक कह डाला है। इसने समस्त संसार को अपने वश में कर चरित्रभ्रष्ट कर रखा है। यह सत्य के विपरीत भ्रम का जाल फैलाने वाली है। इसके अनेक रूप हैं। कंचन और कामिनी के रूप में जीव को सत्यपथ से हटाती है। यह खांड के समान मीठी प्रतीत होती है, पर इसका वास्तविक स्वरूप विष के समान प्रभाव डालता है। संसार के समस्त

आकर्षक लुभावने स्वरूप माया का प्रतीक हैं। इसने सारे संसार को ग्रस रखा है। इससे मुक्ति पाने के लिए गुरु-प्रदत्त ज्ञान, भक्ति, प्रेम और सत्संग आदि आवश्यक है। सन्तों ने माया को 'महाठगिनी' 'डाकिनी' आदि कहकर इसके प्रभाव से मुक्त रहने की चेतावनी दी है। लौकिक स्तर पर माया से मुक्ति को पारलौकिक मुक्ति का माध्यम स्वीकार किया है। कबीर ने यह भी स्पष्ट किया है सन्त लोग, हंसात्माएं माया को दासी बनाकर रखते हैं-

''माया दासी संत की, ऊंची देइ असीस।
विल्सी अरु लातौं छड़ी, सुमरि सुमरि जगदीस।।''[1]

(घ) जगत्

''हमें अपने अस्तित्त्व एवं आकार के आसपास जो कुछ भी स्थूल रूप से दिखाई देता है, वही जगत् है।''[2] संत इस सर्वत्र संसार की सत्ता मिथ्या मानते हैं। ईश्वर स्मरण के बिना यह मिथ्या संसार, जिसकी क्षणिक स्थिति है, और भी अधिक दुखदायी है। इस संसार का नाश सर्वथा निश्चित है, इसकी उत्पत्ति और प्रलय में कुछ समय नहीं लगता, वह भी पूर्ण अनिश्चित है। जगत् के समस्त आकर्षक स्वरूप भ्रामक है। जीव माया के प्रभाव से ही इसी को सत्य मान बैठता है। पर यह तो छाया और माया के समान नश्वर और क्षणिक है। अत: इसमें मन नहीं रमाना चाहिए। धन, वैभव, आडम्बर, विलास, सुख और दु:ख ये सब जगत् के रूप हैं।

2.73 साधनापरक पक्ष

सन्त संप्रदाय की साधना के अंतर्गत दो वस्तुएं हैं-भक्ति और योग। सन्त साहित्य के साधनापक्ष में इन्हीं दो बातों पर अधिक बल दिया गया है। भक्ति के

---

1 डॉ० पुष्पपाल सिंह-कबीर ग्रन्थावली (सटीक), पृ०170

2 डॉ० तिलकराज शर्मा-हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास, पृ० 79

अन्तर्गत में यह रहस्यवाद है और योग-मार्ग में नाड़ी-साधन और षट्चक्र है। दूसरी ओर वह सहज-समाधि है, जो अन्ततः रहस्यवाद के समीप पहुँच जाती है।

(क) भक्ति

भक्ति निश्छल और निष्काम होनी चाहिए। इसके लिए मन की निर्मलता, आचरण की शुद्धता, नाम-स्मरण, कीर्तन, अनवरत प्रेम और समर्पण का दाम्पत्य भाव आवश्यक है। नाम-स्मरण, श्रवण तथा कीर्तन से मन सन्तुष्ट होता है। कीर्तन से विमल प्रेम उपजता है और उसमें फिर मादकता आती है। दाम्पत्य प्रेम में आत्मसमर्पण की भावना आ जाती है। आत्मसमर्पण से जो ब्रह्मानुभूति होती है वही रहस्यवाद है। इस प्रकार सन्तों में जहां प्रेम का उत्कर्ष है वहीं सूफियों के इश्क की मादकता है। इसमें दोनों का समन्वित रूप दृष्टिगत होता है।

(ख) योग

संत-मत नाथ-सम्प्रदाय की विकसित परम्परा होने के कारण इस पर योग की क्रियाओं का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा। सन्तों ने अक्षरशः यौगिक क्रियाओं को न अपनाकर, उन्हें कष्ट-साध्य मानकर योग की सहज बातों को ही प्रश्रय दिया, जिनमें सहज-समाधि और अजपाजाप अधिक महत्त्वपूर्ण है। सन्त सम्प्रदाय में योग के परम्परागत रूप-इंगला, पिंगला, षट्चक्र, सहस्रदल, कमल, कुण्डलिनी और ब्रह्मरन्ध आदि का उल्लेख भी मिलता है।

2.74 सामाजिक पक्ष

सन्त साधकों और कवियों का साधना-पक्ष मुख्य और प्रत्यक्ष रूप से वैयक्तिक साधना का ही पक्ष है। जिसमें अध्यात्मभाव की प्रबलता भी स्पष्ट है। ये संसार में ब्रह्म की सत्ता को प्रत्येक कण में विद्यमान मानते हैं। समस्त सृष्टि ब्रह्ममय

है, इस प्रयत्न के परिणामस्वरूप इनका सामाजिक पक्ष स्वत:ही उभरकर सामने आ जाता है। ''इन्होंने व्यष्टि में समष्टि और समष्टि में व्यष्टि तत्त्वों को खोजने का सफल प्रयत्न किया, इस कारण इनकी सामाजिकता और भी अधिक मुखर हो उठी है।''

व्यक्ति समाज की इकाई है और समाज पर व्यक्ति के गुणों और आचरण का प्रभाव पड़ता है। सन्त संप्रदाय ने जीवन में गुणों और सात्विकता को ग्रहण करने में अत्यधिक बल दिया है। और समाज की व्यवस्था के लिए व्यक्ति के पवित्र जीवन को अधिक महत्त्व दिया है। जातिवाद और ऊँच-नीच के भेद-भावों, धार्मिक आडम्बरों आदि का सन्त कवियों ने विरोध किया है जो समाज की शान्ति के लिए हानिकारक है इन्होंने वर्ग और जाति में अपना विश्वास नहीं रखा। सदाचरण को संतों ने महत्तता प्रदान की है। ''इन्होंने निवृत्तिमूलक और प्रवृत्तिमूलक दोनों प्रकार के आचरण पर विचार प्रकट किये हैं। धर्म के मतभेद और बाह्य आडम्बर-तीर्थ स्थान, वेद पाठ, छुआछूत, रोज़ा-नमाज, हिन्दू-मुसलमान, मन्दिर-मस्ज़िद, ब्राह्मण-शूद्र, शिया और सुन्नी आदि का भेद मान्य नहीं है, बल्कि इन्होंने इन सब का कठोर विरोध किया है। इन्होंने समाज-व्यवस्था को विकृत करने वाली रूढ़ियों, पाखंड, रीति-रिवाज और मिथ्या आडम्बर आदि के विरूद्ध जनता में विद्रोह की भावना उत्पन्न की।''[2] उस समय व्यवसाय की श्रेष्ठता और निम्नता के आधार पर ऊँच-नीच का भेदभाव व्याप्त था। सन्तों ने इसका डटकर सामना किया और विरोध प्रकट किया। सन्तों ने मानव-धर्म का प्रचार करते हुए प्रेम और शांतिपूर्ण जीवन-यापन करने का आशामय संदेश दिया।

---

1 डॉ० तिलकराज शर्मा-हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास, पृ० 100

2 डॉ० शिवकुमार शर्मा-हिन्दी साहित्य: युग और प्रवृत्तियाँ, पृ० 131

अन्त में हम कह सकते हैं कि सन्तों के धार्मिक, दार्शनिक, सामाजिक तथा साधना पक्ष में सन्तों का लक्ष्य एकमात्र ब्रह्म की प्राप्ति है। सन्तों ने प्रत्येक क्षेत्र में से बुराईयों को निकालकर उन्हें पवित्र रूप प्रदान किया है। सन्तों ने समाज को मिथ्याडम्बरों तथा ऊंच-नीच के भेद-भाव से निकाल कर एक सच्चे ईश्वर का मार्ग दिखाया और उन्हें अपने इस कार्य में सफलता भी मिली।

2.8 सन्त काव्य पर विविध धर्मों एवं सम्प्रदायों का प्रभाव

संत काव्य किसी व्यक्ति-विशेष की कृति न होकर, विकास कहलानेवाले सामाजिक नियम द्वारा, कालक्रमानुसार धीरे-धीरे, स्वयं निर्मित हुआ है। संत काव्य के निर्माण में परिणत होनेवाली क्रिया केवल कुछ वर्षो ही तक नहीं चली थी और न इसका अंत कुछ लोगों के जीवन-काल की अवधि में ही हुआ था। अपितु संत कवियों की परम्परा अनेक युगों से निरंतर चले आने वाली किसी एक विशेष प्रक्रिया-द्वारा निर्मित हुई। इस प्रक्रिया का आरंभ ईसा के पूर्व चौथी शताब्दी के पहले एकांतिक धर्म वा एकनिष्ठ भक्ति में हुआ था और दूसरी ओर इसे बौद्ध धर्म के अंतर्गत भी कहा जा सकता है जो उससे किसी प्रकार कम प्राचीन नहीं है। भारतीय धर्म ग्रंथ जिनमें वेद, पुराण, उपनिषद्, महाभारत, गीता आदि सभी आते हैं-संत कवियों के विचारों का उत्स देखा जा सकता है और इससे यही ज्ञात होता है कि अपने से पूर्व प्राय: सभी धर्म-पद्धतियों एवं दर्शनों से सन्त कवि प्रभावित थे। इसका तात्पर्य यह नहीं कि सन्तों ने इनको पूर्ण रूप से ग्रहण किया बल्कि इन महापुरूषों ने केवल उन्हीं विचारों को अपनी वाणी में स्थान दिया जो इनके अनुभव की कसौटी पर खरे उतरे।

2.81 वैदिक वाङ्मय और संत कवि

वेद भारतीय धर्म व्यवस्था के प्राण हैं। प्रत्येक भारतीय धर्म-पद्धति वेदों को अपने लिये प्रमाण मानकर चलती है। संत कवियों के विचारों का मूल स्रोत सबसे पहले हम वेदों में देखते हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि वेदों में जो भक्ति स्थापित की गई है, वह बहुदेवोपसना है, भक्ति नहीं और वेदों में केवल कर्मकाण्ड ही भरा पड़ा है, पर यह विचार तथ्यपूर्ण नहीं है। ऋग्वेद में जो मंत्र हैं वह अधिकांशत: भक्तिपरक ही हैं। ऋग्वेद के अनुसार सत्नाम एक ही है, उसे केवल उपासना के लिए उपासकों द्वारा भिन्न-भिन्न रूपों में जाना जाता है।

''एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहु: ।।46।।''[1]

आलोच्य सन्त कवियों पर सबसे अधिक प्रभाव वैदिक विचारधारा का है। सन्तों के ब्रह्म, सृष्टि और साधना के प्रति जो मान्यताएं हैं उन पर वैदिक विचारधारा का प्रभाव है। डॉ० मिथिलेश शरण मीतल लिखते हैं- '' डॉ० गोविंद त्रिगुणायत के मत से कबीर की ब्रह्म सम्बन्धी धारणा पूर्ण रूप से वैदिक सांचे में ढल कर निकली है।''[2] ''एक स्थल पर 'श्वेताश्वतर उपनिषद' में कहा गया है कि- 'वह समस्त प्राणियों में स्थित मात्र एक ही देव है। उसे दूजा कहा ही नहीं जा सकता। वह सर्वव्यापी, सभी भूतों की अन्तरात्मा, कर्मो का अधिष्ठाता एवं सभी प्राणियों में बसा हुआ है। वह सभी का साक्षी, सभी को चैतन्यता प्रदान करने वाला एवं शुद्ध निर्गुण है।''[3] सन्तों की भी यही धारणा ब्रह्म के विषय में है। वेदों, पुराणों एवं उपनिषदों में वर्णित ब्रह्म सम्बन्धी मान्यता का सार यह है कि वह सभी स्थलों में विद्यमान है।

---

1 महर्षि दयानन्द सरस्वती-ऋग्वेद, मं 1, सू 164, पृ० 845

2 डॉ० मिथिलेश शरण मीतल-निर्गुण सम्प्रदाय के कवियों में मधुरा भक्ति, पृ० 127

3 ओम प्रकाश त्रिपाठी-संत साहित्य और लोकमंगल, पृ० 71

उपनिषद्‌ों में ज्ञान काण्ड के अतिरिक्त योग और भक्ति की भी चर्चा है। उपनिषद्‌ों में ज्ञान, भक्ति एवं योग का सुन्दर समन्वय है।

सन्तों ने इन सभी मान्यताओं को अपनी वाणी में महत्त्व दिया है। वैदिक काल का सदाचारमूलक आचार-विचार सन्तों को मान्य है और सदाचार पर बल देते हुए इन्होंने सरल एवं निष्कपट जीवन जीने को सर्वोत्तम बताया है। अत: सक्षेप में कहा जा सकता है कि सन्तों की वाणी एवं विचारधारा पर वैदिक धर्म का प्रभाव है। इन वेदों पर यदि उनका कहीं विरोध है तो मात्र उनकी कर्मकाण्डी व्याख्या से है न कि तात्त्विक दृष्टि से।

2.82 वैष्णव सम्प्रदाय और संत कवि

संत कवि वैदिक परम्परा से कहीं अधिक वैष्णव परम्परा से प्रभावित है संतों ने अपनी रचनाओं में वैष्णवों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। इसका मुख्य कारण यह है कि अन्य धर्मो की अपेक्षा वैष्णव धर्म में अधिक सात्त्विकता, व्यवहारिकता एवं लचक थी। वैष्णव मत अत्यन्त प्राचीन है। भगवान विष्णु और उनके अवतारों की उपासना ही इस मत का प्रधान अंग है। वैष्णव मत में इन अवतारों का अच्छा सम्मान है। वैष्णवों के उपास्य भगवान विष्णु हैं। उनके दो रूप हैं- निर्गुण और सगुण। इस प्रकार वैष्णव मत ब्रह्म के निराकार एवं निर्गुण स्वरूप को सत्य मानकर भी अवतारवाद का प्रबल समर्थक है, परन्तु निराकार ब्रह्म ही विष्णु का परमपद है। वैष्णवों ने सदाचार के जिन अंगों का वर्णन किया, संत कवियों ने अपनी वाणियों में उसका समर्थन किया। सन्तों ने पंच या षट् विकारों की जो कटु आलोचना की है, वह वैष्णवों की ही देन है। वैष्णवों की भाँति सन्तों की भी दृष्टि में 'नाम' और 'काम' परस्पर विरोधी है। ईश्वर की प्राप्ति के लिए 'काम' का परित्याग आवश्यक

है। वैष्णव धर्म भक्ति प्रधान धर्म है। इस धर्म में ज्ञान, योग, कर्म आदि साधनों में भक्ति को अधिक महत्त्व दिया गया है। सन्तों ने भी वैष्णव धर्म के अनुसार ही भक्ति को अन्य साधनों की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया है। संतों ने वैष्णवों की समस्त विशेषताओं एवं महानताओं को बड़ी सूक्ष्मता के साथ स्वीकार किया है।

2.83 जैन धर्म और संत कवि

भारत का प्राचीन जैन दर्शन एक प्रसिद्ध एवं सर्वमान्य दर्शन था जिसके आदि प्रवर्त्तक पार्श्वनाथ कहे जाते हैं, और अन्तिम तीर्थकर महावीर स्वामी थे, जिन्होंने आदि प्रवर्त्तक पार्श्वनाथ की ही तरह तीस वर्ष की अवस्था में सन्यास ग्रहण करके सिद्धि प्राप्त की। जैन धर्म के अनुसार समता सबसे बड़ा धर्म है, राग और द्वेष विषमता के बीज हैं, जो मनुष्य के भीतर की समस्याओं के कारण हैं। महावीर स्वामी के इस सिद्धान्त का प्रभाव सन्तों पर है। जैन धर्म में जन्मना जाति की अपेक्षा पुरूषार्थ का महत्त्व है यही बात सन्तों ने भी स्वीकार की है। जैन धर्म हिंसा का विरोधी है इसी आधार पर महावीर स्वामी ने पशुबलि को गलत सिद्ध किया और मांसाहार के प्रति जनता में विरोधी दृष्टिकोण को बढ़ावा दिया। जैन धर्म की भाँति सन्तों ने भी इसका विरोध किया और अहिंसा का प्रचार किया। सन्त कबीर मांस खानेवालों के बारे में कहते हैं-

''बकरी पाती खात है, ताकी काढ़ी खाल।
जे नर बकरी खात हैं, ताकी कौन हवाल।।''[1]

जैन धर्म में अपरिग्रह के सिद्धान्त को संतों ने भी स्वीकार किया। तभी तो कबीरदास ने कहा है कि जितने से पेट भर जाय उतना ही अत्र संग्रह करो। जितने

---

1 ओम प्रकाश त्रिपाठी-संत साहित्य और लोकमंगल में उद्धृत, पृ० 77

से शरीर ढँक जाय उतने ही कपड़े की इच्छा करो। जैन धर्म में वर्णित ब्रह्मचर्य, नारी के प्रति व्यापक दृष्टिकोण, तप एवं संयम संत कवियों ने आदर के साथ ग्रहण किया। बाह्याचार एवं अनैतिकता के प्रति विरोध की भावना की प्रेरणा संतों को जैनियों से मिली थी।

2.84 बौद्ध धर्म और संत कवि

बौद्ध धर्म के आदि प्रवर्त्तक गौतम बुद्ध है। बौद्ध धर्म एक बुद्धिवादी धर्म है। यह बुद्धिवादिता संतों के यहाँ भी प्रचुर मात्रा में है। बौद्ध धर्म की कुछ विशेषताओं का सन्तों ने आदर किया है। बौद्धों ने 'संगति' और 'अहिंसा' को काफी महत्त्व दिया। सन्तों ने भी सत्संग और अहिंसा के महत्त्व का गुणगान बड़े मुक्तकण्ठ से किया है। बौद्धों की ज्ञानविषयक मान्यता से संत कवि काफी प्रभावित हैं। सन्तधारा का दूसरा नाम ही ज्ञानाश्रयी धारा है और वे ज्ञान के सहारे परमसत्ता तक पहुँचने के विश्वासी थे। बौद्ध धर्म का उद्‌भव अपने पूर्ववर्ती धर्मो के अंधविश्वासों, संकीर्णताओं और चिन्तन की जड़ताओं के प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ था। रूढ़ि, लोक और वेद के अंधानुसरण से बौद्धों की ही भाँति सन्तों को भी चिढ़ थी। बौद्धों का शून्यवाद नाथों से होता हुआ सन्तों के यहाँ पहुँचा था। बौद्ध धर्म के अनुसार संसार दुःखमय है और इस विश्वव्यापी दुःख का कारण कर्मवाद है जो वासना और अज्ञान की आधारभूमि पर स्थापित है। वैराग्य का वर्णन भी इनके यहाँ हुआ है और ज्ञान, भक्ति और वैराग्य सम्बन्धी उपदेश भी दिये गये हैं। बौद्धों की इन सारी मान्यताओं ने सन्तों को प्रभावित किया। अतः यह कहा जा सकता है कि सन्त कवि बौद्ध धर्म-ग्रन्थों एवं उनके आचार्यो से प्रभावित हुए हैं। ओमप्रकाश त्रिपाठी डॉ० रामकुमार वर्मा के मत को व्यक्त करते हुए लिखते हैं- "यदि इस दृष्टिकोण से सन्त काव्य पर

विचार किया जाय तो ज्ञात होता है कि इसका दृष्टिकोण बौद्ध धर्म के दृष्टिकोण के अनुरूप ही है। यदि बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास देखा जाय तो स्पष्ट हो जाएगा कि सन्त काव्य बौद्ध साहित्य की परंपरा से ही अनुप्राणित हुआ है।[1]

2.85 सिद्ध सम्प्रदाय और संत कवि

गौतम बुद्ध के निर्वाण के बाद उनका धर्म महायान, हीनयान, मन्त्रयान, वज्रयान, सहजयान आदि रूपों में खण्ड-विखण्डित हो गया। वज्रयान गर्भित सहजयान से ही सिद्धों का प्रादुर्भाव हुआ था। सिद्ध मूलत: वज्रयानी और सहजयानी ही थे। सभी सिद्ध सहज भावना के समर्थक तथा प्रचारक थे। इन सिद्धों की संख्या चौरासी मानी जाती है। प्रथम सिद्ध सरहपाद थे और अन्तिम सिद्ध कालपाद।

सिद्ध जाति-पाति के निन्दक तथा उग्र भावनावाले थे, अत:इनमें ब्राह्मण, शूद्र, कायस्थ, कहार, तंतुवाय, दर्जी, मछुए, धोबी, चमार और चिड़ीमार भी सम्मिलित थे। इन सिद्धों ने गुरु के माहात्म्य को माना और गुरु से भक्ति करने का उपदेश दिया। पोथी पढ़ने से कुछ भी नहीं होता। उन्होंने जाति-भेद को व्यर्थ बतलाया है। सिद्धों ने लोकभाषा में सहजयान का उपदेश दिया। इन सभी बातों को सन्तों ने सिद्धों से ग्रहण कर अपनी वाणी में इनका प्रचार किया। सिद्धों की काव्य शैली, प्रतीक और उलटवासियाँ, नाथों से होती हुई सन्तों तक पहुँची। सरहपाद की ललकार और फटकार का प्रभाव सन्त साहित्य पर स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। कबीर की वाणियों में भी अभिव्यक्ति का यही अन्दाज अपनाया गया है। सन्तों को यह शैली नाथों से मिली किन्तु इसका उत्स सिद्ध साहित्य ही है।

---

1 ओम प्रकाश त्रिपाठी-संत साहित्य और लोकमंगल में उद्धृत, पृ० 79

2.86 नाथपंथ और संत कवि

नाथ विचारधारा का जन्म सिद्ध-परमपरा से हुआ था। नाथपंथ के आदि प्रवर्त्तक आदिनाथ या भगवान शंकर है। इस पंथ को संगठित करने का श्रेय गोरखनाथ को जाता है। नाथ सम्प्रदाय में कुल नौ नाथों की गणना की जाती है। ''सच तो यह है कि गौतम बुद्ध को छोड़कर गोरखनाथ से बड़े व्यक्तित्व का उन्नायक उस युग में कोई दूसरा पैदा नहीं हुआ।''[1] नाथों के विराट व्यक्तित्व ने सन्तों को बहुत प्रभावित किया। नाथ पंथियों में वेद-शास्त्रों के प्रति आस्था नहीं थी उनका पूर्ण विश्वास केवल 'ओंकार' में ही था। इस पंथ में द्वैताद्वैत विलक्षण ब्रह्म की उपासना को अपनाया। नाथों के इसी द्वैताद्वैत विलक्षण ब्रह्म का अनुकरण सन्त कवियों ने भी किया है। नाथपंथियों ने ब्रह्म को शब्दरूप माना। नाथपंथियों के इस 'शब्दवाद' का पूरा-पूरा प्रभाव सन्तों के साहित्य पर है। उन्होंने भी नाथों की ही भाँति शब्द को ब्रह्मरूप में स्वीकारा। सन्त मत का सीधा विकास नाथ संप्रदाय से माना जाता है इस कारण इसका प्रभाव स्पष्टत: व्यापक होगा। नाथपंथ में मनोनिग्रह का भी उल्लेख है! वे मन को सांसारिक मोह माया से हटाकर आराध्य में ध्यान देने की बात करते हैं। मन की इस प्रक्रिया को 'उल्टी चाल' कहा जाता है। नाथपंथियों का यही प्रभाव संतों पर है। सन्तों ने भी मन पर विजय प्राप्त करने की बात कही है। नाथपंथियों की भाषा से प्रभावित होने के कारण कहीं-कहीं तो सन्त कवियों ने उनके शब्द एवं वाक्य समूह को ज्यों का त्यों ग्रहण किया है। इन सभी बातों के बावजूद सन्तों ने नाथों का अन्धानुकरण नहीं किया। उन्हें जो बात ठीक नहीं लगी उसकी खुले शब्दों में निन्दा भी की। फिर भी ये नाथों के ऋणी हैं। नाथों की

---

1 ओम प्रकाश त्रिपाठी-संत साहित्य और लोकमंगल में उद्धृत, पृ० 80

साधना-पद्धति सिद्धान्त एवं भाव-भाषा सन्तों तक आते-आते लोकोपकारी और जनसुलभ हो गयी।

2.87 महाराष्ट्रीय संत संप्रदाय

हिन्दी प्रदेश में संत मत का प्रचार होने से पूर्व उसका विकास महाराष्ट्र में हो चुका था। महाराष्ट्र में बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी में महानुभव सम्प्रदाय, वारकरी सम्प्रदाय आदि की स्थापना हुई, जिनकी विचारधारा, साधना-पद्धति और अभिव्यंजना-शैली में सन्त काव्य से गहरा साम्य है। ऐसा माना जाता है कि हिन्दी की संत-काव्य-परम्परा इस महाराष्ट्रीय परम्परा का एक विकसित रूप है। महाराष्ट्र में इस परम्परा के आदि कवि मुकुन्दराज माने जाते हैं जिन्होंने मराठी का पहला ग्रन्थ 'विवेक सिन्धु' लिखा था। इसमें गुरु के महत्त्व, ब्रह्म, जीव, माया, पंच-महाभूत, सगुण, निर्गुण, तत्वभसि आदि विषयों का प्रतिपादन ऐसी शैली में किया गया है जिसे जन-साधारण भी समझ सके। ''मुकुंदराज के देहांत-काल के कुछ पूर्व ही महात्मा चक्रधर (1194-1274ई०) का आविर्भाव हुआ, जिन्होंने 'महानुभाव पंथ ' की स्थापना करते हुए अपने क्रान्तिकारी विचारों का प्रचार किया। उन्होंने विविध देवी-देवताओं की उपासना के स्थान पर परब्रह्म परमेश्वर की ही उपासना पर बल दिया पर साथ ही वेदों और अद्वैतवाद को अमान्य घोषित किया। जाति-पाति और छुआछूत के विचारों का भी उन्होंने पूरी शक्ति से खंडन किया। इस प्रकार उन्होंने धर्म-क्षेत्र में एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया जो परवर्ती संतों के द्वारा भी मान्य हुआ फिर भी संत-मत की सम्यक् प्रतिष्ठा का पूर्ण श्रेय चक्रधर को नहीं दिया जा सकता। इसका कारण यह है कि इन्होंने उस अवतारवाद को अधिक महत्त्व दिया जो निर्गुण-उपासना की अपेक्षा सगुण-भक्ति के अधिक समीप

पड़ता है।''[1] ''वस्तुतः मुकुन्दराज और चक्रधर को संत-परम्परा की पृष्ठभूमि तैयार करने का ही अधिक श्रेय है, उसकी सम्यक् प्रतिष्ठा तेरहवीं शती के अंतिम चरण में वारकरी सम्प्रदाय के संतों द्वारा हुई।''[2]

वारकरी संप्रदाय के मूल प्रवर्त्तक तो संत पुंडलिक माने जाते हैं किन्तु इनके विषय में ऐतिहासिक सामग्री का सर्वथा अभाव है ऐतिहासिक दृष्टि से इस संप्रदाय के प्रथम उन्नायक संत ज्ञानेश्वर हैं ज्ञानेश्वर ने अद्वैतमत, सगुणमत और भक्ति-भावना का समन्वय किया। ज्ञानेश्वर की परम्परा में निवृत्तिनाथ, मुक्ताबाई, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम आदि सन्त हुए। इन महाराष्ट्रीय सन्तों की वाणी में विषय, भाव और शैली की दृष्टि से हिन्दी सन्त-कवियों की रचनाओं से गहरा साम्य मिलता है। नामदेव का बाद में सगुणवाद से विश्वास उठ गया, जब उन्होंने दक्षिण देश में अलाउद्दीन खिलजी द्वारा मूर्तियों को भग्न होते हुए देखा। नामदेव भी ज्ञानेश्वर के समाधिकाल तक उनके साथ रहे किन्तु बाद में धर्म का प्रचार करते हुए पंजाब में चले गये तथा वहीं अठारह वर्ष तक रहे। वस्तुतः ज्ञानेश्वर एवं नामदेव ने अपने आकर्षक व्यक्तित्त्व, दिव्य-चरित्र एवं सच्ची भक्ति-भावना से जनता को इस प्रकार मुग्ध कर लिया कि थोड़े समय में ही सारे महाराष्ट्र एवं उत्तरी भारत में भक्ति की बाढ़ सी आ गई। इनमें से अनेक सन्तों ने हिन्दी भाषा में भी काव्य रचना की है। भगवान के प्रति दृढ़ानुराग, प्रणय-निवेदन, गुरु का महत्त्व, मूर्ति-पूजा व जाति-पाति का विरोध, योगसाधना का खण्डन, हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रतिपादन आदि बातें महाराष्ट्रीय और हिन्दी सन्त कवियों में समान रूप से मिलती हैं। इन महाराष्ट्रीय सन्तों में नामदेव का नाम कबीर तथा रैदास आदि ने बड़े आदर से लिया है।

---

1 डॉ० गणपति चन्द्रगुप्त- हिन्दी-साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, पृ०183-184

2 डॉ० गणपति चन्द्रगुप्त- हिन्दी-साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, पृ० 184

2.88 इस्लाम धर्म और संत कवि

अधिकतर विद्वानों ने इस बात को स्वीकार किया है कि संत काव्य में निर्गुणोपासना, वर्ण-व्यवस्था, मूर्तिपूजा का विरोध आदि इस्लाम के प्रभाव का परिणाम है। किन्तु वास्तविकता यह है कि इनका विकास भारतीय साहित्य में इस्लाम के प्रचार से पूर्व हो चुका था। सिद्धों व गोरखपंथी योगियों ने हिन्दू धर्म की अनेक बाह्य-पद्धतियों, वर्ण-व्यवस्था एवं मूर्तिपूजा का विरोध कठोर शब्दों में किया है। सन्त कवियों द्वारा हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रतिपादन अवश्य तत्कालीन परिस्थितिजन्य है। उस युग में जब मुसलमान हिन्दू जनता पर अत्याचार कर रहे थे उन्होंने 'अल्लाह और राम' की एकता घोषित करके धार्मिक कट्टरता को कम करने का प्रयत्न किया। इस्लाम धर्म में भी समस्त जनता को एक सूत्र में बाँधने के लिए अल्लाह और ईश्वर को एक बताया है। उनकी मान्यता है कि वह मन्दिर-मस्जिद में न रहकर घट-घट वासी है। वह सभी का निर्माता है। उसकी दृष्टि में कोई छोटा-बड़ा, अमीर-गरीब एवं छूत-अछूत नहीं है। यही इस्लाम धर्म की बुनियादी मान्यताएँ थीं। इस्लाम धर्म में कर्मवाद पर विशेष बल दिया जाता है। इस्लाम धर्म मुख्यत: त्याग, वैराग्य और नश्वरतावादी दृष्टिकोण का समर्थक है। उसकी दृष्टि में सांसारिक जीवन मात्र प्रपंच है। वह विषय-वासनाओं से दूर रहकर ईश्वर अथवा खुदा को पाने में विश्वास रखता है।

इस्लाम की इसी विचारधारा को स्वीकार करते हुए प्राय: सभी संतों ने अपनी वाणियों में त्याग, वैराग्य एवं नश्वरता का सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। अत: संतों पर कुछ अंशों तक इस्लाम के प्रभाव को नकारा नहीं जा सकता। इस्लामी सम्पर्क से संतों की चिन्तनशीलता एवं उग्रता में स्पष्टता एवं गतिशीलता आई।

अत: निष्कर्ष में हम कह सकते हैं कि सन्तों ने अपने समय के सभी धर्मो एवं साधना मार्गो के हित कर प्रभावों को उन्मुक्त हृदय से ग्रहण किया। लोकमंगल के पथिक इन सन्तों को किसी धर्म या सम्प्रदाय विशेष से कुछ लेना-देना नहीं था। ये लोकबन्धु थे। अपनी सार-संग्रही वृत्ति के कारण ही उन्हें किसी अच्छाई को ग्रहण करने में संकोच नहीं था। उन्हें जिस धर्म और सम्प्रदाय से अच्छी बातें मिलीं उन्हें अपनाने में संतो ने निःसंकोच भाव से अपनी उदारता का परिचय दिया। इसीलिए उनकी प्रेरणा और ग्रहण करने का क्षेत्र व्यापक है और वे सभी से जुड़े हुए हैं।

2.9 संत काव्य की परम्परा और विकास

मध्यकाल के समय निर्गुण और सगुण भक्तिधारा का टकराव बहुत बढ़ गया था। मुसलमान के आक्रमणों से और उनके सत्ता पर आ जाने से हिन्दुओं का मूर्ति-पूजा पर विश्वास शिथिल हो चुका था। मुसलमानों का शासन मूर्तिपूजा के लिए बिल्कुल अनुकूल नहीं था। वे मूर्ति-विध्वंसक थे। हिन्दू धर्म की ऊंच-नीच भावना तथा वर्णव्यवस्था ने भी धर्म को काफी क्षति पहुँचाई थी। समाज में उस समय दुःखों के बादल छाये हुए थे। लोगों का धर्म से विश्वास उठता जा रहा था। ऐसे विकट समय में मध्यकालीन सन्तों ने जनता को ज्ञान का प्रकाश दिखाकर उन्हें पथभ्रष्ट होने से बचाया। सन्त काव्य बौद्ध धर्म और उसके साहित्य से अनुप्राणित है। बौद्ध धर्म से लेकर नाथ संप्रदाय तक इस प्रक्रिया में जो जीवन तत्त्व उभरे, उन सबका समावेश सन्त मत में हुआ। जब सन्तमत का उदय उत्तरी भारत में हो रहा था उस समय नाथ पंथ ह्रासोन्मुख हो रहा था। उत्तरी भारत में उस समय दक्षिण के भक्ति आन्दोलन का नेतृत्त्व स्वामी रामानन्द कर रहे थे उनकी शिष्य परम्परा में सगुण और निर्गुण दोनों प्रकार के भक्त थे। स्वामी रामानन्द ने भक्ति के द्वार सबके लिए खोल दिये थे

उन्होंने भक्ति के लिए ऊंच-नीच, जाति-पाति एवं छुआछूत को मान्यता नहीं दी थी। हिन्दी साहित्य में सन्त मत के प्रवर्त्तक कबीर इन्हीं की शिष्य-परम्परा में थे। कबीर से पहले अनेक निर्गुण भाव के साधक हुए किन्तु सन्तमत की जो सहजावस्था हिन्दी साहित्य की कविता में प्रवाहित हुई उसका आरंभ कबीर से हुआ।

''हिन्दी की भक्तिकालीन 'ज्ञानाश्रयी शाखा'के कवियों को अब 'संत' या 'संतकवि' कहा जाता है।''[1] इनके साहित्य की विचारधारा पर प्रकाश डालने में सिक्खों का धार्मिक ग्रंथ 'श्री गुरु ग्रन्थ साहिब' महत्त्वपूर्ण है। श्री गुरु ग्रंथ साहिब का सम्पादन सिक्खों के पाँचवें गुरु, गुरु अर्जुनदेव जी द्वारा किया गया था। ग्रंथ में गुरु नानक के पूर्व अन्य संतों के वचन भी संग्रहीत हैं। जो धार्मिक परिष्करण में प्रमुख स्थान प्राप्त किए हुए हैं। श्री गुरु ग्रन्थ साहिब में गुरु नानक की कविता के अतिरिक्त जयदेव, त्रिलोचन, सधना, नामदेव, वेणी, रामानन्द, कबीर, रैदास, सेन, धन्ना, पीपा आदि की रचनाएँ सम्मिलित हैं। ''इस शाखा की परम्परा में इसके आदि कवि जयदेव, नामदेव , कबीर, रैदास को संस्थापक के रूप में महत्त्व प्राप्त है।''[2] ये स्वतंत्र विचारक थे। इन्होंने व्यक्तिगत जीवन के माध्यम से ही अनुभूत सत्यों को जनता के सामने रखा था। इनका सिद्धान्तों से अधिक उसके व्यावहारिक प्रयोगों में विश्वास था। 'कथनी' और 'करनी' का भेद मिटा कर सरल, संयमित जीवन व्यतीत करते हुए समाज के निम्न कुलों में जन्म लेकर भी अपने कार्यो से महान् बनते गए।

हिन्दी के संत कवियों की परम्परा कोमलकांत पदावली के गायक, 'गीतगोविन्द' के अमर रचयिता संत जयदेव से प्रारम्भ होती है। जयदेव के अनन्तर देश की ह्रासमान परिस्थितियों के साथ समय-समय पर अनेक सन्तों का आविर्भाव हुआ जिन्होंने अपने युग में फैली बुराईयों को खत्म करके एक स्वस्थ और

---

1 ओम प्रकाश त्रिपाठी-संत साहित्य और लोकमंगल, पृ० 2

2 ओम प्रकाश त्रिपाठी-संत साहित्य और लोकमंगल, पृ० 2

कल्याणकारी समाज-स्थापना का प्रयत्न किया। इनके साहित्य में लोक-कल्याण की भावना, समाज-सेवा आदि प्रमुख हैं। 'कबिरा खड़ा बाजार में चाहत सबकी खैर, ना काहू से दोस्ती न काहू से बैर' इस भावना का एक सुन्दर उदाहरण है। सन्तों ने 'करनी' एवं 'कथनी' में ऐक्य बताकर नवीन जीवन-दर्शन की स्थापना की।

(क) जयदेव

जयदेव के सम्बन्ध में विद्वानों में कुछ मतभेद है। सामान्यतः यही स्वीकार किया जाता है कि सुप्रसिद्ध संस्कृत काव्य 'गीत गोविन्द' के रचयिता जयदेव ही वे सन्त थे, जिनके पद 'आदिग्रन्थ' में संग्रहीत हैं। ''इन्हीं के संबध में नाभादास ने भी 'भक्तमाल' मे लिखा है।''[1] ''इनके समय का अनुमान बंगाल के सेनवंशी राजा लक्ष्मण सेन के राज्य काल के विचार से किया जाता है, जिसका समय सन् 1179 से सन् 1205 माना जाता है।''[2] ये उक्त राजा के दरबारी कवि कहे जाते हैं और यहीं पर इन्होंने विशेष ख्याति भी प्राप्त की थी।

विद्वानों के अनुसार इनकी जन्मभूमि किंदुवित्त्व नामक ग्राम था। जिसका उल्लेख 'गीत गोविन्द' में भी आया है। जयदेव ने अपनी रचना ' गीत गोविन्द' के अन्त में अपने पिता का नाम भोजदेव तथा माता का नाम राधादेवी दिया है। "इनका 'गीत गोविन्द' काव्यग्रंथ अपने शब्द-सौंदर्य, पद-लालित्य एवं संगीत माधुर्य के लिए संस्कृत-साहित्य में अद्वितीय समझा जाता है''[3] 'गीत गोविन्द' में श्रृगांर के साथ-साथ भक्ति का भी पुट प्रचुर मात्रा में पाया जाता है और गौड़ीय सम्प्रदाय के अनुयायी उसे अपनी भक्ति का एक प्रबल स्रोत मानते हैं। उसकी कदाचित् इस विशेषता ने ही लोगों को सदा आकृष्ट किया है।

---

1 परशुराम चतुर्वेदी-उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा, पृ० 94

2 डॉ० महीप सिंह-आदिग्रन्थ मे संगृहीत सन्त कवि, पृ० 47

3 परशुराम चतुर्वेदी-उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा में उद्धृत, पृ० 97

'आदिग्रन्थ' में जयदेव के दो पद संगृहीत है, जिनमें से एक में, पंडिताऊ भाषा द्वारा, भक्ति की प्रशंसा की गई है और दूसरे का विषय कतिपय योग-सम्बंधी बातें हैं जो नाथ-पंथियों अथवा अन्य संतों की भाषा में लिखी गई हैं। विषय की दृष्टि से दोनों ही पद संतमतानुकूल कहे जा सकते हैं। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार- ''आदिग्रंथ' में संगृहित जयदेव की रचनाओं में केवल दो पद ही मिलते हैं जिनमें से एक उपदेश के रूप में है और दूसरे का विषय योग-साधना से संबंध रखता हुआ समझ पड़ता है। पहले पद के अंतर्गत 'राम नाम' व सदाचरण के साथ-साथ मनसा, वाचा व कर्मणा से की जानेवाली 'हरि भगत निज निहकेवला' अर्थात् अनन्य भक्ति का महत्त्व दर्शाते हुए उसे योग, जप एवं दानादि से श्रेष्ठ बतलाया गया है। इसकी भाषा संस्कृत से बहुत प्रभावित है, और गो० तुलसीदास की अनेक ऐसी रचनाओं की भाँति यह भी 'पंडिताऊ पद' कहलाने योग्य है। इसी प्रकार दूसरे पद की शब्दावली पर नाथपंथ अथवा सिद्धों के बौद्ध मत का प्रभाव स्पष्ट है और इसकी वर्णन-शैली आगे आने वाले संतों के बहुत-से 'सबदों' का स्मरण दिलाती है।''[1]

गीत गोविन्द में जयदेव की भक्ति वैष्णव प्रकृति की है किन्तु शनैः शनैः उसका विकास होता गया। वे उस युग में जन्मे थे जब उत्तर भारत में भक्ति का प्रादुर्भाव हो रहा था। ''आदिग्रन्थ में संकलित उनके दोनों पद बाद में प्रवर्तित भक्ति आन्दोलन की भूमिका का काम करते हैं इस प्रकार उन्हें भक्ति आन्दोलन का आदि स्रोत कहा जा सकता है।''[2] जयदेव के इन पदों में अपभ्रंश भाषा का स्पष्ट प्रभाव है। डॉ० महीप सिंह का मत है ''लिप्यन्तर और लम्बे अन्तराल में की गयी प्रतिलिपियों के कारण भाषा में कुछ परिवर्तन भी हो गया होगा। किन्तु सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि बारहवीं शदी

---

1 परशुराम चतुर्वेदी-उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा, पृ० 98

2 डॉ० महीप सिंह-आदिग्रन्थ में संगृहीत सन्त कवि, पृ० 49

के बंगाल में जन्में एक सन्त के पदों, जिसकी भाषा भी अति क्लिष्ट हो, अपने पास सहेजने और फिर उसे आदिग्रन्थ में स्थान देने का विचार अपने आप में अद्वितीय है।''[1] जयदेव वास्तव में एक बड़े महत्त्वपूर्ण संधिकाल में उत्पन्न हुए थे और अपनी कृतियों द्वारा उन्होंने एक ऐसे मार्ग का प्रदर्शन किया, जो संतमत के लिए आदर्श बन गया।

(ख) नामदेव

महाराष्ट्र के भक्तों में नामदेव का नाम सबसे पहले आता है। ''महाराष्ट्र प्रांत में उत्पन्न हुए तथा ज्ञानदेव के समकालीन संत नामदेव एक परम प्रसिद्ध महापुरूष हो चुके हैं। उनका नाम वहाँ के विख्यात 'संत पंचायतन' अर्थात् 'पाँच प्रमुख संतों के समुदाय' में लिया जाता है। उनके अतिरिक्त चार अन्य संतों में ज्ञानदेव, एकनाथ, समर्थ रामदास तथा तुकाराम की गणना की जाती है।''[2]

''नामदेव का जन्म अनुमानत: सन् 1270 ई० में महाराष्ट्र के सतारा जिले के नरसी बमनी गाँव में हुआ था।''[3] उनके पिता दामा शेट कपड़े छापने (छीपा) तथा कपड़े सीने (दर्जी) का काम करते थे और माता का नाम गोनाबाई था जो उसी जिले के किसी कल्यान नामक गाँव के एक दर्जी की पुत्री थी। नामदेव के पिता और पूर्वज भगवद्भक्त थे और इनके हृदय में भी इस प्रकार के भाव मूलत: इसी कारण जागृत हुए थे। पाँच वर्ष की अवस्था में इन्हें पढ़ने के लिए बैठाया गया, किन्तु उसमें इनका जी नहीं लगा। इनका विवाह केवल आठ वर्ष की अवस्था में किसी गोविंद शेट की पुत्री राजबाई के साथ हुआ था और उससे इन्हें पाँच सन्तानें हुई थीं। इन सन्तानों में से भी चार पुत्र थे जिनके नाम क्रमश: नारायण, महादेव, गोविन्द और विट्ठल कहे जाते हैं और इनकी एक मात्र पुत्री

---

1 डॉ० महीप सिंह - आदिग्रन्थ में संगृहीत सन्त कवि, पृ० 49

2 परशुराम चतुर्वेदी - उत्तरी भारत की सन्त - परम्परा, पृ० 106

3 डॉ० महीप सिंह - आदिग्रन्थ में संगृहीत सन्त कवि, पृ० 54

का नाम लिंबाबाई बतलाया जाता है। ऐसा कहा जाता है कि वे बचपन से ही अपने पारिवारिक व्यवसाय से हट कर साधु-सेवा एवं सत्संग का लाभ लिया करते थे। उन्होंने संत विसोवा खेचर से शिष्यत्त्व ग्रहण किया था। नामदेव पहले सगुणवादी थे धीरे-धीरे मूर्ति-पूजा से उनका मोहभंग होता गया और उनके मन में अनेक प्रश्न उभरे-

''आनीले कुंभ भराइले ऊदक ठाकुर कउ इसनानु करउ।।
बइआलीस लख जी जल महि होते, बीठल भैला काई करउ।।
जत्र जाउ तत बीठल भैला।। महा अनंद करे सद केला।।''

अर्थात् ''हम घड़ा लाते हैं, उसमें जल भरते हैं, उस जल से अपने (पत्थर के) ठाकुर को स्नान करवाते हैं। किन्तु जल में तो बयालीस लाख जीव होते हैं। इस स्नान से भला ठाकुर किस प्रकार पवित्रता प्राप्त करेगा? मैं तो जहाँ भी जाता हूँ। वहाँ मुझे बीठल के दर्शन होते हैं जिससे मुझे आन्नद की प्राप्ति होती है।''[2] ''नामदेव के सम्पूर्ण रचनाकाल को तीन पड़ावों में विभाजित किया जा सकता है। उनके पिता शिव के उपासक थे। नामदेव ने बीठल (विष्णु) की उपासना का मार्ग अपनाया। दूसरे चरण में वे मूर्तिपूजा और अवतारवाद की ओर प्रवृत्त दिखाई देते हैं और तीसरे चरण में वे पूरी तरह निर्गुण उपासना को स्वीकार कर लेते हैं आदिग्रन्थ में संगृहीत उनकी अधिकांश रचना उनके तीसरे चरण की रचना है।''[3] नामदेव की उपासना में स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर अग्रसित होने के संकेत निरन्तर प्राप्त होते रहते हैं। वे तीर्थ, व्रत, कर्मकाण्ड, मन्दिर आदि सभी प्रकार के स्थूल उपादानों से आगे बढ़ते हुए ईश्वर के सर्वव्यापी रूप के अनुगामी बनते चले जाते हैं और कर्मकाण्ड में फँसे हिन्दू और तुर्क दोनों को एक ईश्वर की ओर अग्रसर करते हैं।

---

1 डॉ० महीप सिंह - आदिग्रन्थ में संगृहीत सन्त कवि, पृ० 56
2 डॉ० महीप सिंह - आदिग्रन्थ में संगृहीत सन्त कवि, पृ० 56
3 डॉ० महीप सिंह - आदिग्रन्थ में संगृहीत सन्त कवि, पृ० 55

संत नामदेव निर्गुणियाँ पंथी संत थे। नामदेव अपने जीवन के अन्तिम वर्षो में पंजाब आ गए। पंजाब में काफी दिनों तक रहने के कारण उनकी मराठी युक्त हिन्दी में पंजाबी का प्रभाव स्पष्ट झलकता है। मराठी में लिखे उनके अभंग बहुत लोकप्रिय हैं। उनकी भाषा सरल है एवं भक्ति रस से ओतप्रोत होने के कारण हृदय को छूती है। भक्ति संसार में नामदेव की प्रसिद्धि दूर-दूर तक फैली हुई थी। नामदेव के सम्बन्ध में अनेक कथाएँ प्रचलित हैं इनकी भक्ति के अनेक चमत्कार भक्तमाल में लिखे हैं, जैसे-विठोबा (ठाकुर जी) की मूर्ति का इनके हाथ से दूध पीना; आलावंती स्थान के मंदिर के द्वार का इनकी ओर घूम जाना इत्यादि। इनके माहात्म्य ने यह सिद्ध कर दिखाया था कि भक्ति में जात-पात की कोई मान्यता नहीं है।

सिखों के चौथे गुरु, गुरु रामदास ने उनकी उपलब्धि की चर्चा करते हुए कहा है कि नामदेव की हरि से प्रीति लग गयी, लोग उन्हें (नीच जाति) छीपा कह कर बुलाते थे। किन्तु हरि ने तो खत्रियों, ब्राह्मणों जैसी ऊँची जातिवालों को अपनी पीठ देकर छोड़ दिया और नामदेव को अपने मुख से लगा लिया।

''नामदेव प्रीति लगि हरि सेती,
लोकु छीपा कहै बुलाइ।।
खत्री ब्राह्मण पिठि दे छोड़े,
हरि नामदेउ लोआ मुखिलाइ।।''[1]

(ग) कबीर

सन्त साहित्य के प्रमुख प्रवर्त्तक कबीर सिकन्दर लोदी के समकालीन थे। कबीर साहब सर्वप्रसिद्ध सन्त होते हुए भी, उनके जीवन-काल जन्म-मरण-स्थान एवं जीवन की प्रमुख घटनाओं के सम्बन्ध में अभी तक विद्वानों में मतभेद है।

---

1 डॉ० महीप सिंह-आदिग्रन्थ में संगृहीत सन्त कवि, पृ० 57

जनश्रुति के रूप में यह कथा बड़ी प्रसिद्ध रही है कि कबीर किसी विधवा ब्राह्मणी की सन्तान थे। जो लोक लज्जा के कारण उन्हें काशी के लहरतारा नामक तालाब के किनारे छोड़ गई थी, जहां से उन्हें नीरू और नीमा नामक जुलाहे उठा ले गये थे। कबीर संत मत के प्रमुख प्रवर्त्तक थे जिन्होंने गृहस्थ जीवन को अपनाया, इनकी पत्नी का नाम लोई स्वीकारा जाता है। कमाल और कमाली को इनका पुत्र और पुत्री माना जाता है।

भारतीय साहित्य में कबीर का सर्वोच्च स्थान है। कबीर ने गुरु के रूप में स्वामी रामानन्द को स्वीकारा। जिस भक्ति को स्वामी रामानन्द उत्तर में लाये कबीर ने उसे 'सात दीप नौ खण्ड' में प्रचारित किया। ''काशी जैसे नगर में रहकर कट्टर ब्राह्मणों और उनकी परम्परागत सर्वोच्चता को चुनौती देने का जो साहसिक कार्य काशी के एक जुलाहे ने किया था, वह अपने समय में अप्रतिम था।''[1] कबीर जीवन भर काशी में रहकर कट्टर ब्राह्मणों और मुल्लाओं से जूझते रहे और उन्हें खरी-खोटी सुनाते रहे थे। उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम में व्याप्त गलत धारणाओं का खण्डन किया था। कबीर एक क्रांतिकारी समाज-सुधारक थे। वे मस्तमौला, लापरवाह, फक्कड़ फकीर थे। वे जीवनपर्यन्त अपनी अटपटी वाणी से उत्तरी भारत का नेतृत्त्व करते रहे। कबीर ने तीर्थो एवं धार्मिक स्थलों पर कभी विश्वास नहीं जमाया। कबीर ने 'आंखिन देखी' पर विश्वास जताया था। कबीर स्पष्टवादित थे। कबीर ने किसी प्रकार के बाह्याडम्बर, कर्मकाण्ड, मन्दिर-मस्जिद, पूजा-नमाज, तीर्थ-काबा, किसी भी बात को नहीं स्वीकारा बल्कि इन सब का विरोध किया।

जहाँ तक कबीर की रचनाओं का प्रश्न है, इसमें उनके 'बीजक' को अत्यधिक सम्मान प्राप्त है। कबीरपंथी इसे ही प्रामाणिक ग्रंथ मानते हैं। सिक्खों के 'आदि ग्रंथ' में भी इनकी वाणी को सम्मान प्राप्त है।

---

1 डॉ० महीप सिंह - आदिग्रन्थ में संगृहीत सन्त कवि, पृ० 61

कबीर अपने समय के सच्चे प्रतिनिधि थे। उनका वास्तविक रूप साधक का था। वे एक ही साथ निर्भीक, स्पष्टवादी और विनीत थे। दंभ और पाखंड उनको अरूचिकर था। वे लोक-जीवन के अति निकट थे। कबीर एक सरल मनुष्य, ऊंचे संत तथा विकट आलोचक थे। उनके स्वभाव का सही परिचय 'सन्त' शब्द से ही दिया जा सकता है। सन्तता उनके व्यक्तित्व की सरलतम अवस्था थी।

(घ) रविदास

संत परम्परा में रविदास का विशेष महत्त्व है। रविदास के जन्म, प्रारम्भिक जीवन और जन्म-तिथि के विषय में भिन्न-भिन्न विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं।

स्वामी रामानन्द के शिष्यों में प्रमुख, मध्ययुगीन भक्ति धारा के परम शांत सिद्ध भक्त रविदास का जन्म चन्द्रवंशी (चंवर) चर्मकार जाति में बनारस के समीप मंडूर ग्राम में हुआ था। जिसका प्राचीन नाम मंडुआ डीह है। भक्त रविदास ने स्वयं अपने पदों में कहा है-

''मेरी जाति कुटुम्बा ढोर ढोवन्ता नितहिं बनारसी आसपासा।।
अब बिप्र परधान तिहि करहिं डंडउति तेरे नाम सरणाई रविदासु दासा।।''[1]

रविदास एक उच्चकोटि के सन्त थे। जाति के चमार होने के कारण अपने पैतृक व्यवसाय, मरे हुए जानवरों को ढोने का काम करते थे। रविदास के गुरु रामानन्द थे। वे कबीर के समकालीन थे और उन्हीं की भाँति काशी के ही रहने वाले थे उन्हें अपने युग में एक महात्मा के रूप में सम्मान प्राप्त था। 'श्री गुरु ग्रन्थ साहिब' में आपके पदों को सम्मिलित किया गया है। कहा जाता है कि इनकी बहुत सी रचनाएँ राजस्थान में अभी तक हस्तलिखित रूप में मिलती है।

रविदास ने अपने शील एवं सौम्य स्वभाव के द्वारा समाज में फैली बुराईयों को खत्म करने का प्रयास किया था। आपने अपने युग में ज्ञान का दीपक जलाया था। जिससे

---

1 डॉ० महीप सिंह - आदिग्रन्थ में संगृहीत सन्त कवि, पृ० 63

भूली-भटकी जनता उचित पथ पर आई। तत्कालिक समाज में आचार-विचार संस्कृति, भाषा, धर्म आदि को लेकर खाई बढ़ती जा रही थी। ब्राह्मण वर्ग ने प्रत्येक क्षेत्र में सामन्ती व्यवस्था सी बना दी थी। उनका समाज के धर्म, कर्म एवं जीवन के प्रत्येक क्रियाकलाप पर अधिकार सा था। भक्त रविदास ने अपनी मृदुल वाणी से समाज की अस्थिरता को कम करने का प्रयास किया और तत्कालीन समाज के विभेद और हृदय की दूरियों को खत्म करके एक आदर्श समाज की स्थापना का प्रयत्न किया। रविदास बड़े ही मधुर स्वभाव के भक्त थे। उन्होंने किसी पर कठोर आक्षेप या व्यंग्य नहीं किया। सरल जीवन और ऊंचे विचारों का समन्वय उनमें साकार हो गया था।

अत: हम कह सकते हैं कि संत काव्य की लोकप्रियता स्वानुभूति की यथार्थ अभिव्यक्ति है। जिसमें सन्तों ने दृढ़ता से भयरहित होकर अपनी स्पष्टवादिता से समाज में प्रखर व प्रबल सनातन सत्य की प्रतिष्ठा कर निःसंकोच उसका प्रतिपादन भी किया। अपनी युगानुरूप परिस्थितियों के आलोक में अपने आत्मदर्शन को प्रस्तुत किया जो अब भी किसी न किसी रूप में निरन्तर प्रवहमान है।

2.10 निष्कर्ष

भारतीय धर्म साधना में भक्ति का विशिष्ट स्थान रहा है और भक्ति के बीज वेदों में विद्यमान माने गये हैं, वेद ही भक्ति के आदिग्रन्थ स्वीकार किये गये हैं। भक्ति के विकास का आरम्भ वेदों से धीरे-धीरे होता हुआ हिन्दी साहित्य में भक्ति का उदय और विकास एक लम्बी यात्रा है। मध्यकालीन हिन्दी भक्ति साहित्य भारत की महिमामयी परम्परा का महत्त्वपूर्ण अंग है। भक्तिकाल में निर्गुण और सगुण दो धाराओं का विकास हुआ था। जिसमें ब्रह्म का सगुण एवं निर्गुण रूप स्वीकार किया गया। सगुणधारा में ईश्वरीय अवतार को मान्यता प्राप्त हुई और मूर्ति पूजा का प्रचलन हुआ। भक्तिकाल में निर्गुणधारा की सन्त शाखा का अनुसन्धान करते हुए यह ज्ञात होता है कि ब्रह्म के निर्गुण रूप का आरम्भ वेदों से ही हो गया था, परन्तु उसको प्रमुखता सन्तों द्वारा दी गई। बौद्ध धर्म की

विकृत शाखाओं से किस प्रकार सन्त मत का उदय हुआ और सन्तों पर विभिन्न संप्रदायों एवं धर्मों का प्रभाव स्वाभाविक था। सन्त मत किसी एक धर्म को मानने वाला नहीं था। बल्कि उनसे प्रत्येक धर्म की अच्छाईयों को ग्रहण करके एक आदर्श समाज का रूप प्रदर्शित किया।

भक्ति को जन-जन तक पहुँचाने का कार्य स्वामी रामानन्द ने किया। जिन्होंने भक्ति के द्वार सब के लिए खोल दिये थे। ऊंच-नीच, जात-पात, छुआछूत आदि को खत्म करने का प्रयास आपने किया। मध्यकालीन भक्ति साधना का प्रचार भारत भर में आकाश की बिजली की ज्योति के समान फैल गया और समस्त भारत को प्रदीप्त करता रहा। मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन एक ऐसा आन्दोलन था, जिसने सम्पूर्ण भारत को प्रभावित किया और भारतीय इतिहास और चिन्तन धारा को एक दिव्य एवं नवीन मोड़ दिया, जिससे भारतीय धार्मिक एवं सामाजिक क्षेत्र में समन्वय की भावना को बल मिला। भारत में यह समन्वय की भावना श्रीमद्भागवत, भगवद्गीता आदि ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है, पर मध्यकाल की सन्त शाखा के कवियों ने इसे और विस्तृत बनाया और आगे बढ़ाया।

सन्त कवियों पर दृष्टिपात करते हुए यह पता चलता है कि वे सब धार्मिक एकता के पक्षपाती थे और पोषक चाहे वे जन्म से हिन्दू थे या मुसलमान, उच्च थे या नीच, वे सभी धर्मों की अच्छाईयों के प्रति समान रूप से आदर और भक्ति भाव रखते थे, किन्तु उन धर्मों के प्रति दीख पड़नेवाले अनाचारों और अन्धविश्वासों के खिलाफ ज़ोरदार आवाज़ उठाते थे और सामाजिक एवं धार्मिक असमानता को मिटाने का प्रबल प्रयास भी करते थे। उन्होंने निडर होकर मानव-मानव के बीच में विरोध भाव को और भेद-भाव को अस्वाभाविक बताया। इसलिए अधिकांश सन्त कवि विद्रोही कवि के रूप में प्रकट हुए हैं। भारत में धार्मिक एकता और धार्मिक सौहार्द का पोषण इन मध्यकालीन सन्त कवियों के द्वारा सम्पन्न हुआ और इन्हें काफी सफलता भी प्राप्त हुई ।

तृतीय : अध्याय

गुरु रविदास का जीवन, व्यक्तित्व तथा वाणी की विशेषताएँ

3.1 गुरु रविदास का जीवन चरित

3.11 सामान्य परिचय

भारतीय संस्कृति विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों में से एक है। जिसमें 'मानव-मानव सभी समान' के सिद्धान्त पर बल दिया गया है और मानव के पवित्र जीवन तथा सदाचार को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। आरंभ में जाति-पाति और ऊंच-नीच का कोई भेद नहीं था। मनुष्य का रहन-सहन, आचार-व्यवहार ही उसकी सबसे बड़ी परख थी। मानव समाज में जाति-पाति एवं कुल से भेद-भाव मानने की बातें बहुत बाद की हैं। ऋग्वेद के पुरूष सूक्त के एक मंत्र के अनुसार-

''ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहूराजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भयां शूद्रो अजायत।।''[1]

विराट्-रूप परमात्मा के मुख से ब्राह्मण, बाहुओं से क्षत्रिय, ऊरूओं से वैश्य और पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए। इसमें मानव समाज की रचना की अत्यंत सुंदर एवं स्पष्ट व्याख्या की गयी है। आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद ने इस मंत्र का भाव व्यक्त करते हुए कहा है- ''मानव समाज एक विराट् पुरूष है। समाज में पढ़ने-पढ़ाने, सोचने-समझने और समाज के अन्य लोगों को आदेश एवं उपदेश देने का कार्य करने वाले व्यक्ति इस समाज रूपी विराट्-पुरूष के मुख हैं। इन्हें ब्राह्मण नाम दिया गया। समाज की रक्षा का कार्य करने वाले लोग समाज-विराट्-पुरूष के हाथ हैं।

---

1 महर्षि दयानन्द सरस्वती-ऋग्वेद भाषा भाष्य-मं० 10 सूं० 90, मं० 12, पृ० 899

इन्हें क्षत्रिय कहा गया । समाज में व्यापार, पशुपालन तथा कृषि कार्य करके समाज-विराट्-पुरूष के भोजन तथा आच्छादन की व्यवस्था करने वालों को ऊरू कहा गया और इन्हें वैश्य कह कर पुकारा। इसी प्रकार समाज के ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य की सेवा करने, उनके बोझ को अपने ऊपर उठाने वाले लोगों को पैर कहा गया और इन्हें शूद्र नाम दिया गया। इस प्रकार समाज के व्यक्तियों को कर्म के अनुसार बांटकर उन्हें पृथक्-पृथक् तथा विशेष नाम से पुकारा गया। अब, जैसे शरीर के मुख(सिर), हाथ ऊरू और पैर सब अंग एक दूसरे से जुड़े हुए हैं और इनमें प्रत्येक का अपना-अपना विशेष महत्त्व है जिस प्रकार इनमें एक को बड़ा और दूसरे को छोटा नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार समाज में ब्राह्मण आदि सभी लोग समान हैं। उनमें ऊंच-नीच तथा छोटे-बड़े का कोई भेद नहीं किया जा सकता।''[1] भारतीय संस्कृति समानता एवं विश्वबंधुत्त्व की भावना की पूर्ण समर्थक रही है। ''वैदिक युग में जीवन निर्वाह के लिए कोई भी काम धंधा अपनाने की पूर्ण स्वतंत्रा थी। कोई व्यक्ति केवल काम धंधे के आधार पर छोटा या बड़ा नहीं माना जाता था। एक ही परिवार के सदस्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का कार्य कर सकते थे। इस प्रकार प्राचीनकाल में वर्ण-व्यवस्था का आधार कर्म था, जन्म नहीं, जैसा कि बाद में माना गया।''[2] आगे चलकर भारतीय संस्कृति का यह रूप तथा आदर्श सर्वथा विलुप्त हो गया और कुछ कट्टरपंथी तथा रूढ़िवादियों ने इसे विकृत कर दिया। समाज के धार्मिक नेताओं ने ही समाज को अनेक भागों में विभाजित कर दिया और लोगों पर ऐसी पाबंदियां लगाई कि 'मानव-मानव सभी समान' का सिद्धान्त समाप्त हो गया और एक ही धर्म को मानने वाले व्यक्तियों को शूद्र, चांडाल,

---

1 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद-गुरु रविदास, पृ० 2

2 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद-गुरु रविदास, पृ० 2

अधम एवं नीच कह कर, उनसे अपनी इच्छानुसार प्रभु-भक्ति के अधिकार से वंचित कर भेदभाव की दीवार खड़ी करके समाज में उनको निम्न स्तर का दर्जा दे दिया गया।

भक्तिकाल के महान् समाज सुधारक तथा मानव मात्र के लिए अपने हृदय में असीम करूणा और ममता रखने वाले महापुरूष स्वामी रामानन्द जी ने उत्तराखंड में विशाल भक्ति-आन्दोलन चलाया जो बिजली की चमक के समान समस्त देश में एक कोने से दूसरे कोने तक फैल गया और भारतीय संस्कृति को पुनरूज्जीवित करने का अनुपम कार्य किया। ''स्वामी रामानन्द, जो दक्षिण में उपजी भक्ति को उत्तर में बीजने के लिए उत्तरदायी माने जाते हैं, अपनी समृद्ध शिष्य-परम्परा के माध्यम से न केवल अपने जीवन-दर्शन को चुतर्दिक प्रसारित करने में सफल हुए, बल्कि भक्ति-भावना को सर्व-सुलभ कर सकने की अपूर्व क्षमता के दिग्दर्शक भी बने । स्वामी जी के निर्देशन में पन्द्रहवीं शताब्दी में जो वैचारिक और आध्यात्मिक क्रांति हुई, वह अद्वितीय है-न भूतो न भविष्यति।''[1] स्वामी जी ने भक्ति का द्वार हिन्दू-मुसलमान, ब्राह्मण-शूद्र, स्त्री-पुरूष सभी के लिए खोल दिया और खान-पान के नियमों में भी आप ने शिथिलता दिखलायी।

प्रभु भक्ति को आधार बनाकर स्वामी रामानंद जी ने भारतीय संस्कृति के मूल आदर्श मानव समानता को जागृत किया और समय की आवश्यकता को ध्यान में रखकर क्रांतिकारी परिवर्तन किये। उन्होंने वर्णाश्रम व्यवस्था, जाति-पाति एवं अस्पृश्यता की कृत्रिम मर्यादाओं को छिन्न-भिन्न करके भक्ति को घर-घर तक पहुँचाया। ''हरिभजन के आधार पर जाति व वर्ण-संबंधी कड़े नियमों को शिथिल

---

1 सं० डॉ० धर्मपाल सिंहल-गुरु रविदास का जीवन-दर्शन, पृ० 30

कर सर्वसाधारण को भी कुलीनवत् अपनाने की प्रथा चला इन्होंने मनुष्य-मात्र की वास्तविक एकता की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया।''[1] रविदास जी ऐसे ही महामहिम समाज-सुधारक एवं परम राम-भक्त स्वामी रामानन्द जी के प्रमुख शिष्य थे। मध्य युग के संतों में, रविदास जी का नाम बड़े आदर से लिया जाता है।

3.12 गुरु रविदास के विभिन्न नाम

मध्यकालीन भक्ति-धारा के परमशांत सिद्ध संत भक्त तथा कवि गुरु रविदास जी मध्ययुगीन महामानवों में से एक थे जिन्होंने अपना सारा जीवन तप और त्याग में तथा समाज-कल्याण में लगाया। आप ऐसे महामहिम, योगी, तपस्वी भक्त एवं समाज-सुधारक थे जिनमें धार्मिकता, ईश्वरत्त्व की भावना और उपदेशात्मक स्वरूप एक साथ विद्यमान है। गुरु रविदास जी ने समाज में व्याप्त विसंगतियों और सन्त्रासों को स्वयं भोगा था, इसलिए उनकी गहरी अनुभूति ने जाति-पाति, ऊंच-नीच, नारी-पुरूष के भेदभाव से ऊपर उठकर मानव-कल्याण की ओर अपना कदम बढ़ाया जिससे भारतीय समाज में नयी चेतना का संचार हुआ। आप ऐसे महान् और बेजोड़ समाज-सुधारक, चिन्तक और उत्कृष्ट कोटि के कवि थे जिन्होंने हिन्दू-मुसलमान में समन्वय पैदा करने का सफल प्रयत्न किया। रविदास जी ने अपने युग में विशेष ख्याति प्राप्त की थी, आप अपने समय के प्रसिद्ध संतों, भक्तों एवं गुरु भाईयों में सर्वाधिक दीर्घायु वाले थे। रविदास जी अपने समय में इतने प्रसिद्ध रहे कि इनके विभिन्न प्रदेशों में अलग-अलग नाम प्रचलित हो गए। इनकी अनेक कृतियों में उनके अनेक नाम देखने को मिलते हैं। देश के विभिन्न भागों में उनके ऐसे अनेक नाम लिये जाते हैं जिनमें उच्चारण की दृष्टि से बहुत थोड़ा अन्तर

---

1 परशुराम चतुर्वेदी-उत्तरी भारत की संत-परम्परा, पृ० 222

है। इस सम्बन्ध में मिलने वाले इनके नाम हैं- रविदास, रैदास, रयदास, रुइदास वा रुईदास, रयिदास, रोहीदास, रोहितास, रहदास, रमादास, रामदास, हरिदास आदि उल्लेखनीय हैं। ''रैदास (पंजाब), रविदास (आधुनिक), रयदास, रदास (बीकानेर की प्रतियों में), रयिदास आदि नाम इस उच्चारण की भिन्नता को ही प्रकट करते हैं।''[1] इनमें से रविदास तथा रैदास दो नाम तो ऐसे नाम हैं जो दोनों ही इनकी रचनाओं में उपलब्ध होते हैं।

3.13 गुरु रविदास जीवन चरित

गुरु रविदास के जीवन को पूर्णत: प्रकाश में लाने के लिये हमें कोई भी निश्चित रूप से न तो अन्तर्साक्ष्य उपलब्ध होता है और न ही बाह्यर्साक्ष्य जिसको प्रामाणिक मानकर इनके जीवनकाल का निर्धारण किया जा सके, किन्तु अब तक जो अन्तर्साक्ष्य और बाह्यर्साक्ष्य प्रमाण उपलब्ध हुए हैं उनका वैज्ञानिक विश्लेषण करने पर हम रविदास के जीवन से सम्बन्धित कुछ तथ्य अवश्य जान सकते हैं। रविदास के जन्म, प्रारम्भिक जीवन और जन्म-तिथि तथा माता-पिता के नाम के विषय में विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। कोई उन्हें कबीरदास का समकालीन, कोई धन्ना भगत के समय का तो कोई उन्हें मीरा का गुरु मानता है। भक्त रविदास का जीवन-वृत अन्तर्साक्ष्य और बाह्यर्साक्ष्य के आधार पर कबीरदास के समकालीन ही ठहरता है। भक्तिकालीन संतों की प्रवृत्ति 'स्व' की नहीं है, इसीलिए उन्होंने अपने निजी जीवन के विषय में कुछ नहीं कहा। यद्यपि उनके जीवन-वृत्त के बारे में कोई प्रामाणिक अथवा तथ्यात्मक जानकारी नहीं मिलती, फिर भी उनके द्वारा रचित

---

1 धर्मपाल मैनी-रैदास-पृ० 13

वाणियों, समकालीन या उत्तरवर्ती संतों की रचनाओं तथा ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।

3.131 जन्म-संवत्

रविदास जी उन महापुरूषों की परम्परा में से है जिन्होंने अपने जीवन परिचय को महत्त्व न देकर मानव-मात्र के सुखों तथा कल्याण के कार्य की ओर ध्यान दिया। फिर भी अन्तर्बाह्य साक्ष्यों के आधार पर एवं उपलब्ध पूर्वापर साहित्य के विवरणों से न्यूनाधिक रूप में कालनिर्णय कर ही लिया जाता है। रविदास जी की जन्मतिथि के सम्बन्ध में विद्वानों के विभिन्न मत हैं। कोई पुष्ट आधार नहीं है। ''डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत और श्री रामचरण कुरील संत रविदास जी का जन्म माघी पूर्णिमा रविवार संवत् 1471 विक्रमी को हुआ मानते हैं। रामानन्द शास्त्री का अनुमान है कि रविदास जी का जन्म सवंत् 1454 के पहले हुआ होगा। डॉ० रामकुमार वर्मा संत रविदास को कबीर जी का समकालीन मानते हैं। उनके विचारानुसार रविदास जी का जन्म-वर्ष संवत् 1455 के आस-पास होगा। डॉ० हज़ारी प्रसाद द्विवेदी रविदास जी को कबीर से बड़ा मानते हुए लिखते हैं- ''रैदास कबीर से अवस्था में कदाचित बड़े थे और बहुत निरीह भक्त थे।''[1] अधिकतर विद्वान आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद के मत से सहमत हैं- ''संत धर्मदास, जो सिखों के पंचप्यारों में एक थे और जिनका सिख नाम श्री गुरु गोबिंद सिंह जी ने धर्मसिंह रखा था, गुरु रविदास जी के प्रपौत्र थे। धर्मदास जी के समकालीन संत करमदास जी थे। उन्होंने धर्मदास जी से गुरु रविदास जी की साखिया लिपिबद्ध की थीं। संत करमदास जी ने गुरु रविदास जी का जन्म 1 माघ पूर्णिमा सं० 1433 वि० माना हैं गणना के अनुसार इस दिन रविवार ही पड़ता है

---

1 डॉ० पदम गुरचरन सिंह-संत रविदास विचारक और कवि, पृ० 21

और अन्य किसी भी तिथि को जिन्हें रविदास जी के जन्मदिन से जोड़ा जाता है, रविवार नहीं पड़ता। गुरु रविदास जी की जन्मतिथि के विषय में रविदासी संप्रदाय में निम्नलिखित दोहा शताब्दियों से प्रचलित है-

''चौदह सै तैंतीस की माघ सुदी पंदरास।
दुखियों के कल्यान हित प्रगटे स्री रविदास ।।''[1]

डॉ० योगेन्द्र सिंह के अनुसार-''रैदास के जन्म-दिन के विषय में सम्प्रदाय में विश्वास किया जाता है कि उनका जन्मदिन रविवार और तिथि माघी पूर्णिमा थी। इसी दिन सारे देश में रविदासी भाई उनकी जन्मतिथि प्रतिवर्ष मानते हैं। किसी अन्य प्रमाण के अभाव में हमें माघी पूर्णिमा ही रविदास की जन्मतिथि मान लेने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए।''[2] डॉ० पदमगुरचरन सिंह लिखते हैं- ''हमारे विचार से जब तक कोई प्रामाणिक जन्म-वर्ष नहीं मिलता तब तक आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद के दिये गये संवत् 1433 (1376ई०) को ही उपयुक्त समझना चाहिए।''[3]

3.13 2 जन्म-स्थान

रविदास के जीवन के सम्बन्ध में दूसरा विवादपूर्ण प्रश्न उनके जन्म-स्थान का है। उनके जन्म-स्थान के सम्बन्ध में अनेक मत प्रचलित हैं। कुछ लोग रविदास को पश्चिमी प्रदेश का निवासी मानते हैं जिनमें अनेक सम्भावनायें पाई जाती हैं-रविदास पश्चिमी उत्तर प्रदेश के, गुजरात-राजस्थान के, राजस्थान में मेवाड़ के अथवा माण्डवगढ़ या मंडावर के निवासी थे। दूसरा मत रविदास को पूर्वी प्रदेश बनारस

---

1 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद-रविदास दर्शन, पृ० 72
2 डॉ० योगेन्द्र सिंह-सन्त रैदास, पृ० 23
3 डॉ० पदम गुरचरन सिंह-संत रविदास विचारक और कवि, पृ० 22

के आसपास का रहनेवाला मानते हैं। इस में भी दो सम्भावनायें उभर कर आई हैं- बनारस के निवासी तथा बनारस के पास ही महुआडीह के निवासी थे।

''सन्त रविदास के पश्चिमी उत्तर प्रदेश के निवासी होने की कल्पना, रविदास महासभा के कुछ अनुयायियों द्वारा दी गई है उनका कथन है कि सन्त रविदास पश्चिमी उत्तर प्रदेश के निवासी थे और काशी का सांस्कृतिक महत्त्व सुनकर बाद में वे वहाँ जाकर रहने लगे थे।''[1] गुजरात और राजस्थान के समर्थन में यह तर्क दिया जाता है कि रविदास के अनुयायियों की संख्या वहाँ अधिक पाई जाती है। दूसरा रविदास की रचनाओं में उधर की भाषा के पर्याप्त शब्द पाये जाते हैं तथा तीसरा राजस्थान में चित्तौड़ में श्री कुम्भनश्यामजी का मन्दिर तथा रैदास जी की छतरी बनी हुई है और चौथा राजस्थान में ही माण्डोगढ़ में बने 'श्री रविदास कुण्ड और कुटी' आदि का जिक्र करते हैं।

गुरु रविदास के जन्म-स्थान से सम्बन्धित काशी अथवा काशी के आस-पास किसी स्थल की सम्भावना भी पाई जाती है। जिसके विषय में दो विचार सामने आते हैं प्रथम तो काशी का गोपाल-मन्दिर तथा दूसरा बनारस कैंट के पास ही लगभग दो मील पश्चिम ग्रैण्ड-ट्रंक-रोड पर स्थित ग्राम मण्डूर; जिसका प्राचीन नाम महुआडीह बताया जाता है। गोपाल मन्दिर के विषय में भक्तों का कथन है कि यह मन्दिर रविदास जी ने स्वयं बनवाया था। इस मन्दिर के तहखाने में जिसे तुलसी गुफा कहा जाता है, रविदास के द्वारा प्रयोग में लाई जाने वाली वस्तुएं भी सुरक्षित रखी बताई जाती हैं। रविदास का जन्म मण्डूर ग्राम में होने के पक्ष में सर्वाधिक सबल तथा पर्याप्त पुष्ट प्रमाण मिलता है-''मडुआ-डीह का ज़िक्र 'काशी-महात्म' में भी आया है, जिसके अनुसार यह कहा जाता है कि उस स्थान पर शंकराचार्य से एक शूद्र ने

---

1 डॉ० योगेन्द्र सिंह-संत रैदास, पृ० 24

शास्त्रार्थ किया था। किन्तु वह शूद्र कौन था? इसके उत्तर में 'काशी-महात्म' मौन है।''[1] दूसरा ''भविष्य-पुराण के चतुर्थ खंड में दी गई कथा के अनुसार सूर्य के द्वितीय पुत्र पिंगलापति ने मानदास नामक चर्मकार के ग्रह में जन्म लिया। उनका नाम रैदास रक्खा गया। रैदास ने काशी में राम-भक्त कबीर से वाद-विवाद किया। उन्हें पराजित करके वे शंकराचार्य के पास आए। दोनों में एक रात और एक दिन लगातार शास्त्रार्थ हुआ। अंत में रैदास पराजित हुए और उन्होंने शंकराचार्य को प्रणाम करके रामानन्द ब्राह्मण के पास जाकर उनसे दीक्षा ली।''[2] 'काशी-महात्म' तथा 'भविष्य पुराण' की कथाओं में बहुत कुछ साम्य है। ''काशी-महात्म में उल्लेखित 'शूद्र' का संकेत संत रविदास के लिए समझा जा सकता है। शास्त्रार्थ का स्थान काशी के नगर-द्वार के बाहर बताया जाता है। इस कथन से 'मडुआ डीह' अथवा 'मंडूर' का खंडन भी नहीं होता क्योंकि यह ग्राम बनारस की बाहरी सीमा पर स्थित है।''[3] रैदास-रामायण में भी भक्त रविदास के जन्मस्थान के सम्बन्ध में लिखा है-

''काशी ढिग मांडुर स्थाना, शूद्र वरण करत गुजराना
मांडुर नगर लीन अवतारा; रविदास शुभ नाम हमारा।।''[4]

इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि संत रविदास के जन्म एवं निवास-स्थान के सम्बन्ध में बनारस नगर की सीमा पर स्थित ''मडुआ डीह'', जिसे आज 'मंडूर' कहते हैं, उनके जीवन, स्वीकारोक्ति, जन्म-स्थान तथा सम्बन्धित सामग्री से इतना अधिक साम्य और सापेक्ष्य है जो अधिक उचित, प्रामाणिक और तर्क संगत जान पड़ता है।

---

1 स्वामी रामानन्द शास्त्री- संत रविदास और उनका काव्य, पृ० 69
2 स्वामी रामानन्द शास्त्री- संत रविदास और उनका काव्य, पृ० 69
3 स्वामी रामानन्द शास्त्री- संत रविदास और उनका काव्य, पृ० 69
4 स्वामी रामानन्द शास्त्री- संत रविदास और उनका काव्य, पृ० 70

3.133 जाति

रविदास का जन्म चर्मकार परिवार में हुआ था। रविदास जी शूद्रों में चमार जाति से सम्बन्धित थे। इन्होंने बारम्बार अपने को 'चमार' शब्द से सम्बोधित किया है।

''जाति ओछी पाती ओछी, ओछा जनम हमारा।
राजा राम की सेब न कीन्ही, कहि 'रविदास' चमारा।।''[1]

''कहि 'रविदास' खलास चमारा।
जो हम सहरी सो मीत हमारा।।''[2]

रविदास जी ने जहाँ अपने चमार होने की घोषणा बार-बार की है, वहीं उन्होंने जाति को जन्म से न मानकर कर्म को प्रमुखता दी है। यही वैदिक विचारधारा है, जिसके रविदास जी कट्टर अनुयायी थे।

''जन्म जात कूं छांड़ि करि, करनी जात परधान।
इह्यौ बेद कौ धरम है, करै 'रविदास' बरवान।।''[3]

कुछ ग्रंथों के अनुसार रविदास जी पूर्वजन्म में ब्राह्मण थे। रविदास जी के चमार के घर में जन्म लेने के संबंध में कथा प्रचलित है कि ''स्वामी रामानंद जी का एक ब्राह्मण ब्रह्मचारी शिष्य था। वह गुरु की सेवा करता था और भिक्षा मांगकर तथा उस सामग्री से भोजन बनाकर उन्हें खिलाया करता था। एक दिन ब्रह्मचारी एक बनिये के यहां से भिक्षा लाया। रामानंद जी ने उस भिक्षा से बने भोजन से भगवान को भोग लगाया। किंतु, उनका भगवान की ओर ध्यान नहीं लगा। गुरु की आज्ञा

---

1 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद-रविदास दर्शन, पृ० 65
2 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद-रविदास दर्शन, पृ० 65
3 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद-रविदास दर्शन, पृ० 126

पाकर ब्रह्मचारी ने बनिये से जाकर पूछा तो मालूम हुआ कि वह 'चमारों' का 'शाह' है। यह बात जानकर स्वामी रामानंद जी ने क्रोधित होकर शिष्य को चमार के घर जन्म लेने का शाप दिया और कहा कि चमार जाति में जन्म लेने से ही तेरे द्वारा सभी हेय समझे जाने वाली जातियों के अनेक लोगों का कल्याण होगा। इस पर गुरु की आज्ञा मानकर ब्राह्मण ब्रह्मचारी ने चमार जाति के परिवार में जन्म लिया। अपने पूर्वजन्म का स्मरण करके शिशु ने माता का स्तनपान नहीं किया और निरंतर रोता रहा । चार दिन ऐसे ही बीत गये। तब आकाशवाणी द्वारा स्वामी रामानंद जी ने अपने ब्रह्मचारी शिष्य के जन्म लेने की बात जानी। उन्होंने जाकर बालक को उपदेश दिया और तब उसने स्तनपान किया। रविवार के दिन उत्पन्न होने के कारण उन्होंने बालक का नाम 'रविदास' रखा।''[1]

"'भक्त-चरित्र' अथवा 'रैदास-परची' के लेखक श्री अनन्तदास ने लिखा है कि संत रविदास पूर्वजन्म में ब्राह्मण थे और मांस खा लेने के कारण इनका जन्म चर्मकार जाति में हुआ। 'रैदास रामायण' और 'रैदास जी की बानी' के प्रारम्भ में दिए गए 'संक्षिप्त जीवन-परिचय' में भी उन्हें पूर्व जन्म का ब्राह्मण बताया गया है।''[2] ''रैदास-रामायण में भी संत रैदास को 'पिपलग गोत्र अरु सूर्य दासी' कह कर द्विज ही सिद्ध करने की चेष्टा की गई है।''[3] 'भविष्य पुराण' में रैदास को पूर्व-जन्म का सूर्यवंशी कहा गया है। उसकी कथा इस प्रकार दी गई है कि एक बार शनि, राहु तथा केतु का कोप शान्त करने के लिए सूर्य ने अपने दो पुत्रों को इस पृथ्वी पर जन्म लेने के लिये भेजा। एक पुत्र इड़ापति कसाई के घर जन्मा जिसका नाम बाद को सधना हुआ और दूसरा पुत्र मानदास चमार के घर जन्मा जो बाद में रैदास हुआ।

---

1 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद-रविदास दर्शन, पृ० 67

2 स्वामी रामानन्द शास्त्री- संत रविदास और उनका काव्य, पृ० 53

3 डॉ० योगेन्द्र सिंह-सन्त रैदास, पृ० 28

''चर्मकार गृहे जातो, द्वितीयः पिंगलापतिः।
भानदासस्य तनयो, रैदास इति विश्रुतः।''[1]

''ब्रिग्स महोदय ने रविदास जी को चमारों की एक उपजाति 'चमकटैया' में पैदा हुआ लिखा है।''[2] डॉ० पदम गुरचरन सिंह के अनुसार- ''रविदास जी शूद्र समझी जाने वाली जाति 'चमार' से सम्बन्धित थे। इसे इन्होंने स्वयं स्वीकार कर ऊँची जाति कहलाने वाले लोगों के अहंकार को व्यर्थ सिद्ध किया है।''[3] डॉ० योगेन्द्र सिंह अपने विचारों को प्रकट करते हुए लिखते हैं-''पूर्व-जन्म में रैदास को ब्राह्मण या द्विज सिद्ध करने के लिये कही गई इन विभिन्न कथाओं तथा जनश्रुतियों में कितनी वैज्ञानिकता है यह तो प्रश्न ही पृथक् है। .....इन सम्पूर्ण मनगढंत रचनाओं के पीछे एकमात्र यही मनोवृत्ति कार्य करती दिखाई देती है कि उच्चतम भक्त बनने का अधिकार मात्र ब्राह्मण या द्विज को ही है। जब रैदास नाम का एक चर्मकार किसी भी प्रकार इतना सम्मानित भक्त बन गया तो उस मनोवृत्ति ने इन कथाओं को जन्म दे डाला जिससे यह सिद्ध हो सके कि रैदास पूर्व-जन्म में ब्राह्मण थे तभी वे इतने ऊँचे भक्त हो सके। विचारणीय विषय है कि जिस पुरोहितवाद, थोथे कर्मकाण्ड तथा वर्ण-व्यवस्था के नाम पर सामाजिक अन्याय के विरूद्ध, उसमें सुधार लाने के लिये, सम्पूर्ण संत विचारधारा खड़ी हुई थी; जिस संत विचार धारा में व्यक्ति-लिंग-भेद से स्वतंत्र अनेक भक्त केवल अपनी भक्ति तथा साधना मात्र के बल पर महान् सिद्ध पुरूष माने गये, उसी संत परम्परा के महान् भक्त संत रैदास की सफलता के कारण उनके पूर्व-जन्म के ब्राह्मण होने में खोजने की चेष्टा सम्पूर्ण आंदोलन की आत्मा को समाप्त करने का प्रयास तथा सामाजिक अन्याय को जीवित रखने का षड़यंत्र ही कहा जा सकता है।''[4]

---

1 डॉ० योगेन्द्र सिंह-सन्त रैदास में उद्धृत, पृ० 28
2 डॉ० पदम गुरचरन सिंह-संत रविदास विचारक और कवि में उद्धृत, पृ० 25
3 डॉ० पदम गुरचरन सिंह-संत रविदास विचारक और कवि, पृ० 25
4 डॉ० योगेन्द्र सिंह-सन्त रैदास, पृ० 28-29

अत: निष्कर्ष में कह सकते हैं कि रविदास जी चमार जाति से सम्बन्धित थे, उनका जीवन इस बात का संदेश देता है कि जाति, वर्ण अथवा समाज, जो स्वयं मानवकृत पाखंड है, किसी के व्यक्तित्व-विकास में बाधा नहीं दे सकते और कर्म को प्रधानता देने वाले कर्मयोगी मनस्वी की राह में इन बातों से कोई अन्तर या बाधा नहीं उत्पन्न होती।

3.13 4 माता-पिता तथा परिवार

रविदास जी के माता-पिता से सम्बन्धित कोई प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं है। जनश्रुतियों तथा साम्प्रदायिक सूचनाओं के आधार पर उनके माता-पिता के विषय में कुछ प्रकाश पड़ता है। 'भविष्य-पुराण' की कथा संत रविदास के पिता का नाम 'मानदास' बताती है। आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद ने अपनी पुस्तक 'रविदास-दर्शन' में अपने मत को प्रकट करते हुए लिखा है- ''रविदास जी के पिता का प्रसिद्ध नाम राघव अथवा रघू था। उनका जन्म नाम मानदास था। 'भविष्यपुराण में स्पष्ट उल्लेख है कि ''भानदास का पुत्र रविदास नाम से प्रसिद्ध हुआ।''[1]

''मानदासस्य तनयो 'रैदास' इति विश्रुत:।''[2]

''गुजराती साहित्य में ऐसे स्थल भी मिलते हैं जिनमें रैदास के गुरु का नाम 'माणदास' बताया गया है।''[3] ''रैदास-पुराण में रैदास का जन्म अमैथुनी रूप में, माता के हाथ के फफोले से माना गया है। रैदास-पुराण में उनकी माता का नाम

---

1 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद-रविदास दर्शन, पृ० 64

2 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद-रविदास दर्शन में उद्धृत, पृ० 64

3 स्वामी रामानन्द शास्त्री-संत रविदास और उनका काव्य, पृ० 73

भगवती कहा गया है।''[1] स्वामी रामानन्द शास्त्री ने अपनी पुस्तक 'संत रविदास और उनका काव्य' में भक्त बक्शीदास के अनुसार संत रविदास के पूर्वजों की तालिका इस प्रकार दी है-

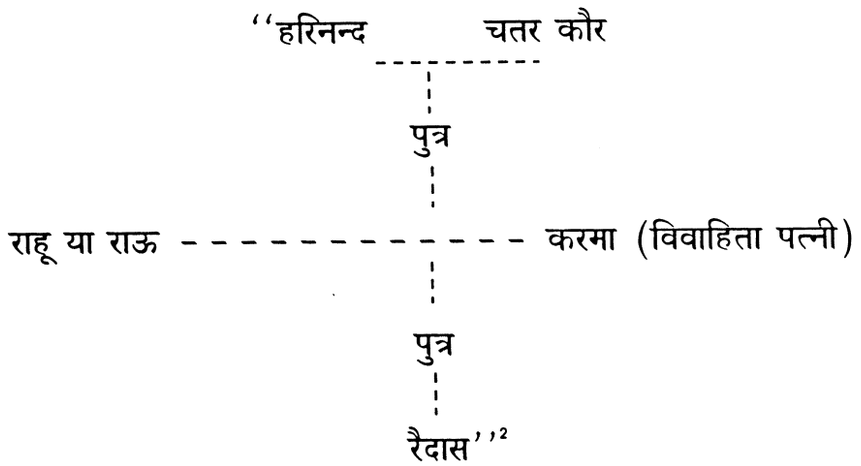

'श्री रविदास भगवान का सत्य स्वभाव' के लेखक ने रविदास के पिता का नाम श्री सत्यानन्द तथा माता का नाम सन्तकुमारी बताया है।

''सुनहु श्री रविदास कर सदानन्द पितु देव।
सत्तकुमारी मातु भल करयं पती कर सेव।।''[3]

''वेलवेडियर-प्रेस से प्रकाशित ''रैदास-बानी'' में संत रविदास जी के पिता का नाम ''रग्घू'' तथा माता का नाम 'घुरबनिया' दिया गया है।''[4] रविदास महासभा और रविदास जी के अनुयायियों में सर्वाधिक प्रचलित एवं प्रसिद्ध उनके पिता का नाम रग्घूजी और माता का नाम घुरबनिया है। सम्भावना की दृष्टि से भी इन नामों का पक्ष अपेक्षाकृत अधिक सबल है। रविदास जी के माता-पिता तथा परिवार तथा परिवार के

---

1 डॉ० योगेन्द्र सिंह-सन्त रैदास, पृ० 29
2 स्वामी रामानन्द शास्त्री-सन्त रविदास और उनका काव्य, पृ० 72
3 डॉ० योगेन्द्र सिंह-सन्त रैदास, पृ० 23
4 स्वामी रामानन्द शास्त्री-संत रविदास और उनका काव्य, पृ० 72

अन्य लोग भी सात्विक वृत्ति वाले तथा भगवत्परायण थे। ऐसे परिवार तथा वातावरण में पालि-पोषित होने के कारण बालक रविदास का भगवद्भक्ति की ओर झुकाव होना नितांत स्वाभाविक था। रविदास जी के माता-पिता पशुओं को ढोने का कार्य करते थे। वे पशुओं की खाल से जूते बनाते और चमड़े का व्यापार भी करते थे। रग्घू जी परमात्मा की भक्ति करते थे और पवित्र जीवन व्यतीत करते थे। मण्डूर गांव के लोग रग्घू जी को 'भक्त' नाम से भी सम्बोधित करते थे। रविदास जी की माता धार्मिक-प्रवृत्ति की थीं और नित्य पूजा-पाठ में समय बिताती थीं।

रविदास की पत्नी का नाम 'लौणा' या 'लोना' बताया जाता है। 'रैदास रामायण' में भी रैदास की पत्नी का नाम 'लोणा' होने की ही पुष्टि मिलती है। ''लोना चमारों की चमकटैया उपजाति में उत्पन्न हुई थी। रैदास स्वयं भी चमार जाति की चमकटैया उपजाति में उत्पन्न हुए थे, इस तथ्य से भी इस बात की पुष्टि मिलती है कि रैदास की पत्नी का नाम लोणा या लोना ही था।''[1] चर्मकार समाज में इस नाम का बड़ा आदर है। स्त्रियां अपने बालकों की सुरक्षा के लिए लोना से याचना करती हैं। इस नाम के प्रति श्रद्धा इसीलिए है कि लोणा या लोना संत रविदास की पत्नी थीं। संत रविदास की संतान के सम्बन्ध में स्वामी रामानन्द शास्त्री लिखते हैं कि 'रैदास-पुराण' नामक हस्तलिखित ग्रंथ में यह उल्लेख है कि संत रविदास के एक पुत्र भी था जिसका नाम विजयदास था। परन्तु इस विषय में कोई आधिकारिक सूचना नहीं मिलती।

3.13 5 बाल्यावस्था और शिक्षा

रविदास जी की प्रवृत्ति बचपन से ही सन्तों-भक्तों जैसी थी। जब भी इन्हें एकान्त मिलता ये ईश्वर के चिन्तन में मग्न हो जाया करते थे। ''एक बार इनके पिता रघु जी ने बड़ी श्रद्धा से 'रवि' की पूजा का आयोजन किया। उन्होंने

---

1 डॉ० योगेन्द्र सिंह-सन्त रैदास, पृ० 24

इस समय ब्राह्मणों को अन्न देने का निश्चय किया । इतने में कुछ संत रग्घु जी के घर के पास से गुजरे। संयोग से उस समय रग्घू जी घर पर नहीं थे, रविदास जी ने वह सारा अन्न उन संतों को दे दिया। जब पिता को पता चला तो उन्होंने बालक रविदास से पूछा, इस पर इन्होंने उत्तर दिया, ''पिता जी अन्न का मैंने सदोपयोग किया है। ब्राह्मणों की अपेक्षा संतों को दिया गया भोजन अधिक लाभदायक होता है। इस प्रकार रविदास जी ने बाल्यावस्था में संतों की सेवा, प्रभु-स्मरण और अपने पैतृक कार्य में संलग्न होकर समय व्यतीत किया।''[1] ''महात्मा अनंतदास लिखते हैं कि, ज्यों-ज्यों रविदास की आयु बढ़ने लगी उनके मन में प्रभु के प्रति विश्वास भी बढ़ता गया। सात वर्ष की आयु में ही वे प्रभु की नवधा भक्ति करने लगे थे।''[2]

''दिन दिन बड़ौ भयौ रविदासा,
मन मैं है हरि कौ बिसवासा।
बरस सात कौ भयौ है जब ही,
नौधा भगति दिढ़ाई तब ही।''[3]

रविदास जी की वाणी में ऐसे विचार मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि रविदास जी ने स्वाध्ययन और गुरु-कृपा, सत्संग, पर्यटन तथा वातावरण एवं अन्त: ज्ञान से ही पर्याप्त विद्या प्राप्त की थी। इनकी विद्या का उद्देश्य ही प्रभु-भक्ति था। उन्होंने स्वयं भी अपने मन को केवल हरि की ही पाठशाला में पढ़ने का संकेत दिया है।

"चलि मन हरि चटसाल पढ़ाऊं ।। टेक।।
गुरु की साटि, ज्ञान का अक्षर, बिसरत सहज समाधि लगाऊं
।। टेक।।

---

1 डॉ० पदम गुरचरन सिंह-संत रविदास विचारक और कवि, पृ० 25-26
2 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद-रविदास दर्शन, पृ० 68-69
3 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद-रविदास दर्शन, पृ० 69

प्रेम की पाटी, सुरति कर लेखनि, ररं-मझ लिखि आंक दिखाऊं ।।1।।

इहि विधि मुक्त भये सनकादिक, हृदय विचार प्रकाश दिखाऊं ।।2।।"[1]

रविदास जी के अनुसार पुस्तकी ज्ञान की अपेक्षा ब्रह्म-ज्ञान का अधिक महत्त्व है। इनकी दृष्टि में सद्विद्या वह है जो मनुष्य के बन्धन को तोड़कर उसे प्रभु की प्राप्ति की ओर उन्मुख करे। रविदास जी ने भले ही किसी पाठशाला में बैठकर अक्षर-ज्ञान प्राप्त नहीं किया, पर इन्हें आध्यात्मिक ज्ञान सत्संग, स्वाध्ययन और व्यक्तिगत अनुभव से प्राप्त हुआ था।

3.13 6 दीक्षा-गुरु

रविदास जी के दीक्षा-गुरु के रूप में स्वामी रामानन्द का नाम प्राय: लिया जाता है । नाभादास जी ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'भक्तमाल' में स्वामी रामानन्द के बारह शिष्यों में रैदास को एक शिष्य माना है। भक्तमाल के छप्पय में इसका संकेत हैं-

''श्री रामानन्द रघुनाथ ज्यों दुतिय सेतु जगतरन कियो।।

अनन्तानन्द, कबीर, सुख सुरसुरा पद्मावति नरहरि।।

पीपा भावानन्द रैदास धना सेन सुरसुरा की नरहरि।।

औरौं शिष्य प्रशिष्य एक तें एक उजागर।''[2]

रैदास ने स्वामी रामानंद से दीक्षा कब ली इस सम्बन्ध में निश्चित प्रमाण नहीं है। आचार्य चन्द्रशेखर शास्त्री ने अपनी पुस्तक 'संत रविदास' में रैदास जी के एक

---

1 डॉ० योगेन्द्र सिंह-सन्त रैदास, पृ० 157

2 डॉ० पद्म गुरचरन सिंह-संत रविदास विचारक और कवि, पृ० 27

पद का उल्लेख किया है। जिसमें उन्होंने स्वामी रामानन्द को अपना गुरु स्वीकार किया है-

''रामानन्द मोहिं गुरु मिल्यो, पायो ब्रह्म विसास।
राम नाम अमीरस पिऔ, रैदास ही भयो पलास।।''[1]

स्वामी रामानन्द और रैदास के गुरु-शिष्य के सम्बन्ध में कई जनश्रुतियाँ प्रचलित हैं। अत: अधिकतर विद्वान भी स्वामी रामानन्द को रविदास का गुरु मानते हैं।

3.137 व्यवसाय

मध्यकालीन भारतीय समाज में परम्परा थी, लोग अपने जीवन यापन के लिए सामान्यत: पैतृक पेशा ही करते थे। रविदास ने भी अपना पैतृक व्यवसाय चर्मकारी किया। रविदास जी ने अपने पदों में उनके द्वारा चर्मकारी के व्यवसाय किये जाने का स्पष्ट संकेत दिया है।

''चमरटा गाँठि न जनई। लोग गठावें पनहीं ।।टेक।।
आर नहिं जिह तोपउ, नहीं रांबी ठाऊं रोपड़ ।।1।।
लोग गांठि गांठि खरा बिगूचा। हउ बिन गांठे जाइ पहूचा ।।2।।
रविदास जपै रामनामा। मोहिजम सिउ नहिं कामा ।।3।।''[2]

डॉ० योगेन्द्र सिंह के शब्दों में ''रविदास किसी भी पशु को मारकर जूता नहीं बनाते थे। वरन् मरे हुए जानवर का चमड़ा मोल लेकर तब उसका जूता बनाते थे।''[3] रविदास के व्यवसाय के सम्बन्ध में स्वामी रामानन्द शास्त्री लिखते हैं कि

---

1 आचार्य चन्द्रशेखर शास्त्री-संत रविदास में उद्धृत, पृ० 39
2 डॉ० योगेन्द्र सिंह-सन्त रैदास, पृ० 158
3 डॉ० योगेन्द्र सिंह-सन्त रैदास, पृ० 31

''विवाहोपरान्त अपनी उदार एवं निस्पृह प्रवृत्ति के कारण वे अपने घर से निष्काषित कर दिए गए थे। प्रियादास ने लिखा है कि वे अपने घर के पिछवाड़े फूस की कुटी बनवाकर अपनी पत्नी के साथ रहते रहे। उपानह बनाना व मरम्मत करना ही उनका व्यवसाय रहा । उसी से वे अपनी जीविका चलाते थे। सादा और संतोषी जीवन ही उनका जीवनादर्श था। सेवा और भक्ति का व्रत वे ली ही चुके थे। उपानह बनाने का काम भी वे व्यवसाय की दृष्टि से नहीं करते थे। ऐसा उल्लेख कई स्थानों पर मिलता है कि वे उपानह बनाकर बहुधा दान भी कर दिया करते थे।''[1] स्वामी रामानन्द शास्त्री ने श्री रामचरन कुरील के शब्दों को व्यक्त करते हुए लिखा है-''आप जो कुछ अपने घर से पाते वह सब दीन-दुखियों, सच्चे साधु और भक्त-जनों की सेवा-सुश्रुषा और सत्कार में खर्च कर दिया करते थे। आप प्रति-दिन एक जोड़ा उपानह (जूता) तो अवश्य ही किसी दीन-दुखी या साधु को, जो नंगे-पांव चलने में असमर्थ होता था, बिना कुछ लिये ही पहना कर अपने को कृतार्थ करते थे।''[2]

अत: यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि रविदास जी जूते बनाते और मरम्मत करते समय भी ईश्वर भक्ति और भजन मे ही लीन रहते थे। ''अपनी गाढ़ी कमाई के पैसों पर सन्तुष्ट रहते हुये, उसी हाते में अलग एक कुटी व फुलवाड़ी भगवद्-भजन, सत्संग और उपदेश के लिये निर्माण कराई; जहाँ हजारों धनी-मानी, स्त्री-पुरूष सत्संग व उपदेश सुनने को आया करते थे।''[3]

---

1 स्वामी रामानन्द शास्त्री-संत रविदास और उनका काव्य, पृ० 75-76

2 स्वामी रामानन्द शास्त्री-संत रविदास और उनका काव्य, पृ० 76

3 स्वामी रामानन्द शास्त्री-संत रविदास और उनका काव्य में उद्धृत, पृ ० 76-77

3.13 8 परमात्मा से साक्षात्कार

रविदास जी ने लोक-परलोक की निन्दा स्तुति को छोड़कर प्रभु-भक्ति में ध्यान लगाया। अपने व्यवसाय से जहाँ उन्होंने घर की आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा किया वहीं दूसरी तरफ वह संत-महात्माओं की सेवा किया करते। अपने कार्य के साथ-साथ वे परमात्मा की आराधना भी करते थे। परमात्मा के प्रेम में विह्वल होकर वे गाने लगते-

''दर्शन दीजै, राम दर्शन दीजै, दर्शन दीजै राम, विलम्ब न कीजै।''[1]

डॉ० पदम गुरचरन सिंह के अनुसार ''रविदास जी कभी-कभी प्रभु भक्ति में समाधिस्थ हो जाया करते थे। ऐसी अवस्था में इन्हें ब्रह्म-ज्ञान का तादात्म्य होता था।''[2]

3.13 9 महाप्रस्थान

रविदास दीर्घजीवी थे, उन्होंने अन्य सामयिक संतों की तुलना में अधिक आयु प्राप्त की। रविदास जी को जीवन के अन्तिम दिनों में न केवल शूद्र जातियों अपितु ब्राह्मण आदि ऊंची समझी जाने वाली जातियों के लोगों से भी अपार सम्मान प्राप्त हुआ था। किन्तु रविदास जी के निर्वाण समय का भी कोई प्रामाणिक आधार नहीं है। इसमें भी विद्वानों के अनेक मत हैं। "चित्तौड़ के रविदासी भक्तों का कथन है कि चित्तौड़ में कुम्भनश्याम के मन्दिर के निकट जो रविदास की छतरी बनी हुई है, वही स्थल उनके निर्वाण का स्थल है। उस छतरी में रैदास जी के निर्वाण की स्मृति स्वरूप रैदास जी के चरण-चिन्ह भी बने हुए हैं। रैदास-रामायण के रचयिता ने लिखा है कि रैदास गंगा तट पर तपस्या करते हुए जीवन-मुक्त

---

1 डॉ० पदम गुरचरन सिंह-संत रविदास विचारक और कवि में उद्धृत, पृ ०35

2 डॉ० पदम गुरचरन सिंह-संत रविदास विचारक और कवि, पृ० 35

हुए।"[1] दोनों विचारधारा वाले लोग रैदास का 'सदेह गुप्त' होना मानते हैं। रविदास सम्प्रदाय तथा भक्तों में रैदास की निर्वाण-तिथि चैत बदी चतुर्दशी मानी जाती है। अनेक जनश्रुतियाँ उनके 130 वर्ष के जीवित रहने की गवाही देती हैं। "वेलवेडियर प्रेस से प्रकाशित-पुस्तक 'रैदास जी की बानी' में संत रविदास की आयु 120 वर्ष मानी गई है। 'भगवान रविदास की सत्यकथा' के विशेष कथन में उनकी आयु 126 वर्ष 1 महीना 14 दिन मानी गई है।"[2] रैदास के निर्वाण के वर्ष में भी विद्वानों में मतभेद है। ''कुछ विद्वानों ने रैदास का मृत्यु वर्ष संवत् 1597 माना है। 'मीरा-स्मृति-ग्रन्थ' में उनका मृत्यु-वर्ष संवत् 1576 माना गया है।"[3] आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद के अनुसार "गुरु रविदास जी का निर्वाण सं० 1584 वि० में हुआ माना जाता है। इसके अनुसार उनकी पूर्ण आयु 151 वर्ष बनती है। इतनी आयु सर्वसाधारण के लिए संभव नहीं हो सकती और विश्वारुयोग्य नहीं मानी जा सकती। किन्तु, रविदास जैसे परमयोगी, आचारवान, सात्विकवृत्ति वाले वीतराग इंद्रिय-निग्रही रूद्-गृहस्थ के लिए इतनी लंबी आयु भोगना कोई असंभव तथा विस्मयजनक बात नहीं है।"[4] आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद अपनी पुस्तक 'गुरु रविदास' में लिखते हैं ''गुरु रविदास जी का निर्वाण 151 वर्ष की आयु में सं० 1584 वि० मे चित्तौड़ में हुआ।''[5] ''अंतिम दिनों में मीरा के अनुरोध पर गुरु रविदास जी सपत्नीक चित्तौड़ आकर रहने लगे थे।''[6]

---

1 डॉ० योगेन्द्र सिंह-सन्त रैदास, पृ० 28
2 स्वामी रामानन्द शास्त्री - संत रविदास और उनका काव्य, पृ० 84
3 डॉ०योगेन्द्र सिंह-सन्त रैदास, पृ० 28
4 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद-रविदास दर्शन, पृ० 72
5 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद-गुरु रविदास, पृ० 46
6 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद-गुरु रविदास, पृ० 46

3.2 गुरु रविदास – व्यक्तित्व

3.21 सामान्य परिचय

व्यक्तित्व का विकास भौतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिवेशों में होता है। व्यक्तित्व व्यक्ति और उसकी परिस्थितियों की अन्तर्क्रिया का परिणाम है। व्यक्तित्व के विकास में वंशानुक्रम (Heredity) और सामाजिक परिवेश का भी बड़ा महत्त्व है।

व्यक्तित्व का निर्माण जन्म से ही नहीं हो जाता, यद्यपि उसका प्रारम्भ जन्म से ही होता है। विद्वानों ने कवि व्यक्तित्व के विश्लेषण, अध्ययन में तीन वस्तुओं को आवश्यक बताया है – कवि या लेखक का वंश परिवार, पारिवार्शिक परिस्थितियाँ और युग की विचारधारा तथा विश्वास। व्यक्तित्व के विकास और अध्ययन में दो प्रमुख तत्त्व निश्चयात्मक कार्य करते हैं – वंशानुक्रम और वातावरण।

''व्यक्तित्व व्यक्ति के रूपों, गुणों, प्रवृत्तियों, सामर्थ्यों, मूल्यों, अभिवृत्तियों और अभिरूचियों का संगठन है। वह व्यक्ति और परिवेश की सतत अन्तर्क्रिया का परिणाम है। वह विशिष्ट लक्षणों का योगमात्र न होकर उनका विशिष्ट संगठन है। वह व्यक्ति के व्यवहार का समग्र गुण है। वह विभिन्न परिस्थितियों में व्यक्ति की अनुक्रियाओं में अभिव्यक्त होता है।''[1]

"व्यक्ति, परम्परा, व्यक्तित्व की विशिष्टता तथा युग और प्रभाव की क्रिया – प्रतिक्रिया का ही 'सम – टोटल' या समाहार होता है।"[2] समाजशास्त्रीय यह मानते हैं कि कवि व्यक्तित्व युग – परिवेश से निर्मित होता है। कवि – व्यक्तित्व की निर्मिति में युग की विचारधाराओं एवं सम – विषम परिस्थितियों का महत्त्वपूर्ण योगदान

---

1 डॉ० सोती शिवेन्द्र चन्द्र – मानव व्यक्तित्व: अवधारणाएँ एवं सिद्धान्त, पृ० 208

2 भोलानाथ तिवारी – कबीर जीवन और दर्शन, पृ० 44

रहता है। व्यक्ति अपनी बुद्धि शक्ति के द्वारा समाज से और प्रकृति से जो कुछ ग्रहण करता है वह परिस्थितियों के अनुसार उसकी विचारधारा में परिवर्तन करता है। "परिस्थितियों को समझने और समझकर बदलने की कोशिश में ही व्यक्तित्व का विकास होता है। परिस्थिति में सभी तत्त्व व्यक्तित्व के लिए साधक नहीं होते, कुछ बाधक तत्त्व भी होते हैं, इन बाधक तत्त्वों को समाप्त करने के लिए प्रयत्नशील लेखक का व्यक्तित्व लोगों की निगाह में ऊंचे उठता है।"[1]

किसी लेखक या कवि का कृतित्त्व ही उसका सच्चा व्यक्तित्व है। "काव्य का विषय सदा 'विशेष' होता है, 'सामान्य' नहीं; वह 'व्यक्ति' सामने लाता है, 'जाति' नहीं।"[2] व्यक्तित्व विकासशील तत्त्व है। किसी विशेष व्यक्तित्व का सहसा ऊपर उठना वस्तुत: आकस्मिक नहीं है। वह हमें आकस्मिक इसलिए प्रतीत होता है कि हम उन तत्त्वों को नहीं जानते जिनमें व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्माण हुआ है। हम उसकी कृति को देखते हैं उसके पीछे लगी हुई साधना से हम प्राय: अपरिचित रहते हैं। मानव व्यक्तित्व में इतनी क्षमता होनी चाहिए कि वह अपने व्यक्तित्व के माध्यम से समाज को नया रूप दे सके।

3.22 गुरु रविदास व्यक्तित्व

भारतीय मध्ययुग के इतिहास को सार्थक बनाने के लिए रविदास जैसे सशक्त व्यक्तित्व का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। "पैतृक सम्पदा में प्राप्त आर्थिक-दरिद्रता और नैतिक-समृद्धि संतों के जीवन का सबसे बड़ा आभूषण रहा है। उनके जीवन की कर्मण्यता इस आर्थिक-दरिद्रता का ही वरदान है और आन्तरिक गुणों के विकास के

---

1 नामवर - इतिहास और आलोचना, पृ० 42

2 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल-चिन्तामणि, पृ० 151

कारण प्रखर व्यक्तित्व इस नैतिक-समृद्धि की ही देन है।"[1] रविदास का व्यक्तित्व भी तद्युगीन समाज-परिस्थितियों और परिवेश से अछूता नहीं रहा। रविदास अपनी कर्मठता, उदार प्रेम-भावना, अनासक्ति तथा निर्द्वन्द्वता से अपने समाज का आदर्श बन सके और मानव को जाति, धर्म और सम्प्रदाय आदि की निर्मित दीवारों को पार कर देवत्व के मार्ग पर चलने की प्रेरणा दे सके । रविदास का व्यक्तित्व महान् और विलक्षण के साथ-साथ बहुत प्रभावशाली था। इनके आकर्षक और बहुमुखी व्यक्तित्व से शूद्रों के अतिरिक्त ऊंची जाति के ब्राह्मण भी प्रभावित हुए थे।

3.221 सरल जीवन

रविदास का जीवन आदर्श था । सरल जीवन और ऊंचे विचारों की जो कल्पना तत्त्वज्ञानियों ने की है वह उनमें साकार हो गई थी। आपके जीवन का परिणाम आपकी वाणी की मधुरता और विचारों की निश्छल अभिव्यक्ति के रूप में प्रकट होता है। इनके जीवन की अनेक घटनाओं से पता चलता है कि इन्होंने सांसारिक ऐश्वर्यों को कभी महत्त्व प्रदान नहीं किया अपितु निर्धन जीवन को ही अपनाया। इन्होंने सत्य, संतोष और सदाचार को उत्तम जीवन का आधार माना।

"सत्त संतोष अरु सदाचार, जीवन को आधार।"[2]

रविदास जी ने जीवन में परम-सुख-प्राप्ति के लिए संतोषरूपी धन को बहुत महत्त्व प्रदान किया है। आपका यह मानना है कि जो मनुष्य जीवन में परम सुख चाहता है उसे अपने मन में सदा संतोष रखना चाहिए। जो कुछ उसके पास है उसी में संतुष्ट रहना चाहिए । संतुष्ट तथा निर्दोष मनुष्य ही परमानंद प्राप्त करता है।

---

1 धर्मपाल मैनी - रैदास, पृ० 9

2 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद-रविदास-दर्शन, पृ० 161

"जो कोउ लौरैं परम सुख, तउ राखै मन संतोष।''[1]

रविदास जी ने बहुत ही सीधा और सरल जीवन अपनाया और साथ ही अपनी वाणी में सरल जीवन का उपदेश दिया।

3.222 विनम्र स्वभाव

विनम्रता एक ऐसा गुण है जिसका महत्त्व व्यक्ति तथा समाज दोनों दृष्टियों से है। विनम्रता का उदय व्यक्ति की अहंता से मुक्ति का प्रारम्भ है और अहंता से 'पूर्ण मुक्ति' ही ब्रह्म का साक्षात्कार है। यह दशा ही मनुष्य की सर्वोतम सिद्धि है।

''गुरु रविदास जी एक अत्यंत विनम्र-स्वभाव वाले खंडन-मंडन की प्रवृत्ति से रहित उच्चकोटि के संत थे। यही कारण है कि उनकी वाणी भी उन्हीं की भांति सरल सुबोध, किंतु उदात्त भावों एवं विचारों से परिपूर्ण है।''[2] महात्मा रविदास बड़े ही मधुर स्वभाव के भक्त थे। उन्होंने किसी पर कठोर आक्षेप या व्यंग्य नहीं किया। आप अहिंसक, निरभिमान और मानदाता थे। संत-संगति से इन्हें विनम्रता सहज रूप में प्राप्त हुई थी। रविदास जी की विनम्रता उन पदों में मिलती है जहां इन्होंने अपने-आप को ओछा, नीच, दीन-हीन और बुद्धिहीन कहा है। इनकी विनम्रता के वहां भी दर्शन होते हैं जहां इन्होंने अन्य संतों के प्रति सद्भावना प्रकट की है। आपका यह विश्वास था कि अभिमान को त्यागकर दीनता को अपनाना चाहिए। आपने अपने को चींटी की भांति तुच्छ माना-

''तजि अभिमान मेटि आपा पर,
पिपिलक ह्वै चुनि खावै।''[3]

---

1 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद-रविदास-दर्शन, पृ० 166
2 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद-रविदास दर्शन, पृ० 74
3 डॉ० पदम गुरचरन सिंह-संत रविदास विचारक और कवि, पृ० 42

3.223 सेवा

'सेवा' का रविदास जी के जीवन में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। आपके जीवन की सारी साधना मूलत: सेवा की ही साधना है। आप शुद्ध हृदय से साधु-संतों की सेवा करते थे। रविदास जी रात-दिन भजन-पूजा तथा साधु संतों की सेवा एवं उनके सत्कार मे लगे रहते थे। वैवाहिक बंधन में बंधकर भी आपकी साधु सेवा तथा सत्संग वृत्ति में कोई अंतर नहीं आया। सेवा के महत्त्व को बदलाते हुए रविदास जी कहते हैं कि दीन-दुखियों की सेवा करने से मुक्ति की प्राप्ति होती है-

''धुआं तपन मंहि का धरा, धूम तपन ही त्याग।
'रविदास' मिलि है मोष धाम, सेवा ही तप आग।।''[1]

रविदास जी मन में सच्चाई और संतोष रखकर सबकी सेवा करने का उपदेश देते हैं। ऐसी सेवा के द्वारा जो सच्चाई और संतोष के साथ की जाए उससे जीवन में सब कुछ प्राप्त हो जाएगा। आपने सेवा को धर्म माना है जो सदा सुख देने वाला और जीवन को सफल बनाने वाला है उसे कभी त्यागना नहीं चाहिए-

''मन मंहि सत्त संतोष रखहु, सभ करि सेवा लाग।
सेवा सब कछु देत है, 'रविदास' सेवंहि मति त्याग।।'[2]

रविदास के जीवन का मुख्य लक्ष्य लोक-सेवा था। संत-महात्माओं की सेवा में तो वे सब कुछ न्यौछावर कर देते थे-

''करूं डंडवत चरन परवारूं,
तन मन धन उन ऊपरि वारूं।''[3]

---

1 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद- रविदास दर्शन, पृ० 177
2 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद- रविदास दर्शन, पृ० 176
3 डॉ० पदम गुरचरन सिंह-संत रविदास विचारक और कवि में उद्धृत, पृ० 42

रविदास जी ने सेवा पर बहुत बल दिया है और उसे 'तप' की संज्ञा दी है। यह सेवा जन-साधारण और प्रभु दोनों की है। रविदास जी की दीन और दुःखियों की सेवा में ही प्रभु-मिलन की आशा बंधी हुई है।

3.224 समद्रष्टा

रविदास जी समद्रष्टा थे। इसलिए उन्होंने राम और रहीम के भेद को मिटा कर मानव एकता की बात कही। रविदास जी ने सर्वधर्म समभाव की भावना को प्रबलता प्रदान की। आपने धर्म और संस्कृति के क्षेत्र में एकता और साम्य की प्रेरणा देकर वर्ण-जाति, धर्म के बड़े और विशाल भारत की सबसे प्रमुख समस्या का समाधान किया जिसके परिणामस्वरूप एक सामाजिक संस्कृति का जन्म हुआ जो एक प्रकार से भारतीय संस्कृति का ही पुनरुत्थान था।

रविदास जी ने अपनी मधुर वाणी में मंदिर और मस्जिद के भेद को व्यर्थ बताया। जिस तरह मंदिर और मस्जिद एक ही ईश्वर की पूजा के दो स्थान हैं उसी तरह राम और रहमान उसी एक ब्रह्म के दो नाम हैं। इनमें केवल नाम का ही भेद है और कोई अंतर नहीं-

''मंदिर मसजिद दोउ एक हैं, इन मंह अंतर नांहि।
'रविदास' राम रहमान का, झगड़उ कोउ नांहि।''[1]

रविदास जी ने अल्लाह व राम को सर्वव्यापक माना है। आपको न तो मस्जिद से कोई घृणा है, न मंदिर से विशेष प्यार क्योंकि मंदिर और मस्जिद ही उस ब्रह्म का एकमात्र घर नहीं है वह तो कण-कण में समाया हुआ है।

---

1 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद-रविदास दर्शन, पृ० 146

''मसजिद सों कछु घिन नहीं, मंदिर सों नहीं पिआर।''[1]

आपने मुसलमान और हिंदू सब में एक ही ब्रह्म की ज्योति को प्रकाशित माना है और सब में एक ही आत्मा का निवास है। इन सब का स्रष्टा एक ही भगवान है। दोनों ही समान पांच तत्त्वों से बने हैं। रविदास जी हिंदू और मुसलमान में एकत्व को प्रस्तुत करते हुए बड़े ही सुन्दर शब्दों में कहते हैं- जब हिंदू मुसलमान दोनों के सभी अंग समान हैं, दोनों के ही दो हाथ, दो पांव, दो आंखें और दो कान हैं, तब फिर वे दोनों एक दूसरे से भिन्न कैसे हो सकते हैं? वास्तव में ये दोनों एक रूप और एक समान हैं-

''जब सभ करि दोउ हाथ पग, दोउ नैन दोउ कान।
'रविदास' पृथक कैसे भये, हिंदू मूसलमान।।''[2]

रविदास जी ने ऊंच-नीच की भावना को कर्मों के साथ जोड़ा है। आप कहते हैं कि अच्छे और पवित्र कर्म करने वाला मनुष्य नीच जाति में पैदा होकर भी उच्च हो जाता है और ऊंची जाति में जन्म लेकर बुरे कर्म करने वाला महानीच होता है।

''रविदास' सुकरमन करन सों, नीच ऊंच हो जाय।
करइ कुकरम जौ ऊंच भी, तौ महा नीच कहलाय।''[3]

आप ने ब्राह्मण और शूद्र के भेद को मिटाकर भक्ति का अधिकार सबके लिए सामान्य माना है।

---

1 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद- रविदास दर्शन, पृ० 147
2 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद- रविदास दर्शन, पृ० 150
3 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद- रविदास दर्शन, पृ० 132

3.225 सदन

सदन से अभिप्राय है घर। रविदास जी के समय ब्राह्मणवाद के प्रभाव से मन्दिरों में विलासिता और अनैतिक भोग-विलास की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही थी। पण्डित-पुरोहित आदि दिखावे के लिये सन्यासी जीवन के महत्त्व को प्रतिष्ठित कर रहे थे। ऐसी विषम परिस्थिति को देखकर रविदास जी ने अपने साधना मार्ग में सदन को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया। आपने गृहस्थी को सन्यास से सर्वश्रेष्ठ माना। रविदास जी ने स्वयं सुन्दर गृहस्थ-जीवन व्यतीत किया था। आपने निवृत्ति-मार्ग के स्थान पर आजीवन प्रवृत्ति-मार्ग का अनुसरण किया। ''आप सद्गृहस्थे, अत: गृहस्थ महिमा को सर्वाधिक मानते थे।''[1] रविदास जी के अनुयायियों में यह बात सामान्यतया मान्य है कि आप एक सफल गृहस्थ थे। रविदास जी ने प्राकृतिक व स्वाभाविक माना है और उनका विश्वास है कि बिना ऐसा सामाजिक जीवन बिताए न व्यक्ति को लौकिक विषमताओं का बोध हो सकता है और न ही वह उनसे ऊपर उठकर भगवतोन्मुख हो सकता है।

गृहस्थाश्रम में रहकर ही आपने सफल जीवन व्यतीत किया। सभी घरेलू तथा कारोबारी काम काज करते हुए प्रभु की भजन-बंदगी में लीन रहते थे। आपकी प्रचलित कथाओं में जूते गांठने, जूते भिगोने वाले कुण्डे में से सेवकों को चरणामृत देने तथा झोंपडी में संतोष भरा जीवन व्यतीत करने के बहुत से संकेत मिलते हैं। ''गुरु रविदास जी सफल गृहस्थ जीवन यापन करने वाले, नेक कमाई करने वाले तथा समाज को ''सच्ची किरत'' करने के लिए प्रेरणा देने वाले प्रेम-मूर्ति महापुरूष

---

1 डॉ० धर्मपाल सिंहल-गुरु रविदास जीवन एवं दर्शन, पृ० 17

थे।''[1] ''रविदास जी ने गृहस्थाश्रम में रहकर भी ईश्वर भक्ति के बल पर समाज में नई क्रान्ति का शंख-नाद किया और मानव समाज की कुरीतियों को मिटाने में अविस्मरणीय योगदान दिया।''[2]

3.226 पांडित्य

रविदास जी को भले ही विधिवत् किसी पाठशाला में बैठकर वेद शास्त्रादि का गुरुमुख से अध्ययन करने का सुयोग न मिला हो, किंतु उनकी वाणी तथा उनके जीवन से संबंधित घटनाओं के अध्ययन से यह प्रामाणित होता है कि रविदास जी को वेद-उपनिषद्, गीता, भागवत, पुराण आदि के विषयों एवं उनकी विचारधारा की पूर्ण जानकारी थी। इनका स्वाध्ययन अत्यन्त विशद् और गम्भीर था। इनके जीवन से सम्बन्धित घटनाओं से पता चलता है कि ब्राह्मण भी इनकी विद्वता से प्रभावित होते थे। आप तत्कालीन धार्मिक साधनाओं से भी पूर्णतया परिचित थे। ''इस संपूर्ण ज्ञान की प्राप्ति उन्हें परंपरागत संस्कार, सत्संग और व्यक्तिगत अनुभव के माध्यम से प्राप्त हुई जान पड़ती है।''[3] रविदास जी ने कृत्रिम अध्ययन की व्यर्थता प्रकट की है और अपने मन को प्रभु की पाठशाला में 'राम नाम' पढ़ाने का रूपक बांधकर कहा है-

''चलि मन हरि चटसाल पढ़ाऊं।''[4]

आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद जी के अनुसार ''फारसी का थोड़ा बहुत अध्ययन रविदास जी ने किसी मौलवी के संपर्क में आकर अवश्य किया होगा, क्योंकि फारसी का जानना तत्कालीन युग में आवश्यक था और उसके पर्याप्त सुविधा एवं सुअवसर

---

1 डॉ० धर्मपाल सिंहल-गुरु रविदास जीवन एवं रचना, पृ० 15
2 डॉ० रमेश मेहरा-भक्त रविदास, पृ० 15
3 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद-रविदास दर्शन, पृ० 17
4 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद-गुरु रविदास, पृ० 17

भी था।''[1] संतों ने अपनी वाणियों में सभी भाषाओं के शब्दों का प्रयोग खुले दिल से किया है। रविदास विलक्षण प्रतिभाशाली थे और आप ने बिना पढ़े ही अपनी प्रखर प्रतिभा के बल पर ऐसे काव्य की रचना की जो आज भी स्तुत्य है। रविदास जी ने ग्रंथादि के अनुशीलन की अपेक्षा स्वानुभव पर बल दिया। आपका कागज कलम से वास्तव नहीं रहा परंतु उनके विचारों से समाज सदैव नतमस्तक रहा और आपने गुरु-कृपा, सत्संग, भ्रमण, परिवेश तथा अन्त: प्रेरणा से ही ज्ञान प्राप्त किया था।

3.227 संगीतज्ञ

''रविदास जी संगीत के महत्त्व से भिज्ञ थे। इनकी अधिकांश वाणी रागों में लिपिबद्ध मिलती है। इनकी वाणी में संगीत के आन्तरिक एवं बाह्य दोनों रूपों का संयोजन हुआ है। आन्तरिक संगीत के लिए अनुप्रास, तुक आदि का विशेष ध्यान रखा गया है।''[2] रविदास-वाणी में लय, ताल आदि अवलोकनीय हैं-

''सह की सार सुहागनि जानै।। तजि अभिमानु सुख रलीआ मानै।।
तनु मनु देइ न अतरु राखै।। अवरा देखि न सुनै अभाखै।''[3]

रविदास जी की वाणी का बाह्य संगीत भी अत्यन्त सुन्दर और आकर्षक है।

''जउ तुम गिरिवर तउ हम मोरा।।
जउ तुम चंद तउ हम भए है चकोरा।।''[4]

कुछ विद्वानों का यह मानना है कि रविदास जी अपने शिष्यों में अपने पदों को गाकर सुनाया करते थे। ''संत कवि रविदास ने अपने इष्ट की आराधना के लिए गीत गायन किया है। उनमें समावेशित सरसता, सहजता और सरलता के कारण

---

1 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद- रविदास दर्शन, पृ० 18
2 डॉ० पदम गुरचरन सिंह-संत रविदास विचारक और कवि में उद्धृत, पृ० 181
3 डॉ० पदम गुरचरन सिंह-संत रविदास विचारक और कवि में उद्धृत, पृ० 181
4 डॉ० पदम गुरचरन सिंह-संत रविदास विचारक और कवि में उद्धृत, पृ० 181

उनकी भाषा में राष्ट्रव्यापी अभिव्यंजना की तान सुनाई देती है।''[1] रैदास संत भी है कवि भी और ऐसे संत जिनकी वाणियाँ लोक-सामान्य द्वारा गयी जाती थीं। इसलिए रैदास के पदों में भले ही शास्त्रीय-संगीत का विधान न हो किन्तु उनमें लय-ताल है और है- संगीतात्मकता। यही संगीतात्मकता रैदास के पदों या बानियों को लोक-ग्राह्य बनाती हैं। फलस्वरूप उनका उपदेश लोक का आदर्श बनता है।''[2] संक्षेप में, रविदास जी की संगीत-योजना सुन्दर और उत्कृष्ट है। संगीत के संयोजन से संत-वाणी मनोहर और लोकप्रिय बन गई है। इस संगीतमयी वाणी से लोग आह्लादित होकर परमानन्द की अनुभूति पाते हैं।

3.228 सर्व-जन-श्रद्धेय-भक्त

''मध्यकालीन भारत में महात्मा रविदास सर्व-जन-श्रद्धेय-भक्त के रूप में स्वीकृत हो चुके थे। उनकी सीधी सादी मर्मस्पर्शी वाणियां लोगों के हृदय में अपूर्व श्रद्धा और भक्ति की प्रेरणा देती हैं।''[3] रविदास जी की वाणी में भक्ति के प्राय: सभी तत्त्वों का निर्वाह हुआ है। इनकी वाणी में सगुण और निर्गुण दोनों तरह की भक्ति के दर्शन होते हैं । आप ने प्रभु-भक्ति के पथ पर बढ़ते हुए भक्त-उद्धारक भगवान को पूर्ण आत्मसमर्पण कर दिया था। रविदास जी ने भक्ति का सरलतम रूप 'नाम-स्मरण' किया। भक्ति को सर्वजन सुलभ बनाने के लिए भक्ति का सरलीकरण किया गया । इसी सरलीकरण का परिणाम भगवान् के नाम-स्मरण के रूप में सामने आया।

गृहस्थ-जीवन जीते हुए भी प्रभु-भक्ति में लीन रहकर उन्होंने भक्ति में मध्यम मार्ग का रास्ता प्रशस्त किया। वे सगुण और निर्गुण की भावनाओं से ऊपर उठ

---

1 सं० मीरा गौतम-गुरु रविदास: वाणी एवं महत्त्व, पृ० 343

2 सं० प्रो०(श्रीमती) सन्तोष कुमारि शर्मा-सौम्य सन्त गुरु रविदास, पृ० 27

3 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद-रविदास दर्शन, (दो शब्द) पृ० ऐ

चुके थे। संत रविदास जी एक निष्काम पुरूष थे। इनके हृदय में कोई इच्छा नहीं थी। आपने स्पष्ट कहा है कि इच्छा करने से भक्ति द्वारा मोह उपजता है-

''भगति चिंतउ तो मुंह दुख व्यापही,
मोह चिंतउ तो भगति जाई।''[1]

रविदास जी की निष्काम भक्ति से इनके समसामयिक और परवर्ती संत बहुत प्रभावित हुए। आप को भक्त-शिरोमणि का पद प्रदान किया। आप के भक्त स्वरूप की मुक्त कंठ से प्रशंसा की गई है। रविदास जी की भक्ति-भावना के कुछ उदाहरण इस प्रकार है-

''रविदास' जन्मे कउ हरस का, मरने कउ का सोक।
बाजीगर के खेल कूं, समझत नांही लोक।।'[2]

'' 'रविदास' जो आपन हेत है, पर कूं मारन जाई।
मालिक के दर जाइ करि, भोगहिं कड़ी सजाई।।'[3]

रविदास जी मूलत: भक्त हैं। वे अपनी वाणी में प्रभु के अनवरत चिंतन पर बल देते हैं। आपके उपदेशों की चरम परिजति सदैव प्रभु-भक्ति में होती है। सकल एवं सुखी जीवन का मूल-आधार गुरु रविदास जी की दृष्टि में प्रभु-परायणता है।

3.229 महान् विचारक

महात्मा रविदास जी मध्ययुग के उच्च कोटि के भक्त होने के साथ-साथ एक महान् विचारक भी थे आप सहज बुद्धि और विवेक पर अधिक

---

1 डॉ० पदम गुरचरन सिंह-संत रविदास विचारक और कवि, पृ० 43
2 डॉ० रमेश मेहरा-भक्त रविदास, पृ० 121
3 डॉ० रमेश मेहरा-भक्त रविदास, पृ० 121

महत्त्व देने वाले विचारक थे और अपनी बुद्धि का आधार स्वानुभूति को बनाया था। ''इन्होंने युगानुरूप अपने सिद्धांतों का निरूपण किया। इन्हें किसी एक विशिष्ट दार्शनिकवाद के अधीन नहीं माना जा सकता है। इनका चिंतन परमात्मा में लीन एक अनुभवी भक्त की रहस्यानुभूति का प्रकाशन कहा जा सकता है।''[1] आपने अनेक प्रकार से परमतत्त्व को जानने का प्रयत्न किया था और उसे अपनी वाणी के माध्यम से अभिव्यक्ति दी।

भारतीय चिंतन परम्परा में ब्रह्म के दो रूप मिलते हैं। रविदास ने व्यक्त और अव्यक्त रूप का वर्णन किया है। ''गुरु रविदास जी के विचारानुसार यह संसार स्वप्नवत् तथा मिथ्या इसी रूप में है जैसे कि एक राजा स्वप्न में भिखारी बन जाता है और अपने अक्षुण्ण राज्य के चले जाने पर भारी दुःख अनुभव करता है। किन्तु, जागते ही वह अपनी पूर्व स्थिति में आ जाता है और उसका राज्य खो जाने का दुःख स्वप्न के समान ही जाता रहता है।''[2] ठीक उसी प्रकार प्रभु से बिछुड़कर इस स्वप्नजगत में आकर मनुष्य दुःख उठाता है, लेकिन ज्ञान के उदय होते ही वह अपने मूल आनंदमय रूप में मिल जाता है और तब वह संसार के समस्त दुःखों-कष्टों से मुक्ति पा जाता है।

संतों के विचारों को एक आन्दोलन का रूप दिया जाता रहा है। पर यह आन्दोलन न होकर व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों स्तरों पर चेतना का मोहभंग था। यह एक नवीन आयाम था। संतों ने जहां अपने विचारों में प्राचीन चिन्तन से भी प्रेरणाएं ली हैं। वहीं प्राचीन विचारों में अपने ढंग से परिवर्तन करके नवीन चिन्तन को प्रकट किया है। रविदास जी ने भी पुराने रीति-रिवाज़ों, वहम-भ्रमों, ऊंच-नीच की दीवारों को अपने विचारों के माध्यम से बदलने का प्रयास किया और समाज-रचना में

---

1 सं० मीरा गौतम-गुरु रविदास: वाणी एवं महत्त्व, पृ० 114

2 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद- रविदास दर्शन, पृ० 83

पुनर्व्यवस्था स्थापित की। संक्षेप में कहा जा सकता है कि रविदास जी एक मौलिक और महान् विचारक थे।

3.2210 आदर्श मानववादी

रविदास जी एक आदर्श और महान् मानववादी थे। वे मानव को मानव होने के नाते महत्त्व देते हैं। धन, मान, मर्यादा, कुल आदि के कारण नहीं। इन्होंने अपना समस्त जीवन मानवता के सुधार और कल्याणार्थ लगाया। ये आदर्श संत थे जिन्होंने गृहस्थ जीवन को अपनाकर भी सांसारिक मोह-माया को त्याग दिया था। आपने जातिवाद का खंडन किया था। मानव-मानव में एकता की सबसे बड़ी बाधक जाति ही है। मानव एकता के लिए जाति-वाद को दूर करने का भरसक प्रयत्न करना चाहिए।

रविदास जी ने मानव मात्र की एकता, स्वतंत्रता एवं भाईचारे के प्रति आवाज़ उठाई। उनके चरित्रबल और आत्मबल के द्वारा ही मानवतावादी विचारों का प्रचार हुआ है। ''वे प्रभु परायण, जातीयता के कट्टर समर्थक, सर्वहितकारी, स्वतंत्र चिंतक और उदार संत थे।''[1] रविदास जी ने ब्राह्मणों तथा उच्च वर्ग के द्वारा नीच समझे जाने वाले लोगों को समानता का अधिकार दिलाने का पूरा प्रयास किया। इसके लिए इन्हें आजीवन संघर्ष करना पड़ा, परन्तु ये कभी पीछे नहीं हटे। इनमें एक प्रबल शक्ति थी। ये स्पष्टवादी थे-

''सभ मंहि एकु रामह जोति, सभनंह एकउ सिरजनहारा।।
रविदास राम रमंहि सभन मंहि, ब्राह्मन हुई क चमारा।''[2]

---

1 सं० मीरा गौतम-गुरु रविदास: वाणी एवं महत्त्व, पृ० 309-310

2 डॉ० पदम गुरचरन सिंह-संत रविदास विचारक और कवि में उद्धृत, पृ० 45

संक्षेप में कह सकते हैं कि रविदास जी के व्यक्तित्व में अनेक गुण विद्यमान थे। रविदास जी के व्यक्तित्व की महानता धर्मपाल मैनी के शब्दों से स्पष्ट होती है आप लिखते हैं- ''संत-शिरोमणि कबीर ने 'संतनि में रविदास संत' हैं' कह कर रविदास का महत्त्व जन-समाज को जतलाया है। जूते गाँठ कर निष्काम कर्मण्य-जीवन व्यतीत करनेवाले इस चमार ने अपने आपको 'विखियात चमार' कहने में ही गौरव अनुभव किया है। तब भी अनन्य भक्तिन मीराँ ने इसी को गुरु बना अपने आप को धन्य समझा। बनारस के आस-पास इसी ढोर चरानेवाले को वहाँ के 'विप्र परधान' ने दण्डवत् प्रणाम किया था।''[1]

ये प्रभु-परायण, परम धार्मिक, मानव समानता के प्रबल समर्थक, सर्वहितकारी, स्वतंत्र चिंतक एवं उदार, उदात्त विचारों के स्वामी आदि गुण विद्यमान थे। रविदास जी सत्य के हितैषी, नम्रता के पुंज, दयालु, करूणशील, परोपकारी, सेवा सिमरण धारण करने वाले और हर तरह के मिथ्या रीति-रिवाजों, वहमों-भ्रमों का खण्डन करने वाले कर्मयोगी थे। आप एक महान् विभूति थे जिन्होंने पथ से भटके हुए समाज का कल्याण किया और मानव-मानव में एकता की भावना, प्रेम तथा भाईचारे को स्थान दिया।

3.3 गुरु रविदास वाणी का प्रतिपाद्य

3.31 सामान्य परिचय

भारतभूमि ऋषियों और सन्तों की भूमि रही है। यह वह पवित्र स्थान है जिसमें धर्म के विकास और अधर्म के विनाश के लिए अनन्त, अनादि, निरंजन, निराकार ईश्वर मानव-कल्याण के लिए विविध अवतार धारण करता है। इन अवतारों की मूल

---

1 धर्मपाल मैनी-संतों के धार्मिक विश्वास, पृ०316-317

भावना लोकमंगल ही रही है। जिस समय भारत-वर्ष में सन्त-साहित्य का प्रादुर्भाव हुआ तब भारत के इतिहास का मध्यकाल राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक स्थिति से पतन की ओर जा रहा था सांस्कृतिक क्षितिज पर उस समय अन्धकार के बादल छाये हुये थे और पूरे देश में भीषण सामूहिक नरसंहार, धन तथा स्त्रियों का अपहरण, देवस्थानों का विध्वंस हो रहा था। ''समाज में अन्त्यज या शूद्र कहा जाने वाला वर्ग इन नवीन परिवर्तन-कालीन व्यवस्था में दोहरी कष्टकर अवस्था में पड़ा हुआ था। एक ओर अपने ही देश के द्विजों के द्वारा उनको अपमान तथा उपेक्षा का सामना करना होता; दूसरी ओर इन आक्रमणकारियों के साथ भी उनको पिसना पड़ रहा था, उनकी यातना द्विगुणित थी।''[1] इस निराशा के युग में जहाँ समाज में लोग भूत-प्रेत पूजा, शाप-ताप तथा अन्धविश्वासों की शरण में जा पहुँचे, वहीं चिन्तनशील मस्तिष्क सुव्यवस्थित परिवर्तन का मार्ग खोजने लगा। समाज के अधिक त्रस्त वर्ग ने इस पुनर्जागरण को अधिक मुखरता दी और सन्तों का एक विशिष्ट आन्दोलन चल पड़ा। ''सन्तों को जहां प्राचीनता से ग्रहण करने की आवश्यकता थी उन्होंने उसे जैसे के तैसे या परिवर्तित रूप में नये सन्दर्भानुसार ग्रहण किया; जहाँ नई बात कहनी थी वहां नई बात कही और जहां पूर्ण परिवर्तन की आवश्यकता थी वहां विद्रोहात्मक स्वर उठाने में भी नहीं चूके।''[2]

सन्त परम्परा में गुरु रविदास जी का नाम बड़े ही आदर से लिया जाता है। आप जिस युग की पीठिका लेकर आये वह युग अशान्ति और अव्यवस्था का युग था। जिसमें समाज में ब्राह्मणों का महत्त्व अधिक था, हिन्दू समाज अनेक पाखण्डों और बाह्याडम्बरों से घिरा था। धर्म के नाम पर अधर्म पनप रहा था। वैदिक काल की

---

1 डॉ० योगेन्द्र सिंह- सन्त रैदास, पृ० 30

2 डॉ० योगेन्द्र सिंह- सन्त रैदास, पृ० 31

कर्म पर आधारित वर्णाश्रम व्यवस्था की अवधारणा बदल चुकी थी और कई जातियों तथा उपजातियों में उभर कर सामने आई। समाज में ब्राह्मण तथा शूद्र का अन्तर अधिक था। यह युग धार्मिक संकीर्णता का युग था। इसी दुर्व्यवस्था के विरोध में भारतीय संतों ने आवाज़ उठाई जो सरल और सादा जीवन व्यतीत करने वाले थे। संतों ने अनैतिकता, अत्याचार, शोषण, बाह्याडम्बर आदि का डटकर विरोध किया और अपनी वाणी में मानव और मानव के बीच प्रेम और सौहार्द्र का सूत्र आरम्भ कर मानव धर्म की बात चलाई। जिसमें मनुष्य संकुचित सीमाओं से बाहर आकर मानव-मानव के बीच मानवीय रूप को ग्रहण करे और अनेक जातियों में मानव जाति और अनेक धर्मों में मानव धर्म को अपनाये। संतों ने सत्य को ही जीवन का सारतत्त्व माना और ईश्वर का निराकार रूप ग्रहण किया। संतों की वाणी आर्ष ग्रंथ है जिसमें श्रद्धा और आस्था से एकाग्र चित्त हो, मनन-चिन्तन पूर्वक वाणी का पाठ मानव जीवन की संघर्षपूर्ण संसार यात्रा को एक स्वस्थ सम्बल प्रदान करता है।

वाणी का साधारण अर्थ-मुँह से निकलने वाले सार्थक शब्द या वचन हैं। ''वाक नयति इति वाणी। वाणी भक्तों-संतों की अन्तर्भावना को प्रसारित करती है, श्रोता वक्ता की मनोवेगात्मक गुत्थी को सुलझा कर सत्यासत्य निर्णय करने की स्वतन्त्रता प्रदान करती है। किसी की निन्दा नहीं करती, किसी का मज़ाक नहीं उड़ाती और भूले भटके को आश्रय प्रदान कर उसे निर्भय बना देती है। वाणी अन्त: शक्ति का उद्‌गार है।''[1] ''वाणी को संचयित बनाए रखने का मध्यकालीन विधान, वाणी को प्राय: कंठस्थ करके सुरक्षित बनाए रखने का था। वाणी का ऐसा संचयन लोक-विमर्श में, आवश्यकतानुसार कहत के रूप में प्रस्तुत होता रहा है, जो जन-चेतना की धार्मिक, आध्यात्मिक, सामाजिक अथवा साहित्यिक आवश्यकताओं

---

1 डॉ० बी०पी० शर्मा शास्त्री-संत रविदास की भक्ति साधना, पृ० 56

को पूर्ण करता रहता था।''[1] सभी संत भक्तों की वाणियां प्राय: दोहों (साखी) तथा पदों इन्हीं दो रूपों में प्राप्त होती हैं। ''दोहों को 'साखी' कहा गया है। वह इसीलिए कि ये संत-भक्तों के उपदेशों के प्रत्यक्ष रूप हैं। ये त्रिकालज्ञ ऋषितुल्य संतों के अनुभवों के सार वचन हैं। इसी कारण संत कबीर ने इन्हें 'ज्ञान की आंख' कहकर इनके द्वारा संसार के झगड़ों से छूटना संभव माना है।''[2] ''इसी प्रकार 'पद' भी संत-भक्तों द्वारा राग-रागनियों में प्रकट किये गये उनके हृदयतल से निकले हुए सहज सरस अनुभव उद्‌गार हैं।''[3]

3.32 गुरु रविदास-वाणी

अपने समय के प्रसिद्ध भक्त, महात्मा और धर्मगुरु न केवल अपने सजातीय बन्धुओं के लिए बल्कि सारे उत्तर भारत की जनता के लिए महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए और मध्ययुगीन भारतीय चिन्तकों में प्रसिद्ध भी हुए। इनके चिन्तन का भारतीय चिन्तन परम्परा में विशेष स्थान है और मध्ययुगीन भारतीय विचारकों में रविदास जी ऊँचे स्थान के अधिकारी हैं। रविदास जी की वाणी की अपनी अनेक विशेषताएँ हैं। जिन्हें परवर्ती संतों, भक्तों, विद्वानों तथा आलोचकों ने भी स्वीकार किया है और उनकी मुक्त- कंठ से प्रशंसा की हैं। ''आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने रविदास जी की वाणी के विषय में कहा है कि ''जितने भी संत-कवि हुए हैं उन सब में आपके (रविदास जी के) पद सरस और भावपूर्ण हैं। इसी संबंध में आचार्य डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी जी द्वारा प्रकट किये गये विचार विशेष महत्त्वपूर्ण एवं मननीय हैं। वे लिखते हैं- अनाडंबर, सहजशैली और निरीह आत्म-समर्पण के क्षेत्र में रविदास के साथ कम संतों

---

1 डॉ० रमेशचन्द्र मिश्र-सन्त रैदास वाणी और विचार, पृ० 36-37

2 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद-रविदास दर्शन, पृ० 73

3 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद-रविदास दर्शन, पृ० 73

की तुलना की जा सकती है। यदि हार्दिक भावों की प्रेषणीयता काव्य का उत्तम गुण हो तो निःसंदेह रविदास के भजन इस गुण से समृद्ध हैं। सीधे-साधे पदों में संत कवि के हृद्भाव बड़ी सफाई से प्रकट हुए हैं और वे अनायास सहृदय को प्रभावित करते हैं। उनका आत्म-निवेदन, दैन्यभाव और सहज भक्ति इसी श्रेणी के भाव पाठक के हृदय में संचारित करते हैं। इसी को काव्य में प्रेषणीयता का गुण कहते हैं।''[1]

गुरु रविदास जी एक अत्यंत विनीत, राग-द्वेष विहीन, खंडन-मंडन की प्रवृति से रहित उच्च्कोटि के संत थे। रविदास जी की वाणी सरस, सरल एवं सुबोध होने के साथ-साथ उदात्त भावों एवं विचारों तथा भक्ति-भावना से परिपूर्ण है। उनकी वाणी में कहीं भी कटु भावना एवं उत्तेजना नहीं है बल्कि उनकी वाणी में सर्वत्र उनके व्यक्तित्व, विचारों तथा भक्ति साधना के व्यापक दर्शन होते हैं। ''रविदास वाणी प्रेम भक्ति से ओतप्रोत है, इसे आचार्य मधुसूदन ने ''स्नेह जनित भक्ति'' का नाम दिया है।''[2] संत नाभादास जी ने अपनी भक्तमाल में रविदास वाणी को 'संदेह ग्रंथि खंडन निपुन, के साथ-साथ 'बिमल बानि' कहकर जो प्रशस्ति गायी है वह उनकी वाणीगत की विशेषताओं तथा व्यक्तित्त्व का पूर्ण एवं सत्य-सत्य उद्घाटन करती है-

''छप्पय- सदाचार श्रुति शास्त्रवचन अविरुद्ध उचारयो।
नीर क्षीर विवरत्र परमहंसनउर धारयो।
भगवत्कृपाप्रसाद परमगति इहि तन पाई।
राजसिंहासन बैठि ज्ञाति परतीति दिखाई।।
वर्णाश्रमअभिमान तजि, पदरज वंदहिं जासुकी।
संदेहग्रंथखंडननिपुण, वाणी विमल रैदासकी।।''[3]

---

1 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद-रविदास दर्शन, पृ० 73-74

2 सं० डॉ० धर्मपाल सिंहल- गुरु रविदास का जीवन-दर्शन, पृ० 43

3 नाभादास-श्रीभक्तमाल, छप्पय 59, पृ० 65

आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद इसकी व्याख्या करते हुए लिखते हैं- ''रविदास की वाणी संदेह ग्रंथि (शंकाओं) को सुलझाने में, सदसद् का विवेक कराने में परम सहायक है। वह अत्यंत विमल है, दोषों से रहित है। रविदास जी ने जिस आचार पद्धति का अनुसरण किया और जिन विचारों का प्रचार किया, जो उपदेश दिये वे वेद-शास्त्रों के अनुकूल थे। वे सब सर्वथा वेद विहित थे। उन विचारों तथा उपदेशों को नीर-क्षीर विवेक वाले, भले बुरे, पाप पुण्य के ज्ञान की सामर्थ्य रखने वाले संत महात्मा लोग भी स्वीकार एवं पालन करते थे। रविदास ने भगवत्कृपा से जीवितावस्था में ही परम गति प्राप्त कर ली। वे जीवन मुक्त थे। उन्होंने इस उच्चतम पद को प्राप्त करके अपने कुल की उच्चता का ज्ञान संसार को कराया। बड़े-बड़े संत महात्मा तथा विद्वान अपने वर्ण और आश्रम का अभिमान त्याग कर उनकी चरण वंदना करते थे। रविदास की वाणी शंकाओं को दूर करने वाली है और सब प्रकार के दोषों से मुक्त है।''[1] ''गुरु रविदास की पवित्र वाणी में हमें मुख्यत: जीवन की पवित्रता, आचरण की शुद्धता, राम राज्य की वास्तविक परिभाषा, निष्काम कर्म तथा फल की इच्छा न करने मानव प्रेम संतोष, उदारता आदि का उपदेश मिलता है।''[2] डॉ० पदम गुरचरन सिंह रविदास वाणी पर अपने विचार प्रकट करते हुए कहते हैं- ''इनकी वाणी में आध्यात्मिकता और धार्मिकता के साथ-साथ कवित्व भी मिलता है। इनकी वाणी में जहां एक ओर वैराग्य और भक्ति की भावना के दर्शन होते हैं वहां दूसरी ओर मनुष्य को क्रियाशील जीवन बिताने की प्रेरणा भी मिलती है। भले ही

---

1 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद-रविदास दर्शन, पृ० 50

2 सं० मीरा गौतम-गुरु रविदास:वाणी एवं महत्व, पृ०134

इनकी वाणी में काव्य-शास्त्र के परम्परागत सिद्धान्तों को पूर्ण-रूपेण नहीं अपनाया गया, परन्तु उसमें उत्कृष्ट काव्य के गुणों की कमी भी नहीं है।''[1]

गुरु रविदास एक धर्म-नेता थे। जिन्होंने लोक-कल्याणार्थ स्वानुभूति-विर्निमित विचारों को वाणी का रूप प्रदान किया। सन्तमत और सन्तों की वाणी, समाज-अध्यात्म एवं जीवन-व्यवहार में परखी हुई अनुभूति का शब्द-प्रकाशमयरूप है। ''रविदास की वाणी की जड़ें भारतीय दर्शन से प्रभाव ग्रहण करती हैं परंतु एक बिंदु पर आकर उनका चिंतन और दर्शन पूर्ण रूपेण स्वतंत्र दिखाई देने लगता है। उन्होंने मानव और समाज को बहुत गहराई से देखा, समझा और परखा है।''[2] गुरु रविदास जी की वाणी में उनके व्यक्तित्व, भक्ति साधना तथा उनकी विचारधारा के व्यापक दर्शन होते हैं। जिसमें उनके दार्शनिक, धार्मिक, सामाजिक, नैतिक, आर्थिक और राजनीतिक विचारों की एक सुस्पष्ट व्याख्या हमें उनकी साखियों और पदों में मिलती है।

3.3 3 गुरु रविदास वाणी का प्रतिपाद्य

गुरु रविदास की वाणी की अपनी अनेक विशेषताएं हैं। रविदास जी जन्मजात-भक्त होते हुए भी एक महान् समाज सुधारक थे। अतिकोमल हृदय होने के कारण उनकी वाणी में जन-जन की पीड़ा का वर्णन होने के साथ-साथ समाज में व्याप्त बुराईयों के प्रति समाज-सुधार की भावना भी है। आपने विपरीत स्थितियों के बीच अपनी वाणी के द्वारा निर्बल और अशक्त प्राणी को चलने और दौड़ने की शक्ति प्रदान करके उसे आत्म-गरिमा का आधार प्रदान किया।

---

1 डॉ० पदम गुरचरन सिंह-संत रविदास विचारक और कवि, पृ० 91

2 सं० मीरा गौतम-गुरु रविदास: वाणी एवं महत्व, पृ०417

3.3 3 1 मानव समानता

''रविदास की वाणी समाज को मानव समानता का संदेश देती है, उन्होंने मानव-मानव में ऊँच-नीच, जाति-पाति आदि भेद भाव को मिटा कर प्रेम, करूणा और मानवीय उदारता के आधार पर मानव एकता का संदेश दिया था।''[1] रविदास जी का मानना था कि हम सब प्राणी एक ही ईश्वर की देन है। मानव- मात्र के सम्बन्ध में आपका मत है-

''इक जोति तैं जड़ सम उपजै, तउ ऊंच नीच कस मानः''[2]

रविदास की वाणी, भक्ति के माध्यम से, मानव और समाज के संबंधों की मानवीय व्याख्या प्रस्तुत करती है। इसके साथ ही इन्होंने सामाजिक भेदभाव और ऊँच-नीच को समाप्त कर परस्पर प्रेम, भाई और सौहार्द का जो संदेश दिया है वह आज भी प्रेरणादायक है। आपकी भक्ति में निहित मूल्य मानवीय शाश्वतता की महागाथा है। आप मानवतावादी दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए कर्मकांड़ों एवं जात-पांत का विरोध करते हैं। रविदास कहते हैं-

''जाति पाति का नहीं अधिकारा, भजन कीनै उतरै पारा।
वेद पुरान कहै दूहु बानि, भगति बसी है सारंगपाणि।।''[3]

रविदास का मानना था कि मनुष्य का चरित्र और आचार ही सबसे बड़ा होता है। वही मनुष्य ऊँचा है जो कथनी और करनी में भेद नहीं रखता। आपने मानव की सार्वभौमिकता की स्थापना करते हुए मानवता का संदेश दिया है-

''एकै माटी के सभ भाडे, सभ का एकौ सिरजन हारा।।''[4]

---

1 डॉ० रमेश मेहरा-भक्त रविदास, पृ० 21-22
2 डॉ० रमेश मेहरा-भक्त रविदास, पृ० 22
3 सं० मीरा गौतम-गुरु रविदास: वाणी एवं महत्त्व में उद्धृत पृ० 157
4 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद- रविदास दर्शन, पृ०49

जिस तरह कुम्हार एक ही मिट्टी से अनेक बर्तन तैयार करता है। इसी तरह संसार के ये सब प्राणी भी एक ही मिट्टी से बने हैं और इन सबकी रचना करने वाला भी एक ईश्वर ही है। मानवीय एकता को प्रेम के धागे में पिरोकर हृदयों को जोड़ने वाले संत रविदास मानव को मानव से प्रेम करने की सीख देते हैं।

3.3 3 2 निष्काम कर्म भावना

गुरु रविदास का निष्काम कर्म भावना में विश्वास था। आप की वाणी में कर्मो का कोई विभाजन तो नहीं मिलता पर आप कर्म सिद्धांत को शतश: मानते थे। आपके अनुसार भले-बुरे कर्मो का लेखा प्रत्येक व्यक्ति को देना पड़ता है, बुरे कर्म का फल बुरा और और अच्छे कर्म का फल भला होगा। इसमें किसी को कोई छूट नहीं दी जाती। आपके अनुसार-

''जोई जोई जोरियो सोई फाटिओ, झूठे बनजि उठि ही गई हाटिओ।

कहि रविदास भयो जब लेखा, जोई जोई कीनो सोई सोई देखिओ।।''[1]

गुरु रविदास जी कहते हैं कि सांसारिक प्राणी कर्मबंधन में ही फंसा रहता है, क्योंकि वह कर्म करने के पश्चात् फल की इच्छा रखता है जबकि मनुष्य को यह सच्चाई समझ लेनी चाहिए कि कर्म करना मात्र उसका धर्म है और इसलिए मनुष्य को निःसंगभाव से कर्म करना चाहिए। कर्म करने से, फल की इच्छा न रखने से मनुष्य कर्मबंधन से मुक्त होकर सुखी होगा। रविदास का मानना था कि मनुष्य अपने स्वभावानुसार जो भी काम करता है वह सब उस से स्वयं प्रकृति करवाती है, इसलिए मनुष्य को कर्म करने का अभिमान नहीं करना चाहिए। कर्म करने में मनुष्य तो केवल निमित्त मात्र ही है-

''परकिरती परभाउ बस, मानुष करत है कार।

मानुष तउ है निमित रूप, कहि 'रविदास' बिचार।।''[2]

---

1 डॉ० धर्मपाल सिंहल- गुरु रविदास जीवन एवं दर्शन में उद्धृत, पृ० 26

2 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद- रविदास दर्शन, पृ० 112

रविदास जी का मानना है कि जन्म-मरण के बंधन से मुक्त होने के लिए मानव को प्रभु भक्ति में मग्न रहना चाहिए और अच्छे कर्म करने चाहिए। आपने भटके हुए मानव को निष्काम कर्म करने का उपदेश दिया। मनुष्य का धर्म है वह दिन-रात करम करें-

''रविदास मनुष्य का धरम है, करम करहिं दिन रात,
कर्म नहिं फल पावना, नहीं काहु के हाथ।।''[1]

3.3 3 3 श्रम साधना

गुरु रविदास जी ने कर्म के साथ-साथ श्रम को भी विशेष महत्त्व दिया है। जो व्यक्ति समय नष्ट करता है वह समाज पर बोझ है और ईश्वर भी ऐसे व्यक्ति को माफ नहीं करते। जहां तक हो सके अपनी शक्ति सामर्थ्य से मेहनत करके ही अपना निर्वाह करना चाहिए। अपने परिश्रम से जो कमाई की जाती है वही नेक कमाई होती है। नेक कमाई करने वाले को वन में बैठकर पूजा करने की कोई जरूरत नहीं। भगवान उनको घर पर ही दर्शन देते हैं-

''नेक कमाई जह करहि, गृह तजि बन नहि लाय।
रविदास हमारी रामराय गृह नहि मिलिहि आया।।''[2]

रविदास जी का ऐसा विश्वास है कि जिस निष्ठा और भक्ति के साथ हम ईश्वर की पूजा करते हैं यदि उसी तरह परिश्रम को भी ईश्वर पूजा समझकर करें तो समाज में सुख और शांति छा जायेगी। परिश्रमी मनुष्य सदा सुखमय और शांतिमय जीवन व्यतीत करते हैं।

---

1 सं० मीरा गौतम-गुरु रविदास: वाणी एवं महत्व, पृ०135
2 सं० मीरा गौतम-गुरु रविदास: वाणी एवं महत्व, पृ०135

''सम्र कउ ईसर जानि कै, जउ पूजहि दिन रैन।
'रविदास' तिन्हहि संसार मंह, सदा मिलहि सुख चैन।।''[1]

रविदास जी अपने व्यवसाय के बारे में कहते हैं मैं हर समय अपने हाथों में जूते बनाने के लिए अपने औज़ार रांबी और आर लिये रहता हूँ। नेक कर्म करना ही मेरा धर्म है, और मेरा यही व्यवसाय (जूते बनाना) जिस के द्वारा मैं अपना निर्वाह करता हूं, मुझे भव सागर से पार उतारेगा।

संत भक्तों ने अपने व्यवसाय को कभी छोटा नहीं समझा और उसे निष्काम भाव से धर्म समझकर किया है। गुरु रविदास चमार, कबीर जुलाहा, नामदेव छीपी, सेन नाई,सदना कसाई और पलटूदास बनिया थे। इन सभी संतों भक्तों ने अपने व्यवसाय को खुलकर स्वीकार किया है और साथ ही प्रशंसा की है। इन्होंने श्रम में ही ईश्वर-भक्ति का सच्चा सुख प्राप्त किया है।

3.3 3 4 संतोष और त्याग

रविदास जी ने वासनाओं का त्याग कर सुख-शांति को पाने के लिए संतोष और त्याग को आधार बनाने पर बल दिया। ऐसा करने से मनुष्य देवता भी बन सकता है और मोक्ष भी प्राप्त करता है। रविदास जी का यह मानना है जो मनुष्य अपने जीवन में परम सुख को प्राप्त करना चाहता है उसे अपने मन में सदा संतोष रखना चाहिए। जो कुछ उसके पास है उसी में ही संतुष्ट रहना चाहिए। जहाँ संतोष होता है वहाँ दोष नहीं रहते। संतुष्ट तथा निर्दोष व्यक्ति ही परमानंद प्राप्त करता है-

''जो कोउ लोरै परमसुख, तउ राखै मन संतोष।
'रविदास' जहां संतोष है, तहां न लागै दोष।।''[2]

---

1 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद- रविदास दर्शन, पृ०119
2 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद- रविदास दर्शन, पृ०166

रविदास जी ने सच्चा सुख सत्य धर्म का पालन करने में ही माना है और सत्यधर्म का सार है-त्याग। आप ने दुःख का एक बड़ा कारण धन का संचय करना भी माना है। आपके अनुसार वास्तविक सुख तो धन के त्याग में ही है। गुरुदेव की शिक्षा भी यही है कि धन को जमा मत करो, धन कमाओ और उसे जन-कल्याण में उसकी सेवा में लगाते जाओ। धन कमाने की सार्थकता इसी में है-

''धन संचय दुख देत है, धन त्यागे सुख होय।
'रविदास' सीख गुरुदेव की, धन मति जोरे कोय।।''[1]

रविदास जी ने अपने जीवन में भी सदा संतोष और त्याग को महत्त्व दिया। आप जो कुछ कमाते थे वह साधु-सन्तों की सेवा में लगा देते थे। आपने जीवन में परम-सुख-प्राप्ति के लिए संतोष रूपी धन का अर्जन किया और जनता को उपदेश भी दिया। संत रविदास मानवतावाद, समता, सादगी, संतोष, सेवा, त्याग और सर्वाधिक प्रभु के गरीब निवाज़ विरद में विश्वास रखते थे।

3.3 3 5 पंच-विकार

''काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार ये पाँचों मानसिक विकार हैं। संसार के सभी मतमतान्तरों में इन्हें मानव देह का शत्रु माना गया है। यदि इन में से एक भी मानव शरीर में पकड़ कर ले तो वह दुर्लभ मानव-देह व्यर्थ हो जाती है। मानव जगत में जितने पापाचार, अत्याचार, व्यभिचार एवं अनाचार होते हैं वे सभी मानसिक विकार की उपज हैं। इसीलिए इन्हें मानव देह का शत्रु कहा गया है।''[2] रविदास जी कहते हैं वही मनुष्य उच्च और महापुरूष है जिनके हृदय में सत्य का निवास है और

---

1 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद- रविदास दर्शन, पृ०166
2 डॉ० बी० पी० शर्मा शास्त्री- संत रविदास की भक्ति साधना, पृ० 32

जो काम, क्रोध, लोभ, मोह तथा अहंकार इन पांच महादोषों से मुक्त है। उन्हीं मनुष्यों को उच्च और कुलीन मानना चाहिए जो इन मानसिक पंच विकारों का सर्वथा त्याग कर चुके हैं और जो सदा संतों की सेवा में लगे रहते हैं-

''पंच दोष तजि जो रहई, संत चरन लव लीन।
'रविदास' ते ही नर जानई, ऊंचह अरू कुलीन।।''[1]

संत गुरु रविदास जी पंच विकार की विशेष व्याख्या करते हुए कहते हैं कि ''मृग, मीन, भंवरा, पतंगा और हाथी तो केवल एक-एक दोष के कारण नष्ट होते ही हैं परन्तु जिस मनुष्य में ये पांचों विकार हों तो उसकी क्या दशा होगी? जिस मनुष्य का विवेक-दीपक मध्यम पड़ गया हो और अविद्या अंधकार में जा फंसा हो केवल वही इन पंचविकारों का शिकार होता है। पशु-पक्षियों की योनि तो ज्ञान रहित है, पुण्य-पाप के अन्तर को सोचने की शक्ति उन में नहीं होती, परन्तु मानव जीवन दुर्लभ है, वह संसार का सर्वोत्तम प्राणी है और उसे परमात्मा ने विवेकशीलता भी दी है तो वह इन पांच विकारों में कैसे जा फंसती है।''[2]

''म्रिग मीन भ्रिंग पतंग कुंजर, एक दोष विनास।
पंच दोष असाध जा मंहि, ताकी केतक आस।
माधो! अविदिआ हित कीन, विवेक दीप मलीन।
त्रिगद जोनि अचेंत संभव, पुंन पाप असोच।
मानुषा अवतार दुलभ, तिही संगति पोच।''[3]

---

1 डॉ० रमेश मेहरा-भक्त रविदास, पृ० 124
2 डॉ० बी० पी० शर्मा शास्त्री- संत रविदास की भक्ति साधना, पृ०33
3 डॉ० बी० पी० शर्मा शास्त्री- संत रविदास की भक्ति साधना, पृ०33

''संत गुरु रविदास वाणी में काम, क्रोध, लोभ, मोह तथा अहंकार भाव पंचमहाविकारों की वर्जना की गई है क्योंकि प्रभु भक्ति तथा आत्म साक्षात्कार के मार्ग में ये बाधक हैं। ये इतने बलशाली हैं कि देखते भी इनके जाल में फंस अपना विवेक तथा शक्ति खो बैठे। इन पंच विकारों के त्याग से ही मनुष्य की आत्मा मुक्त हो सकती है तथा मानव चरम-सिद्धि भाव मुक्तावस्था प्राप्त करने में सफल हो सकता है। इन पंच विकारों के सीमित तथा जघन्य घेरे को तोड़ने में 'रघुनाथ की शरण' अनिवार्य तथा सहायक है।''[1]

3.3.3.6 चार वर्णों की सुस्पष्ट व्याख्या

रविदास जी ने अपनी वाणी में जिन वैयक्तिक जीवन-मूल्यों की प्रतिष्ठा की है वे किसी भी सामान्य मानव को अनायास ही महान् बना सकते हैं। उन्होंने जन्म से व्यक्ति को ऊँचा या नीचा न मानकर कर्मो के आधार पर उसे अच्छा या बुरा कहा है। इसी प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के भी आप ने बहुत ही सुन्दर ढंग से कर्त्तव्य स्पष्ट किये हैं और इसी को उनका धर्म बताया है। कर्मानुसार जाति मानकर रविदास जी ने इन चारों वर्णो की एकदम यथार्थवादी, क्रांतिकारी एवं परिपालनीय परिभाषाएँ की हैं।

रविदास जी के अनुसार केवल उच्च कुल में जन्म लेने के कारण कोई ब्राह्मण नहीं हो सकता-

''ऊंचे कुल के कारणै, ब्राह्मन कोय न होय।
जउ जानहि ब्रह्म आत्मा, 'रविदास' कहि ब्राह्मन सोय।।''[2]

---

1 सं० प्रो०'श्रीमती' सन्तोष कुमारी शर्मा-सौम्य सन्त गुरु रविदास, पृ०139

2 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद- रविदास दर्शन, पृ०135

निर्बलों की रक्षा करने में जो युद्ध क्षेत्र से भागे नहीं वही क्षत्रिय हो सकता है-

''दीन दुखी के हेत जउ, बारै अपने प्रान।
'रविदास' उह नर सूर कौं, सांचा छत्री जान।।''[1]

रविदास जी कहते हैं कि जो व्यक्ति सच की दुकान पर बैठकर सच का सौदा सच के तराजू में तोलकर बेचता है, वही सच्चा वैश्य है-

''सांची हाटी बैठि कर, सौदा सांचा देइ।
तकड़ी तोलै सांच की, 'रविदास' वैस है सोइ।।''[2]

रविदास जी ने शूद्र की एक सर्वथा नवीन व्याख्या प्रस्तुत की है। जो व्यक्ति बहुत ही पवित्र जीवन व्यतीत करने वाला है, उसी को 'शूद्र' अर्थात् शुद्ध जानना चाहिए। जिनके कर्म भी बुरे हैं और जीवन भी अशुद्ध और अपवित्र है उन्हें 'शूद्र' नहीं मानना चाहिए-

''रविदास जउ अति पवित्त है, सोई सूदर जान।
जउ कुकरमी असुध जन, तिन्ह दी न सूदर मान।।''[3]

''शूद्र का परंपरागत अर्थ 'शोचनीय' माना जाता है। (जिसका जीवन शोचनीय है, वह शूद्र है।) 'शूद्र' शब्द 'शुच्' धातु से बनता है जिसका अर्थ 'शोक' माना जाता है। किंतु, गुरु रविदास जी 'शुच्' का अर्थ यहां 'पवित्र' करते हैं।''[4] जो मनुष्य मात्र की सेवा में लगा रहता है और सेवा धर्म का पालन करता हुआ कभी भी अपने मन में अहंकार का भाव नहीं होने देता और असत्य वचन नहीं बोलता। वही शूद्र धन्य है और उसी का जीवन प्रशंसनीय है।

---

1 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद-- रविदास दर्शन, पृ०82
2 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद- रविदास दर्शन, पृ०142
3 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद- रविदास दर्शन, पृ०144
4 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद- रविदास दर्शन, पृ०144

रविदास जी की 'शूद्र' की मनुष्यमात्र के 'सेवक' के रूप में की गई व्याख्या नवीन एवं अत्यंत उपादेय है।

3.3 3 7 अहिंसा एवं शाकाहार

भक्तिकाल के सभी संतों ने शाकाहार पर बल दिया है। गुरु रविदास ने अपनी अमृतवाणी में शाकाहार की बड़ी महिमा गाई है। रविदास जी मांस न खाने की प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि हर जीव में ब्रह्म का वास है किसी भी प्राणी का मांस खाना तो दूर रहा, उसकी हत्या को ही ब्रह्म हत्या की संज्ञा दी है।

''प्राणी वध मत कीजिए, जीव ब्रहम समान।
रविदास पाप न छूटहिं, करोर गउँन करि दान ।।''[1]

एक जीव की हत्या का जो पाप मनुष्य को लगता है, वह करोड़ों गायों दान पर भी नहीं छूटता।

रविदास जी का मानना है कि ''शाकाहारी के हृदय में ही परमात्मा का वास होता है, क्योंकि उसके पवित्र हृदय में श्रद्धा व परमात्मा की भक्ति की सुगंध आती रहती है। योगीराज महाराज गुरु रविदास जी कहते हैं कि शाकाहारी के मन में पूजा के फूल खिलते हैं व उसको प्रभु मिलन की अनुभूति होती है।''[2]

''मन ही पूजा, मन ही धूप।
मन ही सेऊँ, सहज स्वरूप।।''[3]

---

1 सं० मीरा गौतम- गुरु रविदास : वाणी एवं महत्व में उद्धृत, पृ०163
2 सं० मीरा गौतम- गुरु रविदास : वाणी एवं महत्व, पृ०162
3 सं० मीरा गौतम- गुरु रविदास : वाणी एवं महत्व, पृ०162

3.3 3 8 स्वराज्य

रविदास जी की स्वराज्य की कल्पना भी परम उदात्त है। उनकी यह कल्पना राम-राज्य की ही कामना है। जब कहते हैं मैं तो ऐसा राज्य चाहता हूं जहां सबको खाने के लिए अन्न मिल सके और जहां का कोई भी निवासी भूखा न रहे, और जहां छोटे-बड़े समझे जाने वाले सभी लोग एक समय सुखमय जीवन व्यतीत करें। उन सब को खुशहाली प्राप्त हो और वह एक जैसे प्रसन्न रह सकें-

''ऐसा चाहौं राज मैं, जहां मिलै सबन कौ अन्न।
छोटे बड़े सभ सम बसैं, 'रविदास' रहैं प्रसन्न।।''[1]

इसी सुंदर स्वराज्य की कल्पना करते हुए उन्होंने अपने निवास स्थान को 'बेगम पुरा' नाम से याद किया है।

''बेगमपुरा सहर को नाउं, दूखु अंदोह नहीं तिहिं ठांउ।''[2]

''इस प्रकार 'बेगमपुरा' में किसी को कोई दु:ख-दर्द नहीं होगा, वहां किसी भी प्रकार का ऊंच-नीच का भेदभाव नहीं होगा और हर कोई हर प्रकार से सुखी जीवन व्यतीत करेगा। रविदास जी कहते हैं कि मेरा मित्र वही होगा, जो इस 'बेगमपुरा' का निवासी होगा।''[3]

3.3 3 9 वचन-पालन

भक्त रविदास ने सत्य, प्रेम, सदाचार, नैतिकता एवं संतोष के अतिरिक्त अपनी वाणी में वचन पालन पर भी बड़ा ज़ोर दिया है। उनके अनुसार जो वचन एक

---

1 डॉ० रमेश मेहरा-भक्त रविदास, पृ० 126
2 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद- रविदास दर्शन, पृ०173
3 सं० प्रो० (श्रीमती) सन्तोष कुमारी शर्मा-सौम्य सन्त गुरु रविदास, पृ० 78

बार किसी को दे दिया, उस पर ही स्थिर रहना चाहिए, और दिये हुए वचन का पालन करना चाहिए। जो मनुष्य वचन देकर उसका पालन नहीं करता, वह अपना यश-मान सब कुछ गंवा देता है। संसार में उसके पास गर्व करने को कुछ भी बाकी नहीं रहता।

''रविदास बचन जो दे दियो, उह न जानै पाय।
बचन हरै कउ जगत मंहि, कछु न सेस रहाय।।''[1]

रविदास जी का मानना है कि यदि एक बार सिर कट जाए तो वही कटा हुआ सिर फिर मिल सकता है। परंतु एक बार मुख से निकला हुआ वचन कभी वापिस नहीं आ सकता इसीलिए, सिर कटता है तो कट जाए लेकिन जो वचन एक बार दे दिया है उसका पालन अवश्य करना चाहिए-

''बचन गयो नंह आवर्त्त है, सीस कटा फिर आय।
'रविदास' बचन कूं राखिए, सिर जाइहि तउ जाय।।''[2]

3.3 3 10 स्वाधीनता

रविदास जी स्वाधीनता के पक्षपाती हैं। इसीलिए इन्होंने पराधीनता को पाप एवं अभिशाप कहा है। जो व्यक्ति पराधीन है, किसी का गुलाम है, उससे कोई भी प्रेम नहीं करता है। उसका सभी तिरस्कार करते हैं। उसे हीन भावना से देखा जाता है। इसलिए दीन-हीन एवं पतित जीवन से बचने के लिए मनुष्य को स्वाधीन स्वतंत्र रहने का प्रयत्न करना चाहिए। रविदास जी कहते हैं-

''पराधीनता पाप है, जान लेहु रे मीत।
'रविदास' दास पराधीन सों, कौन करै है पीत।।''[3]

---

1 डॉ० रमेश मेहरा-भक्त रविदास, पृ०127
2 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद- रविदास दर्शन, पृ० 159
3 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद- रविदास दर्शन, पृ० 82

अत: यह कहा जा सकता है कि मनुष्य को स्वाधीनता का पुजारी बनना चाहिए। पराधीनता और हीनता के जीवन से छुटकारा पाने का प्रयास मनुष्य को करना चाहिए क्योंकि ऐसे जीवन में कोई सुख नहीं है। मनुष्य को सदैव स्वतंत्र रहने का प्रयत्न करना चाहिए।

3.3.3.11 वासनाओं का त्याग

रविदास जी ने अपनी वाणी में वासनाओं का त्याग करने की प्रेरणा दी है। जो मनुष्य अपनी सभी इच्छाओं और वासनाओं को अपने से दूर रखता है, अपनी इंद्रियों को भोगों में नहीं फंसने देता, उसके मन और बुद्धि में चंचलता नहीं आती। वह सदा शांतचित्त रहता है। शांतचित्त और स्थिरबुद्धि में ही ईश्वर निवास करता है। उसका हृदय परमेश्वर की दिव्य ज्योति से आलोकित हो जाता है।

रविदास जी के अनुसार यदि मनुष्य बुद्धिमान और विवेकशील बनना चाहता है, तो उसे सदा जितेंद्रिय रहना चाहिए। इंद्रियों के वश में पड़कर उसे उनके साथ नाचते ही नहीं रहना चाहिए। जो मनुष्य इंद्रियों के इशारे पर नाचता है वह अपनी बुद्धि और विवेक ही नहीं गंवाता है अपितु सब कुछ खो बैठता है। अर्थात् जिस मनुष्य की इंद्रियां वश में है वही स्थिर-बुद्धि व्यक्ति है। विषयों के वशीभूत न होकर, रागद्वेष को छोड़कर, अहंकार, बल, घमंड, काम, क्रोध तथा पदार्थों में ममत्त्व को त्यागकर शांत मनुष्य ब्रह्मरूप हो जाता है। अपनी दशों इंद्रियों को वश में रखता हुआ, सुख तथा दु:ख दोनों को समान समझने वाला व्यक्ति ही मोक्ष पद को प्राप्त करता है।

3.3.3.12 लोकमंगल की भावना

रविदास जी की पावन दृष्टि लोक जीवन को सुन्दर, सुखमय बनाने पर रही है। इसीलिए वे शुद्ध लोकचरण पर बल देते हैं। रविदास जी मानवीय सत्यों और मर्यादा

बद्ध लोक जीवन के पक्षधर थे। रविदास जी की वाणी में लोकजीवन ही मूलाधार है। इसीलिए लोकमंगल की भावना आप में प्रचुरता में मिलती है। रविदास की वाणी का प्राण तत्त्व लोक-मानस, लोक-जीवन, लोक हित चिन्तन ही है। और प्रभु-भक्ति का मार्ग भी उनके लिए लोक जीवन से ही निकलता है।

संक्षेप में कह सकते हैं कि गुरु रविदास जी की वाणी सह अस्तित्त्व के सन्तुलन की वाणी है जिसमें विचारों का अद्‌भुत सामन्जस्य है। आप की वाणी में सत्य, अहिंसा, धैर्य, दया,परोपकार को अपनाकर और दुष्वृत्तियों को त्याग कर समाज में शांति की स्थापना का संदेश है। रविदास वाणी वर्तमान कसौटियों पर खरी उतरती है और संपूर्ण मानवता का संदेश जन-जन में संचारित करने की सामर्थ्य-शक्ति से संचित है।

रविदास जी प्रभु परायण, परम धार्मिक, जाति-पांति के कट्‌टर विरोधी, मानव समानता को चाहने वाले, विषय-वासनाओं का तिरस्कार करने वाले सर्वहितकारी, स्वाधीनता के समर्थक, उदात्त विचारों के स्वामी तथा प्रचारक महापुरूष हैं। आपके अनुसार मनुष्य का लक्ष्य प्रभु-प्राप्ति है, मानव सेवा तप के समान है, यही प्रभु भक्ति है और स्वकर्म के द्वारा ही प्रभु प्राप्ति हो सकती है। यह एक सहज साधन है। रविदास की वाणी में एक सात्विक एवं सरल उपासक की अनुभूतियों के साथ-साथ जीवन की अनेक समस्याओं का समाधान भी स्वाभाविक रूप से प्रस्फुटित हुआ है।

3.4 गुरु रविदास की भक्ति भावना

3.41 मध्यकाल की संत विचारधारा में भक्ति का सामान्य परिचय

भक्ति भारतीय आध्यात्मिक साधना की अविछिन्न परम्परा का निःसंदेह एक व्यापक स्रोत है। भारतीय इतिहास का मध्ययुग इसका विस्तृत एवं प्रभावशाली क्षेत्र

माना जा सकता है। भक्तिकाल जिसे हिन्दी साहित्य का स्वर्णयुग होने का गौरव प्राप्त है में संतों की विचारधारा को मध्ययुगीन परिस्थितियों का समाधान होने के साथ-साथ तत्कालीन अवस्था में भारतीय समाज का पुनर्व्यवस्थापन माना गया। जिसमें परम्परागत ज्ञान को स्वानुभूति द्वारा मंडित कर प्रचारित किया गया और व्यवहारिक जीवन को अधिक महत्त्व दिया गया। संतों का अन्तिम ध्येय मानवता का कल्याण था। इसीलिए यह विचारधारा जन-जीवन में ही जन-जीवन के लिए उत्पत्र हुई, और इसके अग्रणी भी बहुधा जनता के निम्नवर्ग के ही समाज के प्रतिनिधि थे। संतों ने सामान्य जनता के प्रति ग्राह्य स्वरूप को स्वीकार किया। इन संतों ने यह गम्भीरता से अनुभव किया था कि परम्परागत धर्म के नाम पर प्रचलित अंधविश्वास, कर्मकाण्ड, बाह्याडम्बर सर्वथा निरर्थक है। आपने इन दिखावों और छलावों का प्रखर विरोध किया। संतों ने साधना का मार्ग प्रत्येक मनुष्य के प्रति उन्मुक्त कर दिया, साधना के कठिन स्वरूप को न अपनाकर आपने साधना का सरलीकरण कर डाला और उसके सहजमार्ग को अपनाया संतों ने भक्ति-मूलक साधना में अपना विश्वास व्यक्त किया। यह सरलीकरण और सहजीकरण साधना को नाम-स्मरण तक खींच ले आया। जिसे संतों ने पर्याप्त महत्त्व दिया।

भक्तिकाल की निर्गुण-भक्ति धारा और सगुण-भक्ति धारा में ईश्वर-उपासना के अलग-अलग ढंग प्रस्तुत किए गए। निर्गुण-भक्ति धारा के कवियों ने ईश्वर के निर्गुण-निराकार रूप की उपासना पर बल दिया। सगुण भक्तों ने भगवान के अवतारों में राम और कृष्ण को अधिक महत्त्वपूर्ण माना। सगुण और निर्गुण दोनों रूपों को लेकर भारतीय साहित्य में आरंभ से ही विचार होता रहा है और इस साहित्य के विकास के साथ ही ये दोनों विचारधाराएं भी क्रमशः विकसित होती

गई। ईश्वर के साकार रूप में विष्णु के अवतारवाद का आधार भक्ति का साधन बना। जबकि निर्गुण ब्रह्म की भक्ति उसके निराकार होने के कारण ज्ञान-चेतना पर आधारित हुई। वस्तुत: सगुण और निर्गुण इसी मूल सत्ता के दो रूप हैं।

''मध्यकालीन भक्ति भावना केवल आत्मोद्धार और ईश्वर प्राप्ति की साधना नहीं थी बल्कि यह मानवता की सेवा के द्वारा ईश्वर को प्रसन्न करने की तपस्या थी। इस भक्तिभावना से संचालित कविता का लक्ष्य 'कविताई' नहीं था अपितु इसके माध्यम से संपूर्ण मानवता का ईश्वर से सीधा संवाद स्थापित करना था।''[1] मध्ययुग की संत विचारधारा ने समाज को एक नया मार्ग दिखाया। ''सन्तों की भक्ति में शास्त्रीयता से अधिक अंतर्भावना, कथन से अधिक अनुभूति, आग्रह से अधिक समंजन था, उनकी वाणी में जैसे सम्पूर्ण समाज की पीड़ा, समाविष्ट होकर मुखरता का मार्ग खोज रही थी।''[2] सन्तों ने समाज और मानव के रिश्तों की गहराई को गम्भीरता से जाना था। इसीलिए उनकी वाणी में सामाजिक समस्याओं के कारण आहत होने वाली मानव जाति के प्रति प्रेम के स्वरों को जागृत किया। सम्पूर्ण भक्ति काल का संत साहित्य मानवीय रिश्तों की प्रेमगाथा है। संतों ने धार्मिक अंधविश्वासों के स्थान पर कर्म को प्रधानता दी। उन्होंने कर्म और श्रम के साथ सहिष्णुता का उदात्त स्वर स्थापित किया। संतों ने भक्ति का सच्चा मार्ग दिखाया। ''ईश्वर में श्रद्धा और प्रेम की सुदृढ़ता एवं निरंतरता के द्वारा परम अनुरक्ति जगाकर अपने मन और बुद्धि का समर्पण कर रसात्मक अनुभूति का अनुभव ही भक्ति है।''[3] अत: यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि संतों की भक्ति में ईश्वर के प्रति प्रेम की तीव्रता है, योगियों

---

1 डॉ० मीरा गौतम-संत रविदास की निर्गुण भक्ति, पृ०23

2 डॉ० योगेन्द्र सिंह-सन्त रैदास, पृ० 70

3 सं० मीरा गौतम- गुरु रविदास : वाणी एवं गहत्व, पृ० 278

का संयम और तपश्चर्या है, साधुओं के सदाचरण की पवित्रता है और इनकी भक्ति अत्यन्त सहज एवं सरल है।

3.42 गुरु रविदास जी की भक्ति भावना

मध्यकालीन भारतीय संत मत जो कि विभिन्न भारतीय आध्यात्मिक सम्प्रदायों के परस्पर संघर्ष के परिणामस्वरूप विकसित हुआ है, इसमें गुरु रविदास जीवन, चिंतन एवं कला की श्रेष्ठता निर्विवाद है। ''शंकराचार्य का वेदान्त, गोरख आदि का नाथ मत और रामानन्द तथा विष्णु स्वामी की वैष्णव भक्ति इन भारतीय चिन्तन पद्धतियों का अपना संघर्ष एक लम्बा इतिहास है।''[1] मध्यकालीन भारत जहां कि राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक दुरावस्था का मुख्य कारण यहाँ के समाज का रूढ़ि ग्रस्त, अंधविश्वासी, कर्मकाण्डी और बाह्याडम्बर-पुजारी एवं वहमों भ्रमों का शिकार होना था वहीं रविदास की सब से महान् सेवा अपने समकालीन समाज में प्रचलित कुप्रथाओं, रूढ़ियों और कर्मकाण्ड के नाम पर चल रही ब्राह्मणी मनमानी के विरूद्ध जनमत को जागृत करना था और निम्न समझी जाने वाली जातियों-वर्णों में आत्म-विश्वास, निष्ठा और स्वाभिमान के भाव उद्दीप्त करना था।

बनारस जो कि एक भारी धर्म और दर्शन का केन्द्र था, वही कर्मकाण्ड का भी मुख्य गढ़ था। उसी क्षेत्र में जन्म लेकर, उसे अपना लीला क्षेत्र बनाते हुऐ संत गुरु रविदास ने इन धर्म के ठेकेदारों का एकाधिपत्य समाप्त करने का बीड़ा उठाया। आपने जहाँ इन धर्म के ठेकेदारों के ज़बरदस्त विरोध का सामना किया वहीं इनके जीवन की अनेक कथाएं उपलब्ध हैं जिनमें रविदास जी ने तत्कालीन धर्मावलम्बियों के साथ दस्तपंजा लेने और उनमें विजयी होने की बात खुलकर सामने आती है।

---

1 सं० डॉ० धर्मपाल सिहंल-गुरु रविदास: जीवन और रचना, पृ०49

''जो व्यक्ति चहुं ओर ब्रह्म के ही दर्शन करता है, जिसका चित्त सदा प्रभु-चरणों में जुडा रहता है, जो अन्य बाह्याडम्बरों में तो क्या उलझेगा स्वयं निर्गुण और सगुण जैसे सर्वथा विवादग्रस्त विषय में भी दोनों को एक ही धरातल पर देखता है, उस महाप्राण संत रविदास को किसी एक या दूसरे बाहरी कर्म के साथ मोह कैसे हो सकता है।''[1] रविदास जी स्पष्ट कहते हैं-

''बाहाडंबर हौं कबहुं न जान्यो तुम चरनन चित मोरा।''[2]

रविदास जी ने समकालीन धर्म-सम्प्रदायों और मत-मतान्तरों पर तीक्षण कटाक्ष करते हुए गुरमति मार्ग और संत मार्ग की व्याख्या करते हुए घट में ही हरि मिलन की बात का उपदेश देते हुए भक्ति का सरल मार्ग दिखाया। गुरु रविदास जी का परम व चरम साध्य 'भक्ति' है। आप मूलत: एवं जन्मत: भक्त हैं। दुर्लभ मानव जन्म की सफलता वे भक्ति में मानते हैं। आपने अपनी वाणी में भक्ति के लिए ही प्रभु का गुणगान किया है।

''जहं जहं जाँउ तहं तेरी सेवा, तुम सो ठाकुर अवरू न देखा।
तुमरे भजन कटहिं जम फाँसा, भगति हेति गावे रविदासा।।''[3]

रविदास एक साधक के रूप में, भक्ति-भाव के विशेष आग्रही हैं। इनके जीवन का समस्त कार्य-व्यापार भक्ति के रंग में रंगा हुआ है। उनका विश्वास है कि भक्ति से रहित बाहरी आडम्बर निरर्थक हैं। गुरु रविदास जी के अनुसार जो व्यक्ति हृदय से भगवान् के प्रति समर्पित नहीं है, केवल कर्मकांड आदि को विशेष महत्त्व देता है उनकी मुक्ति असम्भव है। उनकी दृष्टि में ईश्वर कर्मा है, सर्वव्यापक है, अन्तर्यामी है तथा भक्ति से प्रसन्न होकर दीन-दलितों का उद्धार करने वाला है। ऐसे

---

1 सं० डॉ० धर्मपाल सिहंल-गुरु रविदास: जीवन और रचना, पृ० 2
2 सं० डॉ० धर्मपाल सिहंल-गुरु रविदास: जीवन और रचना, पृ० 2
3 डॉ० बी० पी० शर्मा-संत गुरु रविदास, पृ० 80

ईश्वर को प्राप्त करने के लिए वे भक्ति को छोड़कर अन्य कोई साधन उचित नहीं मानते। रविदास ने अपनी साधना में विवेक को विशेष महत्व दिया है। ''रैदास पूर्ण रूपेण एक भावनाप्रवण किंतु विवेकशील साधक एवं भक्त थे, कोई पूर्वाग्रह या प्रताड़ना उनको प्रतिक्रिया प्रेरित नहीं बना सकी; उन्होंने सदा ही विवेक के आधार पर ग्रहण तथा परित्याग को प्राथमिकता दी है।''[1]

''कह रैदास विवेक तत्त बिन सब मिलि नरक परीजै।''[2]

रविदास ने कर्मकांड तथा बाह्याडम्बर की इसीलिए निंदा की है क्योंकि वह विवेक से समर्थित नहीं होते। उनका विचार है कि भगवद्प्राप्ति का एकमात्र उपाय प्रेममयी भक्ति ही है।

''रैदास भूलत: अपने आचरण में संत और साधना में भक्त थे। उनकी भक्ति सरल और सहज है। उसमें न तो योग-मार्ग की जटिलता है और न भक्ति का शास्त्रीय विधान। इसमें शास्त्रीयता की अपेक्षा अनुभूति की तीव्रता अधिक है। भक्ति के प्रति उनकी आस्था इतनी अधिक थी कि उन्होंने भक्त को ही सर्वोपरि मान लिया। उन्हें विश्वास था कि भक्ति के द्वारा अनेक पापियों का उद्धार हुआ है। भक्ति को वे सामाजिक प्रतिष्ठा तक देने लगे थे। उनका विश्वास था कि जिस घर में भगवान् का भक्त जन्म लेता है, उसकी जाति अपने ही आप ऊँची हो जाती है। रैदास ने भक्ति को दीन-दलितों के सामाजिक अभ्युदय का साधन बना दिया था। उनकी स्वीकारोक्ति है कि चमारों की जाति में जन्म लेने पर भी विप्र उनको दंडवत प्रणाम करते हैं। इस प्रकार रैदास ने भक्ति को भगवद्-प्राप्ति का ऐसा साधन माना,

---

1 डॉ० योगेन्द्र सिंह-सन्त रैदास, पृ० 66

2 डॉ० योगेन्द्र सिंह-सन्त रैदास, पृ० 66

जिसमें भक्त की भावुकता, योगियों का संयम और ज्ञान तथा सामाजिक चिन्तक का समाज-दर्शन विद्यमान है।''[1] रविदास की भक्ति में आत्मानुभूति, तल्लीनता, समर्पण तथा आत्मनिवेदन है पर इन सब स्वरों में प्रधानता भक्ति-भाव से पूर्ण हृदय की व्याकुलता, भावुकता, आत्मनिवेदन तथा आत्म-समर्पण की है। रविदास जी भक्ति के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहते हैं-

''भक्ति ऐसी सुनहु रे भाई, आई भक्ति तब गई बड़ाई।। टेक।।
कहा भयो नाचे अरु गाये, कहा भयो तप कीन्हे।
कहा भयो जे चरन पखारै, जौ लौं परम तत्त नहिं चीन्हें।। 1 ।।
कहा भयौ जे मुंड मुंड़ायो, वह तीरथ-ब्रत कीन्हें।
स्वामी-दास, भक्त अरु सेवक, जो परम तत्त नहिं चीन्हें।। 2।।
कहै 'रैदास' तेरी भक्ति दूरि है, भाग बड़े सो पावै।
तज अभिमान मेटि आपा पर, पिपिलक हू चुनि खावै।। 3 ।।''[2]

अर्थात् हे भाई! भक्ति तो ऐसी होती है जिससे भक्त के हृदय में अहंकार अथवा बड़प्पन के लिए जगह नहीं रहती। अभिमानी और अपने आपको बड़ा समझने वाला प्राणी ईश्वर-भक्त नहीं हो सकता। नाचने, गाने और तप करने से कुछ लाभ नहीं जब तक परमतत्त्व-परमात्मा को नहीं पहचाना। देवताओं के चरण पखारने से, सिर मुंडवाने और तीर्थ-व्रत करने का भी कोई लाभ नहीं, गुरु-शिष्य बनने का भी कोई फायदा नहीं जब तक भक्त के हृदय में परम ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो जाती। रविदास जी कहते हैं कि भक्ति का मार्ग बड़ा कठिन है। बड़ा भाग्यवान प्राणी ही भक्ति को प्राप्त कर सकता है। भक्त को चाहिए कि वह निरभिमान होकर अपने

---

1 धर्मपाल मैनी-रैदास, पृ०45

2 स्वामी रामानन्द शास्त्री- संत रविदास और उनका काव्य, पृ०103

आपको मिटाकर एक चींटी की तरह छोटा-सा बनकर रहे तो ईश्वर भक्ति को प्राप्त करने का अधिकारी हो सकता है।

रविदास जी का मानना है कि राम नाम के बिना जो कुछ भी किया जाए वह सब कुछ दुनियादारी है; भक्ति नहीं है। वास्तविक भक्ति तो तभी होती है जब भक्त अहंभाव त्याग देता है। अहंकार को छोड़ना और प्रभु प्रेम में तन-मन को भूल जाना ही वास्तविक भक्ति है-

''ऐसी भगति न होई, रे भाई।।
रामनाम बिन जौ कछु करीए, सो सब करम कहाई।
आपा गयौ तब भगति पाई, ऐसी भगति है भाई।।''[1]

जब भक्त का मन प्रभुमय हो जाता है तब उसमें से सभी प्रकार की कामनाओं और इच्छाओं का अंत हो जाता है। आत्मा स्थिर हो जाती है और राम नाम रूपी खजाना उसे मिल जाता है। रविदास जी सच्ची भक्ति का उपदेश देते हुए कहते हैं-''भाइयों! जब तक तुम्हारा मन चंचल है, जब तक तुम्हारे मन में सत, रज, तम-तीनों गुण विद्यमान हैं तब तक तुम्हारी भक्ति अनन्य (सच्ची) नहीं हो सकती। चंचल मन तो मनुष्य को परमात्मा से अलग करके उसे भक्ति-मार्ग से हटाकर कुमार्ग-सांसारिक विषय-भोगादि में लगा देता है। ऐसा मनुष्य काम, क्रोध, लोभादि में फँसा रहता है। वह मित्रों-बंधुओं से ही स्नेह करता है प्रभु से नहीं। उसे जो भी अन्न चावल आदि खाने के पदार्थ मिलते हैं उन्हें प्रभु की भेंट न करके अपने स्त्री-पुत्रों को दे देता है। इसके विपरीत हरिजन तो अपने ''हरि'' के अलावा किसी और को जानता ही नहीं। वह तो अपने प्रभु के लिए अपना शरीर तक अर्पण

---

1 डॉ० बी० पी० शर्मा - संत गुरु रविदास, पृ०69

कर देता है। रविदास जी कहते हैं कि जो भक्त रात-दिन हरि-भक्ति में मग्न रहता है वह निर्मल एवं स्थिर चित्त हो जाता है। उसकी समस्त चंचलता समाप्त हो जाती है। ऐसी भक्ति प्रभु की अनन्य-सच्ची भक्ति है।''[1]

''सन्तों आनन भक्ति यहु नांही।

जब लग सत रज तम तीनौ गुन, व्याप है या मांही।

x x x x x x x x x x x x x x x x x x x

हरिजन हरि बिन औरु न जानै, तजै आन तन त्यागी।

कहै रविदास सोई जन निरमल, निसि दिन निज अनुरागी।।''[2]

गुरु रविदास जी घोर कलियुग में उत्पन्न हुए थे, मगर वे भक्ति के प्रचार द्वारा सतियुग लाने के इच्छुक थे। रविदास जी मात्र ''भक्ति'' की दृष्टि से कलियुगीन भक्ति का अत्यधिक यथार्थपरक वर्णन करते हैं। रविदास जी कहते हैं कि ''कलियुग में पक्षपातपूर्ण भक्ति होगी, कोई विरला भक्त ही निष्पक्ष अथवा निष्काम भक्ति को निबाह सकेगा। केवल परिचित लोगों को मिलकर ही मन में प्रसन्नता होगी, अपरिचितों को मिलकर केवल मुरझाए चेहरे ही देखने को मिलेंगे। सर्वत्र स्वार्थ होगा, इसी स्वार्थ में हर कोई जलता रहेगा, परमार्थ अथवा परोपकार की भावना न आएगी ही और न यह दृढ़ ही होगी। यथा बिना विश्वास के सत्य बांझ कहलाता है, उसी तरह प्रेम और विश्वास रहित प्रभु भक्ति हमारी जमा पूंजी अथवा राशि कैसे बन सकेगी। इस कलिकाल में भक्तिभाव अथवा प्रेम-भक्ति का पुट कहां से आएगा, मात्र विषय वासना में ही हमारा मन अनुरक्त रहेगा। केवल एक पूर्ण गुरु की शरण जाने वाले व्यक्ति का ही बचाव हो सकता, समर्थ गुरु स्वांग को स्वांग करके,

---

1 डॉ० बी० पी० शर्मा - संत गुरु रविदास, पृ०76-77

2 डॉ० बी० पी० शर्मा - संत गुरु रविदास, पृ०76

कृत्रिमता को उसकी वास्तविकता दर्शा कर हमारे लिए भक्ति का सही स्वरूप सुलभ कर सकेगा, अन्य कोई रास्ता नहीं।''[1]

''संतों कुलपरवी भगति ह् वैसी कलियुग मैं, निपरव विरला निवहैसी।
जाणि पिछांणि हरषि मन हुलसयो, बिन पिछाणि मिलतां मुरझासी।। 1 ।।
x x x x x x x x x x x x x x x x x x x x x x x
भाव भगति हिरदै नहीं आसी, विषय लागि सुख पासी।।
कहि रविदास पूरा गुर पावै, स्वांग को स्वांग दुखासी।।''[2]

संतों ने गुरु को अपनी वाणी में विशेष महत्त्व दिया है। गुरु के मिलने पर इन्होंने उसका बहुत आदर किया, गुरु को अपना पथप्रदर्शक माना और गुरु के प्रति वे पर्याप्त आदरभय और कृतज्ञ रहे। अन्य संतों की भाँति रविदास जी ने भी गुरु के महत्त्व को स्वीकार किया है।

रविदास जी की भक्ति प्रेम-भक्ति है। ''श्री गुरु रविदास जी प्रेम के पुंज और प्रेम के प्रचारक थे-प्रेम मानव का मानव से, मानव का प्राणि मात्र से और प्राणि मात्र का प्रभु से अनन्य, अटूट और अटल प्रेम-ये सब संदर्भ गुरु रविदास जी की प्रेम भक्ति के विभिन्न सरोकार हैं। उनके लिए प्रेम ही प्रभु और प्रभु ही प्रेम का प्रति रूप था।''[3] इन्होंने प्रेम-भक्ति को सर्वाधिक महत्त्व देते हुए-वैधी भक्ति का तीव्र खण्डन किया है। इन्होंने वैधी-भक्ति के सारे विधि-विधानों तिलक, माला, आसन, मूर्ति-पूजा, चन्दन, नैवेध, धूप, दीप आदि के थोथेपन को अनेक स्थलों में दिखाया है-

''भेष लियो पर भेद न जान्यो, अमृत लेइ विषय तू सान्यौ।। टेक ।।

---

1 डॉ० धर्मपाल सिहंल-गुरु रविदास जीवन एवं दर्शन, पृ०88
2 डॉ० धर्मपाल सिहंल-गुरु रविदास जीवन एवं दर्शन, पृ०88
3 डॉ० धर्मपाल सिहंल-गुरु रविदास जीवन एवं दर्शन, पृ०68

काम क्रोध में जनम गंवायो, साध संगित मिलि राम न गायो।। 1 ।।
तिलक दियो पैं तपनि न जाई, माला पहिरि, घणेरी लाई।। 2।।
कह रैदास मरम जु पाऊं, देइ निरंजन तन का ध्याऊँ।। 3 ।।''[1]

रविदास जी के अनुसार वैधी-भक्ति अभिमान-जनित होने के कारण प्रभु -प्राप्ति के रास्ते में रूकावट है। इसी कारण आपने इसे अस्वीकार किया है। रविदास जी की वाणी में प्रेमा-भक्ति का विशद् वर्णन हुआ है। धर्मपाल मैनी रविदास जी की भक्ति के विषय में कहते है ''रैदास ने भक्ति के निर्गुण रूप को ही अपनाया है, लेकिन उसकी अभिव्यक्ति सगुण भक्ति की तन्मयता एवं माधुरी को लिये हुए हैं। शास्त्रों में इसी निगुर्ण या पराभक्ति के एक ऐसे रूप की कल्पना की गई है, जिसमें प्रेम की स्थिति केन्द्रीय है। इसे प्रेमाभक्ति नाम दिया जाता है। रैदास भी वस्तुत: इसी प्रेमाभक्ति से अनुगत थे।''[2] रविदास जी ने प्रेम के आवेग में प्रभु की आराधना अनेक प्रकार से की है। कभी तो वह भगवान् की आराधना में अपने को पूरी तरह से असमर्थ पाते हैं और कभी वे भगवान् की पूजा के लिए उपयुक्त साम्रगी नहीं पाते है। सर्वान्त में, विवश होकर आत्मसमर्पण ही कर देते हैं। रैदास की इस प्रेमाभक्ति का आधार है सम्बन्ध-भावना, जो गिरि-मयूर, चन्द्र-चकोर आदि उपमाओं के द्वारा प्रकट हुई है। रविदस जी कहते हैं कि हे प्रभो! मेरा और तेरा संबंध अटूट है। तुझ से बढ़कर मेरे लिए इस संसार में और कौन हो सकता है।

''माधवे ! तुम न तोरहु तौ हौं न तोरहिं,
तुम सिंउ तोरि कवन सिउ जोरहिं।
जौ तुम जलधर, तउ हम मोरा।
जौ तुम चन्द, तउ हम चकोरा।
जौ तुम दीवरा, तउ हम बाती।

---

1 डॉ० योगेन्द्र सिंह-सन्त रैदास, पृ०82
2 धर्मपाल मैनी-रैदास, पृ०45

जौ तुम तीरथ, तउ हम जात्ती।
सांची प्रीति हम तुम सिउ जोरी।
तुम सिउं जोरि अवर संग तोरी।''[1]

रविदास जी प्रेम भक्ति की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि यह प्रेम भक्ति हर किसी के भाग्य में नहीं वदी है, अपितु यह तो जन्म जन्मांतर की साधना द्वारा ही प्राप्य है, किसी किसी गुरमुख प्राणी को ही प्राप्य होती है।

''सहज समाधे उपाधि रहित फुनि, बडै भागि लिव लागी।
कहि रविदास प्रगास रिदै धरि, जनम मरन भै भागी।।''[2]

रविदास जी का मानना है कि इस संसार में जो कर्मकाण्ड अंधविश्वास एवं मिथ्याचार का जाल फैला हुआ है। उससे बचने का उपाय केवल प्रेम भक्ति ही है। मगर प्रेम शब्द कहने मात्र से ही प्रेम उत्पन्न नहीं हो सकता, प्रेम भक्ति तो मन की अत्यंत उच्च अवस्था का नाम है। रविदास जी ने जहाँ प्रेमा-भक्ति को मान्यता प्रदान अवश्य की है परन्तु इसे केवल अपनी साधना का एकमात्र आधार नहीं माना। इनकी 'प्रेम भगति' का वास्तविक मूलाधार अहंकार की निवृत्ति है। जो भक्ति का एक प्रबल बाधक है।

रविदास के नाम पर अष्टांग-साधना भी प्रचलित है। जिसमें सदन, सेवा, सत्त, नाम, ध्यान, प्रणति, प्रेम तथा विलय को अंग रूप में स्वीकार किया गया है। इसमें प्रथम तीन को बाह्य अंग के रूप में, द्वितीय तीन को आभ्यांतारिक अंग के रूप में तथा अन्तिम दो को सिद्धावस्था की अन्तिम स्थिति के रूप में स्वीकारा जाता है जिसके द्वारा साधक ब्रह्म में लीन होकर पूर्ण सिद्ध वा संत बन जाता है। संत रविदास जी मन, वचन,कर्म से हर समय भक्ति में लीन रहना चाहते हैं। रविदास जी अपना

---

1 डॉ० बी० पी० शर्मा - संत गुरु रविदास, पृ०80
2 डॉ० धर्मपाल सिंहल- गुरु रविदास जीवन एवं दर्शन, पृ० 70

और प्रभु का मछली व पानी का रिश्ता मानते हैं जिस प्रकार मछली पानी से अलग होकर अस्तित्त्वहीन हो जाती है। उसी प्रकार वे भी प्रभु से बिछुड़कर अस्तित्त्वहीन हो जाएँगे। रविदास जी ने गृहस्थ जीवन में ही प्रभु-भक्ति को श्रेष्ठ माना है। रविदास जी की भक्ति भावना में जहाँ हमें नाम-स्मरण, गुरु की महिमा, आचरण की शुद्धता, श्रम की महत्ता, जाति-पाति का विरोध, निर्गुण-सगुण, संसार की नश्वरता, माया विरोधी विचार, संतोष की महत्ता, साधु संगति, पंचदोष निवारण, रामराज्य की परिकल्पना आदि के दर्शन होते हैं वहीं इनकी शांत, दास्य, संख्य, दाम्पत्य भाव की भक्ति भी मिलती है। शांत भाव की भक्ति में भगवान पूज्य और पूजक होता है। शांत भाव की भक्ति में भक्त केवल हरि के स्मरण पर अधिक ध्यान देता है। हरि के गुणों के अनुकूल आचरण करना एवं वर्जित वस्तुओं का परित्याग करना भक्त अपना लक्ष्य समझता है। रविदास जी कहते हैं कि भक्ति के कारण ही इरण्ड तुच्छ वृक्ष से चंदन के समान सुगंधित वृक्ष हो गए हैं। चंदन के वृक्ष के आसपास उगने वाले वृक्षों से भी चंदन की सुगन्ध आने लगती है-

''तुम चंदन हम इराड बापुरै, निकट तुम्हारे बासा
नीच बिप्र तै ऊँच भये हैं, तुम्हारी बास सुबासा।''[1]

दास्य भक्ति में भगवान और भक्त में सेव्य सेवक भाव होता है। गुरु रविदास जी जन्म-जन्म से स्वयं को राम का सेवक मानते हैं। राम साहिब है। और गुरु रविदास सेवक है-

''तूं दीनां साँई सहिब मेरा।
खिदमतगार बंदा मैं तेरा।।''[2]

---

1 सं० मीरा गौतम- गुरु रविदास : वाणी एवं महत्व में उद्धृत, पृ०२६८-२८९
2 सं० मीरा गौतम- गुरु रविदास : वाणी एवं महत्व में उद्धृत, पृ०२८९

अनेक स्थानों पर रविदास जी की भक्ति भावना उन्हें प्रभु के समक्ष एक मित्र, सखा, साथी के रूप में प्रस्तुत करती है। रविदास जी अपने प्रभु में एक सखा के दर्शन पाते हैं। प्रभु और भक्त घनिष्ठ मित्रों की तरह एक बन्धन में बंध गए हैं। छूटने पर भी नहीं छूटते-

''जौ हम बाँधे मोह फांस, हम प्रेम बधनि तुम बाँधे।
अपने छूटन को जतन करहु, हम छूटे तुम आराधे।।''[1]

ईश्वर के साथ दाम्पत्य सम्बन्ध स्थापित करते हुए भक्ति करना दाम्पत्य भाव की भक्ति है। रविदस जी कहते हैं प्रेमिका सारी रात प्रिय की बाट जोहती रहती है। प्रियतम के बिना वह सुख की नींद भी नहीं सो सकती। विरहा व्यथा उसके शरीर को खाए जा रही है। इन सभी दुखों का निवारण प्रियतम के मिलने पर होगा। रविदास जी कहते हैं-

''भोर भयो मोहिं इक टक जोवत, तलफत रजीन जाई।
पीव बिन सेजहिं क्यूं सुख सोऊँ बिरह बिथा तन खाई।
मेटि दुहागन सुहागिन कीजै, अपने अंग लगाई।
कहै रविदास स्वामी तै बिछुरै, एक पलक जुग जाई।।''[2]

रविदास जी अन्य भक्त कवियों की भाँति एक धारा विशेष में ढल कर नहीं चले, अपितु उनके द्वार सगुण और निर्गुण दोनों प्रकार की भक्ति पद्धतियों के लिए खुले हैं। आपका मूल उद्देश्य भक्ति है। सगुण अथवा निर्गुण मान्यता से नहीं।

---

1 डॉ० योगेन्द्र सिंह-सन्त रैदास, पृ० 160
2 सं० मीरा गौतम- गुरु रविदास : वाणी एवं महत्व में उद्धृत, पृ०291

''रैदास रहस्यवादियों की भाँति अपने प्रभु को एक सर्वव्यापक, पूर्ण, सर्वज्ञ तथा पूर्णकाम मानते हैं। उनकी साधना में योग का प्रभाव भी थोड़ा-बहुत आ गया है। सिद्धों और नाथों की परम्परा का प्रभाव इन संत-कवियों पर भी पड़ा था। उस प्रभाव को भक्ति के अनुकूल बनाकर इन संतों ने अपनी भक्ति की साधना को यौगिक अभिव्यक्ति दी है। सहज, शून्य, षट्कर्म, नाद, बिन्दु, गगन-मंडल, मन, पवन आदि यौगिक प्रतीकों का प्रयोग रैदास ने भक्ति की अभिव्यक्ति के लिए किया है।''[1] रविदास जी भक्ति के द्वारा सम्मान प्राप्त करने की बात करते हुए कहते हैं कि किसी कुल में एक भी प्रभु-भक्त सारे कुल का उद्धारक बन जाता है। उसके लिए गरीब-अमीर और वर्ण-अवर्ण में कोई भेद नहीं रहता है। स्वयं रविदास जी ने भक्ति द्वारा सम्मान प्राप्त किया। रविदास जी कहते हैं-

''मेरी जाति कुटबांढला ढोर ढोंवता
नितहि बानारसी आस-पासा।।
अब बिप्र परधानं तिहि करहि डंडउति
तेरे नाम सरणाइ रविदास दासा।।''[2]

भक्ति एक ऐसा मार्ग है जिस पर चलने के लिए आचरण में शुद्धता का होना अत्यावश्यक है। संतों ने अपने व्यक्गित जीवन में आचरण की पवित्रता पर विशेष ध्यान दिया यही उनकी आध्यात्मिक साधना का मूलमंत्र भी था। उचित रहनी, ईश्वराभिमुख गुणों का विकास तथा अवगुणों का परित्याग ही इनके जीवन के मुख्य चरम बिन्दु थे।

---

1 धर्मपाल मैनी-रैदास, पृ० 45

2 डॉ० पदम गुरचरन सिंह-संत रविदास विचारक और कवि में उद्धृत, पृ०144

3.43 गुरु रविदास जी के अनुसार भक्ति की महत्ता

रविदास जी ने लोगों में आत्म-विश्वास की भावना और भक्ति की उच्चता का महत्त्व बताते हुए कहा है कि प्रभु भक्ति द्वारा मनुष्य प्रभु हो जाता है, चाहे वह ब्राह्मण हो या शूद्र। रविदास जी वाल्मीकि का उदाहरण देते हुए तथा नीचकुल में उत्पन्न व नीच कर्म करने वाले लोगों को ढाढस बंधाते हुए कहते हैं कि राम भक्ति द्वारा वाल्मीकि ने भी अमरपद को प्राप्त किया। उन्होंने गणिका, नामदेव, तथा कबीर का राम--भक्ति से उद्धार बताकर सर्वसाधारण को आशान्वित करते हुए प्रेरित किया। ये सभी भक्त-जन प्रभु भक्ति के द्वारा ही पूज्य बने हैं।

रविदास जी कहते हैं-

''गनिका थी किस करमा जोग,
पर पुरूसन सौं रमती भोग।
निसिबासर दुस्करम कमाई,
राम कहत बैकुंठै जाई।।
नामदेव कहीऐ जाति कै ओछ,
जा कौ जस गावै लोक।
भगति हेत भगतां कौ मिलै,
अंकमाल ल बीठल मिलै।।
निरगुन कौ गुन देखौ आई,
देही सहित कबीर सिधाई।।''[1]

रविदास जी ने भक्ति के माध्यम से अनेक पापियों का उद्धार हो जाने का संकेत देकर दीन-दुःखी एवं पतितों को इस बात की प्रेरणा दी है कि वे भी अपनी

---

1 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद- रविदास दर्शन, पृ० 100

साधना के द्वारा उच्च बन सकते हैं। रविदास जी ने स्वयं अपने नीच कुल में उत्पन्न होने पर राम-भक्ति द्वारा अपूज्य से पूज्य होने की बात कही है-

''हम अपूजि पूजि भयैं हरि तैं,
नांव अनूपम गाया रे!''[1]

रविदास जी जिस युग में अवतरित हुए थे, उसमें उच्च समझे जाने वाले लोग विद्या ग्रहण करके भी अनपढ़ थे। उनके झूठे अभिमान ने उनको स्वयं ही नीचा कर दिया था। जिस भक्ति पर वह अपना एकाधिकार समझे बैठे थे। उस भक्ति के वास्तविक रूप से वे अनजान थे। इन्होंने ईश्वर की सत्ता को सीमित कर दिया था। वहीं रविदास जी जैसे संत कवियों ने ऐसे युग में जन्म लेकर मानवता का उद्धार किया। आपने श्रम और कर्म में प्रतिष्ठा बताई। ईश्वर की भक्ति का मार्ग जन-जन के लिए खोल दिया। आपने प्रेम, भक्ति और मानव कल्याण का सुलहपूर्ण मार्ग चुना और इसके द्वारा दुःखी समाज को एक सुसंस्कृत एवं मूल्य आधारित मुक्त समाज प्रदान किया।

रविदास जी ने अपने युग के शासकों और धर्म गुरुओं की घृणा, फटकार और उपेक्षा-दृष्टि को खूब देखा और अनुभव किया था। रविदास जी ने इन दमनकारी शक्तियों के साथ संघर्ष के लिए भक्ति को ऐसा अस्त्र बनाया जिस के द्वारा रविदास जी के सामने बड़े-बड़े राजाओं-महाराजाओं, पण्डों-पुजारियों और ''विप्र-प्रधानों'' ने आपके चरणों में दण्डवत् प्रणाम किया।

रविदास जी ने मानव-जीवन को सफल एवं सार्थक बनाने के लिए प्रभु-भक्ति को एकमात्र उपाय बताया है। साररूप में उनका मत है कि प्रभु का नाम

---

1 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद- रविदास दर्शन, पृ० 100

सत्य है। वह सृष्टि के आदि, मध्य और अंत में सदा विद्यमान रहता है। 'सत्य नाम' के सामने असत्य नहीं टिक सकता। 'सत्य' ईश्वर का रूप है और वही उसकी अपार शक्ति है। इसीलिए जब तक मानव के शरीर में प्राण है उसे 'सत्य नाम' का जाप करते रहना चाहिए। जो अंतर्मुखी होकर 'सत्य नाम' का जाप करते हैं उनके तीनों प्रकार के दुःख-कष्ट जाते रहते हैं। ''रविदास जी के अनुसार 'सत्य नाम' से परम तत्त्व के दर्शन होते हैं। 'सत्य नाम' का जाप ही सहज परम भक्ति है। यही 'अजपा-जाप' है।''[1]

रविदास जी ने अपनी वाणी में सब को समानता का पाठ पढ़ाया। ऊंच-नीच के भेद की व्यर्थता पर सबका ध्यान दिलाया। रविदास कहते हैं-

''जब जनमे तउ सूदर थे, अरू थे अति अपवित्त।
वरण करम सों होत है, रविदास करौ जउ नित्त।। 1 ।।''[2]

रविदास जी ने अपनी भक्ति-पद्धति द्वारा अन्धकारपूर्ण मध्ययुग में प्रताड़ित एवं उपेक्षित भारतीयों को ईश्वर-भक्ति का एक सच्चा मार्ग दिखया और अपनी सीधी और सरल वाणी के द्वारा समस्याओं को सुलझाने का मार्ग निर्देशन किया।

3.5 मध्ययुगीन वैष्णव मत का रविदास पर प्रभाव

3.51 वैष्णव मत का सामान्य परिचय

''वैष्णव धर्म भारत वर्ष का सत्य सनातन धर्म है जिसका उद्‌गम चाहे वेदों से ढूंढा जाता है मगर दक्षिण के आलवार संत, प्रारंभिक वैष्णवाचार्य रामानुजाचार्य,

---

1 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद- रविदास दर्शन, पृ० 124
2 डॉ० बी० पी० शर्मा - संत गुरु रविदास, पृ०88

महाराष्ट्र के वारकारी सम्प्रदाय के संत ज्ञानदेव, नामदेव, एकनाथ तथा तुकाराम, बंगाल के जैदेव, चैतन्य महाप्रभु, आसाम के संत शंकरदेव, गुजरात के नरसी भगत, राजस्थान के संत मीराबाई तथा उत्तर भारत के स्वामी रामानंद, संत कबीरदास, संत रविदास तथा कुछ हद तक पंजाब के गुरु साहेबान तक भक्ति काव्य के विशाल चित्रपट पर जो छाप वैष्णव मत की है, वह शैव, शाक्त, योगमत आदि में से और किसी की भी नहीं है।''[1]

''वैष्णव शब्द न केवल सगुणोपासक सम्प्रदायों में बल्कि निर्गुणोपासक समप्रदायों में भी प्रयुक्त होता रहा। कबीर की उक्ति-'वैष्णव की कुटिया भली नहिं साकत बड़ गाऊ', से प्रकट होता है, कि निर्गुणियाँ सन्त भी अपने को वैष्णव ही मानते थे। निर्गुण सन्तों की वैष्णव सम्बन्धी धारणा सगुण भक्तों से बिल्कुल भिन्न थी न उनका सगुण अवतारों में विश्वास था, न वे विष्णु की पूर्व परम्पराओं में ही आस्था रखते थे।''[2] वैष्णव शब्द अहिंसा, भक्ति , नामोपासना एवं अन्य मानवतावादी मूल्यों का वाचक हो गया। गुजराती भाषा के आदि कवि एवं महान संत नरसिंह महता (लोकप्रिय नाम नरसी भगत) वैष्णव भक्ति क्षेत्र के जाज्वल्यमान नक्षत्र में यही मानवतावादी अर्थ उनके प्रसिद्ध गीत में मिलता है-

''वैष्णव जन तो तेने कहिए जे पीड पराई जाणे रे
पर दुखे उपकार करे तोए मन अभिमान न आणे रे
सकल लोक में सुहुने बन्दे, निंदा न करे केनी रे
वाच काछ मन निसचल राखे, धन धन, जननी तेनी रे
समदृष्ट ने तृष्णा त्यागी,परस्त्री जेने माता रे

---

1 डॉ० धर्मपाल सिहंल-गुरु रविदास जीवन एवं दर्शन, पृ० 31

2 डॉ० नगेन्द्र सिंह कमलेश- मध्ययुगीन हिन्दी काव्य में वैष्णव संस्कृति और समाज, पृ०7-8

जिह्वा थाकी असत्य न बोले, परधनु नव झाले हाथ रे

मोह माया व्यापे नहिं जेने, दृढ़ वैराग्य जेना मन मां रे

राम नाम शू ताली रे लागी, सकल तीरथ तेना तन मां रे

बण लोभी ने कपट रहत छै, काम क्रोध निवारया रे

भणै नरसैयों तैनूं दरशन करता, कुल इको तेर तारया रे।''[1]

इस प्रकार वैष्णव शब्द विष्णु शब्द से असम्बद्ध होकर एक सामान्य मानवतावादी अर्थ प्रकट करने लगा, जो दूसरों की पीड़ा को समझता है और परोपकारी कार्यों में निरत रहता है, वही वैष्णव है। श्री श्रीमद्भागवत में स्पष्ट कहा है जिसके मन में अपने-पराए का अन्तर नहीं, जो अपने परिश्रम से एकत्र की सम्पत्ति पर भी अपना पूरा हक नहीं मानता (अपितु समाज की वस्तु समझता है) वह सब भूत प्राणियों से समता का विचार रखता है तथा हर हाल में शांत बना रहता है, वह भागवतों में उत्तम है, परम वैष्णव है-

''न यस्यः स्वः पर इति वित्तेष्वात्मनि वा भिदा।

सर्वभूतसमः शांतः स वै भागवतोत्तमः।''[2]

वैष्णव की कोई जाति नहीं। किसी जाति विशेष के लोग ही इस मत में दीक्षित होते हों, ऐसा नहीं है। वैष्णव मत में वर्णाश्रम व्यवस्थान्तर्गत चार वर्णों में कोई भी वर्ण का व्यक्ति हो सकता है। सभी समान रूप से उपासना के अधिकारी हैं। वैष्णव धर्म सभी वर्णों के प्रति उदार रहा है। उसने सभी की पीड़ा को पहचाना है, सभी के प्रति सहिष्णु होता है। वह संसार के दुःखी जनों से दुःखी होने वाला अर्थात्

---

1 डॉ० धर्मपाल सिहंल-गुरु रविदास जीवन एवं दर्शन में उद्धृत, पृ० 33-34

2 डॉ० धर्मपाल सिहंल-गुरु रविदास जीवन एवं दर्शन में उद्धृत, पृ० 38

पर दुःख कातर होता है। करूणा उसके हृदय का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भाव होता है। वह हिंसावृत्ति को प्रश्रय नहीं देता। वैष्णव तो वह है जो मोह माया में लिप्त नहीं होता। उसकी समाधि सदैव राम-नाम में लगी रहती है। इस प्रकार के उत्तम नर वाले वैष्णव व्यवहार के कारण समस्त तीर्थ उस महापुरूष के मन में ही आकर समा जाते हैं। काम, क्रोध आदि मानसिक विकारों पर उसने सम्पूर्ण नियन्त्रण कर लिया होता है। इस प्रकार के श्रेष्ठ नर के दर्शन मात्र से पूरे कुल का उद्धार हो जाता है, वह जन्म मरण के बंधनों से मुक्त हो जाता है।

3.52 मध्ययुगीन वैष्णव संस्कृति की विशेषता

मध्ययुग की संस्कृतियाँ वैष्णव संस्कृति एवं मुगल संस्कृति के नाम से जानी जाती हैं, जिसमें वैष्णव संस्कृति का विकास अपने देश के वातावरण में हुआ तथा मुगल संस्कृति का विकास विदेशी वातावरण में। ये दोनों संस्कृतियाँ समानान्तर चलीं। वैष्णव संस्कृति ने अपने विकास में समन्वयात्मक भूमिका ग्रहण की। किन्तु अपनी मौलिकता को नहीं खोया। मध्ययुग में वैष्णव भावना ने सम्पूर्ण लोक मानस की चेतना को आच्छादित कर लिया और समग्र हिन्दी और अहिन्दी भाषा क्षेत्र उसका प्रभाव क्षेत्र सिद्ध हुआ। इतने विशाल क्षेत्र को बाँधने वाली इस उदात्त वैष्णव संस्कृति की अपनी विशेषता रही है।

3.521 प्राचीनता

वैष्णव संस्कृति अत्यन्त प्राचीन संस्कृति है। यह एक दिन की सृष्टि नहीं। अपने गर्भ में न जाने इसने कितने अतीत के इतिहास से वर्तमान तक के रत्न अन्तरस्थ कर रखे हैं। मध्ययुगीन वैष्णव संस्कृति एक निरन्तर प्रवहमान संस्कृति है, जिसका प्रादुर्भाव वैदिक काल में युगीन हिंसात्मक यज्ञों एवं कर्मकाण्डों की वैदिकता

के विरूद्ध हुआ था। ''पौराणिक काल में इस संस्कृति के स्पष्ट बीज गुप्त नरेशों के सद्प्रयास से दिखाई पड़ने लगते हैं।आगे चलकर यही आलवार भक्तों के माध्यम से दक्षिण भारत में अधिष्ठित होती है, जिसे दक्षिण के आचार्यो का समर्थ पोषण मिलता है। इन्हीं आचार्यो में रामानुज, राघवानन्द और उनके शिष्य रामानंद जी से लालित पालित होकर उत्तर भारत की हिन्दू चेतना की निधि बन जाती है।''[1]

3.522 संघर्षमूलकता

मध्ययुगीन वैष्णव संस्कृति अपने समर्पण के कारण नहीं संघर्षात्मक स्वरूप के कारण अस्तित्त्व की रक्षा कर सकी। यदि वैष्णव संस्कृति ने संघर्ष का रास्ता त्याग कर समर्पण का रास्ता अपनाया होता तो इसका नाम शेष न रह जाता। यह इस्लाम धर्म और संस्कृति की विनाशी शक्ति के सामने नष्ट हो गयी होती। इसीलिये मध्ययुग में इसने सन्तों और भक्तों की वाणी बन कर अपने अस्तित्त्व की रक्षा के लिए कदम उठाया और सबको अपनी ओर आकृष्ट किया।

वैष्णव संस्कृति ने अपने संघर्ष में प्रहारात्मक स्वरूप ग्रहण नहीं किया। उसका संघर्ष दूसरों को नष्ट करने का नहीं स्वरक्षात्मक प्रतीत होता है। यह सच है कि इस युग में जहाँ हिन्दू बलात् मुसलमान बनाये गये, वहीं यह कम आश्चर्य नहीं है कि अधिकांश हिन्दू जनता पैतृक धर्म के प्रति आस्थावान् बनी रही। इसी युग में जयदेव, नामदेव, रामानंद, कबीर, रविदास, वल्लभाचार्य, सूरदास, तुलसीदास और मीरा जैसे वैष्णव धर्मी सन्तों, भक्तों एवं महाकवियों के आविर्भाव हुए। इसमें निर्गुण वैष्णव-काव्य परम्परा समन्वयात्मक भूमिका स्पर्श करती है और सगुण वैष्णव परम्परा संघर्षात्मक एवं प्रतिरोधात्मक भूमिका ग्रहण कर चलती है। वैष्णव संस्कृति के निर्माण

---

1 डॉ० नगेन्द्र सिंह कमलेश- मध्ययुगीन हिन्दी काव्य में वैष्णव संस्कृति और समाज, पृ० 75

में दोनों धाराओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन दोनों को विरोधी आध्यात्मिक भूमिका में देखना त्रुटि है।

3.523 समन्वयात्मकता

वैष्णव संस्कृति समन्वयमूलक संस्कृति रही है। वैष्णव संस्कृति ने अपनी ऋग्वैदिक और पौराणिक परम्परा का अनुगमन करते हुए त्याग और ग्रहण की नीति का मार्ग अपनाया। ब्राह्मणों में से एक वर्ग नये समन्वय की ओर बढ़ा उसने परम्परा की खान से पौराणिक कथाओं तथा वर्ण-व्यवस्था के विरोध में अद्वैतवादी वेदान्त दर्शन को निकाला। रामानन्द इस वर्ग के नेता बने। रामानन्द ने जात-पात के बंधनों को तोड़कर, सबका एक समान राम-नाम का मंत्र देकर नये युग का निर्माण किया। वैष्णव संस्कृति के प्रसारात्मक और समन्वयात्मक प्रयास समाज के हीन वर्णो से सम्बद्ध थे। जिन्होंने हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रबल प्रयत्न किया। इस कार्य में कबीर की चुनौतियाँ, रविदास की वाणी, नानक और दादू के लोक नायकत्व के प्रयास नि: संदेह स्पृहणीय हैं।

3.524 सामाजिक प्रगतिशीलता

मध्ययुग का वैष्णव धर्म किसी बाह्य आवश्यकता की पूर्ति न होकर वह एकदम आंतरिक है, क्योंकि वह किसी भौतिकता की सिद्धि नहीं है। वैष्णव संस्कृति का उच्चतम सामाजिक आदर्श राम-राज्य की कल्पना में मूर्तिमान है और उच्चतम वैयक्तिक आदर्श भक्त की भूमिका में। वैष्णव भक्तों ने नैतिकता पर बल देते हुए उसे समाजोन्मुख बनाने का प्रयत्न किया। उन्होंने समझ लिया था कि नैतिकता के अभाव में व्यक्ति या समाज के चारित्रिक विकास की कामना असंभव है। इसीलिये वैष्णव संस्कृति में पवित्रता, आचरण-शुद्धता, सद्भाव, स्नेह, सौजन्यता,

उदारता,कृपालुता, दया आदि को युक्त किया गया। सहेज संवेदना उसका स्वभाव बन गया और प्राणि मात्र के प्रति सम्वेदित होती हुई चल पड़ी।

3.525 आध्यात्मिकता

मध्ययुगीन वैष्णव संस्कृति की सर्वाधिक बड़ी विशेषता है, उसकी आध्यात्मिकता। आध्यात्मिक आकांक्षा ने भारतीय जीवन को सर्वाधिक प्रभावित किया। इसे अपना लक्ष्य मानकर अपनी सम्पूर्ण जीवन धारा को ही उस ओर प्रवाहित किया। डॉ० मदन गोपाल गुप्त ने कहा है कि-''वस्तुतः इस रहस्य को ज्ञात करके ही भारतीय चिन्ता-धारा ने यह अनुभव किया था कि मानव-जीवन तब तक अपूर्ण, निस्सार तथा अंधकारपूर्ण है जब तक कि वह आध्यात्मिकता की ज्योति से ज्योतित होने से वंचित है।''[1] भौतिक सुख-साधन तथा ऐश्वर्य भी आत्म-ज्ञान के समक्ष तुच्छ हैं। भारतीय जीवन ने आध्यात्मिकता को जीवन की चरम सिद्धि के रूप में ग्रहण किया था। इसीलिए उन्होंने सन्तों और फकीरों को अपने मस्तक पर धारण किया, जबकि बड़े-बड़े राजाओं, सम्राटों और शक्तिपूतों को अस्वीकार कर दिया।

मध्ययुग की आध्यात्मिकता मूलक संस्कृति का सम्पूर्ण उद्घाटन धार्मिक और आध्यात्मिक साहित्य के माध्यम से हुआ है। साहित्य सृजन के माध्यम इस कठिन कार्य का निर्वाह सन्तों एवं भक्तों ने किया। अध्यात्म-साधना के द्वारा ही भारतीय संस्कृति ने अनन्त शक्ति की सत्ता के साक्षात्कार से अनेकता में एकता तथा बाह्य भिन्नता में अंतवर्ती अभिन्नता का दर्शन किया और साथ ही इस बात को स्वीकारा कि एक ही सत्य को मनीषियों ने विविध प्रकार से व्यक्त किया है। भारतीय संस्कृति के जीवनादर्शों में लोक कल्याण के लिए व्यक्तिगत स्वार्थ का त्याग, सत्य, अहिंसा,

---

1 डॉ० मदनगोपाल गुप्त- मध्यकालीन हिन्दी काव्य में भारतीय संस्कृति, पृ०55

तप, त्याग तथा संयम आदि आध्यात्मिक मूल्यों का महत्त्व, ईश्वरीय न्याय पर विश्वास एवं परलोक निर्माण की चिन्ता इत्यादि बातों का समावेश हो गया है।

इस युग में वैष्णवता उदार दृष्टिकोण अपना कर चली। उसे लोक व्यवहार में 'जाति-पाँति पूछै नहिं कोई, कहना ही पड़ा। सामाजिक प्रगतिशीलता के साथ-साथ आध्यात्मिक क्षेत्र में भी उसने उदारता का परिचय दिया। इस युग में जो कार्य राजनीति या राजसत्ता के माध्यम से होना चाहिए था, वह कार्य सन्तों और भक्तों के द्वारा हुआ। इस प्रकार मध्ययुग में वैष्णव संस्कृति ने परम्परागत आत्म-दर्शन एवं आत्म-साक्षात्कार के माध्यम से अपनी आध्यात्मिक संपूर्ति की।

3.526 वर्णव्यवस्था

वर्णव्यवस्था सामाजिक जीवन की व्यवस्था का परिणाम है। मध्ययुग में वर्णाश्रम धर्म जीवन का धर्म नहीं रह गया था। वर्ण व्यवस्था को लेकर दो प्रकार के दृष्टिकोण बन गये थे। एक तरफ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जातियों की व्यवस्था को बना रखने की चेष्टा की जा रही थी, तो दूसरी ओर निर्गुणियाँ सन्तों द्वारा वर्ण श्रेष्ठता की धारणा पर चोट करके पुरानी वर्ण व्यवस्था को अस्वीकार करने का प्रयत्न चल रहा था। कबीर जैसे फक्कड़ संत तथा उन्हीं की परम्परा के अन्य संतों ने वर्णव्यवस्था को जड़ से खत्म करने का प्रयास किया। जिसमें वे सफल भी हुए।

3.527 राष्ट्रीयता

किसी भी देश की राष्ट्रीय संस्कृति बनने की अधिकारिणी वही संस्कृति हो सकती है, जिसमें राष्ट्र की आत्मा मुखरित हो सके। ''जो संस्कृति राष्ट्र के जीवन को युगीन आवश्यकता चेतना से जोड़ सके तथा प्रतिरोधी बन कर अन्य आक्रामक

संस्कृतियों का सामना करते हुए जनजीवन से जुड़कर उसका आश्वासन बनने की शक्ति रखती हो वह राष्ट्रीय संस्कृति कहलाने की सच्चे अर्थ में अधिकारिणी है।''[1] ऐसी संस्कृति अपने कोमल और कठोर, सनातन और नूतन, चिन्तनशीलता और भावुकता, क्षमा और दण्ड, दृढ़ता और सरलता सभी के साथ चलती है।

मध्ययुग की राष्ट्रीयता का स्वरूप देशी सामन्तों या नरेशों के माध्यम से अभिव्यक्त न हो सका, क्योंकि उनमें वैयक्तिक स्वार्थ थे। वे न तो इन स्वार्थों से ऊपर उठ सके और न ही सामान्य जन की आशा और आकांक्षा को फलवती रक्षा का कवच पहना सके। वैष्णव संस्कृति की राष्ट्रीय धारा का नवोन्मेष हिन्दू नरेशों और सामन्तों के माध्यम से निष्कलंक स्वरूप में न आकर सन्तों और भक्तों की वाणी के रूप में आया। यह युग सांस्कृतिक दृष्टि से जीवन-मूल्यों के विघटन का युग था। सांस्कृतिक मूल्यों के स्थापन-हेतु व्यापक स्तर पर संघर्ष करना पड़ा और यह कार्य विशेष रूप से संतों भक्तों के माध्यम से ही सम्पत्र हुआ।

अत: यह कहा जा सकता है कि मध्ययुगीन वैष्णव संस्कृति भारत के उच्च वर्ग के स्वल्प लोगों के उद्योग का परिणाम न होकर मध्यवर्गीय और निम्नवर्गीय लोगों की चेतनशीलता का प्रतिफल है। गध्ययुगीन संस्कृति की विशेषता है ज्ञान, शक्ति और प्रतिभा का संग्रह। यह सभी को निकट लाती है। यह संस्कृति झूठ से सत्य की ओर, अंधकार से प्रकाश की ओर, मृत्यु से अमरता की ओर, भेद से अभेद की ओर, कीचड़ से कमल की ओर, विरोध से विवेक की ओर बढ़ना और अव्यवस्था से व्यवस्था की ओर कदम बढ़ाना इसक चरम उद्देश्य है।

---

1 डॉ० नगेन्द्र सिंह कमलेश- मध्ययुगीन हिन्दी काव्य में वैष्णव संस्कृति और समाज, पृ०91

3.53 वैष्णव भक्ति का प्रभाव

पूर्व मध्ययुग में संतों-भक्तों के बीच ईश्वर के स्वरूपगत भेदों और अपने उपास्यों को लेकर विभित्र सम्प्रदायों के बीच मतभेद था। परन्तु भक्ति ने सम्पूर्ण समाज की चेतना को जगाया और नाथों-सिद्धों, शैवों-वैष्णवों, ज्ञानमार्गियों-प्रेममार्गियों, जैनों-बौद्धों, अद्वैत-द्वैत सभी के बीच की दूरियों को पाटने का प्रयत्न किया। भक्ति की निर्मल धारा में ज्ञान, जोग और वैराग्य सभी लय हो उठे। स्वामी रामानन्द के निर्मल साहित्य में यह मिलन बिन्दु स्पष्ट है जो निर्गुण-सगुण को एकात्मता प्रदान करता है। संतों ने भी जाति-पाति, ऊंच-नीच के भेद को मिटाकर भक्ति का सरल मार्ग प्रदान कर सामान्य जन को अपनी ओर आकृष्ट किया।

भक्ति की सगुण या निर्गुण जो भी धाराएँ प्रश्रवित हुई, उनमें समन्वय पैदा करने का प्रयत्न हुआ। एक दूसरे की निन्दा और त्याग के लिए चलने वाले संघर्ष जो प्रारंभ में दिखाई पड़े वह धीरे-धीरे खत्म होने लगे। राम और रहीम की कृष्ण और करीम की एकता के भी प्रयत्न हुए। इसकी पृष्ठभूमि पर नामदेव, रामानन्द, कबीर दिखाई पड़ते हैं। रामानन्द का व्यक्तित्व सर्वाधिक विलक्षण है ऐसा लगता है कि अनेक दिशाओं से चलने वाली उस युग की सारी विरोधी रेखाएँ उनके व्यक्तित्व के महाबिन्दु पर मिलकर एकाकार हो गई हैं। स्वामी रामानन्द ने सगुण-निर्गुण का मतभेद समाप्त कर दिया, और राम नाम के मंत्र द्वारा समाज को नवीन जीवन की उद्दीप्ति देकर महनीय बनाया।

यह वैष्णव भक्ति का प्रभाव था कि भक्ति के क्षेत्र में किसी भी व्यक्ति को अनधिकृत नहीं किया गया। समाज का कोई भी व्यक्ति समान रूप से किसी भी जाति, वर्ग और सम्प्रदाय का हो भक्ति का अधिकार रखता है। रामानन्द के

आप्त-कथन-'जाति-पाँति बूझे नहिं कोई। हरि को भजै सौ हरि कौ होई' के आधार पर सभी को समान अवसर प्रदान किया। वे जानते थे भक्ति के लिए चमार और ब्राह्मण का कोई अर्थ नही। वे प्रकाशपुंज बनकर अवतरित हुए और अपने सदुपदेशों द्वारा एक नयी सामाजिक क्रान्ति का सूत्रपात किया। मध्ययुग की सम्पूर्ण अनुर्वर जातीय मनोवृत्तियों को तोड़ने का कार्य भक्ति ने ही किया। भक्ति के मार्ग में ईश्वर के लिए सेवकत्व का भाव प्रधान हो उठा।

हिन्दुत्व की पराजय के साथ हिन्दू समाज में पराजित जाति की मनोवृत्ति व्यक्ति कुंठा और निराशा बड़ी तेजी से घर कर रही थी। किन्तु भक्ति ने इन कुंठाओं से समाज को बचाया। लोकमंगल से लोकरंजन तक इस भक्ति-साधना का प्रभाव परिलक्षित होता है। सामाजिक जीवन में व्याप्त अनाचार का विरोध कर सहज, सरल, स्वच्छ, निर्वैर, आचार युक्त मार्ग का अनुसंधान किया।

वैष्णव भक्ति के विकास व लोकप्रियता का कारण लोकभाषाओं को ही है। इसके पूर्व साहित्य की भाषा संस्कृत थी, जिसके प्रति आदर और सम्मान था, किन्तु वैष्णव आन्दोलन के साथ जनपदीय लोकभाषाएँ साहित्य की भाषा का स्थान लेने लगीं। लोकभाषा में अनियंत्रित शक्ति होती है। उसके बोलने वाले बड़ी सहृदयता से, आत्मीयता से, जुड़ा करते हैं। कबीर, नामदेव, गुरुनानक, चैतन्य सभी का धार्मिक दृष्टिकोण वहाँ की लोकभाषा की दिग्विजय कही जा सकती है। इस लोक भाषा के माध्यम से ही वैष्णव धर्म के प्रचार प्रसार में शक्ति और साफल्य मिला उतना ही वैष्णव धर्म और संस्कृति के प्रचार-अभियान लोकभाषा की लोकप्रियता बढ़ी।

वैष्णव भक्ति और धर्मान्दोलन ने राजनीतिक क्षेत्र में भी सक्रियता को जन्म दिया। यह भक्ति का ही प्रभाव था कि मध्ययुग में कितने नृपति भक्त हो गये।

भक्ति ने भक्तों की आत्मा को श्रद्धा, आस्था और प्रेम से सँवारते हुए समाज को भी जीवनक्षम बनाया। इस युग में धर्म को बचाने तथा धर्म के विकास-हेतु व्यापक प्रचार-प्रसार किये गये। इस युग का धर्म संतों भक्तों के हाथ में पड़कर सँवर उठा। भक्ति ने धर्म को समाजोन्मुखा का रूप दिया और समाज ने जीवन को धर्मोन्मुखता का। दोनों एक-दूसरे के पूरक सिद्ध हुए।

अत: यह कहा जा सकता है कि इस युग में भक्ति की धारा के परिणाम-स्वरूप समाज से अंधकार का पर्दा उठाने में वैष्णव संत और भक्तों ने काफी योगदान दिया। इनकी चिन्तना ने ही भारतीय कर्मवाद, ज्ञानवाद और भक्तिवाद को एक साथ प्रवाहित कर त्रिवेणी का स्वरूप प्रदान किया। भक्ति की प्रबल धारा ने मानव को वह शक्ति प्रदान की जिसके कारण असंख्य मोती उभर कर सामने आये।

3.54 गुरु रविदास पर वैष्णव मत का प्रभाव

''भक्ति-काल के समस्त कवि वैष्णव चिन्तन से प्रभावित थे। इसीलिए अलग धारा अलग दर्शनों और अलग मान्यताओं के होते हुए भी इन कवियों में दो मूल समानताएँ देखी जा सकती हैं। पहली, सभी में प्रेम किसी न किसी रूप में प्रधान है, चाहे वह रहस्यवाद है, विनय है या माधुर्य भाव की भक्ति है। दूसरी, सभी कवि कम या अधिक मात्रा में तत्कालीन जीवन के वास्तविक संघर्षों को व्यक्त कर रहे थे; चाहे यह संघर्ष ज्ञान और भक्ति का है और चाहे यह अलग-अलग धर्मों और विश्वासों का है।''[1]

रविदास वैष्णव प्रकृति के निर्गुणिया संत थे। स्वामी रामानन्द के श्री सम्प्रदाय में दीक्षित होने के कारण ही नहीं अपितु मन, वाणी एवं कर्म से भी एक महान् ''वैष्णव जन'' थे। ''स्वामी रामानन्द वैष्णव भक्त थे और रामानुज के पश्चात्

---

1 सं० डॉ० धर्मपाल सिंहल- गुरु रविदास: जीवन और रचना, पृ० 128-129

मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति सम्प्रदाय के सर्वोपरि प्रभावशाली नेता थे। इनके उदार, सरल एवं प्रगतिशील व्यक्तित्व ने समस्त उत्तरी भारत में वैष्णव भक्ति को जन आन्दोलन का रूप दिया था। समस्त भारत का भ्रमण कर इन्होंने तत्कालीन भारत की सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों को समझा था। समय की आवश्यकता अनुसार जाति-पाँति का भेद मिटाकर सर्वसाधारण जनों में इनके द्वारा वैष्णव भक्ति का प्रचार-प्रसार हुआ।''[1] इनकी इतनी लोकप्रियता का रहस्य इनका अपना व्यक्तित्व ही था। ''इन्हीं के नेतृत्व में वैष्णव भक्ति के क्षेत्र में साम्प्रदायिक प्रचारकों के अतिरिक्त जातिगत ऊंच-नीच भावनाओं को छोड़ सन्तों का एक ऐसा दल समस्त भारत में खड़ा हुआ था जिन्होंने हृदय की शुद्धि, सदाचार एवं सर्वव्यापक राम की भाव भक्ति के आधार पर, जाति-पाति के भेद से ऊपर उठकर जन भाषा में रूढ़िगत बंधनों को तोड़, भावमयी विह्वल राम भक्ति का प्रचार किया था। इस भक्ति आन्दोलन के मूल में स्वामी रामानन्द का व्यक्तित्व एवं उनके द्वारा प्रचारित ''प्रपत्ति'' की भावना सर्वोपरि है। इसी प्रपत्ति की मूल भावना के कारण वैष्णव सम्प्रदाय में जिसे अब हम ''सन्तमत'' भी कहने लगे हैं, रागात्मक पक्ष को विशेष बल मिलता गया और शास्त्रीय पक्ष का ह्रास होता गया।''[2] परशुराम चतुर्वेदी स्वामी रामानन्द के बारे में अपने विचार प्रकट हुए कहते हैं कि ''ये अपने समय के प्रभावशाली पथ-प्रदर्शक के रूप में दीख पड़ते हैं और उस युग के प्रायः विशिष्ट सुधारक को इनका किसी न किसी प्रकार से आभारी होना आज तक स्वीकार किया जाता है।''[3]

---

1 डॉ० बी० पी० शर्मा - संत गुरु रविदास-वाणी, पृ०44

2 डॉ० बी० पी० शर्मा - संत गुरु रविदास-वाणी, पृ०44

3 परशुराम चतुर्वेदी- उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, पृ०222

स्वामी रामानन्द ने अपने भक्तिवाद में अनावश्यक एवं क्लिष्ट तत्त्ववाद को विशेष महत्त्व प्रदान नहीं किया। आप वैष्णवभक्ति के पुरोधा तथा नवीन सांस्कृतिक चेतना के युगान्तकारी प्रवेशक थे। युगीन आवश्यकता की सच्ची प्रतीति कर हिन्दू-मुसलमान, ब्राह्मण और शूद्र, पुण्यात्मा और पापी सभी के लिए भक्ति का द्वार खोल दिया। स्वामी रामानन्द की व्यापक भावभूमि को हिन्दी के मध्ययुगीन वैष्णव संत एवं भक्त कवियों ने बिना हिचक ग्रहीत किया और अपने उदार दृष्टिकोण का आधार लेकर उक्त युग को सांस्कृतिक चेतना से सम्पन्न बनाया।

वैष्णव भक्ति सम्प्रदाय के आद्याचार्य-रामानुज माने जाते हैं। इनकी सभी रचनाएँ भागवत् से प्रभावित हैं। इन्होंने भक्ति-साधना की शास्त्रीय पक्ष से व्याख्या की है। ''रामानुजाचार्य ने सर्वप्रथम शंकराचार्य के मायावाद का खण्डन किया है। ब्रह्म तो सत्य है ही पर 'जगत् मिथ्या' नहीं है। माया-जगत् के बिना ईश्वर के ईश्वरत्व को कौन स्वीकार करेगा। रामानुज के मतानुसार जीव, जगत, ईश्वर तीनों का अस्तित्त्व सतत बना रहता है।''[1] रामानुज की शिष्य परम्परा में स्वामी रामानन्द ने समय की बदलती परिस्थितियों के अनुसार अपने सम्प्रदाय में थोड़ा बहुत परिवर्तन अवश्य किया। इन्होंने रामानुज के ''लक्ष्मी नारायण के स्थान पर'' सीताराम को अपना आराध्यदेव मानकर ''श्री सम्प्रदाय'' की स्थापना की। आपने भक्ति को सरल बनाया। भक्ति का द्वार हिन्दू-मुसलमान, ब्राह्मण-शूद्र, स्त्री-पुरूष सभी के लिए खोल दिया गया। ''रामानन्द तो ''जात-पात पूछे नहीं कोये, हरि को भजै सो हरि का होय'' में विश्वास रखते थे तथा स्वामी रामानंद जी प्रभु-प्राप्ति के लिए वनों-पर्वतों में जाने की भर्त्सना करते हुए ''घर लागो रंगु'' के प्रचारक थे।''[2]

---

1 डॉ० बी० पी० शर्मा - संत गुरु रविदास-वाणी, पृ० 47

2 डॉ० धर्मपाल सिंहल- गुरु रविदास जीवन एवं दर्शन, पृ० 36

संत गुरु रविदास जी स्वामी रामानन्द के प्रमुख शिष्यों में थे जिन्हें ''परम वैष्णव संत'' स्वीकार किया जाता है। परन्तु उनका ब्रह्म निर्गुण निराकार है। उनके व्यक्तित्व पर नाथ पंथ का कुछ प्रभाव पड़ा, मगर बौद्ध मत तथा जैन मत का प्रभाव नाममात्र पड़ा। वैष्णव मत के भक्ति-तत्त्व जिसमें प्रेम का विशेष महत्त्व है को रविदास वाणी में देखा जा सकता है। रविदास जी ने अनेक स्थलों पर भक्ति-तत्त्व की प्रशंसा की है। वैष्णव मत के आचार्य रामानुज ने वर्ण-व्यवस्था की शृंखलाओं को ढीला कर दिया, स्वामी रामानन्द ने वर्ण-व्यवस्था को कोई महत्त्व नहीं दिया। रविदास जी ने वर्ण-व्यवस्था को अस्वीकार किया और विभिन्न वर्णों के लोगों में समता और भ्रातृभाव का संचार किया। आप पर वैष्णव मत का प्रभाव स्पष्ट झलकता है। ''मानव-जीवन की सार्थकता में उनका प्रगाढ़ विश्वास था। सत्य, संतोष, सदाचार तथा स्वावलम्बी जीवन मूल्यों के लिए वह निरन्तर संघर्षशील रहे। निष्क्रिय सन्यास के विरूद्ध उन्होंने अनवरत श्रम-साधना और सेवा का समर्थन किया। ईश्वर-प्राप्ति का लक्ष्य पहली बार पुरूषार्थ सिद्ध जीवन में सक्रिय धरातल पर अवतरित कराने का श्रेय सन्त कवियों में रविदास को मिलता है।''[1]

संत गुरु रविदास जी पर वैष्णव धर्म की विचारधारा का प्रभाव पूर्णतया लक्षित होता है। ''उन्होंने वर्णाश्रम व्यवस्था, जाति-पाति, ऊंच-नीच, अमीर-गरीब, छोटे-बड़े, स्त्री-पुरूष आदि के विभेदों के स्थान पर एक परब्रह्म की उपासना एवं भक्ति करने का उपदेश दिया। उनकी भक्ति में भूखे को अन्न देने, काम, क्रोध, लोभ, मोह एवं पर निंदा आदि का परित्याग करके सेवा, प्रभु पद सेवा, गुरु सेवा एवं गुरुमुख सेवा का, नाम-स्मरण का, अविद्या को छोड़ कर ज्ञान प्राप्त करने का एवं दीन दुखियों से प्रेम करने का उपदेश दिया गया है। संत गुरु रविदास ने वैष्णव मत के सबसे विख्यात सिद्धान्त '' प्रपत्ति'' को अपनी भक्ति पद्धति का दृढ़ एवं ठोस

---

1 सं० आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद- युग प्रवर्त्तक संत गुरु रविदास, पृ०137

आधार माना है। वे दीन तथा दुनिया के सभी सुख सुविधाओं एवं ऐश्वर्य का त्याग करके मात्र प्रभु की शरणागति का मार्ग ही श्रेयस्कर बताते हैं।''[1] ''प्रपत्ति'' सिद्धांत में सब कुछ त्याग कर प्रभु की शरण में जाने का विचार ही केवल काम नहीं करता अपितु इसमें लघुता, सीमा एवं निर्बलता को पहचानकर प्रभु के न्याय से बढ़कर उसकी ''दया'' पर भरोसा किया जाता है। मनुष्य के लाख यत्न करने पर भी, विधि विधान आदि भी करे परन्तु प्रभु के साथ तभी मिलन होता है जब प्राणि उस परब्रह्म की कृपा या दया का पात्र बन जाता है।

रविदास जी का हरि भक्ति में पूर्ण विश्वास था। रविदास जी हरि-भक्ति का वर्णन करते हुए कहते हैं- ''मानव जीवन को पवित्र-निर्मल बना देने वाली भागवत् में वर्णित हरि-भक्ति धन्य है। ऐसी हरि भक्ति से भक्तजन का तीनों लोकों में यश फैलता है। सत् संगति के द्वारा शुद्ध-सात्विक मन से प्रभु का पवित्र- निर्मल यशोगान, कीर्तन आवश्यक है। इस पवित्र हरि-भक्ति का सर्वप्रथम वर्णन वेदों में हुआ, वेदों से पुराणों में और पश्चात् श्रीमद्भागवत में वर्णन हुआ। यहीं से हरि-भक्ति का प्रचार-प्रसार बढ़ा। ईश्वर-भक्ति से प्रभु के प्रति प्रेम उत्पन्न होता है तो प्रेम-लक्षणा दशधा-भक्ति की उपलब्धि होती है। गंगा स्नान से पापों का नाश होता है। चन्द्रमा की शीतल किरणें तो ताप-गर्मी को शान्त करती हैं और कल्पवृक्ष दरिद्रता का नाश भरता है; परन्तु हरि-भक्ति पाप-ताप दोनों को नष्ट कर एवं क्षुद्र-बुद्धि को निर्मल बनाकर अमृत-रस पूर्ण ब्रह्म को पहचानने की दिव्य-दृष्टि प्रदान करती है। विष्णु भक्त वैष्णव-जन, मन, वचन, कर्म से हरि-भक्ति द्वारा समस्त सांसारिक लोगों के मन पर विजय प्राप्त कर लेते हैं। वैष्णवजनों ने ही इस पृथ्वी को धारण किया हुआ है। मैं इन वैष्णवजनों का दास हूं''[2]

---

1 डॉ० धर्मपाल सिंहल- गुरु रविदास जीवन एवं दर्शन, पृ० 35

2 डॉ० बी० पी० शर्मा शास्त्री- संत रविदास की भक्ति साधना, पृ०92-93

''धन हरि भक्ति त्रयलोक जस पावनी,

करौं सतसंग इहिं विमल जस गावनी।

वेद तैं पुरान, पुरान तैं भागवत, भागवत तैं भक्ति प्रगट कीनीं।

भक्ति तैं प्रेम, प्रेम तैं लच्छना, बिना सतसंग नहिं जाइ चीनीं।।

गंगा पाप हरैं, ससि ताप, अरु कलपतरु दीनता दूरि खोवैं।

पाप अरु ताप सब तुच्छ मति दूरि करि, अमी की दृष्टि जब संत जोवैं।।

विष्णु भक्त जितैं चित पर धरि तिते, मनबच करम करि विस्वासा।

संत धरनी धरी, कीर्ति जग बिसतरी, प्रनतजन चरन रैदास दासा।।''[1]

रविदास जी ने अपने एक पद में ''वैष्णव'' संत के गुण और भी गुणता से स्वीकार किए हैं ''पर दुख से कातर होने वाला, दीन दुखियों की चिन्ता करने वाला, अंहिसा, समानता एवं कोमल चित्त-वृत्तियों वाला प्राणी ही, उनके अनुसार, ''बैसनो'' है। इस परम पुनीत आदर्श को धारण करने वाला संत जिस कुल में पैदा होता है, वह कुल धन्य है, जिस गांव में उत्पन्न होता है वह गांव धन्य है। एवं इस प्रकार के बैसनो भक्त के समक्ष न कोई महान पंडित ठहर सकता है न छत्रपति राजा और न कोई शूरवीर ही। संसार में ऐसे महापुरूषों का जन्म ही सफल समझा जाता है, ऐसा वैष्णव संत स्वयं तो भव-सागर से पार होता ही है, अपने साथ कई कुलों का भी उद्धार कर जाता है।''[2]

''जिहिं कुल साधु बैसनों होइ।

बरन अबरन रंकु नहीं ईसुरू, विमल बासु जानीए जगि सोइ।। टेक ।।

ब्रहमन बैस सूद अरू ख्यत्री, डोम चंडार मलेछ मन सोइ।

---

1 सं०योगेश गुप्त- सन्त रैदास, पृ० 97

2 डॉ० धर्मपाल सिंहल- गुरु रविदास जीवन एवं दर्शन, पृ० 38-39

होइ पुनीत भगवंत भजन ते, आपु तारि तारे कुल दोइ।। 1 ।।

धंनि सु गाऊं धंनि सो ठाऊं, धंनि पुनीत कुटंब सभ लोइ।

जिनि पीआ सार रसु तजे आन रस, होइ रस मगन डारे बिषु खोइ।। 2 ।।

पंडित सूर छत्रपति राजा, भगत बराबरि अउरू न कोइ।

जैसे पुरैन पात रहै जल समीप, भनि 'रविदास' जनमे जगि ओइ।। 3 ।।''[1]

डॉ० धर्मपाल सिंहल अपनी पुस्तक 'गुरु रविदास जीवन एवं दर्शन' में संत जगबीर सिंह जी के विचारों को व्यक्त करते हुए लिखते हैं कि ''संत रविदास जी के समय में वैष्णव भक्ति का प्रचार खूब हुआ तथा उसी के प्रवाह में वे भी बह चले थे। इस प्रकार संत रविदास जी परम भागवत एवं वैष्णव भक्त कहे जाते हैं।''[2]

''वैष्णव भक्ति पद्धति में जाति प्रथा के लिए कोई स्थान नहीं है, मानव समाज को यह एक बहुत बड़ी देन है। श्री गुरु रविदास ''पीर पराई जाने रे'' वाले पूर्ण वैष्णव जन हैं। गुरु रविदास जी को राम के एकच्छत्र राज्य, न्याय एवं कृपा पर पूर्ण आस्था है जिस के कारण वे किसी अन्य राजा महाराजा अथवा देवी देवता की परवाह नहीं करते-''रविदास जपे राम नामा, मोहि जम सिउ नाही कामा'' तथा ''जो जन राम नाम नहिं उचरै, उदर भरइ जयूं गरदभ लेटे-जन रविदास राम बल गरजति, मनहुं चयारि पदारथ भेटें।'' राम की पूजा अर्चना करने एवं भक्ति में सर्वोच्च गति प्राप्त करने के लिए आप अपूज्य से परम पूज्य हो गए-''हम अपूजि पूज भये हरिथै, नाम पदारथ पाइआ रे।''[3] 'जात पात पूछै नहिं कोय, हरि को भजे सो हरि का होय' केवल रामानंद ने ही नहीं अपितु अन्य वैष्णव संतों ने भी जोरदार

---

1 डॉ० बी० पी० शर्मा - संत गुरु रविदास-वाणी, पृ० 121

2 डॉ० धर्मपाल सिंहल- गुरु रविदास जीवन एवं दर्शन, पृ० 36

3 डॉ० धर्मपाल सिंहल- गुरु रविदास जीवन एवं दर्शन, पृ० 37

शब्दों में जात पात की निंदा की है। वैष्णव धर्म ने सब से महान देन साम्यवादी आचार की दी है। यहां अपने-पराए, ऊंचे-नीचे, छोटे-बड़े में कोई अन्तर नहीं रखा जाता। रविदास जी ने उपने एक पद में ''बिसन भगत'' की महिमा कीर्ति करते हुए वैष्णव संत की अमृत दृष्टि में गंगा की पवित्रता, आकाश के चन्द्रमा की शीतलता एवं स्वर्ग के कल्पवृक्ष की सम्पन्नता, तीनों का सम्मिलन बतलाया है।

''गंगा पाप हरे ससि ताप अरु, कलपतरू दीनता दूर खोवै,
पाप अरु ताप सब तुच्छ मति दूरि करि, अमी दृष्टि जब संत जौवे।
बिसन भगत जितै चित पर धरति, ते मन वच करम करि बिसवासा,
संत धरनी धरी कीरत जग बिसतरी, प्रनत जन चरन रविदास दासा।''[1]

अर्थात् ''जैसे गंगा का स्नान करने से सब पाप कट जाते हैं, चन्द्रमा के उदय होने से सारी गरमी विनष्ट होकर शीतलता का स्वराज्य छा जाता है एवं वैसे कल्पवृक्ष की उपलब्धि द्वारा सारी गरीबी या दीनता दूर हो जाती है, इसी प्रकार इन तीनों ही महान् तथा पवित्र गुणों का निवास बैसनों संत की अमीदृष्टि में है जिससे सब प्रकार के दोष और पाप, दुख और संताप तथा सब प्रकार की भ्रष्ट एवं हीन बुद्धि हो जाती है। इस प्रकार के अमृत भण्डार बैसनो भक्त जिन मंगलकारी बातों और भक्ति भाव को चित्त में सदैव धारण किए रहते हैं, उन पर हे प्राणि! मन, बुद्धि तथा कर्म द्वारा पूरा-पूरा भरोसा रख। इन संतों के महान तप, तेज के कारण ही समस्त पृथ्वी टिकी हुई है, इसीलिए ही तो इन का यश चारों ओर फैला हुआ है। संत प्रवर श्री रविदास जी भी इस तरह के वैष्णव जनों के श्री चरण कमलों में प्रणाम करते हैं।''[2]

---

1 डॉ० धर्मपाल सिंहल- गुरु रविदास जीवन एवं दर्शन में उद्धृत, पृ० 39
2 डॉ० धर्मपाल सिंहल- गुरु रविदास जीवन एवं दर्शन में उद्धृत, पृ० 39

अत: यह कहा जा सकता है कि संत गुरु रविदास जी की भक्ति वैष्णव भक्ति की धारणी थी। वैष्णव भक्ति तथा मानववाद, उदारता, समानता, परोपकार, पर दुख कातरता, विनम्रता, सहज व्यवहार, पवित्र एवं निष्ठावान क्रियात्मक जीवन आपकी वाणी के मुख्य एवं मूल स्वर है। आपने अपने गुणों के बल पर ही अपने समकालीन समाज के घोर यथार्थ को समझा एवं अपनी वाणी से असंख्य प्राणियों को जीवन जीने का भेद समझा सके। अपनी प्रबल शक्ति से आपने सामान्य जन को एक ऐसे धरातल पर ला खड़ा किया जिससे नित्य नवीन, प्रगतिशील, बहुजन हिताय समाज की प्राण प्रतिष्ठा की जा सके।

3.6 गुरु रविदास की रहस्यानुभूति

3.61 सूफी तथा संतों के रहस्यवाद का सामान्य परिचय

रहस्यवाद का मूलाधार प्रेम है जिसमें विश्व-प्राणी परोक्ष-सत्ता के लिए अनुभव करता है। साधक के प्रेम की तन्मयता घनीभूत होकर अभिव्यक्त होने का यत्न करती है। आध्यात्मिक दिव्य अनुभूतियों की भावनात्मक अभिव्यक्ति ही रहस्यवाद है। "'रहस्यवाद' हिन्दी साहित्य में संत-कवियों की एक अपूर्व देन है। अपनी रहस्यवादी उक्तियों से संत कवियों ने हिन्दी-काव्य-लोक में एक नई सृष्टि की तथा एक नई परम्परा का सूत्रपात किया है।"[1] रहस्यवाद के मूल में अज्ञात शक्ति की जिज्ञासा काम करती है। संसार चक्र का प्रवर्तन भी किसी अज्ञात शक्ति के द्वारा होता है। उस अज्ञात शक्ति को जानने की इच्छा मनुष्य में सदैव रही है। जो इस क्षेत्र में सिद्ध हुए, उन्होंने अपनी अनुभूति को निरूपण करने का प्रयत्न किया तब अपनी उक्तियों को स्पष्टता देने में असमर्थ पाया। यह परमात्मा का प्रेम और उसकी

---

1 स्वामी रामानन्द शास्त्री- संत रविदास और उनका काव्य, पृ०34

अनुभूति गूंगे को गुड़ की सी है। यही रहस्यवाद का मूल है। रहस्यवाद का जो विकसित रूप हमें संत कवियों की उक्तियों तथा विशेष कर कबीर से प्राप्त होता है वह भारतीय अद्वैतवाद और सूफीमत के समिश्रण पर आधारित है। प्रेम की उसमें प्रधानता होने के साथ आत्मा ब्रह्म में मिलकर एकाकार हो जाती है। ''ब्रह्म अथवा परमात्मा को माता के रूप में देखना, पिता के रूप में देखना, पत्नी, प्रियतमा एवं सखा के रूप में उसकी उपासना करना रहस्यवाद ही है, क्योंकि लौकिक अर्थ में परमात्मा न पिता है, न माता, न पत्नी है न प्रियतमा और न सखा ही।''[1]

सूफी-मत के सम्पर्क में आने से भारतीय सर्वात्मवाद-मूलक रहस्यवाद में ''माधुर्य भाव'' की प्रचुरता आ गई। दार्शनिकों ने ब्रह्म को पुरूष और सृष्टि को प्रकृति (स्त्री) के नाम से सम्बोधित किया है। सूफी उपासना का माधुर्य भाव इसी का एक भावुक रूप है। भारतीय-सर्वात्मवाद-मूलक रहस्यवाद और सूफी मत के समिश्रण में ब्रह्म की उपासना पति के रूप मे की गई है तथा विभिन्न प्रकार के लौकिक दृश्य पत्नी अथवा प्रियतमा के रूप में देखे गए। ''विवाह के पूर्व अनुराग, तत्पश्चात् मिलन अथवा वियोग और अंत में विवाह आदि की श्रेणियों से होती हुई जीवात्मा का ब्रह्म से चिर-मिलन होता है। जीवात्मा का परमात्मा से मिल जाना तथा एकरूपता को प्राप्त कर लेना ही रहस्यवाद के आदर्श की पूर्ति है।''[2]

संतों ने अपनी अनुभूति को व्यक्त करने के लिए अनेक प्रकार अपनाए हैं। ''भाषा और शब्दावलि का अभाव तो उनमें था ही अत: कहीं-कहीं अपनी भावनाओं को व्यक्त करने के लिए उन्हें ''रूपक भाषा'' अर्थात् (Language of

---

1 स्वामी रामानन्द शास्त्री- संत रविदास और उनका काव्य, पृ०35

2 स्वामी रामानन्द शास्त्री- संत रविदास और उनका काव्य, पृ०36

Symbols) का सहारा लेना पड़ा हैं।''[1] ''रहस्यवाद का सम्बन्ध वैयक्तिक अनुभूति और प्रतिष्ठित अभिव्यक्ति-शैली से होता है। भावना और साधना के दो क्षेत्रों में आकर अनुभूति भी द्विधा हो जाती है और दोनों क्षेत्रों में अभिव्यक्त होने वाली अनुभूति रहस्यवाद के दो रूप प्रस्तुत करती है एक भावनात्मक और दूसरा साधनात्मक रहस्यवाद। अद्वैत तत्त्व की अनुभूति जब प्रेम के क्षेत्र में होती है तो उसकी साहित्यिक अभिव्यंजना में भावात्मक रहस्यवाद अपने रूप को संवारा है और जब साहित्यिक अनुभूति विशेष साधना के क्षेत्र में होकर काव्य में अभिव्यक्त होती है तब भी उसकी शैली में विशेषता आ जाती है और उस दशा में साधनात्मक रहस्यवाद प्रस्तुत होता है।''[2] तत्कालीन भक्ति तथा सन्त विचार पर सूफी तथा नाथ सिद्धों का प्रभाव भी सम्मिश्रित हुआ था। ''नाथ-सिद्ध परम्परा से प्रभावित साधनात्मक रहस्यवाद और सूफी प्रभाव से मिश्रित भावनात्मक रहस्यवाद की अभिव्यक्तियां न्यूनाधिक मात्रा में हमको लगभग सभी सन्तों के काव्य में मिलती है।''[3] सभी सन्तों के काव्य में यौगिक रहस्यवाद का उतना उत्तम रूप निखर कर नहीं आया है जितना तुलनात्मक रूप से भावात्मक रहस्यवाद का रूप उभरा है।

3.62 गुरु रविदास की रहस्यानुभूति

रविदास जी की वाणी में साधनात्मक रहस्यवाद की अपेक्षा भावनात्मक रहस्यवाद की प्रधानता है परन्तु कहीं-कहीं साधनात्मक रहस्यवाद के दर्शन भी होते हैं। रविदास जी ने अपने इष्ट की उपासना में परमात्मा-सम्बन्धी अनेक उदात्त अनुभूतियों को अभिव्यक्त किया है। उन अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के समय विभिन्न प्रकार की अवस्थाएं और जिज्ञासाएं अनेक भावनाएँ पैदा करती हैं-परमात्मा

---

1 स्वामी रामानन्द शास्त्री- संत रविदास और उनका काव्य, पृ० 37

2 डॉ० पदम गुरचरन सिंह-संत रविदास विचारक और कवि में उद्धृत, पृ०159

3 डॉ० योगेन्द्र सिंह-सन्त रैदास, पृ० 96

के प्रति जिज्ञासा, उसका महत्त्व और उसकी अवर्णनीयता, परमात्मा दर्शन का प्रयत्न, विभिन्न सम्बन्धों की उद्‌भावना तथा परमात्मा से मिलन अथवा तादात्म्य। लगभग सभी साधनाओं में प्रकारान्तर से यह जागरण, परिष्करण, विघ्न, पूर्ण तादात्मय, लक्ष्य और उस पूर्ण लक्ष्य-प्राप्ति से पूर्व की पृथकता अनुभव करने वाली अवस्थाएं किसी न किसी रूप में कल्पित की गई हैं।

3.621 भावनात्मक रहस्यवाद

रविदास जी ने अपनी साधना तथा अन्तर्मुखी आनन्द विषयक अभिव्यक्ति में अपने को असमर्थ बताया है। सिद्धों जैसी भाषा में उसको गुप्त रखने की बात कही है। रविदास जी का साधक अपने साध्य को जानने की जिज्ञासा प्रकट करता है। जब उन्हें उस अज्ञात सत्ता का कुछ अनुभव होने लगता है। तब वह विस्मय से भरकर उसके महत्व की चर्चा करने लगता है। उनका कथन है कि वाणी से उस परम तत्त्व को प्रकट नहीं किया जा सकता; बोलने से परम तत्त्व नष्ट हो जाता है। वह तो स्वयं ही समझने और अनुभूति का प्रश्न है। रविदास का साधक उसे अनुभूति की मग्नता में प्राप्त करता है।

''तेरो जन काहे कौ बोलै।
बोलि बोलि अपणीं भगति क्यूं खोलै।
बोलि बोलतां बढ़ै बियाधी बोल अबोलै जाई।
बोले बोले अबोल कौ पकरै, बोल बोल कूं खाई ।।
बोले ग्यान न बोलै ध्यान, बोले बेद बड़ाई ।
उर मां धरि धरि जबही बोलै, तबही मूल गंवाई।।,
बोलि बोलि औरहि समझावै, तब लगि समझि नहीं रे भाई।
बोलि बोलि समुझि जब बूझि, तब काल सहित सब खाई।।

बोलै गुरु अरु बोले चेला, बोल बोल्यां बोल की परमिति जाई।
कहै रैदास थकित भयो जब, तबही परम निधि पाई।।''[1]

साधना के मार्ग में परमानन्द और फिर परम तत्त्व की प्राप्ति तथा तद्विषयक अह्लाद को सांकेतिक प्रतीकों और रहस्यात्मक उक्तियों से रविदास जी ने बड़े ही सुन्दर रूप में प्रकट किया है। वह कहते हैं कि मैं अब किस भाषा में तेरे गीत गांऊ? जब तक यह शरीर है, मैं पुकार करता हूँ। जब शरीर नहीं रहेगा तो फिर मैं कैसे पुकारूंगा? जब तक नदी समुद्र में नहीं मिल जाती, तभी तक शोर मचाती है और जब मन राम सागर में मिल जाता है, तो पुकार भी समाप्त हो जाती है। वास्तव में आशा करना ही मिथ्या है। जहां-जहां आदमी आशा करता है, वहां उसे कुछ नहीं मिलता। आशा- निराशा को त्याग देने पर ही परम पद की प्राप्ति होती है और वही सच्चा सुख है। रैदास यह तत्त्व की बात विचार कर कहता है।

''गाइ गाइ अब का कहि गाऊँ,गावन हार कूं निकट बताऊँ।। टेक ।।
जब लगि हैं या तन की आस, तब लगि करै पुकारा
जब मन मिल्यो आस नहिं तन की तब को गावन हारा।। 1 ।।
जब लगि नदी न समुद समावै, तब लगि बढ़ै हंकारा।
जब मन मिल्यो राम-सागर सों, तब यह मिटी पुकारा।। 2 ।।
जब लगि भगति मुक्ति की आसा, परम- तत्त सुनि गावै
जंह जंह आस धरत है यह मन, तंह तंह कछू न पावै।। 3 ।।
छांड़ै आस-निरास परम-पद, तब सुख सत कर होई।
कह रैदास जासूं और कहत है, परम तत् अब सोई।। 4 ।।''[2]

---

1 आचार्य चन्द्रशेखर शास्त्री-संत रविदास, पृ०132

2 डॉ० योगेन्द्र सिंह-सन्त रैदास, पृ० 131

एक स्थल पर रविदास जी ने परम्परागत रूढ़ धार्मिक क्रियाओं के विषय में अपनी अज्ञानता, अन्य तथाकथित धार्मिक व्यक्तियों की उनके प्रति उपेक्षा, उनकी असफलता अथवा निम्न स्तरीय सफलता और अपनी सहज साधना तथा भक्ति के ''विहंगम मार्ग'' की शीघ्र सफलता की बड़ी सुन्दर प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति, अपने चर्मकार के व्यवसाय के साथ दी है।

''चमरटा गाँठि न जनई। लोग गठावें पनहीं।। टेक ।।
आर नहिं जिह तोपउ, नहीं रांबी ठाऊं रोपउँ।। 1 ।।
लोग गांठि गांठि खरा बिगूचा। हउ बिन गाठे जाइ पहूँचा।। 2 ।।
रविदास जपै रामनामा। मोहिजम सिउ नहिं कामा।। 3 ।।''[1]

रविदास जी कहते हैं कि वे जूते गांठना नहीं जानते किन्तु लोग उनसे जूते गंठवाना चाहते हैं। मेरे पास छेद करने की आर भी नहीं है और रांपी भी नहीं। अन्य लोग उनसे अच्छे गांठने की आशा करते रहे और वे बिना ही गांठे पहुंच गये अर्थात् सिद्धि प्राप्त कर ली। वे लिखते हैं कि वे तो केवल राम-नाम जपना ही जानते हैं और इसी नाम के प्रताप से वह यम के फंदे से मुक्त हो गये। आवागमन के चक्कर से मुक्ति मिल गई। अब उन्हें कोई भय नहीं यह अभय राम नाम जपने से ही संभव है। यहां पर जूते गांठना, उससे सम्बन्धित वस्तुओं का प्रयोग, लोक प्रतिष्ठित धर्म का स्वरूप माना गया है। जिसकी रविदास जी उपेक्षा करते रहे हैं।

रविदास जी ने एक अन्य स्थल पर बहुत सुन्दर रूपक दिया है। जिसमें आध्यात्मिक प्रेम उसमें पूर्णसमर्पण तथा अंतर्मग्नता एवं द्वितीय स्तर की साधना की उपेक्षा की है। जो स्पष्टत: सूफी भाव से प्रभावित है-

---

1 डॉ० योगेन्द्र सिंह-सन्त रैदास, पृ० 133

''देहु कलाली येक पिआला, ऐसा अवधू होइ मतवाला।
कहै कलाली पिआला देऊं, पीवनहारे का सिर लऊं।।
एरी कलाली तैं क्या कीआ सिर कै काटै पिआला दीआ।
सिर के साटै महंगा भारी, पीवैगा अपना सिर डारी।।
चंद सूर दोउ सनमुख होइ, पीवै पिआला मरै न कोइ।
सहज सुंनि मैं भाटी स्रवै, पीवै रैदास गुरुमुखि द्रवै।।''[1]

अर्थात् हे कलाली (शराब बेचने वाले), मुझे एक प्याला शराब दे और मुझे (भक्ति रस से) मतवाला कर दे। कलाली कहता है कि मैं प्याला देने को तो तैयार हूं लेकिन इसका दाम है पीने वाले का सिर यानी भक्ति-रस चाहने वाले को अपना अहं खोना होगा। अरे कलाली, यह तूने क्या किया! सिर काटकर प्याला दिया। यह सौदा तो बड़ा मंहगा है। आखिर पीने वाला तो सिर भाग में विद्यमान मुख से ही पिएगा। लेकिन भक्ति-रस का प्याला पीने वाला कहीं मरता है! गुरु ने मुझे ऐसा ज्ञान दिया है कि सहज शून्य मंडल की अमृत वर्षा का प्याला पीने को मिलता है। इससे स्पष्ट होता है कि पूर्णरूपेण सांसारिक व्यक्तित्व की समाप्ति अथवा समर्पण ही इस प्रेम के मार्ग में अपेक्षित है।

3.622 यौगिक अथवा साधनात्मक रहस्यवाद

यौगिक अथवा साधनात्मक रहस्यवाद सन्तों के काव्य में बहुधा दो रूपों में सामने आता है।

(क) योग की बातों की अभिव्यक्ति जहाँ भावना और काव्य के माध्यम से की गई है।

---

1 आचार्य चन्द्रशेखर शास्त्री-संत रविदास, पृ०97

(ख) योग के द्वारा प्राप्त अवस्थाओं का सुख जो अभिव्यक्ति की कठिनाई के कारण रहस्यात्मक अभिव्यक्तियों द्वारा प्रकट हुआ है।

रविदास जी ने यौगिक शब्दावली यथा सहज, शून्य, षट्कर्म, नाद-बिन्द्, शून्यमण्डल, त्रिकुटी, मनपवन, नाड़ियां, उल्टीचाल आदि का प्रयोग स्वतंत्रता पूर्वक तथा भक्ति की अभिव्यक्तियाँ देने तक के लिए किया है।

''पहिले ज्ञान का किया चाँदना, पाछे दिवा बुझाई।
सून्य सहज में दोऊ त्यागै, राम कहूँ न खुदाई।।
दूरि बसै षट्कर्म सकल अरु दुख कीन्हें सेऊ।
ज्ञान ध्यान धूरि दोऊ कीन्हें, दूरि छाँड़ै तेऊ।।
x x x x x x x x x x x x x x x x x x x x
अब मन फूलि भयो जग महियाँ, आप में उलटि समाई।।''[1]

रविदास जी ने एक पद में भावात्मक तथ्य को यौगिक भाषा में अभिव्यक्ति प्रदान की है। इनका कथन है कि मैं अपनी साधना में गंगा को उलट कर यमुना में मिला दूंगा, बिना जल के स्नान करूंगा,'उस जल में मन भरकर (आत्मा) बिम्ब देखूंगा और एकमात्र ज्योति का ही ध्यान करूंगा।

''ऐसा ध्यान धरौ बनवारी, मन पवन दृढ़ सुषमन नारी।। टेक ।।
उल्टी गंज जमुन में लाऊं, बिन ही जल मज्जन दै पाऊं।। 3 ।।
लोचन भरि-भरि बिम्ब निहारूँ, जोति बिचारि न और बिचारूँ।। 4 ।।
पिंड परै जिव जस घर जाता, शब्द अतीत अनाहत राता।। 5 ।।
सुन्न मण्डल में मेरा बास, ताते जीव मैं रहूं उदास।। 7 ।।
कह रैदास निरंजन ध्याऊँ, जिस पर जाय बहुरि नहिं आऊँ।। 8 ।।''[2]

---

1 डॉ० योगेन्द्र सिंह-सन्त रैदास, पृ० 118-119

2 डॉ० पदम गुरचरन सिंह-संत रविदास विचारक और कवि में उद्धृत, पृ०161-162

यह स्पष्ट है कि ''यमुना को उलटकर गंगा में मिलाने का तात्पर्य इड़ा-पिंगला का सुषम्ना से मेल है और ज्योति का ध्यान रखने का तात्पर्य त्रिकुटि में स्थित भगवान के रूप का ध्यान रखना है, बिना जल के मज्जन जैसी विपर्ययात्मक अभिव्यक्ति का तात्पर्य इस साधना में उपलब्ध आनन्द में ही निमज्जित हो जाना है।''[1] रविदास जी ने कई स्थलों पर वास्तविक ज्ञान या मानसिक ज्ञान के प्राप्त कर लेने के पश्चात् कृत्रिम या बाहरी ज्ञान के भ्रमों को छोड़ देने और परम्परागत इष्ट के अभिधानों को छोड़कर शून्य रूप का ध्यान करने की बात करते हैं। रविदास जी ने कई स्थलों पर इस प्रकार की असम्भावनाओं की एक साथ कल्पना तथा विपर्ययों को एक समंज्जित करके अपनी अनुभूति को अभिव्यक्ति देने की चेष्टा की है।

''सो मन कीन्ह जो मन को खाय, बिन दौरे त्रिलोक समाय।''[2]

''यहाँ पर मन को खाने का तात्पर्य सांसारिक स्वरूप में लिप्त मन अथवा इंद्रियों के स्वरूप को नियंत्रण में रखना या उसके उस रूप को समाप्त करके अन्तःसाधना में केन्द्रित करना है और बिना दौड़े ही त्रिलोक समाने का तात्पर्य स्वयं ही ब्रह्मरूप हो जाने पर आत्म में ही सम्पूर्ण ब्रह्म का प्रतिरूप बन जाना है।''[3]

''जे मन बिन्दे सोई बिन्द, अमावस में ज्यों दीसै चन्द।''[4]

अमावस में चन्द दिखाई देने की बात सामान्यतः विरोधाभास लगती है; किन्तु वस्तुतः यह भी एक प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है। यहां अमावस का तात्पर्य

---

1 डॉ०योगेन्द्र सिंह-सन्त रैदास, पृ० 97
2 डॉ०योगेन्द्र सिंह-सन्त रैदास, पृ० 147
3 डॉ०योगेन्द्र सिंह-सन्त रैदास, पृ० 97-98
4 डॉ०योगेन्द्र सिंह-सन्त रैदास, पृ० 147

अज्ञानान्धकार ग्रस्त आत्मा की स्थिति से है और चंद्र दर्शन का तात्पर्य आत्मा में साधना से उद्‌भूत होने वाले ज्ञान के प्रकाश से लिया जा सकता है।

रविदास जी के काव्य में ऐसे स्थल आते हैं जहां उनकी वाणी रहस्योक्तियां प्रदान करती है। जिनका सीधा सम्बन्ध तत्कालीन नाथ-सिद्धों तथा योग परम्परा में वर्णित रहस्यात्मक प्रतीकों से लिया जा सकता है। इन्हें साधनात्मक रहस्यवाद के प्रसंग कहा जाता है।

3.623 दाम्पत्य रूपक

इष्ट से अपने अवर्णनीय प्रेम को प्रकाशन देने के लिए रविदास जी ने जो शैलियाँ अपनाई हैं, उनमें से दाम्पत्य रूपक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। दाम्पत्य-रूपक का रहस्यवादी उक्तियों में सभी सन्तों ने आश्रय लिया है। ईश्वरीय प्रेम की अवर्णनीयता के लिए पति-पत्नी प्रेम के रूपक लगभग सभी ने ग्रहण किये हैं। बौद्धों के परवर्ती सम्प्रदायों में 'महासुख' की कल्पना को भी इसी प्रतीक की आवश्यकता पड़ी थी। सूफी सम्प्रदाय में भी ईश्वर को माशूक मानकर उसकी प्राप्ति के लिए अथक प्रयत्न बताये गये हैं।

रविदास जी ने आध्यात्मिक प्रेम की अनुभूतियों को अभिव्यक्ति देने में दाम्पत्य रूपक की सहायता ली है। आपने साधना के बाह्य रूप तथा संसार के बाह्य आकर्षण त्याग कर अपने प्रभु के प्रति एक सच्ची समर्पणपूर्ण प्रेमिका बनने का भाव ग्रहण किया है। रविदास जी अपने आध्यात्मिक प्रियतम के न मिलने पर विरह-जनित दुःख को व्यक्त करते हुए कहते हैं।

''मैं बेदीन का सनि आखूँ, हरि बिन जीवन कैसे राँखू।। टेक ।।
जीव तरसे एक गंग बसेरो, करहु संभालन सुरि मुनि मेरो।।''[1]

---

1 डॉ०योगेन्द्र सिंह-सन्त रैदास, पृ० 159

प्रियतम के विरह के कारण अपनी दशा का वर्णन करते हुए वे कहते हैं कि उनकी दशा अत्यन्त दुखद हो गई है। भूख-प्यास आदि सभी सांसारिक व्यापार छूट गये हैं।

''विरह तपै तन अधिक जरावै, नींद न आवे भोज न भावै।''[1]

रविदास जी कहते हैं कि प्रियतम के बिना शैया का कोई सुख नहीं; विरह उनका शरीर खा रहा है, उनका एक-एक पल युग के समान बीतता है और रात भर वे उस प्रियतम के विरह में तड़पते रहते हैं। वे अपने प्रियतम के वियोग में ठीक उसी प्रकार दुःखी है जैसे चन्द्रमा चकोर के वियोग में दुःखी रहता है-

''चक को ध्यान, दधि सुत ज्यों है, त्यों तुम तें मैं न्यारी।''[2]

रविदास जी कहते हैं कि वह अपने प्रियतम से प्रार्थना करते हैं कि वह कृपा करके उनको अपने आलिंगन में बांध ले जिससे उस प्रियतम की कृपा से यह विरहावस्था रूपी दुर्भाग्य नष्ट हो जाए, तभी उनको इस असह्य दुःख से शांति मिलेगी-

''मेटि दुहाग सुहागिनि कीजै, अपने अंग लगाई।।''[3]

अन्त में रविदास जी ने प्रिय के मिलन के समय पूर्ण तादात्म्य, अपनत्व के पूर्ण विसर्जन के भाव को भी एक पतिव्रता के आदर्श को ही सामने रखकर अभिव्यक्ति दी है। ''विरहणी की प्रार्थना प्रभु-प्रियतम को प्रभावित करती हैं। विरहिणी का मिलन प्रियतम से होता है। वह अपने 'स्व' का पूर्ण विसर्जन कर प्रियतम से तादात्म्य प्राप्त करती है।''[4] इस मिलन-जनित सुख की अभिव्यक्ति इस प्रकार हुई है।

---

1 डॉ०योगेन्द्र सिंह-सन्त रैदास, पृ० 159
2 डॉ०योगेन्द्र सिंह-सन्त रैदास, पृ० 149
3 डॉ०योगेन्द्र सिंह-सन्त रैदास, पृ० 149
4 डॉ० पदम गुरचरन सिंह-संत रविदास विचारक और कवि, पृ०161

''सुख का सार सुहागिनि जानै, तज अभिमान सुख रलियां मानै।

तन मन देई न अन्तर राखै, राम रसायन रसना चाखै।।''[1]

उस प्रियतम से मिलन के सुख की अवर्णनीयता तो रविदास जी ने विभित्र-रूपों में कही है-

''जो सुख है इह रस के परसे। सो सुख का गहि गावैगा।''[2]

संक्षेप में यह कहा जा सकता है रविदास जी ने अपनी वाणी में भावनात्मक, साधनात्मक तथा दाम्पत्य रूपक रहस्यवाद का सुन्दर वर्णन किया है। इनके रहस्यवाद में प्राप्त अनुभूति बहुत गहन और मार्मिक है। ''इनकी रहस्यानुभूति में ऐकानितकता न होकर प्रवृत्यात्मकता की प्रतीति होती है। यह इसलिए है क्योंकि रविदास जी न केवल विचारक और सुधारक ही थे अपितु गृहस्थ भी थे।''[3] इनके रहस्यवाद में प्रेम की छटा चारों तरफ दिखाई देती है। इनके साधनात्मक रहस्यवाद के अन्तर्गत भी प्रेम तत्त्व मिलता है। इस प्रेम तत्त्व ने इनके रहस्यवाद में एक अलौकिक आनन्द तत्त्व पैदा कर दिया है। इस दिव्य आनन्द तत्त्व का आधार अद्वैत भावना है।

3.7 गुरु रविदास का धार्मिक चिन्तन

3.71 सन्तों का व्यापक धर्म और उसका रूप

निर्गुण सन्त सहित्य की महान परम्परा 'धार्मिकता' है। संत कवियों ने धर्म के शाश्वत रूप की व्याखया की है। धर्म वह प्रकाश है, जिसके आलोक में व्यक्ति समष्टि तक पहुँचता है। धर्म वह धारा है, जिसमें डूबकर व्यक्ति पावन बनता है। धर्म

---

1 डॉ० पदम गुरचरन सिंह-संत रविदास विचारक और कवि में उद्धृत, पृ० 161

2 डॉ० योगेन्द्र सिंह-सन्त रैदास, पृ० 137

3 डॉ० पदम गुरचरन सिंह-संत रविदास विचारक और कवि, पृ०162

के अनेक रूप हैं, यथा-सत्य, अहिंसा, संयम, तप, ब्रह्मचर्य आदि। संतों ने धर्म के क्षेत्र में एक क्रांति उपस्थित कर दी। उन्होंने जिस कठोरता से रूढ़ियों का विरोध किया, उसी दृढ़ता से उन्होंने बुद्धिवादी सिद्धान्तों की भी स्थापना की है। वे किसी भी बात को तभी स्वीकारते थे, जब वह उनकी बुद्धि के अनुभव की कसौटी पर खरी उतरती थी। सन्त-कवि सच्चे सत्यान्वेषक थे। सन्तों का धर्म बड़ा व्यापक है। जिस प्रकार उनका ब्रह्म व्यापक है और सब जाति-वर्गों का जन्मदाता है, उसी प्रकार उनका धर्म भी व्यापक है। संतों का धर्म सार्वभौमिक और युगों तक अभिनव बना रहने वाला है। देश-काल की सीमाएं इन सन्तों के धर्म और उसके उदात्त रूप का स्पर्श नहीं कर पाती हैं। निर्गुण सन्तों का धर्म, धनी-दीन, बालक-वृद्ध, नर-नारी सबके लिये सामान रुप से उपयोगी और महत्वपूर्ण है।

सन्तों ने अपने व्यापक धर्म का आधार मानव की शाश्वत सद्प्रवृत्तियों को लिया है। यही शाश्वत सद्प्रवृत्तियाँ जीवन को उदात्त और समुन्नत बनाती हैं। सन्तों की धार्मिकता बाह्याचारों से पृथक और परे है। सन्तों के धर्म में छुआ-छूत, चन्दन-तिलक, व्रत-माला, जप-तप, बांग, नमाज़ और अजान आदि नहीं सन्निहित है। उनकी धार्मिकता व्यापक है, शुद्ध है, और उदात्त है। सन्तों का कहना है कि ''मानव को सहज-धर्म का परिपालन करना चाहिये। उसे सुरत्व की जननी-मानव-जीवन को दूषित कर्म करके अपमानित नहीं करना चाहिये। यही सन्तों की धार्मिकता है, यही उनका व्यापक-धर्म है।''[1] ''दर्शन के विस्तृत सागर से उन्होंने सारभूत सिद्धान्त रूपी मोतियों को चुनकर एक ऐसा हार बनाया, जो सभी के गले में डाला जा सकता था। जिसके लिये जाति-पाति, ऊंच-नीच का भेद-भाव

---

1 डॉ० सावित्री शुक्ल-संत साहित्य की सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, पृ० 262

नहीं है।''[1] संत कबीर ने धर्म को बाह्याडम्बर से बचने के लिए सचेत किया है। सन्त शिरोमणि कबीरदास की दृष्टि में धर्म की आधार-शिला दया-भाव है। दया और धर्म एक दूसरे के पूरक और पदार्थ हैं। उसी प्रकार क्षमाशीलता मानव का दैवी गुण है।

''जहां दया तहां धर्म है, जहां लोभ तहां पाप।
जहां क्रोध तहां काल है, जहां क्षमा तहां आप।''[2]

संत नामदेव कहते हैं कि ''धर्म के पालन करने से दुःखों का नाश होता है। कबीर की भांति संत मलूकदास भी दया को धर्म का पर्याय मानते हैं।

दया धर्म हिरदै बसै, बोले अमृत बैन
तेई ऊँचे जानियें, जिनके नीचे नैन।।''[3]

सुन्दरदास के अनुसार ब्रह्म में पूर्णानुरक्ति ही सबसे बड़ा धर्म है। जिसने ब्रह्म में पूर्णतया अनुराग स्थापित कर लिया है, वह पतिव्रता नारी के समान समादरित है। ब्रह्म की अभिव्यक्ति का ही दूसरा नाम धर्म है। सुन्दरदास जी के अनुसार-

''सुन्दर जिन पतिव्रत किये, तिन कीये सब धर्म।''[4]

सुन्दरदास जी के मत से ब्रह्म का नाम समस्त धर्मों का सार तत्त्व है-

''सकल सिरोमनि नाम है, सब धरमन के माहिं।
अनन्य भक्त वह जानिये, सुमिरन भूलै नाहिं।''[5]

---

1 डॉ० सावित्री शुक्ल-संत साहित्य की सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, पृ० 262
2 डॉ० सावित्री शुक्ल-संत साहित्य की सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, पृ० 269
3 डॉ० सावित्री शुक्ल-संत साहित्य की सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, पृ० 269
4 डॉ० सावित्री शुक्ल-संत साहित्य की सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, पृ० 269
5 डॉ० सावित्री शुक्ल-संत साहित्य की सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, पृ० 270

संत गरीबदास जी के अनुसार मानव को सुशोमित्त करने वाले दो गुण विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं और ये हैं 'दया' एवं 'धर्म'। जो दया और धर्म में रत है, उससे ब्रह्म दूर नहीं है। आपके अनुसार-

''दया धर्म दो मुकुट हैं, बुद्धि विवेक विचार''[1]

''संत कवि आचार्य विद्यासागर जी कहते हैं कि जो धार्मिक व्यक्ति है, उसकी दृष्टि में छोटा-बड़ा कोई नहीं होता। वास्तव में धर्म वह अंजन है, जो आँखों में नई रोशनी देता है। धर्म, रस का अनमोल प्याला है, जिसे पीने के बाद अन्य रस की आकांक्षा नहीं रह जाती। धर्म से ही व्यक्ति में निष्कपटता और धैर्य, प्यार और संवेदना प्रवाहित हो जाती है। धर्म के विकृत रूप में आने से मानवता नष्ट हो जाती है और आतंकवाद जन्म लेता है।''[2] आचार्य विद्यासागर जी कहते हैं-

''सच्चा वही धरम है जिसमें न हिंसा।''[3]

सन्तों की धर्म विषयक धारणा बड़ी व्यापक और उदार रही है। सन्तों का दृष्टिकोण संकीर्णता से परे था। वे अपने युग के सबसे बड़े क्रान्तिकारी और सुधारक थे। रूढ़ियों और परम्पराओं की शृंखलाओं को तोड़कर उन्होंने नवीन आदर्शों, मान्यताओं, नये-नये प्रतिमानों एवं मान-दंडों की स्थापना की। सन्तों की दृष्टि सदैव व्यापक समाज की ओर केन्द्रीभूत रहती थी। वे व्यष्टि और समष्टि के समान रूप से शुभचिन्तक थे। इसीलिये शोषण, अनाचार, दुराचार और भ्रष्टाचार को समाज से दूर

---

1 डॉ० सावित्री शुक्ल-संत साहित्य की सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, पृ० 270

2 डॉ० बारेलाल जैन-हिन्दी साहित्य की सन्त काव्य-परम्परा के परिप्रेक्ष्य में आचार्य विद्यासागर के कृतित्त्व का अनुशीलन, पृ० 13

3 डॉ० बारेलाल जैन-हिन्दी साहित्य की सन्त काव्य-परम्परा के परिप्रेक्ष्य में आचार्य विद्यासागर के कृतित्त्व का अनुशीलन, पृ० 13

करके उसे रहने योग्य बनाने के लिये अथक परिश्रम किया। सन्तों ने अपने युग, समाज और धर्म से समस्त दोषों को दूर करके, नवीन आदर्शों की स्थापना करने का प्रयत्न किया और इस दृष्टि से वे सफलीभूत भी हुये। मध्ययुग का समय चतुर्दिक विनाश का युग था। इस समय मानवता का हर प्रकार से अध:पतन हो गया था। समाज भ्रष्टाचार का केन्द्र बिन्दु बन गया था। धर्म बाह्याचार और दुराचार के प्रकार का साधन बन गया था। हिन्दू और मुसलमान धर्म के वास्तविक रूप को भुलाकर 'लकीर के फकीर' बन गये थे। मूर्तिपूजा, बलि, चन्दन, माला, जप, तप, काया, नमाज, रोजा आदि ने धर्म के सत्य-स्वरूप को दबा दिया था। जनता को धर्म के सहज, सरल और वास्तविक रूप से परिचित कराने का कार्य सन्त कवियों द्वारा सम्पन्न हुआ। इन्होंने स्पष्ट शब्दों मे कहा कि ब्रह्म की सत्ता मन्दिर, मस्जिद और शिवालय तक ही सीमित नहीं है। वह नि:सीम है और संसार के कण-मण में व्याप्त है। सन्त कवियों ने जनता को लोभ, कपट, क्रोध, मोह, तृष्णा आदि को हटाकर उसके स्थान पर उदारता, सहनशीलता, क्षमा, दया, अहिंसा, सहानुभूति की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट किया। उनका धर्म नैतिक एवं मानवतावादी था। बाह्याडम्बरों से दूर प्रत्येक को समान दृष्टि से देखने वाला।

3.72 गुरु रविदास का धार्मिक चिन्तन

संत गुरु रविदास मध्ययुगीन महान् सन्त-परम्परा के महामानवों में से एक थे। इनके विलक्षण व्यक्तित्व में स्वतन्त्र विचारक, उदार धर्म-गुरु, समाज-सुधारक, भक्त शिरोमणि और उत्कृष्ट कवि के समस्त गुण विद्यमान थे। आपने अपने आध्यात्मिक, धार्मिक, सामाजिक आदि सिद्धांतों के लिए 'पुस्तकीय ज्ञान' की अपेक्षा स्वानुभूति को अपना सम्बल बनाया था। इनके महान् विचारों से न केवल शूद्र ही

अभिभूत हुए अपितु ब्राह्मणों को भी नत-मस्तक होना पड़ा। रविदास जी अपने महान् एवं उदात्त विचारों के कारण सदा वन्दनीय रहे हैं। बनारस जो कि कई वर्षो से ब्राह्मण मत का गढ़ था, गुरु रविदास जी का प्रकाश इसके निकट गांव मडुआडीह में हुआ था। रविदास जी ने बनारस से ही एक नवीन धार्मिक विचारधारा एवं नये समाज का संकल्प प्रारंभ किया और शूद्र जाति को ब्राह्मणों के घृणास्पद जाल से मुक्त करके गौरवमयी जीवन दिया।

गुरु रविदास का धार्मिक चिन्तन अपनी निजी विशेषताओं को लिए हुए है।इन्होंने धार्मिक क्षेत्र में अपने सहज धर्म द्वारा जन-साधारण को स्वतन्त्र चिन्तन के लिए अनुप्रेरित किया था। रविदास के जीवन काल के समय में धार्मिक वातावरण अत्यन्त शोचनीय था। उस समय के प्रमुख मत थे-हिन्दुत्व एवं इस्लाम। बौद्ध एवं जैन धर्म के विकृत रूप भी विद्यमान थे। मध्ययुग में सहज धर्म का रूप प्राय: लुप्त हो चुका था। धर्म में बाह्याडम्बर और मिथ्याचार का बोलबाला था। चारों ओर अन्धेरा ही अन्धेरा दिखाई देता था। रविदास जी ने इस धर्म के अन्धेरे को दूर किया और पुन: सत्य धर्म की प्रतिष्ठा की। इन्होंने ब्राह्मणों तथा पुरोहित-वर्ग के आडम्बरपूर्ण कर्मकाण्ड की आलोचना की। ये लोग धर्म-पुस्तकों का दिखावे के लिए पठन करते हैं। इनका तीर्थ-स्थान, पूजा आदि सत्य प्रभु-नाम के बिना बेकार है। ''भारतीय धर्म, प्रारम्भ से ही, ऐसी व्यवस्था के बीच उपजा और पनपा था, जो वर्ण और आश्रमों को विशेष महत्त्व देती थी। इस वर्ण-व्यवस्था का आदिम-आधार कर्मो के विभाजन के आधार पर समाज का संगठन था। कुछ समय बाद यह आधार छिन्न-भिन्न हो गया और वर्णो का निश्चय कर्म के स्थान पर जन्म से होने लगा। यह सब ब्राह्मणवादी युग में हुआ। समाज के नियमों और आचरण की संहिताओं का निर्धारण ब्राह्मण करते थे, अतएव सम्पूर्ण समाज-व्यवस्था ब्राह्मणों के हितों की सुरक्षा का

अधिकाधिक ध्यान रखती हुई शूद्रों को अधिकतम उपेक्षा, दरिद्रता और अधोगति की ओर फैंकती गई।''[1] ब्राह्मणों ने अर्थ-लाभ के लिए परमात्मा के अवतारों की मूर्तियां बनाकर जन-साधारण को गुमराह करना आरम्भ कर दिया था। हिन्दू मत में अर्थहीन क्रिया-कलाप बढ़ता गया। धर्म-कर्म में व्रतों तथा अनुष्ठानों की संख्या कल्पनातीत हो गई थी। हिन्दुओं में शूद्रों को वेद-शास्त्र आदि के पठन-पाठन का अधिकार नहीं था और अंत्यजों के लिए तो देव-दर्शन के लिए मन्दिर-प्रवेश भी निषिद्ध था। हिन्दुत्व की जाति-व्यवस्था एवं अवतारों की मूर्ति-पूजा ने एक ओर मिथ्याचारों को बढ़ावा दिया और दूसरी ओर भेद-भावों की सृष्टि में अभिवृद्धि की।

रविदास जी के युग में सुलतानी शासन का आतंक था। ''वह एक ओर शासकों द्वारा गैर-मुसलमानों पर अत्याचार करवाता था और दूसरी ओर दिखावे के लिए 'कुरान शरीफ़' का पठन-पाठन करता था। साधारण मुसलमान को अपनी इच्छानुसार उपासना करने का अधिकार नहीं था।''[2] धर्म के सच्चे स्वरूप को भूलकर हिन्दू एवं मुसलमान धर्म के नाम पर अधर्म कर रहे थे। इस्लाम एवं हिन्दुत्व के पुरोहित वर्ग ने दोनों में भेदक-रेखा को और अधिक गहरा बना दिया था। इससे दोनों मतों में वैमनस्य और अधिक बढ़ गया। वे एक दूसरे से ईष्या करने लगे थे। इस प्रकार इस्लाम और हिन्दुत्व का सम्बन्ध शत्रुता-वाला बन गया था। ऐसे अशांत, संघर्षमय एवं पतनोन्मुख धार्मिक परिवेश में संत रविदास का अविर्भाव हुआ। इन्होंने विभिन्न मतों-मतान्तरों के वैमनस्य को दूर करने का महान् कार्य किया। ''इस युग को अपनी नैतिक-चेतना का सम्बल देकर आध्यात्मिक ज्योति से आलोकित करने का श्रेय संत शिरोमणि रैदास को है। भारतीय संस्कृति को विकृत अधोमुखी वृत्तियों से

---

1 धर्मपाल मैनी-रैदास, पृ०8

2 सं० आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद- युग प्रवर्त्तक संत गुरु रविदास, पृ०195

बचाकर जीवित और जागृत रखने का गौरव रैदास एवं उस युग के संतों को दिया जा सकता है।''[1] रविदास जी ने रचनात्मक दृष्टिकोण को अपनाते हुए दोनों धर्मो में सुधार करने का प्रयत्न किया। इनके धार्मिक विचारों से प्रभावित होकर ब्राह्मणों तक ने इन्हें समादृत किया। ''वस्तुत: रविदास जी मानव-धर्म के संस्थापक थे। इनके धार्मिक-चिन्तन में सुधार, समन्वय और मौलिकता की भावना मिलती है।''[2] इनके धार्मिक विचारों का प्रभाव समाज पर पड़ा।

रविदास जी सही अर्थो में धर्म-गुरु थे। इनके धार्मिक चिन्तन का मूलाधार इनकी स्वानुभूति थी। इनकी चेतना में धर्म मज़हब न होकर मानवीय कर्त्तव्य और जीवन-मूल्य का पर्याय था, कर्म जीवन का अनिवार्य फल था। रविदास जी ने धर्म के 'विशेष' पक्ष की अपेक्षा सामान्य पक्ष को अधिक महत्त्व प्रदान किया। रविदास जी के धार्मिक चिन्तन का सम्बन्ध 'सामान्य-पक्ष' से ही है। इन्होंने धर्म के 'सामान्य-पक्ष' को ही 'सच्चा-धर्म' या 'सहज धर्म' की संज्ञा से अभिहित किया है। इनके अनुसार सहज धर्म द्वारा ही मनुष्य मनुष्यत्व को प्राप्त कर सकता है। रविदास जी ने धर्म के 'विशेष' पक्ष का वर्णन धर्म के 'सामान्य पक्ष' की प्रतिष्ठार्थ ही किया है। इन्होंने हिन्दू धर्म के ग्रन्थों, पूजा-विधियों, अवतरित पुरूषों का चित्रण अवश्य अपनी वाणी में किया, परन्तु इनके रूढ़ रूपों में आस्था प्रकट न कर उनकी अवहेलना की है। इन्होंने सहज धर्म की प्रतिष्ठा के लिए रूढ़िवाद को कोई महत्त्व प्रदान नहीं किया। इन्होंने हिन्दू मत के धार्मिक ग्रन्थों, अवतरित पुरूषों तथा पूजा-विधियों के रूढ़ हो चुके रूपों में अपनी आस्था एवं श्रद्धा प्रकट नहीं की। इन्होंने स्वयं देख लिया था कि ब्राह्मणों ने अपने स्वार्थार्थ धार्मिक पुस्तकों और

---

1 धर्मपाल मैनी-रैदास, पृ०12

2 डॉ० पदम गुरचरन सिंह-संत रविदास विचारक और कवि, पृ०126

पूजा-विधियों का निर्माण किया है। इसीलिए आपने उन धार्मिक ग्रन्थों को अन्तिम सत्य नहीं माना। उनमें भिन्न-भिन्न कर्मो का वर्णन तो है परन्तु किसी विशेष कर्म से मनुष्य को भव-सागर से मुक्ति प्राप्ति में सहायता मिलती हो, का संकेत नहीं है।

''बहु विधि धरम निरूपीऐ करता दीसै सभ लोइ।।

कवन करम ते छुटीए जिस साधे सभ सिधि होई

करम अकरम बीचारीऐ संका सुनि बेद पुरान।।।

संसा सदा हिरदै बसै कहनु हिरै अभिमानु।।''[1]

तीर्थ स्नानों को भी कर्म मार्ग का एक महत्वपूर्ण अंग माना गया है। ''हिन्दू मतानुसार 68 तीर्थ हैं वहां का स्नान मुक्ति दाता है,''[2] परन्तु गुरु रविदास के अनुसार तीर्थ स्नान द्वारा बाह्य शरीर की शुद्धि अवश्य होती है, मन की नहीं। प्रभु प्राप्ति के लिए मन का निर्मल होना आवश्यक है। एक अन्य स्थान पर रविदास जी ब्राह्मणों के आडम्बरपूर्ण कर्म काण्ड को अस्वीकारते हुए कहते हैं कि मैं तीर्थ-स्थानों का भ्रमण नहीं करता हूं और न ही मैं व्रत आदि रखकर दिखावे का जीवन बिताता हूं। मुझे परमात्मा सर्वत्र दिखाई देता है; सर्वत्र उसी की पूजा है। उस निर्गुण ब्रह्म को छोड़कर और कोई दूसरा देव नहीं है-

''तीरथ बरत न करौं अन्देसा, तुम्हरे चरन कमल के भरोसा।। 1 ।।

जहं जहं जाओं तुम्हरी पूजा, तुमसा देव और नहिं दूजा।। 2 ।।''[3]

इससे स्पष्ट है कि रविदास जी एक निर्गुण ब्रह्म की अपेक्षा और किसी अन्य देवी-देवता को नहीं पूजते थे। इन्होंने बहुदेववाद को स्वीकृति प्रदान नहीं की।

---

1 सं० आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद- युग प्रवर्त्तक संत गुरु रविदास, पृ०197

2 सं० डॉ० धर्मपाल सिहंल-गुरु रविदास का जीवन-दर्शन, पृ०179

3 डॉ० पदम गुरचरन सिंह-संत रविदास विचारक और कवि में उद्धृत, पृ०128

विभिन्न देवी-देवताओं की मूर्ति-पूजा सहज धर्म को प्राप्त करने में बाधा थी। रविदास जी मूर्ति-पूजा का खण्डन करते हुए कहते हैं-

''पाती तोड़ै पूजि रचावै, तारन तरन कहै रे।
मूरत मांहि बसै परमेसर, तौ जल में क्यों न तिरै रे।''[1]

रविदास जी ने अवतारों की मूर्ति-पूजा में 'सत्य' का अभाव देखा था। यह सत्यधर्म की प्राप्ति में अवरोधक है। रविदास जी कहते हैं-

''पाड़े कैसी पूजि रची रे।
सत्ति बोलै सोई सत्तिवादी। झूठी बात बची रै।।
याकी सेव सूल नहिं भाजै, कटै न संसै पास रे।
सोचि विचारि देखि या मूरति, यूं छांड़ि रविदास रे।।''[2]

रविदास जी धर्म के विशेष पक्ष के अन्तर्गत विशिष्ट वेष धारण, तिलक, माला, धूप आदि को परम सत्य की प्राप्ति के मार्ग के लिए निरर्थक घोषित करते हैं-

''भेष लियो पर भेद न जान्यो,
तिलक कियो पै तपनि न जाई, माला पहिरि, घणेरी लाई।।
कहि रविदास मरम जु पाऊं, देई निरंजन तन का ध्यांऊ।।''[3]

इस प्रकार रविदास जी ने धर्म के 'विशेष पक्ष' को अस्वीकारते हुए उसके सामान्य अर्थात् सहज धर्म का उद्घाटन किया। रविदास जी मन, वचन और कर्म से ब्रह्म की उपासना पर बल देते हुए पण्डित को कहते हैं-

''थोथा पण्डित थोथी बानी, थोथी हरि बिन सबै कहानी।। 2 ।।

---

1 डॉ० पदम गुरचरन सिंह-संत रविदास विचारक और कवि में उद्धृत, पृ०129
2 सं० आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद- युग प्रवर्त्तक संत गुरु रविदास, पृ०198
3 सं० आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद- युग प्रवर्त्तक संत गुरु रविदास, पृ०198

थोथा मंदिर भोग बिलासा, थोथी आन देव की आसा।। 3 ।।
सांचा सुमिरन नांव बिसास, मन वच कर्म कहै रैदास।। 4 ।।''[1]

रविदास जी हिन्दू-धर्म की रूढ़ परम्पराओं और दिखावे के कार्यों का खण्डन करते हैं। इस विरोध द्वारा वह हिन्दू धर्म के वास्तविक स्वरूप का उद्‌घाटन करना चाहते थे।

रविदास सहज धर्म के महान् प्रतिष्ठापक थे। आपने सहज धर्म के लिये सदाचरण को बहुत महत्त्व प्रदान किया है।आपका यह मानना है कि मनुष्य जीवन में प्रभु को सदाचरण के बल पर ही प्राप्त कर सकता है। ''सदाचरण के दो रूप होते हैं। पहला है नैतिक आचरण। इसमें संतोष, संयम, धैर्य, दया, क्षमा, परोपकार, निर्भयता, उदारता, सहनशीलता, समदर्शिता आदि गुण आते हैं। सदाचरण का दूसरा रूप निषिद्ध आचरण के त्याग में दिखाई देता है। इनमें काम, मोह, मान, कपट, इच्छा आदि का निषेध माना गया है।''[2] रविदास वाणी में नैतिक आचरण के साथ-साथ निषिद्ध आचरण की भी चर्चा हुई है। इन्होंने कामादिक निषिद्ध आचरणों को परमात्मा-प्राप्ति में अवरोधक माना है। इन मनोविकारों से शिव आदि देव भी नहीं बच सके। अतः इनको त्यागने से ही मनुष्य का कल्याण है। रविदास जी कहते हैं-

''इन पंचन मेरो मन जु बिगारियो।।
पलु पलु हरि जी ते अंतरु पारिओ ।।2।।
जत देखउ तत दुःख की रासी ।।
अजौं न पत्याह निगम भर साखी ।।3।।
गौतम नारि उमापति स्वामी।।

---

1 डॉ० पदम गुरचरन सिंह-संत रविदास विचारक और कवि, पृ०129
2 डॉ० पदम गुरचरन सिंह-संत रविदास विचारक और कवि, पृ०129

सीसु धरनि सहजि भग गामी ।।4।।

इन दूतन खलु बधु करि मारिओ।।

बड़ो निलाजु अजहू न हारिओ ।।5।।

कहि रविदास कहा कैसे कीजै।।

बिनु रघुनाथ सरनि काकी लीजै ।।6।।''[1]

रविदास जी ने कामादिक विषयों से बचने के लिए परमात्मा की भक्ति पर बल दिया है। प्रभु का नाम-स्मरण करने से इन विकारों पर विजय आसानी से मिल जाती है और मनुष्य परमानन्द के सुख को प्राप्त करता है।

''संत रविदास के धार्मिक चिन्तन की सबसे विलक्षण विशेषता है। भक्ति के व्यापक और सार्वजनीन भाव को प्रचारित और प्रसारित करना। इनकी भक्ति-साधना में राम और रहीम तथा कृष्ण और करीम में कोई नहीं है। विभिन्न मतगत भेद निरर्थक ही नहीं अपितु परमात्मा-प्राप्ति में अदरोधक हैं।''[2] इन्होंने परमात्मा प्राप्ति के लिए विभिन्न मतों में सत्य भाव को खोजने की बात कही है-

''क्रिस्न करीम राम हरि राघव, जब लग ऐक ऐक नहीं पेष्या।

वेद कतेब कुरान पुराननि, सहजि एक नहीं देख्या।।

जोई जोई करि पूजिए सोई-सोई कांची, सहजि भाई सति होई।।''[3]

रविदास जी ने अपने सहज धर्म में परमात्मा की भक्ति का सबको अधिकारी माना है। आपके अनुसार ब्राह्मण हो अथवा चाण्डाल, क्षत्रिय हो अथवा शूद्र, सब कोई प्रभु-भक्ति करके उसे प्राप्त कर सकता है। प्रभु-भक्ति से मनुष्य की आत्मा प्रबुद्ध

---

1 सं० आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद- युग प्रवर्त्तक संत गुरु रविदास, पृ०199

2 सं० आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद- युग प्रवर्त्तक संत गुरु रविदास, पृ०199

3 डॉ० बी० पी० शर्मा - संत गुरु रविदास-वाणी, पृ० 69

होती है और इससे सारी तृष्णाओं का नाश होता है। रविदास जी का विश्वास है कि भक्ति के द्वारा मनुष्य के जन्म-मरण का चक्कर समाप्त हो जाता है और वह मुक्ति को प्राप्त करता है। रविदास जी के धार्मिक चिन्तन में प्रभु-प्राप्ति के लिए सहज-साधना पर जोर दिया गया है। रविदास जी के धार्मिक विचार बहुत उदार और उदात्त थे। इनकी भक्ति-पद्धति में शुद्धता पर विशेष ध्यान दिया गया है। इसमें बाह्याचार और मिथ्याचार का खण्डन हुआ है। इनके धार्मिक चिन्तन में मानव-धर्म तथा नैतिकता आदि का समावेश हुआ है। इनके सहज धर्म ने जन-मानस को स्वतन्त्र चिन्तन के लिए अनुप्रेरित किया है। अतः इसमें कोई सन्देह नहीं सन्त गुरु रविदास जी मध्य-युग में मानव धर्म के महान् संस्थापक थे। रविदास जी मध्ययुग में छाये हुए अन्धकार में ऐसी रोशनी का काम करते हैं जिन्होंने निम्न वर्गीय लोगों को ही नहीं अपितु सम्पूर्ण जन मानस को जीने के लिए नई दिशा और सम्मान पूर्वक जीवन व्यतीत करने का मार्ग दिखाया।

3.8 भारतीय संस्कृति के प्रेरक संत गुरु रविदास

3.81 संत काव्य में लोक संस्कृति

''मध्यकाल के संदर्भ में और अन्यत्र भी कई बार अभिजन समाज की संस्कृति को शिष्ट संस्कृति कहकर संबोधित किया जाता है और जनसमाज की संस्कृति को लोकसंस्कृति।''[1] संस्कृति एक सामूहिक प्रयत्न है और उसका समग्र रूप ही दृश्य को पूर्णता देता है, उसे खंड-खंड कर देखना उचित नहीं है। मध्यकालीन भारतीय संस्कृति को विशेषतया सल्तनत काल तथा मुग़लकाल के मध्य स्थित किया जाता है। भारतीय मध्यकाल में कई संसार एक साथ देखे जा सकते हैं और इनसे

---

1 प्रेमशंकर- भक्तिकाव्य का समाज दर्शन, पृ०43

मिलकर उस समय का सामाजिक-सांस्कृतिक वृत्त पूरा होता है। मध्यकालीन संत कवियों की भूमिका समाज सुधारक और सांस्कृतिक नेतृत्त्व की है। उनका आक्रमण व्यर्थ की रूढ़ियों, अंधविश्वासों, आडंबर, पाखंड, कर्मकांड और सबसे अधिक घनघोर जाति-उपजातिवाद पर था। इन संतों ने सामाजिक सुधार से संस्कृति के लिए नई दिशाएँ खोलीं। संस्कृति एक सामूहिक, बौद्धिक प्रयत्न है जो विचार, दर्शन, साहित्य, कला में विकास पाती है।

मध्यकालीन समय, समाज, संस्कृति का रूप मिला-जुला है, कई प्रवृत्तियों का सम्मिश्रण और सबको मिलाकर, यह वृत्त पूरा होता है जिसे भारत की मध्यकालीन संस्कृति कहा जाता है। मध्यकाल में कई वर्गों का इसमें योगदान है और उदार शासक इनमें एक हैं। भक्ति आंदोलन सभी वर्गों के सम्मिलित प्रयत्न की उपज है जो पूरे मध्यकाल में सक्रिय है और इसे नए स्वाभाविक सांस्कृतिक उन्मेष के रूप में देखना है, जहाँ संकीर्णताएँ टूटती हैं, जाति-बंधन शिथिल होते हैं, कर्मकांड की अनिवार्यता नहीं रहती और बल शुद्ध आचरण पर है। मध्यकाल के संत-भक्तिकाव्य ने अधिक सार्थक पहल की जहाँ सांस्कृतिक सौमनस्य, उदारता, सहिष्णुता की प्रवृत्तियाँ मुखर हुई हैं। यह वृत्त सिद्ध-नाथ से आरंभ होकर रामानंद, कबीर-जायसी से होता हुआ गुरु नानकदेव तक फैला हुआ है।

''किसी भी राष्ट्र की संस्कृति या इतिहास के बहुमूल्य अंगों में से लोक-संस्कृति ही प्रमुख है। लोक-संस्कृति की पुष्प सरिता का प्रवाह अजस्र है। इसका स्त्रोत जीवन है; लोक-संस्कृति या लोक-राष्ट्र का इसे अमर रूप मानना चाहिए। लोक-संस्कृति के साथ लोक-इतिहास की गौरवमान घटनाओं और ज्वलन्त व्यक्तित्वों का विस्तृत इतिहास मानव-समाज के स्मृति-पटल पर सदैव सुरक्षित

रहता है।''[1] लोक-संस्कृति के उन्नयन में वही साहित्यकार या कलाकार सफल सिद्ध हो सकता है जो संवेदनशील हो तथा संवेदनात्मक, दृष्टिकोण को अपनाता हो। लोक-संस्कृति, समन्वय का सर्वोत्कृष्ट माध्यम है। विरोधी एवं विभिन्न धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक विचारधाराओं की समन्वयकारी शक्ति यही लोक-संस्कृति हुआ करती है। लोक-साहित्य लोक-संस्कृति का अभिन्न अंग है। साधारणत: साहित्य की दो कोटियाँ होती हैं प्रथम कोटि का साहित्य वह है,जिसकी रचना शिष्ट समुदाय के लिए होती है। द्वितीय कोटि का साहित्य लोक-साहित्य है। इसका केन्द्र-बिन्दु जनता या लोक होता है। इसकी रचना बहुजन हिताय-बहुजन सुखाय होती है। सादगी एवं सरलता से युक्त यह साहित्य जनता के धरातल पर सदैव प्रवाहित रहता है।

मध्ययुग के सन्तों का साहित्य लोक-साहित्य है। सन्तों के काव्य का केन्द्रबिन्दु समाज, जनसाधारण या लोक है। मानव जीवन के धार्मिक एवं सामाजिक जीवन पर संत साहित्य में व्यापक प्रकाश डाला गया है। सन्तों के काव्य का विषय जनसाधारण रहा है। क्योंकि जनसाधारण ही लोक का प्राण और सर्वस्व माना जाता है। सन्तों का साहित्य मध्ययुगीन लोक-संस्कृति का सच्चा दर्पण है। 'साहित्य समाज का दर्पण होता है' यह उक्ति संत-साहित्य के लिये बहुत उपयुक्त और सही है। सन्त साहित्य में मध्ययुगीन समाज की गति-विधि, रीति-नीति, आदान-प्रदान, विश्वास, आस्था, साधना और उपासना, प्रेय और श्रेय, दायित्व-निर्वाह और उपेक्षा आदि विषय में ज्ञान प्राप्त हो जाता है। सन्तों ने अपने काव्य की अभिव्यक्ति का माध्यम लोकभाषा को बनाया है। सन्तों ने जनसाधारण के जीवन से सम्बद्ध उपादानों को अपने काव्य में प्रश्रय दिया। सन्तों की अप्रस्तुत योजना लोक-तत्त्वों या

---

1 डॉ० सावित्री शुक्ल-संत साहित्य की सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, पृ०301

लोक-संस्कृति के बहुत सन्निकट है। उनकी प्रतीक योजना जन-जीवन से ग्रहण की गयी है। चरखा, सूप, चदरिया, साड़ी, कुम्हार, रंगरेज, रहटा, मधुकर, कोठरी, चीर, ढोलनहार, ध्वजा, मछली, पंछी, चोर, हाथी, पतंग, दीपक, वेश्या, वैद्य, हंसा, दीपक, पूत, महतारी, सूरमा, कुंआ आदि ऐसे शब्द हैं जो लोक-जीवन और भाषा से ग्रहण किये गये हैं। इनके द्वारा जो शब्द-चित्र या भाव व्यक्त किये गये हैं, वे बड़े ही प्रभावशाली और मनोरंजक हैं।

सन्त कवि रूपकों के विधान में बड़े कुशल और चतुर थे। उनके रूपक और अन्योक्तियाँ लोक-तत्त्वों या लोक-संस्कृति के आधार पर नियोजित हैं। इनकी अप्रस्तुत योजना जन-जीवन के जितनी निकट है उतनी ही यथार्थ और प्रभावशाली है। संत लोक-धर्म के प्रतिपादक थे। संतों का लोक-धर्म मानव-धर्म का पर्याय है। संतों की दृष्टि में ब्रह्म और निर्वाण, तीर्थ, व्रत, गंगोदक में नहीं है। वरन् सत्यता और सत्नाम में है। संतों की साधना अन्तः शुचि पर बल देती है। उनकी साधना अन्तर साधना ही है। सरल, सहज और बोधगम्य होने के कारण सन्तों की साधना का रूप लोकमय बन गया है। सन्तों के साहित्य से अनेक पद लोकगीतों के रूप में जनता में प्रचलित है। इन लोकगीतों में श्रद्धा, भक्ति और सद्भावना का प्रसार करने की अद्भुत शक्ति है। सन्तों के लोकगीत माधुर्य के स्त्रोत हैं। इन गीतों के पढ़ने या सुनने पर पाठक एवं श्रोता प्रभावित हुए बिना नहीं रहते। इन गीतों में इतनी तीव्रता है कि मन और बुद्धि पर उनका सीधा आघात होता है।

सन्त-साहित्य में लोक-साहित्य के सभी गुण विद्यमान हैं। यह पूर्णतः जन साहित्य है। सन्तों ने अपने समय में प्रचलित लोकाचारों और कुप्रवृत्तियों की भी आलोचना बड़े रोचक ढंग से की है। जनेऊ और खतना हिन्दू तथा मुसलमानों के

प्रसिद्ध लोकाचार हैं। कबीर ने इनकी कठोर आलोचना की और कबीर की परम्परा में आविर्भूत अनेक अन्य संतों ने भी कबीर का अनुसरण किया। सन्तों ने जीवन का सर्वांगीण विश्लेषण किया है। उन्होंने जीवन के सभी पक्षों को लिया। एक मनुष्य के सामाजिक, धार्मिक और पारिवारिक कर्त्तव्य क्या हैं, आदर्श मनुष्य का स्वरूप क्या है, जीवन का प्रेय और श्रेय क्या है, मानव मानव में क्या सम्बन्ध है, चरित्र और रहनी की क्या परिभाषा है, आदर्श साधक को कैसा होना चाहिए, इन पक्षों पर सन्तों ने पर्याप्त विस्तार के साथ विचार प्रकट किया। संत कवियों ने अपने समाज की सभी प्रचलित दुवृर्त्तियों का अनावरण किया तथा लोगों को सावधान रहने का संकेत प्रदान किया। इस अर्थ में संत कवि अपने युग के जाग्रत पहरी और चेतन कलाकार थे।

3.82 गुरु रविदास की सांस्कृतिक चेतना

मध्ययुग में खण्डहरों पर खड़ी भारतीय संस्कृति के पुननिर्माण का श्रेय नवजागरण के अग्रणी नेता स्वामी रामानन्द तथा उनके शिष्यों को जाता है। इनके द्वारा चलाये गये भक्ति आन्दोलन ने प्राचीन भारतीय संस्कृति को विकसित किया और पराजित भारतीयों के मन में आशा की किरण की चमक पैदा हुई। स्वामी रामानन्द ऐसे क्रांतिकारी युगपुरुष थे जिन्होंने आतंक और अवसाद के गढ़े में पड़ी भारतीय जनता के मनोबल को ढांढस देकर उपर उठाया। भारतीय जनता के मनोबल को ढांढस देकर ऊपर उठाया। इस युग में सुलतानी शक्ति का आतंक, लोभ-लालच एवं पद लोलुपता के आकर्षण को त्याग अपनी संस्कृति से लगाव रखना एक बड़े साहस और त्याग का काम था। ''भारत के मूल निवासियों को काफिर समझने वाली इस्लामी भोगवादी प्रवृत्तियां भारत की राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना के लिए एक चुनौती थी। राष्ट्र-व्यापी इस आन्दोलन ने भारतीय संस्कृति के चिरन्तन

मूल्यों की रक्षार्थ तप, त्याग, बलिदान, सहिष्णुता एवं ब्रह्म निष्ठा के आश्रय से बढ़ती हुई इस्लामी बाढ़ को रोका था।''[1] स्वामी रामानन्द ने वर्णाश्रम व्यवस्था के बन्धनों को ढीला कर ऊँच-नीच सभी वर्णो से अपने शिष्यों को चुना। रविदास, कबीर, सेन, पीपा और धन्ना स्वामी जी के अग्रणी शिष्य थे। इन के द्वारा जन-जागृति का अभियान प्रारम्भ हुआ। ब्राह्मणवाद का तीव्र विरोध हुआ।

रविदास और कबीरदास दोनों गुरुभाई थे। कबीर जहाँ तेज प्रकृति के थे वहीं रविदास शांत, सौम्य संत थे। रविदास जीवन साधक रहे हैं, उनकी वाणी ऐसी जीवन साधना का अंग है जिसमें मानव मूल्यों को महत्तता दी गई है। मध्ययुगीन का साहित्य भारतीय संस्कृति की धरोहर है। जहाँ निर्गुण-सगुण रूप का समान रूप से गायन किया गया है। इसके बिना भारत अपनी अस्मिता खो बैठता है। यह संस्कृति नैतिकता मूलक, प्रपत्तिमूलक एवं मानव धर्म के रूप में भारतीयता के संरक्षणार्थ प्रतिष्ठित की गई थी। यहां ब्रह्म की सगुण निर्गुण साधना में हृदय की कोमल एवं मधुर भावनाओं की प्रधानता है। इसका मुख्य स्वर प्रेमाश्रित भाव पक्ष है। ''इस संस्कृति ने मानव-मानस को प्रकाश एवं माधुर्य भाव से सम्पृकत कर रामोपासना में स्वधर्म-निष्ट रहने की शक्ति प्रदान की है। ''स्वधर्मे निधनं श्रेय: पर धर्मो भयावह'' गीता की इस घोषणा से भारतीय धर्म एवं संस्कृति का सम्पोषण हुआ है।''[2]

भारत की मध्ययुगीन सामाजिक एवं राजनीतिक निराशाजनक परिस्थितियों में सन्त रविदास का एक चमार घर में जन्म लेकर ख्याति के चरम शिखर पर पहुंचना एक विचित्र घटना है। रविदास ऐसे महामानव थे जो भारतीय संस्कृति के एक

---

1 डॉ० बी० पी० शर्मा शास्त्री- संत रविदास की भक्ति साधना, पृ०2

2 डॉ० बी० पी० शर्मा शास्त्री- संत रविदास की भक्ति साधना, पृ०5

मनस्वी व्याख्याता एवं गायक रहे हैं-एक मात्र अनन्य रामभक्ति के भरोसे। ''मध्ययुगीन विषम परिस्थितियों में राम भक्ति के बल से निर्भय होकर रैदास जी ने मुस्लिम बाढ़ से आर्य संस्कृति के संरक्षणार्थ अभियान चलाया था। ये ऐसा मानते हैं कि माया ममता में फंसा स्वार्थ परायण एवं काम क्रोध लोभादि पंच विकारों में के वशीभूत व्यक्ति देश समाज की सेवा तो क्या अपनी सेवा भी नहीं कर सकता। इस काम के लिए तप, त्याग आत्म त्याग एवं ईश्वर के प्रति आत्मसर्पण भाव की आवश्यकता रहती है। ऐसे ही आत्मविश्वास के साथ इन्होंने स्वयं को ऊपर उठाया और तत्कालीन त्रस्त-ग्रस्त भारतीयों के मनोबल को ढाढस देकर भारतीय संस्कृति की रक्षा का संकल्प किया।''[1]

भारतीय संस्कृति के प्रतिपादक ग्रन्थों में कर्मफल का सिद्धान्त नितान्त स्पष्ट है। देह-धारी मानव को स्व-कृत अच्छे-बुरे कर्मो का फल अवश्य भोगना पड़ता है:- ''अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्''[2] यहां तक कि यह शरीर भी कर्मानुसार दु:ख! सुख भोगता है-

''कालकर्मगुणाधीनः देहोऽ यं पंचभौतिकः''[3]

शास्त्रानुमोदित इस कर्म सिद्धान्त का रविदास जी पूर्ण रूप में अनुसरण करते हैं और इस सिद्धान्त का अपनी वाणी में वर्णन भी किया है। रविदास जी इस बात को मानते हैं कि पूर्व जन्म में 'मैनें हरि भक्ति नहीं की तभी मुझे शूद्र घर में जन्म लेना पड़ा क्योंकि हरि भक्ति के बिना समस्त संसार ही शूद्र है।'

---

1 डॉ० बी० पी० शर्मा शास्त्री- संत रविदास की भक्ति साधना, पृ० 31
2 डॉ० बी० पी० शर्मा शास्त्री- संत रविदास की भक्ति साधना, पृ० 38
3 डॉ० बी० पी० शर्मा शास्त्री- संत रविदास की भक्ति साधना, पृ० 38

''तब रैदास कहै समुझाई, अँन जनम की कथा चलाई।

होता हौं विप्र हरि नहिं जान्या, ता ते मोहि सूद्र घरि आन्या।

कीयै भगति मोहि जग भौ सूधा, भगति बिना सब ही जग सूदा।''[1]

भारतीय संस्कृति में परनिन्दा को बुरा माना गया है। महाभारत में भीष्म पितामह युधिष्ठिर को समझाते हैं कि संसार में छः प्रकार के लोग दुःखी रहेंगे। सर्वप्रथम ईर्ष्या से परनिंदक व्यक्ति दुःखी प्राणियों में सबसे आगे हैं। इसके बाद दूसरों से घृणा करने वाला, असंतोषी, क्रोधी, शंकालु एवं दूसरों के सहारे जीने वाले सांसारिक लोग दुःखी रहेंगे।

''ईर्ष्यी घृणी त्वसंतुष्टः क्रोधनो नित्य शंकितः।

परभाग्योपजीवी च षडेते दुःख भागिनः।''[2]

रविदास जी इसी तथ्य को अपनी वाणी में कहते हैं-''बेशक कोई व्यक्ति समस्त भारत के अठसट तीर्थों में स्नान कर आए, काशी, अमरनाथ एवं रामेश्वरम् आदि बारह देव स्थानों में महादेव की पूजा-अर्चना कर आए और परोपकारार्थ कूरा एवं बावड़ियों का निर्माण करवा ले परन्तु यदि वह निन्दक है तो उसके ये सब धर्म-कार्य व्यर्थ हो जाएंगे।''[3] ऐसा व्यक्ति अनेक योनियों में भटकता रहता है। निन्दक पापी होता है और वह सीधा नरक में जाता है।

रविदास जी एक महान् विचारक थे जिन्होंने आध्यात्मिक, धार्मिक और सामाजिक चिन्तन के साथ-साथ राजनीतिक और सांस्कृतिक राष्ट्रीयता-सम्बन्धी विषयों पर भी अपने विचार प्रकट किये हैं। रविदास जी जिस सन्त मत के प्रचारक

---

1 डॉ० बी० पी० शर्मा शास्त्री- संत रविदास की भक्ति साधना, पृ० 39

2 डॉ० बी० पी० शर्मा शास्त्री- संत रविदास की भक्ति साधना में उद्धृत, पृ० 41

3 डॉ० बी० पी० शर्मा शास्त्री- संत रविदास की भक्ति साधना, पृ० 41-42

थे, उसमें मानवता को सर्वोपरि महत्त्व प्राप्त हुआ है संतों ने मानवता के नाते अपने-पराये सबको एक ही रूप में देखने की चेष्टा की है। ''संत रविदास ने हृदय से यह अनुभव किया कि हिन्दुओं और मुसलमानों में धार्मिक खाई बहुत गहरी बन गई है। यदि इस खाई को पाटा जाये तो इन दोनों में एकता स्थापित होनी सम्भव है। इसी कार्य को सम्पन्न करने के लिए इन्होंने धर्म को आधार बनाया। इन्होंने धर्म के उस उदार और उदात्त रूप का निरूपण किया जिससे हिन्दू और मुसलमान दोनों एक-दूसरे के निकट आने लगे। नीच और पतित जातियों पर इनके विचारों का विशेष प्रभाव पड़ा। इनके विचारों ने यह सिद्ध कर दिया कि भारतीय संस्कृति केवल ब्राह्मणों की बपौति नहीं बल्कि वह जन-जन की संस्कृति है। इनके अनुयायियों में हिन्दुओं की संख्या अधिक थी, परन्तु मुसलमानों ने भी इन्हें महापुरूष के रूप में समादृत किया था।''[1]

रविदास जी समद्रष्टा थे। इसीलिए उन्होंने राम और रहीम के भेद को मिटाकर भक्ति के व्यापक तथा सर्वजनीन भाव को स्वीकार किया। आपने जन-साधारण को भक्ति-मार्ग अपनाने का सन्देश दिया। रविदास मानते थे कि जब तक किसी की आत्मा नाम तथा रूप के भेद में दबी हुई है, जब तक किसी की आत्मा नाम तथा जाति की बुरी और तुच्छ भावनाओं से मैली है, जब तक वह जन्म तथा जाति की बुरी और तुच्छ भावनाओं से मैली है, तब तक उसे परमात्मा का प्रकाश नहीं मिल सकता। रदिदास जी ने समत्व की भावना के द्वारा मानव-मानव में एकत्व की भावना का निर्माण किया। ''रूढ़िग्रस्त भारतीय जनता को, धर्म के ठेकेदारों के प्रभाव तले दबे हुए समाज को, सामन्तों के कठोर हाथों से पीड़ित हुई देश की अधिकांश संख्या को विद्रोही विचारों से उत्तेजित कर इन्होंने पुरातन तथा जर्जर इज़ारे तोड़कर

---

1 डॉ० पदम गुरचरन सिंह-संत रविदास विचारक और कवि, पृ०135

सभी को समता-भाव की मृदुल भूमि पर ला खड़ा किया। हम इनकी वाणी में सभी संस्कृतियों के एकीकरण का मनोरम भाव पाते हैं, जिस की राष्ट्र को सदा आवश्यकता बनी रहेगी।''[1]

रविदास जी की वाणी में देश-प्रेम की भावना भी पायी जाती है। इनकी वाणी में पराधीनता को कलंक माना गया है। पराधीनता से छुटकारा पाने के लिए मनुष्य को स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा दी है। रविदास जी ने सर्वप्रथम आजादी का नारा बुलंद किया। रविदास जी के अनुसार गुलामों का अपना कोई धर्म नहीं होता। उन्होंने मुक्ति का संदेश देते हुए कहा है-

''पराधीन का दीन क्या, पराधीन बेदीन।

रविदास दास पराधीन को, सभी समझें हीन।।'[2]

रविदास जी ने जांति-पाति, ऊंच-नीच आदि भावनाओं को कोई महत्त्व प्रदान नहीं किया। इन्होंने स्पष्ट घोषित किया कि जाति से कोई छोटा-बड़ा नहीं होता बल्कि मनुष्य के महान् और तुच्छ की कसौटी तो प्रभु-भक्ति है-

''जाति ते कोई पद-नहि पहुंचा,

राम भगति विसेख रे।'[3]

रविदास जी के अनुसार परमात्मा सब का निर्माता है। अत: कोई ऊंची जाति अथवा नीची जाति का नहीं है, अपितु सब समान है। परमात्मा की भक्ति से पतित से पतित व्यक्ति का उद्धार हो जाता है। रविदास जी के अनुसार ब्राह्मण हो अथवा

---

1 डॉ० पदम गुरचरन सिंह-संत रविदास विचारक और कवि में उद्धृत, पृ०136

2 सं० मीरा गौतम- गुरु रविदास : वाणी एवं महत्त्व में उद्धृत, पृ०405-406

3 डॉ० पदम गुरचरन सिंह-संत रविदास विचारक और कवि में उद्धृत, पृ०135

चाण्डाल, क्षत्रिय हो अथवा शूद्र, सारे प्रभु-भक्ति करके उसे प्राप्त कर सकते हैं। संत रविदास निराकार, परमब्रहम के उपासक थे, उनका 'राम' दशरथ के 'राम' से अलग घट-घट में व्याप्त आध्यात्मिक 'राम' था। रविदास जी की भक्ति का मूलसार प्रेम था। उन्होंने भिक्षाटन भ्रमण-संस्कृति को ठुकराकर 'श्रम-संस्कृति' को अपनाया। रविदास जी सच्चे समाज सुधारक, समतावादी और मानवतावादी महर्षि थे। तभी उन्होंने स्वराज्य की परिकल्पना की। जिसमें न किसी को कोई गम है, न दुःख, न चिंता। जहाँ न कोई छोटा है, न कोई बड़ा।

''संत शिरोमणि गुरु रविदास जी पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने मनुस्मृति की वर्ण व्यवस्था को तोड़ते हुए शिक्षा-दीक्षा देने के ब्राह्मणों के एकाधिकार को चुनौती दी। 'स्त्रीशूद्र न अधियताम्' यानि स्त्री और शूद्रों को शिक्षा ग्रहण करने का अधिकार नहीं है। गुरु रविदास जी ने इस वेद वाक्य को चुनौती देते हुए जहाँ दलितों (शूद्रों) के लिए शिक्षा के द्वार खोले वहाँ महारानी मीराबाई और महारानी झाली को दीक्षा लेकर स्त्री-शिक्षा और भगवान भक्ति के मार्ग खोल दिये।''[1] रविदास जी दलित साहित्य के 'आदि कवि' और 'जनक' हैं। जिन्होंने अपनी वाणी के द्वारा समाज के सबसे नीचे के दलित, उपेक्षित और अधिकारों से वंचित जातियों को अभिव्यक्ति का मार्ग प्रशस्त किया। रविदास जी की वाणी में सांस्कृतिक राष्ट्रीयता की भावना अपने उदात्त रूप में मिलती है। इसमें विभिन्न धर्मो और वर्गो में समत्व पैदा करने का प्रयत्न किया गया है। रविदास जी की सांस्कृतिक चेतना आज के भारत के लिए भी बहुत लाभदायक है।

---

1 सं० मीरा गौतम- गुरु रविदास : वाणी एवं महत्व, पृ०407-408

3.9 निष्कर्ष

मध्ययुग में ऐसे महान् और विलक्षण प्रतिभा-सम्पन्न महापुरूष का आविर्भाव हुआ था, जिनका नाम भारत के धार्मिक और सामाजिक इतिहास में सदा-सर्वदा के लिए बना रहेगा। सदगुरु संत रविदास का व्यक्तित्व बहुमुखी और विलक्षण था। उन्होंने अपने युग के समाज को बड़ी सूक्ष्मता से देखा-परखा था। उन्होंने तद्युगीन परिवेश और स्वानुभूति के आधार पर जीवन के रहस्य का जो ज्ञान प्राप्त किया था उसे ही अपने जीवन-दर्शन के निर्माण-हेतु प्रयुक्त किया। आपके जीवन-दर्शन में जहां एक ओर भारतीय दर्शन की सुगंध आती है वहां दूसरी ओर नई उद्भावनाएं अपना प्रकाश बिखेरती हैं। उन्होंने अपनी प्रतिभा के द्वारा 'कथनी और करनी' में सुमेल पैदा किया और इसी पर सिद्धान्त और व्यवहार को सम-भूमि पर खड़ा किया। उनका आध्यात्मिक चरम-लक्ष्य जहां 'ब्रह्मानन्द' की प्राप्ति था वहाँ सामाजिक लक्ष्य का शिखर 'लोक-मंगल' की भावना में सन्निहित था। इसी कारण रविदास वाणी में परम तत्त्व की साधना के साथ-साथ आचरण की साधना पर भी बल दिया गया है।

रविदास जी परम संत और शिरोमणि भक्त भी थे। उन्होंने साधना-क्षेत्र में परम्परागत कर्म, योग, ज्ञान और भक्ति का समन्वय कर एक नयी साधना-पद्धति का निर्माण किया। धार्मिक क्षेत्र में, उन्होंने अपने सहज धर्म के द्वारा जन-साधारण को स्वतन्त्र चिन्तन के लिए अनुप्रेरित किया था। उन्होंने भारतीय धर्म में से रूढ़ियों और अंध-विश्वासों को समाप्त कर धर्म के सहज और उदात्त रूप का प्रचार और प्रसार किया। उन्होंने मनुष्य को सम्प्रदाय, जाति तथा वर्ग आदि के संकीर्ण बन्धनों से निकाल कर विश्व-मानव समाज का अंग बनाया था। उनका सामाजिक लक्ष्य सर्वोदय और विश्व-भ्रातृत्व की भावना की संस्थापना था। कवि रूप में उन्होंने व्यक्ति और

समाज की समस्याओं का समाधान वाणी के माध्यम से किया। उन्होंने जन-साधारण के कल्याणार्थ लोकभाषा को संवारा और समृद्ध बनाया। संत रविदास जी ब्राह्मणवाद के मुट्ठी भर अनुयायियों के प्रतिनिधि कवि नहीं थे, वे तो जन-साधारण के कवि थे।

रविदास जी जहां उच्च कोटि के सन्त भक्त थे, वहां वे सच्चे अर्थो में श्रम साधक भी थे। रविदास जी द्वारा मिथ्या-बाह्याडम्बरों का विरोध एवं प्रेम भक्ति का उनका संदेश तथा सत्संगति पर विशेष बल उन्हें महान बनाता है। आप व्यावहारिक जीवन जीने वाले प्रेम पुजारी थे। उनका मार्ग प्रेम का मार्ग है जिसमें सहज शून्य की, निर्गुण परब्रह्म की हार्दिक प्रेम भक्ति का प्रकाश सर्वत्र प्रसारित हो रहा है। रविदास जी के चिन्तन द्वारा भारतीय संस्कृति को जो रूप प्राप्त हुआ, वह अपने युग के लिए ही नहीं अपितु हमेशा के लिए रक्षणीय और उपयोगी है।

चतुर्थ :अध्याय

कबीरदास : जीवन व्यक्तित्व, रचना संसार और विचार

4.1 कबीरदास का जीवन – परिचय

कबीर की अपनी अकथ कथा ही है। अभी तक उनकी अकथ कथा अर्थात् उनके जीवन का पूर्ण परिचय प्राप्त नहीं हो सका। भारतवर्ष के भक्त कवियों की यह प्रणाली रही है कि वे अपने विषय में बहुत कम लिखते थे। भक्तिकालीन साधकों ने भी अपने बारे में बहुत कम लिखा है। इसका कारण यह था कि वे भौतिक व्यक्तित्व से ऊपर उठ गए थे। भौतिक व्यक्तित्व से ऊपर उठने का अर्थ है अहम् का नाश। अहं के नाश से यही अभिप्राय है कि साधक या कवि अपने बारे में कुछ न कहे। इसीलिए इन्होंने Biographical Details जीवन – चरित सम्बन्धी ब्योरा नहीं दिया। जो थोड़ा – बहुत अपने विषय में उन्होंने कहा भी है वह अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादन के रूप में। ''कबीर का जीवन वृत्त अनेक दैवी कल्पनाओं, संभावनाओं एवम् लोकगल्पों पर आधारित है। जिन सूत्रों से कबीर के जीवन – वृत्त को गढ़ा गया है, वे अविश्वसनीय अधिक, विश्वसनीय कम है। जब कोई अतिशय प्रतिभाशाली अलौकिक व्यक्तित्व अवतरित होता है तो कार्य – करण की सामान्य शृंखला टूटती – बिखरती नज़र आती है। सामान्य मनुष्य को उस व्यक्ति के विषय में बहुत कुछ नये तरीके से सोचने – समझने के लिए विवश होना पड़ता है, यही विवशता तरह – तरह के अनुमानों एवम् अटकलों को जन्म देती है।''[1] कबीर के विषय में अपना मत प्रस्तुत करने वाले न तो गतानुगतकों की कमी है और न क्रांतिकारियों की। कबीर विश्व – साहित्याकाश के देदीप्यमान सूर्य हैं, जो युगों – युगों से अपनी एकनिष्ठ साधना और अलौकिक प्रतिभा के बल पर आलोकित होते रहे हैं।

---

1 सं० रामकिशोर शर्मा – कबीर ग्रंथावली (सटीक), पृ० 1

कबीर का जीवनवृत्त कुछ घटनाओं किंवदन्तियों और यदा-कदा उल्लेखों के रूप में हमारे सामने आता है। कबीर ने अपने अनुभव के आधार पर मौखिक रूप में ही अपने समय का यथार्थ व्यक्त किया है। अन्तर्साक्ष्य के अनुसार उनके जीवन का परिचय विशेषरूप से नहीं मिल पाता। वरन् कुछ जनश्रुतियों तथा अन्य प्रमाणों को आधार मान कर कबीर के जीवनवृत्त का ज्ञान अन्तर्साक्ष्य और बाह्यर्साक्ष्य के आधार पर जानने का प्रयास किया गया है।

4.11 अन्तर्साक्ष्य तथा बाह्यर्साक्ष्य

अन्तर्साक्ष्य

इन महान पुरूषों के मुखारबिन्दु से जो कुछ अप्रत्यक्ष रूप से निकल गया, उसी अन्तर्साक्ष्य के आधार पर ही सन्तोष करना पड़ता है। कबीर के अन्तर्साक्ष्य-सामग्री के रूप में एक विशाल साहित्य पाया जाता है। उसमें से कबीर-कृत कितना है, इसकी पहचान करना भी कष्टसाध्य कार्य है। ''प्रामाणिकता की दृष्टि से कबीर की वही रचनाएँ प्रामाणिक मानी जा सकती हैं जो कबीर-युग की भाषादि के प्रयोग के अनुरूप भाषादि के प्रयोग की हों या उस युग की प्रख्यात कृति हों अथवा उनकी मृत्यु के कुछ वर्ष बाद की कृति हों।''[1] भाषादि की दृष्टि से कबीर-कृत्तियों के प्रकाशित संग्रहों में दो अधिक प्रामाणिक माने जाते हैं-

(क) डॉ० श्यामसुन्दरदास जी द्वारा सम्पादित तथा संकलित 'कबीर-ग्रन्थावली'।

(ख) डॉ० रामकुमार वर्मा द्वारा संकलित तथा सम्पादित 'संत कबीर'।

(क) कबीर ग्रन्थावली

डॉ० श्यामसुन्दरदास ने संचयन का आधार दो हस्तलिखित प्रतियों को बताया है। कबीरदास जी के ग्रन्थों की इन दो प्रतियों में से एक तो संवत् 1561 की लिखी

---

1 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'-कबीर-दर्शन, पृ० 4

है और दूसरी संवत् 1881 की। ''यद्यपि इन दोनों प्रतियों के लिपिकाल में 320 वर्ष का अंतर है पर फिर भी दोनों में पाठभेद बहुत ही कम है। 'संवत् 1881 की प्रति में संवत् 1561 वाली प्रति की अपेक्षा केवल 131 दोहे और 5 पद अधिक हैं।''[1]

(ख) संत कबीर

डॉ० रामकुमार वर्मा ने 'संत-कबीर' का संचयन 'गुरु-ग्रन्थ साहब' में दी हुई कबीर बानियों के आधार पर किया है। ''गुरु ग्रन्थ साहब में दी गई कबीर की बानियाँ, ज्यों की त्यों, संत कबीर में अंकित हैं।''[2] सिख संप्रदाय के पूज्य धर्मग्रन्थ श्री गुरु ग्रंथ साहब में कबीर का काव्य भी संकलित है। उसमे 228 पद और 243 सलोक (साखियाँ) हैं। यह गुरुग्रंथ साहब सन् 1604 (संवत् 1661) में श्री गुरु अर्जुन देव द्वारा संकलित किया गया था। धर्मग्रन्थ होने के कारण श्री गुरुग्रन्थ साहब मंत्र रूप से मान्य है और उसके पाठ की रक्षा बड़ी सावधानी से की गई है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में संकलित कबीर के काव्य का रूप सन् 1604 से अब तक अपने मौलिक रूप में सुरक्षित है। अत: अभी तक के प्राप्त पाठों में श्री गुरुग्रन्थ साहब में संगृहीत कबीर के काव्य का पाठ अधिक से अधिक प्रामाणिक है।''[3] गुरुग्रन्थ साहब सिक्खों द्वारा 'देव-स्वरूप' पूज्य होने के कारण अपने रूप में अक्षुण्ण है और इसके पाठ को स्पर्श करने का साहस किसी को नहीं हो सका। यह ग्रन्थ गुरुमुखी लिपि में है। ''सबसे बड़ी बात तो यह है कि गुरुग्रन्थ साहब पंजाबी भाषा और गुरुमुखी लिपि में लिखा जाकर भी कबीर के काव्य का 'पूरबीपन' अधिक मात्रा में सुरक्षित किए हुए है। ग्रंथ में संकलित कबीर के पदों पर पंजाबीपन नहीं के बराबर है।''[4]

---

1 सं० श्यामसुंदरदास-कबीर ग्रंथावली, (भूमिका), पृ० 1

2 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'-कबीर-दर्शन, पृ० 4

3 रामकुमार वर्मा-संत कबीर, 'बीजक', पृ० 5

4 रामकुमार वर्मा-संत कबीर, 'बीजक', पृ० 6

अन्तर्साक्ष्य के अन्य ग्रंथों में 'बीजक' कबीर-पंथ में कबीर कृत तथा प्रामाणिक रचना मानी जाती है। बेलवेडियर प्रेस से प्रकाशित शब्दावली, साखीसंग्रह ज्ञानगूदरी, रेखते, झूलने और अखरावती आदि संकलनों से सहायता ली जा सकती है। कबीर बचनावली, पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' द्वारा सम्पादित, पुस्तक अपने ढंग की सुन्दर है। कबीरपंथी साधु युगलानन्द के सम्पादकत्व में 11 भागों का कबीर सागर, जिसे बोध सागर भी कहते हैं, श्री वेंकटेश्वर प्रेस द्वारा प्रकाशित है। इस पुस्तक से सहायता ली जा सकती है। प्रामाणिकता की दृष्टि से अन्तर्साक्ष्य में कबीर ग्रंथावली और संत कबीर का ही अत्यधिक प्रयोग किया गया है।

बाह्यर्साक्ष्य

कबीर के विषय में जो जानकारी दूसरों से प्राप्त होती है, वह बाह्यर्साक्ष्य के अन्तर्गत आती है। कबीर के जीवन से सम्बन्धित बाह्यर्साक्ष्य की सामग्री के रूप में वे प्राचीन ग्रन्थ जिनमें कबीर का कुछ न कुछ विवरण प्राप्त होता है, उपलब्ध हैं। समसामयिक तथा परवर्ती संतों के उल्लेख, कबीर से सम्बन्धित स्थान और वस्तुएँ, जनश्रुतियाँ, आधुनिक विद्वानों की समीक्षा आदि से उनके जीवन-वृत्त की सामग्री एकत्र की जाती है।

(क) प्राचीन ग्रन्थ

प्राचीन ग्रन्थों में नाभादास-कृत भक्तमाल, प्रियादास कृत 'भक्तमाल' की टीका, अनन्तदास द्वारा रचित कबीर साहब की 'परचई', 'गुरु-ग्रन्थ साहब, अबुलफ़ज़ल कृत आईन-ए-अकबरी, आदि प्रमुख रचनाएँ हैं। जिनमें कबीर का वर्णन पाया जाता है।

(ख) भक्तों तथा सन्तों के उद्‌गार

कई प्रमुख भगवद्‌भक्त तथा संतों की कृतियों में कबीर का उल्लेख पाया जाता है। संत रविदास जो कबीर के समकालीन तथा गुरुभाई भी थे, प्रमुख हैं। रविदास जी की बानी में एक स्थल पर उल्लिखित है-

''जाके ईदि बकरीदि कुल गऊ रे बधु करहि,
जाकै बापि वैसी करी पूत ऐसी करी।
तिहुरे लोक परसिद्ध कबीरा।।''[1]

अन्य संतों में सेन नाई, धनेजी भक्त, सन्त पीपा, सन्त गरीबदास, संत धर्मदास, संत तुकाराम आदि की बानियों में कबीर का वर्णन किया गया है। इनकी बानियों के द्वारा कबीर के जीवन पर यत्किंचित प्रकाश पड़ता है ।

(ग) कबीर – पंथीग्रन्थ

कबीरपन्थी साधु-महात्माओं ने भी कितने ही ग्रन्थों का संकलन तथा रचना की है जिनसे कबीर की जीवन-वृत्त सामग्री प्राप्त होती है। इनमें से प्रमुख और उल्लेखनीय है- अनुरागसागर, बोधसागर, कबीर चरित्रबोध, कबीर कसौटी, कबीर मंसूर, ग्रन्थ भवतारण आदि से कबीर-सम्बन्धी ज्ञान उपलब्ध होता है।

(घ) कबीर से सम्बन्धित स्थान और वस्तुएँ

''कबीर से सम्बन्धित स्थानों में सबसे अधिक विचारणीय काशी, मगहर और मानिकपुर है।''[2] कबीर के जीवन से सम्बन्धित प्राप्त वस्तुओं में से कबीरदास जी के विविध चित्र विशेष विचारणीय हैं। कबीर ( ) चौरा काशी का चित्र, ब्रिटिश म्यूज़ियम

---

1 डॉ० रामजीलाल 'सहायक' - कबीर - दर्शन में उद्‌धृत, पृ० 10

2 डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत - कबीर की विचारधारा, पृ० 14

वाला चित्र, कलकत्ता म्यूज़ियम का चित्र, गुरु अर्जुनदेव के लाहौर वाले गुरुद्वारे में फ्रेस्कों के रूप में वर्त्तमान चित्र, युगलानन्द द्वारा प्रदत्त चित्र, पूना की चित्रशाला वाला चित्र। ये विविध चित्र इनके जीवन पर प्रकाश डालने में सहायक सिद्ध होते हैं।

(ड.) किंवदन्तियाँ एवं जनश्रुतियाँ

कबीर के सम्बन्ध में अनेक जनश्रुतियाँ एवं किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। इनमें दो किंवदन्तियाँ अत्यधिक प्रचलित हैं- (1) कबीर का एक विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से उत्पन्न होना। (2) स्वामी अष्टानन्द द्वारा लहर तालाब में एक विचित्र ज्योति को अवतरित होते देखना।

(च) आधुनिक विद्वानों की समीक्षा

आधुनिक विद्वानों ने भी कबीर के जीवन-वृत्त की समीक्षा की है। जिनमें डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ० रामकुमार वर्मा, डॉ० बड़थ्वाल, डॉ० राम प्रसाद त्रिपाठी, डॉ० मोहनसिंह, श्री हरिऔध, डॉ० श्यामसुन्दरदास, डॉ० त्रिलोकी नारायण दीक्षित, डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत, पं० परशुराम चतुर्वेदी तथा सरनामसिंह शर्मा आदि की रचनाएँ प्रमुख हैं।

(छ) संस्कृत एवं अंग्रेजी के विद्वान

''संस्कृत एवं अंग्रेजी के विद्वानों ने भी कबीर के ऊपर अपनी कृतियों में प्रकाश डाला है। इन विद्वानों में डॉ० भण्डारकर, क्षितिमोहन सेन, वेस्कट, फर्कुहर, विल्सन, मैक्लिफ तथा के आदि प्रमुख हैं।''[1]

---

1 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन , पृ० 6

इस प्रकार अन्तर्साक्ष्य और बाह्यर्साक्ष्य की सामग्री के आधार पर कबीर के जीवन- वृत्त का विवेचन किया जा सकता है।

4.12 जीवन – वृत्त विवेचन

अन्तर्साक्ष्य और बाह्यर्साक्ष्य के आधार पर कबीर के जीवन को विभिन्न भागों में बाँटकर हम उनके प्रति जानकारी प्राप्त कर सकते हैं-

4.121 समय, जन्म – तिथि तथा जन्म – स्थान

समय

कबीर ने अपनी रचनाओं में जयदेव और नामदेव का उल्लेख किया है। ''जयदेव का समय बारहवीं शताब्दी तथा नामदेव का समय तेरहवीं शताब्दी का अन्तिम चरण माना जाता है।''[1] कबीर के समय का निर्देश अन्तर्साक्ष्य के प्रमाण के रूप में एक अवतरण में मिलता है।

''गुरु प्रसादी जैदेउ नामां।
भगति कै प्रेमि इनही है जाना''[2]

इससे ज्ञात होता है कि जयदेव और नामदेव कबीर से कुछ पहले हो चुके थे। ''बाह्यर्साक्ष्य-प्रमाण के रूप में कबीर का उल्लेख संवत् 1642 (सन् 1585) में नाभादास कृत भक्तमाल में तथा अबुल फजल अल्लामी के आईन-ए-अकबरी, सवंत 1655 (सन् 1598) में पाया जाता है ।''[3] जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि कबीर सन् 1598 के पूर्व ही दिवंगत हो चुके थे ।

---

1 डॉ० रामजीलाल 'सहायक' - कबीर - दर्शन, पृ० 17
2 डॉ० रामकुमार वर्मा - संत कबीर, पृ० 48
3 डॉ० रामजीलाल 'सहायक' - कबीर - दर्शन, पृ० 17

अधिकांश विद्वान सिकन्दर लोदी और कबीर को समकालीन मानते हैं। प्रियादास-कृत 'भक्तमाल की टीका' के आधार पर यह कहा जा सकता है। डॉ० रामकुमार वर्मा इस विषय में लिखते हैं-''संवत् 1702 (सन् 1655) में प्रियादास द्वारा लिखी गई नाभादास के भक्तमाल की टीका में कबीर का जीवन-वृत्त विस्तारपूर्वक दिया गया है। इस टीका में यह स्पष्ट होता है कि कबीर सिकंदर लोदी के समकालीन थे और सिकंदर लोदी ने कबीर के स्वतंत्र और 'अधार्मिक' विचार सुनकर उन पर मनमाने अत्याचार किए।''[1] डॉ० रामजीलाल 'सहायक' लिखते हैं- ''इस जनश्रुति की पुष्टि अन्तर्साक्ष्य-प्रमाण-'बाँधि-भुजा भलैं करि डाट्यौ, हस्ती कोयि मंड मैं मान्यौ' से तथा बहिस्साक्ष्य-'कोये बांभन और सन्यासी, करन चले कबीर की हांसी' से होती है।''[2] अत: यह कहा जा सकता है कबीर का समय तेरहवीं शताब्दी के उपरान्त चौदहवीं शताब्दी के आरम्भ से पूर्व नहीं था तथा पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण के पूर्व था।

जन्म-तिथि

कबीरदास की जन्म-तिथि विद्वानों के मध्य विवाद का विषय रही है। ऐसी रचनाओं का प्राय: अभाव सा है जिनमें इनकी जन्म-तिथि के विषय में किसी अधिकार के साथ चर्चा की गई हो। कबीर जी के विषय में जो कुछ लिखा गया है, वह सब जनश्रुतियों के आधार पर है। डॉ० रामकुमार वर्मा इस विषय में लिखते हैं-''कबीर पंथी साहित्य में एक ग्रंथ 'कबीर चरित्र बोध' अवश्य है जिसमें कबीर की जन्म-तिथि का निर्देश है। संवत् चौदह सौ पचपन विक्रमी जेठ सुदी पूर्णिमा सोमवार के दिन सत्य पुरूष का तेज काशी के लहर तालाब में उतरा। उस समय

---

1 डॉ० रामकुमार वर्मा-संत कबीर, पृ० 41

2 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन, पृ० 17

पृथ्वी और आकाश प्रकाशित हो गया। इस प्रकार कबीर-चरित्र बोध के अनुसार कबीर का आविर्भाव-काल संवत् 1455 (सन् 1398) है। संभवत: इसी प्रमाण के आधार पर कबीर पंथियों में कबीर के जन्म के संबंध में एक दोहा प्रचलित है।''[1]

''चौदह सौ पचपन साल गए, चन्द्रवार एक ठाट ठए।
जेठ सुदी बरसायत को, पूरनमासी प्रगट भए।''[2]

इस प्रकार कबीर का जन्म संवत् 1455 में जेष्ठ पूर्णिमा चंद्रवार को कहा गया है। इन पंक्तियों में प्रयुक्त 'गए' शब्द का अर्थ 'व्यतीत हुआ' ग्रहण करके डॉ० श्यामसुन्दरदास ने कबीर का जन्मकाल संवत् 1456 वि० सिद्ध किया है। डॉ० श्यामसुन्दरदास लिखते हैं- ''इसके अनुसार कबीरदास का जन्म लोगों ने संवत् 1455 में ज्येष्ठ शुक्ल पूर्णिमा चंद्रवार को माना है, परंतु गणना करने से संवत् 1455 में ज्येष्ठ शुक्ल पूर्णिमा चंद्रवार को नहीं पड़ती। पद्य को ध्यान से पढ़ने पर संवत् 1456 निकलता है, क्योंकि उसमें स्पष्ट शब्दों में लिखा है ''चौदह सौ पचपन साल गए'' अर्थात् उस समय तक संवत् 1455 बीत गया था।''[3] डॉ० रामकुमार वर्मा इस विषय में लिखते हैं-''डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने एस आर० पिल्ले की 'इंडियन क्रोनोलॉजी'के आधार पर गणित कर यह स्पष्ट किया है कि सं० 1455 की ज्येष्ट पूर्णिमा को सोमवार ही पड़ता है।''[4] आगे वे लिखते हैं-''गणित करने से स्पष्ट हो जाता है कि ज्येष्ठ पूर्णिमा संवत् 1456 को चंद्रवार नहीं पड़ता। अत: कबीर की जन्मतिथि के संबंध में संवत् 1455 की ज्येष्ठ पूर्णिमा ही अधिक प्रामाणिक जान पड़ती है।''[5]

---

1 डॉ० रामकुमार वर्मा-हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ०227
2 डॉ० रामकुमार वर्मा-हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ०227
3 सं० श्यामसुंदरदास-कबीर ग्रंथावली, पृ० 15
4 डॉ० रामकुमार वर्मा-संत कबीर, पृ० 52
5 डॉ० रामकुमार वर्मा-संत कबीर, पृ० 52

डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल का दोनों विद्वानों से विभिन्न मत है। उनके अनुसार कबीर का जन्म सं० 1427 के आस-पास उचित है। वे लिखते हैं-''कबीर के समय तक नामदेव करामाती कथाओं के केन्द्र हो गये थे जिससे मालूम होता हे कि वे कबीर से पहले हुए थे। नामदेव की मृत्यु सं० 1407 के लगभग हुई थी,अतएव कबीर का अविर्भाव सं० 1407 और 1447 के बीच किसी समय में मानना चाहिए। मेरी समझ में सं० 1427 के आस-पास उनका जन्म मानना उचित है,''[1] परन्तु अधिकांश विद्वानों ने भी कबीर की जन्मतिथि संवत् 1455 ही मानी है। डॉ० रामजीलाल 'सहायक' तथा डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत भी 1455 को अधिक उपयुक्त और तर्क संगत मानते हैं।

जन्म-स्थान

कबीर की जन्म-तिथि की भांति उनका जन्म-स्थान भी विद्वानों में मत-वैभिन्न्य का निमित्त रहा है। कबीर के जन्म-स्थान के विषय में कई स्थलों का ज्ञान होता है-मगहर, काशी, मिथिला, आजमगढ़ जिलान्तर्गत बेलहरा गाँव, मगहर और काशी का मध्यवर्ती जंगल, चन्दवार, टक्क-प्रदेश या कुरह परन्तु इन सब में से भी तीन मत अत्यधिक प्रचलित है-मगहर, आजमगढ़ जिलान्तर्गत बेलहरा गाँव तथा काशी।

(क) मगहर

मगहर को कबीर का जन्म-स्थान मानने वाले अपने मत की पुष्टि में यह दोहा उद्धृत करते हैं-

*''तोरे भरोसे **मगहर** बसिऔ मेरे तन की तपन बुझाई*
*पहले दरसन **मगहर** पायो पुनि कासी बसे आई''*[2]

---

1 पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल-हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ० 55

2 डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत- कबीर की विचारधारा, पृ० 32

कुछ विद्वानों का मानना है कि कबीर ने मगहर का उल्लेख कई बार किया है, मगहर को काशी के समान पवित्र बताया है तथा मरते समय वह मगहर चले गये थे। कबीर ने स्वयं मगहर-दर्शन की बात कही है। मगहर में मुसलमान जुलाहों के कई परिवार हैं-

*''जैसी **मगहर** तैसी कासी,हम एकै करि जानी।''*[1]

*''बहुत बरस तप कीया कासी, मरन भइया **मगहर** को वासी।''*[2]

*''सकल जनम सिवपुरी गंवाइया, मरतीवार **मगहर** उठि धाइया।''*[3]

इन पंक्तियों से इतना सिद्ध है कि कबीर साहब का मगहर से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा था।

(ख) आजमगढ़ जिलान्तर्गत बेलहरा गाँव

डॉ० रामजीलाल 'सहायक' इस विषय में लिखते हैं ''कुछ लोगों की धारणा है कि कबीरदास आजमगढ़ जिलान्तर्गत बैलहरा गाँव में उत्पन्न हुए थे। इस मत का आधार बनारस गजेटियर है। कहा जाता है कि वहाँ बेलहर नाम का तालाब है, उसे लहरताल कहते थे और वहीं कबीर साहब ने अवतार लिया था। खोज करने पर वहाँ कबीर से सम्बन्धित कोई स्मारक आदि कुछ नहीं मिला। अत: इसे कबीर का जन्मस्थान नहीं माना जा सकता।''[4] डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत का भी मानना है कि ''गजेटियर लेखक के अनुमान के आधार पर हम आजमगढ़ के बैलहरा गाँव को कबीर का जन्म स्थान नहीं मान सकते।''[5]

---

1 सं० डॉ० विजयेन्द्र स्नातक- कबीर वचनामृत, पृ० 5
2 सं० डॉ० विजयेन्द्र स्नातक- कबीर वचनामृत, पृ० 5
3 सं० डॉ० विजयेन्द्र स्नातक- कबीर वचनामृत, पृ० 5
4 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन, पृ० 24-25
5 डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत- कबीर की विचारधारा, पृ० 34

(ग) काशी

काशी को कबीर का जन्मस्थान मानने वाले विद्वानों का कहना है कि कबीरदास जी ने अपने को काशी का जुलाहा कहा है। जनश्रुतियाँ और कबीरपंथी ग्रन्थ सभी काशी को कबीर का जन्मस्थान मानते हैं। कबीर के शिष्य धर्मदास ने उनका जन्मस्थान काशी माना है। अनन्तदास तथा गरीबदास ने भी कबीर का जन्मस्थान तथा दीर्घकालीन निवासस्थान काशी ही ठहराया है। कबीर वाणी में काशी का कई बार उल्लेख किया गया है। इस मत की पुष्टि कई प्रमाणों से होती है -

*''तू ब्राह्मण मैं **कासी** का जुलाहा।''*[1]

*''**काशी** में हम प्रगट भए हैं रामानन्द चेताए।''*[2]

कबीर की कृतियों में बनारस, उसके ठग आदि का सजीव चित्र खींचा गया है। उनकी रचना में गंगा नदी के वर्णन पाये जाते हैं। 'काशी में हम प्रगट भए है' यह वाक्य कबीर-पन्थ में प्रचलित है जिससे उनका काशी में उत्पन्न होना सिद्ध होता है। डॉ० रामजीलाल 'सहायक'लिखते हैं-''बहिस्साक्ष्य से भी यही ध्वनित होता है कि कबीर का जन्मस्थान काशी था। गरीबदास के पारख को अंग, में-'गरीब कासी कस्त किया, उतरे अधर मंझार, अनन्तदास की परचई के अनुसार भी -'साचौ भगत कबीर है, कासी प्रगट्यौ' आई।' धनी धरमदास के अनुसार-'प्रगट भए कासी में दास कहाइया।''[3] अत: अन्तर्साक्ष्य तथा बाह्यर्साक्ष्य के आधार पर यह निश्चित होता है कि कबीर का जन्मस्थान काशी ही था।

---

1 सं० श्यामसुंदरदास-कबीर ग्रंथावली, पृ० 148

2 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन, पृ० 25

3 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन, पृ० 25

4.122 माता – पिता व जाति

माता – पिता

कबीर साहब के माता-पिता भी विवाद के विषय रहे हैं। इनके माता-पिता के सम्बन्ध में विद्वानों का एक मत नहीं हैं।

(1) श्रद्धालु कबीरपंथी कबीर को दिव्यगति-सम्भूत महापुरूष मानते हैं। उनका विश्वास है कि कबीर किसी लौकिक मां-बाप की सन्तान नहीं थे। अलौकिक दिव्य पुरूष की भाँति उनका जन्म हुआ था।

(2) एक सूचना के अनुसार कबीर का जन्म एक विधवा ब्राह्मणी की हथेली से हुआ था। अत: वे 'कबीर' थे और उनका नाम कबीर पड़ा।

(3) एक अन्य किंवदन्ती बताती है कि काशी के लहरतारा तालाब में खिले कमल के फूल पर आकाश से एक महापुरूष उतरा और वह शिशु हो गया।

(4) कुछ विद्वान कबीर को नीरू और नीमा का पोष्य पुत्र मानते हैं।

(5) कुछ विद्वानों का मत है कबीर नीरू और नीमा के औरस पुत्र थे।

(6) ''अहमदशाह के विचारानुसार कबीर के वास्तविक पिता का नाम स्वामी अष्टानन्द है जिन्होंने कबीर की ज्योति को सर्वप्रथम देखा था और स्वामी रामानन्द को उसकी सूचना दी थी, परन्तु हिन्दू-प्रथाओं के भय से कबीर की माता को अपनी पत्नी के रूप में स्वीकार नहीं किया''।[1]

(7) कुछ लोगों का अनुमान है कि कबीर साहब की माता वास्तव में एक विधवा ब्राह्मणी थी, जो संभवत: अपने पिता के साथ स्वामी रामानन्द के दर्शनों के लिए गई थी। उसके प्रणाम करने पर उक्त स्वामी जी ने उसे 'पुत्रवती भव' कहकर आशीर्वाद दे दिया था और उसी के परिणामस्वरूप कबीर साहब का उसके गर्भ से जन्म हुआ था। उस ब्राह्मणी ने लज्जावश इस नवजात शिशु को

---

1 उर्वशी सूरती-कबीर: जीवन और दर्शन, पृ० 37

काशी के लहर तालाब में डाल दिया था, जहां से नीमा और नीरू नामक दम्पत्ति ने इसे उठाकर इनका लालन-पालन किया।

इन सब मतों में से अधिकांश विद्वानों ने कबीर का जन्म विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से तथा नीमा और नीरू जुलाहे दम्पति के द्वारा लालित-पालित माना है। अन्तर्साक्ष्य में भी माता और पिता से सम्बन्धित शब्दों का कई स्थलों पर प्रयोग है-

माता से सम्बन्धित

''कहत कबीर सुनहु मेरी माई।
इन मुंडीअन मेरी जाति गवाई।''[1]

''मुसि मुसि रोवै कबीर की माई।
ए बारिक कैसे जीवहि रघुराई।।
तनना बुनना सभु तजिओ है कबीर।
हरि का नामु लिखि लीओ सरीर''[2]

''मुई मेरी माई हउ खरा सुरवाला।''[3]

पिता से सम्बन्धित

''बापि दिलासा मेरो कीन्हा।''[4]

''पिता हमारो बडगोसाईं।
तिसु पिता पहि हउ किउकरि जाई।।
सतिगुर मिले त मारगु दिखाइआ।
जगत पिता मेरे मनि भाइया।''[5]

---

1 डॉ० रामकुमार वर्मा-संत कबीर, पृ० 123
2 डॉ० रामकुमार वर्मा-संत कबीर, पृ० 129
3 डॉ० रामकुमार वर्मा-संत कबीर, पृ० 92
4 डॉ० रामकुमार वर्मा-संत कबीर, पृ० 92
5 डॉ० रामकुमार वर्मा-संत कबीर, पृ० 93

अन्तर्साक्ष्य के उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि कबीर के मानव-शरीरधारी माता-पिता अवश्य थे।

जाति

कबीर की जाति के संबंध में भी विवाद रहा है। उनकी जाति के संबंध में तीन मत है :

क) कबीर **गुसाईं** जाति से थे।

ख) कबीर **जुगी** जाति से थे।

ग) कबीर **कोरी या जुलाहा** जाति से थे।

(क) गुसाईं

कबीर को गुसाईं जाति का मानने वाले विद्वान कबीर के पद 'पिता हमारो बड़ गुसाईं तिसु पिता हउ किउ करि जाई' को आधार मानकर उन्हें गोसाईं जाति का सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं। डॉ० रामकुमार वर्मा इस विषय में लिखते हैं- ''कबीर ने अपने पिता को एक बड़ा गोसाईं कहा है। बनारस और उसके आसपास उस समय के गोसांई 'दसनामी' भेद से अपनी उपासना में कहीं शिव और कहीं विष्णु के भक्त होते थे। कबीर के पिता ऐसी जुलाहा-जाति में थे। जिसमें मुसलमानी संस्कारी के साथ ही साथ शिवोपासक योगियों के भी संस्कार थे और वे किसी शिवोपासक 'दसनामी' संप्रदाय में दीक्षित होने के कारण गोसाँई कहलाते थे।''[1] भक्तपरम्परा, कबीरपंथी-परम्परा तथा जनश्रुति से कबीर की जाति गोसाईं नहीं बतायी जाती। अत: पुष्ट प्रमाणों के अभाव में कबीर को गोसाईं जाति का नहीं माना जा सकता।

---

1 डॉ० रामकुमार वर्मा- संत कबीर, पृ० 67

(ख) जुगी

डॉ० रामजीलाल सहायक अपनी पुस्तक 'कबीर-दर्शन' में डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत व्यक्त करते हुए लिखते हैं-''डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कबीर का सम्बन्ध जुगी जाति से बताया है। उनका अनुमान है कि जोगी नामक जाति उत्तर भारत में फैली थी। ये नाथपंथी थे। कपड़ा बुनकर या गोरखनाथ और भरथरी के नाम पर भीख माँग कर जीविका चलाते थे।''[1] अन्तर्साक्ष्य तथा बाह्यर्साक्ष्य में इस मत को पुष्ट करने के लिए कोई भी प्रमाण नहीं मिलता।

(ग) कोरी या जुलाहा

कबीर ने कुछ स्थानों पर स्वयं को कोरी कहा है और कुछ स्थानों पर जुलाहा। ''कोरी जाति को अधिकांश विद्वान वस्त्र बुनने वाली हिन्दू धर्मावलम्बी जाति मानते हैं, किन्तु जब ये लोग इस्लाम धर्म ग्रहण कर लेते हैं तो जुलाहा कहलाने लगते हैं। वस्तुत: कोरी और जुलाहा एक व्यवसाय वाली समान धर्मा जाति हैं। इसीलिए आचार्य द्विवेदी कहते हैं कि कोरियों का ही मुसलमानी संस्करण जुलाहा है''।[2] डॉ० रामजीलाल 'सहायक' इस विषय में लिखते हैं-''कोरी शब्द का अर्थ होता है बिना धुला हुआ, कोरी चादर, कोरे थान आदि तथा कोरी का अर्थ होता है स्पष्ट, साफ-साफ। कबीर ने कोरी शब्द का प्रयोग खरी, परखी हुई, स्पष्ट, डंके की चोट आदि अर्थों में ही किया है।''[3] कबीर कहते है- ''हरि कौ नांव अभै-पद-दाता, कहै कबीरा कोरी।''[4]

---

1 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन, पृ० 37
2 सं० डॉ० विजयेन्द्र स्नातक- कबीर वचनामृत, पृ० 7
3 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन, पृ० 39
4 सं० श्यामसुंदरदास- कबीर ग्रंथावली, पृ० 175

अन्तर्साक्ष्य और बाह्यर्साक्ष्य के आधार पर अधिकांश विद्वान कबीर को जुलाहा मानने के पक्ष में हैं। वैसे उनके माता-पिता का नाम भी जुलाहा जाति से जुड़ा हुआ है। उनकी रचनाओं में भी व्यवसाय के रूप में कपड़े बुनने का वर्णन है, जो जुलाहा जाति का परम्परागत व्यवसाय है। इसके अतिरिक्त कबीर पन्थ के वाणी ग्रंथों में तथा परवर्ती कबीर-पन्थी सन्तों ने कबीर साहब को जुलाहा जाति का ही ठहराया है। भगत धने जी, नानक आदि ने कबीर को जुलाहा उल्लेखित किया है। कबीर जी की परचै में अनन्तदास ने जुलाहा ही बताया है-

''जाति ***जुलाहौ*** *कासी बसौ, सब को जानै हरि को रसो।।''*[1]

रज्जब जी

*''****जुलाहे*** *ग्रमे उत्पन्यो साध कबीर।''*[2]

कबीर ने अपनी रचनाओं में अनेक स्थल पर अपने को जुलाहा कहा है -

''जाति ***जुलाहा*** *नाम कबीरा, अजहूं पतीजौ नांहीं।''*[3]

'तूं ब्राह्मंण मैं कासी का ***जुलाहा****, चीन्हि न मोर गियाना।''*[4]

अन्तर्साक्ष्य और बाह्यर्साक्ष्य के आधार पर कबीर जुलाहा जाति के ही ठहरते हैं।

4.123 नाम

कबीर जी के नाम के संबंध में संदेह के लिए कोई स्थान नहीं है। कबीर ने अपनी रचनाओं में सर्वत्र अपने कबीर नाम का उल्लेख किया है। बाह्यर्साक्ष्य से भी

---

1 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन में उद्धृत, पृ० 39

2 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन में उद्धृत, पृ० 39

3 सं० श्यामसुंदरदास- कबीर ग्रंथावली, पृ० 154

4 सं० श्यामसुंदरदास- कबीर ग्रंथावली, पृ० 148

इस नाम की पुष्टि होती है। इनके नाम के सम्बन्ध में कई जनश्रुतियाँ हैं-एक किंवदन्ती है कि कबीरदास जी का जन्म हाथ के अँगूठे से हुआ था इसीलिये उन्हें करबीर या कबीर कहा जाने लगा। इस सम्बन्ध में एक दूसरी किंवदन्ती भी है। कहते हैं कि कबीर के नामकरण के अवसर पर काजी ने जब नाम निश्चित करने के लिए कुरान खोली तो उसे सबसे प्रथम कबीर शब्द दिखाई पड़ा इसीलिये उसने इनका नाम कबीर रख दिया। ''अरबी भाषा में कबीर का अर्थ महान् होता है। यह प्राय: ईश्वर के विशेषण के रूप में ही प्रयुक्त होता है।''[1] अन्तर्साक्ष्य में कबीर शब्द का प्रयोग कबीर, कबीरा, कब्बीर तथा दास कबीर, के रूप में पाया जाता है।

यथा-

*''**कबीरा** तू ही **कब्बीर** तू तोरो नाम **कबीर**।।''*[2]

*''कहै **कब्बीर** कोउ सुघरजन जौहरी, सदा सब धान पय नीर छानी।''*[3]

*''**दास कबीर** रांम कै सरनैं, ज्यूं लागी त्यूं तोरी।।''*[4]

अत: यह कहा जा सकता है कि कबीर जी ने समाज, धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र में जिस क्रान्ति को जन्म दिया उससे उनका नाम सार्थक हो गया।

4.124 गुरु तथा विद्याध्ययन

कबीर के गुरु का विषय भी विवादग्रस्त है। इस सम्बन्ध में कई मत प्रचलित हैं-

(क) कबीर के कोई **मानवगुरु** थे ही नहीं।

---

1 डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत-कबीर की विचारधारा, पृ० 32
2 डॉ० रामजीलाल 'सहायक' - कबीर-दर्शन में उद्धृत, पृ० 25
3 डॉ० रामजीलाल 'सहायक' - कबीर-दर्शन में उद्धृत, पृ० 25
4 सं० श्यामसुंदरदास-कबीर ग्रंथावली, पृ० 130

(ख) कबीर **शेख तकी** के मुरीद थे।

(ग) कबीर के **गुरु पीताम्बर** पीर थे।

(घ) कबीर के **गुरु मतिसुंदर** थे।

(ङ) कबीर के **गुरु रामानन्द** थे।

कबीर के कोई **मानव गुरु** नहीं थे। डॉ० रामजीलाल 'सहायक' के अनुसार ''प्रथम मत के प्रवर्त्तकों में डा०मोहन सिंह प्रमुख हैं। इनका विचार है कि कबीर ने किसी मनुष्य को अपना गुरु नहीं बनाया था। कबीर की रचनाओं में पाये जाने वाले गुरु शब्द को वह ब्रह्म के लिए प्रयुक्त हुआ बताते हैं।''[1]

कुछ विद्वानों की धारणा है कि कबीर **शेख तकी** के मुरीद थे। परन्तु कुछ के अनुसार कबीर बीजक में कई ऐसी पंक्तियाँ मिलती हैं। जिनसे यह प्रकट होता है कि शेख तकी उनके प्रतिद्वन्द्वी थे। ''कबीर सागर से ज्ञात होता है कि शेख तकी ने कबीर पर अत्याचार कराये थे।''[2] कबीर को मार डालने के प्रयास जब विफल हुए, तो शेख तकी को दु:ख हुआ था-

''शेख तकी तब मीजैं हाथा। सूखे से मुँह नहिं आवै बाता।''[3]

इससे यह सिद्ध होता है कि कबीर शेख तकी के मुरीद नहीं थे।

कबीर के गुरु **पीताम्बर पीर** थे। इस मत के समर्थक कबीर की एक रचना को आधार मानते हैं-

''हज हमारी गोमती तीर। जहाँ बसहिं पीताम्बर पीर।''[4]

---

1 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन, पृ० 29

2 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन, पृ० 30

3 राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी-संत कबीर, पृ० 18

4 परशुराम चतुर्वेदी-उत्तरी भारत की संत-परम्परा में उद्धृत, पृ० 160

कबीर जी पीताम्बर पीर की कुटिया पर सत्संग के लिए जाते थे और उसे वे 'हज्ज करना' बताते थे। वे हिन्दू-मुसलमान का भेद न मानते थे। विद्वानों का मानना है इनकी महानता के कारण कबीर की इनमें श्रद्धा रही हो, परन्तु कबीर ने उनमें अपना गुरुभाव स्थापित नहीं किया।

कबीर में एक स्थान पर आता है-

*''कहै कबीर सुनहु **मतिसुंदर** राजा राम रमौ रे।''*[1]

इसके आधार पर कुछ लोग **मतिसुंदर** को उनका गुरु मानते हैं। इस पंक्ति के आधार पर इतना कहा जा सकता है कि मतिसुंदर उनके समय के कोई व्यक्ति थे, इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि वे कबीर के गुरु थे।

रामानन्द को कबीर का गुरु मानने वालों का मत अधिक है। ''यह मत कबीरपंथियों में प्रचलित है। जनश्रुतियों द्वारा भी यह अनुमोदित है। 'भक्तमाल,' 'कबीर साहब की परचई,' 'दबिस्ताने मजाहिब', 'तजकिरुल फोकरा' आदि अनेक ग्रंथ भी यही मत देते हैं।''[2] कबीर-पंथी-परमपरा के अनुकूल रामानन्द कबीर के गुरु बताये जाते है। पंथ में यह दोहा प्रचलित है-

''भक्ती द्राविड़ ऊपजी, लाए रामानन्द।
कबीर ने परगट करी, सात दीप नवखंड।।''[3]

इस मत की पुष्टि के लिए कुछ ओर तर्क भी दिये जाते हैं- (1) रामानन्द और कबीर समकालीन थे। (2) रामानन्द और कबीर की विचारधारा में साम्य है।

---

1 डॉ० भोलानाथ तिवारी-कबीर जीवन और दर्शन, पृ० 32
2 डॉ० भोलानाथ तिवारी-कबीर जीवन और दर्शन, पृ० 32
3 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन, पृ० 32

(3) बाह्यर्साक्ष्य प्रमाणों के आधार पर भी रामानन्द कबीर के गुरु सिद्ध होते हैं। यदि हम अन्तर्साक्ष्य पर नज़र डाले तो कबीर की रचना में एक स्थल पर आता है-

''कबीर गुरु बसे बनारसी, सिष समदा तीर।
बिसार्‌या नहीं बीसरे, जे गुण होय सरीर।।''[1]

इस साखी से प्रकट होता है कि कबीर के गुरु बनारस में थे। बनारस में उस समय रामानंद से महान और कोई दूसरा आचार्य न था। अत: रामानन्द को कबीर का गुरु मानना अधिक उपयुक्त तथा तर्कसंगत है।

जहाँ तक कबीर के विद्याध्ययन और पुस्तक ज्ञान का सम्बन्ध है उसमें वे बिल्कुल कोरे थे। उन्होंने नि:संकोच रूप से यह बात स्वीकार भी की ''विद्या न परउ वाद नहिं जानउ''[2] तथा ''मसि कागद छुयो नहीं, कलम गही नहिं हाथ''[3]। इस सम्बन्ध में पुष्पा कुमारी शर्मा 'कौशिक' लिखती हैं- ''यद्यपि कबीर शिक्षित नहीं थे परन्तु थे 'वाणी के डिक्टेटर' उन्होंने कागद-मसि को छूआ तक नहीं था। उनका ज्ञान साधु-संगति से ही संवर्धित हुआ था। - - -साधु-संगति से उनके विचारों में इतना ओज और वाणी में इतनी शक्ति आ गई कि शब्द स्वयं जुटने लगे। कबीर में यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि उन्हें विचाराभिव्यक्ति के लिए कोई विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ा। भाषा भावों से स्वत: निकलती गई।''[4] अत: यह कहा जा सकता है कि पुस्तक अध्ययन नहीं के बराबर होते हुए भी कबीर का

---

1 डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत-कबीर की विचारधारा में उद्‌धृत, पृ० 46
2 डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत-कबीर की विचारधारा में उद्‌धृत, पृ० 47
3 डॉ० पुष्पपाल सिंह-कबीर ग्रन्थावली (सटीक), पृ० 12
4 पुष्पा कुमारी शर्मा 'कौशिक'-कबीर, पृ० 14

जीवन-अध्ययन बड़ा गहरा था। इसीलिए कबीर अपने युग के महान् पथ स्रष्टा बन सके।

4.125 पारिवारिक जीवन और व्यवसाय

परम्परा के अनुसार यह माना जाता है कि कबीर के अतिरिक्त उनके परिवार में नीरू (पिता), नीमा (माता), लोई (पत्नी या शिष्या) तथा कमाल और कमाली (संतान) थे। कबीर पंथ के लोगों का विश्वास है कि उन्होंने विवाह नहीं किया था। जनश्रुति है कि उनका विवाह हुआ था और उनकी पत्नी का नाम 'लोई' था। पंथ के लोगों ने 'लोई' को उनकी शिष्या माना है। जिसे किसी वनखण्डी ने गंगास्नान के समय किनारे पर लोई में लिपटा पाया था। कबीर ने अपनी रचनाओं में लोई का प्रयोग प्राय: सम्बोधन के रूप में किया है-

*''कहत कबीर सुनहु रे **लोई**। हरि बिन रारवनहार न कोई।।''*[1]

अन्य प्रकार के प्रयोग भी 'लोई' के हैं जैसे -

*''माया मोह भूले सब **लोई**।''*[2]

*''का नट भेष भगवा बस्तर भसम लगावे **लोई**''*[3]

कुछ लोगों का विचार है कि 'लोई' का अर्थ कबीर ने 'लोग' को सम्बोधित करके कहा है। ''गलती से लोगों ने 'लोई' को स्त्री समझ लिया और यह जनश्रुति चल पड़ी कि वे विवाहित थे।''[4] डॉ० रामकुमार वर्मा के अनुसार- ''कबीर की

---

1 डॉ० भोलानाथ तिवारी-कबीर जीवन और दर्शन, पृ० 29
2 डॉ० भोलानाथ तिवारी-कबीर जीवन और दर्शन, पृ० 29
3 डॉ० भोलानाथ तिवारी-कबीर जीवन और दर्शन, पृ० 29
4 डॉ० भोलानाथ तिवारी-कबीर जीवन और दर्शन, पृ० 30

संभवत: दो स्त्रियाँ थीं। पहली कुरुप थी, उसकी जाति का कोई पता नहीं था और उसमें गार्ह्यस्थ के कोई लक्षण नहीं थे। दूसरी सुन्दर थी, अच्छी जाति की थी तथा अच्छे लक्षणों से संपन्न थी। पहली स्त्री का नाम था 'लोई' और दूसरी स्त्री का नाम था 'धनियाँ', जिसे लोग 'रामजनियाँ' भी कहते थे। संभवत: यह वेश्या रही हो किन्तु कबीर की दृष्टि में वेश्या किसी भाँति हीन न समझी गई हो।''[1] उर्वशी सूरती इस सम्बन्ध में लिखते हैं- ''उनकी एक ही पत्नी थी और उनके नाम तीन थे-पालक पिता द्वारा 'धनिया' नामकरण हुआ और उसे 'लोई' दुलारवश कहते रहे। साधुओं ने उसे प्रसूत्र होकर 'रामजनिया' कहकर उसके भक्त-हृदय की सराहना की। यदि कबीर के द्वारा दो पत्नियों का उल्लेख मान लिया जाय, तो वह अध्यात्मपरक व्याख्या से स्पष्ट होता है और भ्रांति का निवारण कर देता है।''[2]

कबीर की संतान के सम्बन्ध में भी अनिश्चय की स्थिति है जनश्रुति के अनुसार 'कमाल' और 'कमाली' उनकी सन्तानें मानी जाती रहीं हैं। अपने लड़के कमाल से कबीर अप्रसन्न भी थे। उन्होंने कहा है-

''बूड़ बंस कबीर का उपजा पूत कमाल।
हरि का सुमिरन छाड़ि के भर ले आया माल।''[3]

एक अन्य मत के अनुसार इनके दो पुत्र कमाल और निहाल तथा दो पुत्रियाँ 'कमाली'और 'निहाली' थीं। कबीर का गृहस्थ-जीवन सुखमय नहीं था। परिवार के भरण-पोषण का समूचा भार कबीर के ही कंधों पर था। कबीर साधु सन्तों के सत्कार में अधिक लगे रहते थे। घर में जो कुछ अच्छा भोजन बनता था वह तो वे

---

1 डॉ० रामकुमार वर्मा-संत कबीर, पृ० 65
2 उर्वशी सूरती-कबीर: जीवन और दर्शन, पृ० 45
3 डॉ० भोलानाथ तिवारी-कबीर जीवन और दर्शन, पृ० 30

साधु सन्तों को खिला देते थे, चबैना आदि उनकी स्त्री को खाना पड़ता था तभी तो वह कहती थी-

''मूंड पलोसि कमर बधि पोथी।
हम कउ चाबनु उन कउ रोटी।।''[1]

अत: यह कहा जा सकता है कि कबीर का पारिवारिक जीवन सुखमय और सफल न होते हुए भी उनके लिए साधना की प्रेरणा था। आप दु:ख-संताप सहते हुए भी सफल साधक बन सके और रहनी स्थिति का आदर्श विश्व को दे सके।

व्यवसाय

कबीर जी सद्गृहस्थ थे। सांसारिक दायित्वों से बँधे होने के कारण वे अपनी जीविका कपड़ा बुनने के व्यवसाय से जुटाते थे। उनका सम्बन्ध जुलाहा जाति से था, जो वस्त्र तैयार करने का काम करती है। जुलाहे सदैव से ही वयन जीवी रहे हैं। कबीर भी कपड़े बुनने का ही व्यवसाय करते थे। उन्होंने कहा भी है-

''हम घर सूत तनहि नित ताना कंठि जनेऊ तुमारे।''[2]

''कबीर साहब ने अपने वंश परम्परागत व्यवसाय को छोड़ा नहीं और उसे जीविका के रूप में निरन्तर जारी रखा। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में जुलाहे के व्यवसाय का वर्णन अनेक बार मिलता है। ताना-बाना, सूत-कपास, कातना-बुनना आदि शब्दों से उन्होंने अनेक आध्यात्मिक रहस्यमयी दार्शनिक बातें सुलझाई हैं। अनेक पदों में पूरा व्यवसाय आलंकारिक शैली में वर्णित है।''[3] कबीर ने

---

1 डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत-कबीर की विचारधारा में उद्धृत, पृ० 49
2 डॉ० रामकुमार वर्मा-संत कबीर, पृ० 116
3 सं० डॉ० विजयेन्द्र स्नातक-कबीर वचनामृत, पृ० 14

अपने व्यवसाय को कभी छोटा नहीं माना। सन्तों की यह विशेषता रही है। उन्होंने अपने व्यवसाय को सात्त्विकता प्रदान कर गौरवपूर्ण बना दिया था।

4.126 मृत्यु–तिथि तथा स्थान

मृत्यु तिथि

जन्मतिथि के समान कबीर की मृत्यु-तिथि भी विवादग्रस्त है। कबीर की मृत्यु-तिथि के सम्बन्ध में चार मत हैं-संवत् 1505, संवत् 1575, संव्त 1569, तथा संवत् 1549। अन्तर्साक्ष्य से प्रतीत होता है कि कबीर ने दीर्घायु पायी थी-

''सीस चरन कर कंपन लागे, नैंन नीर अस राल बहै।
जिभ्या बचन सूध नहीं निकसै।''[1]

डॉ० रामजीलाल 'सहायक' ने कबीर की मृत्यु-तिथि का निर्णय बहुत उपयुक्त किया है, वे लिखते हैं-''बहिस्साक्ष्य में अनन्तदास की परचई के अनुसार कबीर ने 120 वर्ष की आयु पायी थी। कबीर की जन्मतिथि में, जो संवत् 1455 निश्चित की जा चुकी है, 120 वर्ष जोड़ देने पर संवत् 1575 आता है। इसी तिथि को कबीर की प्रामाणिक मृत्यु-तिथि मानना चाहिए। इसे मान लेने पर कबीर को सिकन्दर लोदी, रामानन्द, नानक आदि के समकालीन मानने में बाधा नहीं पड़ती। - - - कबीर के परमशिष्य धर्मदास ने संवत् 1521 अर्थात् उनके जीवन काल ही में उनकी रचनाओं का संग्रह करना आरम्भ कर दिया था, इससे भी उनकी मृत्यु-तिथि संवत् 1575 मानने में बाधा नहीं पड़ती। कबीर के प्राप्त चित्रों से भी प्रतीत होता है

---

1 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन में उद्धृत, पृ० 46

कि कबीर दीर्घायु भोग कर सतलोकगामी हुए थे।''[1] अत: यह कहा जा सकता है कि कबीर की मृत्यु-तिथि संवत् 1575 ही तर्क संगत है।

''संवत् पन्द्रह सौ पछहत्तर, कियो मगहर कौ गौन।
माघ सुदी एकादसी, रलो पौन में पौन।।''[2]

स्थान

किंवदन्ती, भक्त-परम्परा तथा कबीर पन्थी परम्परा के अनुसार, यह प्रचलित है कि कबीर ने मगहर में शरीर-त्याग किया था। अनन्तदास की ''कबीर जी की परचै'' से भी इस बात की पुष्टि होती है। अन्तर्साक्ष्य के द्वारा भी यह सिद्ध होता है-

''सगल जनमु सिवपुरी गवाइआ।
मरती बार मगहरि उठि आइआ।।
बहुतु बरस तपु कीआ कासी।
मरनु भइआ मगहर की बासी।।''[3]

कबीर का जीवन अन्धविश्वासों का विरोध करने में ही बीता था। अपनी मृत्यु से भी उन्होंने इस उद्देश्य की पूर्ति की। मगहर के विषय में किंवदन्ती है कि वहां मरने से नरक भोगना पड़ता है और काशी में देह त्याग से बैकुंठ मिलता है। कहते हैं कबीर ने इस किंवदन्ती को चुनौती देकर मगहर को अपना प्राण-त्याग का स्थान बनाया था।

4.127 अन्तिम-संस्कार

जनश्रुति है कि कबीर के अन्तिम संस्कार के सम्बन्ध में उनके हिन्दू तथा मुसलमान अनुयायियों में झगड़ा हुआ था। कबीर साहब की मृत देह एक श्वेत चादर से

---

1 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन, पृ० 46
2 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन में उद्धृत, पृ० 46
3 डॉ० रामकुमार वर्मा- संत कबीर, पृ० 17

ढकी रखी थी। हिन्दू और मुसलमान अनुयायी अपनी-अपनी पद्धति से उनका संस्कार करने पर अड़े हुए थे। विवाद के बाद जब शव से चादर उठाई गई तो पाया गया कि उसके भीतर कोई मृत देह नहीं है, वरन् फूल पड़े हुए हैं। फूलों का बंटवारा कर लिया गया और दोनों धर्मों के अनुयायियों ने अपनी-अपनी विधि से उन पुष्पों का संस्कार किया।

अत: यह कहा जा सकता है कि कबीर जिस तरह विचित्र और विषम परिस्थितियों में उत्पन्न हुए थे, वैसे ही विचित्र और विषम परिस्थितियों में उनका अवसान भी हुआ।

4.2 कबीर व्यक्तित्व विश्लेषण

4.21 व्यक्तित्व का आधार और विशेषताएँ

विचारों की जननी बुद्धि है। बुद्धि का व्यक्तित्व से घनिष्ठ सम्बन्ध है। व्यक्तित्व, स्वभावगत शारीरिक एवं मानसिक विशेषताओं का समष्टि स्वरुप है। ''व्यक्तित्व व्यक्ति का वह समग्र अस्तित्त्व है जो विशिष्ट एवं अद्वितीय होता है और जिसका अनुकरण करना सम्भव नहीं होता।''[1] नितान्त मौलिक, सर्वथा क्रान्तदर्शी एवं पूर्णतया युगान्तरकारी व्यक्तित्व हिन्दी काव्य के इतिहास में कबीरदास को प्राप्त है। सच्चे व्यक्तित्व के चिह्न सुदूर भविष्य तक देखे जा सकते हैं और वह किसी एक विशेषण से बाँधा नहीं जाता। जो व्यक्ति काल के विरूद्ध खड़ा होता है उसे चतुर्दिक से आघात सहने पड़ते हैं, सम्पूर्ण अस्तित्त्व को मिटा देने वाले आघातों से जब वह अक्षत शेष रह जाता है तो जनमानस इस अनुमान से उसकी ओर दौड़ पड़ता है कि उसमें कुछ असाधारण अवश्य है। उसके विषय में तरह-तरह की किम्वन्दती बनने लगती हैं। निरन्तर वह असाधारण होता जाता है, यहाँ तक कि उसे ईश्वरीय अवतार

---

1 डॉ० कान्तिकुमार -कबीरदास, पृ० 18

भी मान लिया जाता है। कबीर कुछ इसी तरह के व्यक्ति हैं जो गौतम बुद्ध, महावीर आदि की तरह राजघराने की शक्ति सम्पन्नता तथा वैभव की पृष्ठभूमि नहीं रखते थे, एक नितान्त उपेक्षित तिरस्कृत परिवार की पृष्ठभूमि से उठकर धार्मिक व्यवस्था, सामाजिक व्यवस्था के विरूद्ध अपनी जान को जोखिम में डालकर खड़े हो गए। उन्होंने जो कुछ किया ईश्वर के आदेश से ही किया।''[1]

परम्परीण मान्यताओं में क्रान्ति उत्पन्न करने वाला व्यक्तित्व महान् होता है। ''स्टीफेन ज़िवग ने कहा है कि जो व्यक्तित्व जितना महान् होता है उसका उतना ही विरोध होता है।''[2] यदि इस कथन को प्रमाण माना जाये तो कबीरदास का व्यक्तित्व हिन्दी काव्य के इतिहास में अप्रतिम सिद्ध होता है। कबीर का व्यक्तित्व ज्ञान, भक्ति और कर्म की सामग्री के उस अनुपात से तैयार हुआ था, जिसे उसके बाद सम्भवत: ब्रह्म भी भूल गया। ''उसका ज्ञान पढ़ाई का नहीं, गुढ़ाई का ज्ञान था, अन्त: ज्ञान था, स्वत: उद्भूत ज्ञान था। चन्द्र की भांति सूर्य को तो ज्योतित होने के लिए ज्योति की आवश्यकता नहीं, वह स्वत: अग्नि-पिण्ड जो है।''[3] संत साहित्य के पन्ने पलटने से ज्ञात होता है कि जो काम कबीर अपने युग में कर गये वह काम आने वाले वर्षों में किसी भी लेखक के द्वारा शायद इतनी सफलता से नहीं सम्पत्र हुआ। कबीर के समय में हिन्दू-मुसलमान वैमनस्य धार्मिक कट्टरता को बढ़ा रहा था। दोनों धर्मों में अनेक प्रकार की जटिलताओं का समावेश हो रहा था। अनेक बाह्याडम्बरों ने धर्म के वास्तविक स्वरूप को आवृत कर दिया था। सामाजिक क्षेत्र में भी जात-पात, छुआछूत तथा अन्यान्य अनेक कुरीतियों से वैषम्य स्पष्ट था। इस विषम स्थिति में एक ऐसे सबल व्यक्तित्व की अपेक्षा थी जो समाज में समरसता स्थापित कर सके। समाज में व्याप्त अनास्था को समाप्त करने के लिए किसी

---

1 सं० रामकिशोर शर्मा- कबीर ग्रंथावली (सटीक), प्राक्कथन, पृ० 5

2 डॉ० कान्तिकुमार- कबीरदास, पृ० 19

3 धर्मपाल मैनी- कबीर के धार्मिक विश्वास, पृ० 1

अद्‌भुत-शक्ति-सम्पन्न नेता का आविर्भाव युग की मांग थी। कबीर का व्यक्तित्व इतना समुन्नत था कि वे इस आवश्यकता की पूर्ति में सक्षम था।

कबीर का व्यक्तित्व जीवन की ज्योति से जगमग था। ''कबीर अपने समय के सच्चे प्रतिनिधि थे। उनका वास्तविक रूप साधक का था। वे एक ही साथ निर्भीक, स्पष्टवादी और विनीत थे। दम्भ और पाखंड उनको प्रिय नहीं थे। अहंकार अैर अनाचार उनको बुरे लगते थे। भीतों और पीड़ितों को भक्ति का आकर्षण देकर वे उन्हें प्रेरणा और प्रोत्साहन देते थे। वे लोक-जीवन के अति निकट थे।''[1] सामान्य व्यक्ति को उनका व्यक्तित्व अति सामान्य प्रतीत होता है। इसी में उनकी 'सन्तता' निहित है जो उनके व्यक्तित्व की सरलतम अवस्था है। 'सन्त' शब्द अवश्य ऐसा है जो सम्पूर्ण कबीर को हमारे सामने रख देता है। ''कबीर का व्यक्तित्व जितना गूढ़ प्रतीत होता है उतना ही सरल था और जितना सरल दिखता है उससे कहीं अधिक गूढ़ था। जिस प्रकार नारियल या बादाम को ऊपर से देख उसके भीतरी स्वरूप का विश्लेषण नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार कबीर के बाह्य रूप को देखकर, उनकी भर्त्सनामयी कठोर वाणी को पढ़कर,उनके कोमल दयालु अन्तर का अनुमान नहीं लगाया जा सकता।''[2] कबीर एक सन्त, ऊंचे दर्जे के महात्मा थे। इसलिए उनके व्यक्तित्व की सीमाओं में सरल और गूढ़, दोनों रेखाओं का अनूठा मिलन है।

4.211 सत्यान्वेषी और श्रमजीवी

'कथनी और करनी' में अटूट सम्बन्ध स्थापन का उपदेश देने वाले कबीर के व्यक्तित्व की प्रमुख विशेषता उनका सत्यान्वेषी होना है। यह सत्य उनकी जीवनी से बहुत कुछ सिद्ध भी होता है। कबीर का सारा जीवन सत्यानुभूति, सत्य प्रचार और सत्य के प्रयोगों में बीता था। असत्य के वे कट्टर विरोधी थे। असत्य के त्याग और

---

1 सरनामसिंह शर्मा-कबीर विमर्श, पृ० 28

2 सरनामसिंह शर्मा-कबीर विमर्श, पृ० 29

सत्य के ग्रहण के लिये उन्होंने सब कुछ किया। सत्य की खोज में ही कबीर ने सारा जीवन खपाया था। महान् आत्म-चिन्तन के पश्चात् उन्होंने जीवन के इस प्रमुख तत्त्व का पता लगाया था। इसीलिए उनके खण्डन एवं मण्डन दोनों में ही असीम दृढ़ता आ गई थी। कोई भी प्रलोभन उन्हें अपने पथ से विचलित करने में समर्थ नहीं था। कबीर ने सत्य के शोध में अपना जीवन व्यतीत किया था और अज्ञान के विरुद्ध घोर युद्ध किया था। ''कबीर ने किसी भी स्थापना को आप्तवाक्य होने के कारण ही नहीं माना अपितु उसके सत्यांश को ढूँढ कर ही उसे अपनाया। उन्होंने किसी भी आप्तवाक्य को बिना परखे, बिना चिन्तन और मनन किए स्वीकार नहीं किया। सत्य के अनुसन्धाता के रूप में उन्होंने धर्म और समाज के मूल सिद्धांतों की आत्मा का साक्षात्कार किया।''[1] उन की दृष्टि में जो बात सत्य थी उसे उन्होंने निर्भीक होकर प्रकट किया। यातनाओं की उन्हें चिन्ता न थी। काशी को भी सत्य के कारण परित्याग करने में उन्होंने आना-कानी न की। उनके चरित्र की यह असीम दृढ़ता और निर्भीकता उन के उपदेशों से झलकती है।

कबीर श्रमजीवी थे। ''उत्तराधिकार के रूप में उन्हें जो व्यवसाय मिला था उसका उन्होंने कभी परित्याग नहीं किया।''[2] अपनी अर्जना को वे अपने परिवार के भरण-पोषण और साधु-सेवा में व्यय करते थे। उनमें इतना आत्म-विश्वास और आत्म-निर्भरता थी कि वह जीवन की किसी भी परिस्थिति में घबराते नहीं थे आत्म-विश्वास और इतनी आत्म-निर्भरता के कारण व्याकुलता उनको छू तक नहीं पाती थी। अपने परिवार के भरण-पोषण के लिए कबीरदास जी आजीवन करघे पर ताना-बाना बुनते रहे। वे केवल ज्ञान की बातें करने वाले साधुओं की कोटि में न

---

1 पुष्पा कुमारी शर्मा 'कौशिक'-कबीर, पृ० 42

2 राजेन्द्र सिंह गौड़-संत कबीर दर्शन, पृ०14

थे, बल्कि परम स्वावलम्बी कर्मयोगी थे। पारिवारिक जीवन में उनके व्यक्तित्व की इसी विशेषता ने उन्हें सहिष्णु, उदार, गंभीर और शान्त बनाया था।

4.212 बुद्धिवादी और उच्चकोटि के संत

कबीर के विचारों की कसौटी के रूप में उनकी बुद्धिवादिता ही झलकती है। उनके समस्त धार्मिक विश्वास इसी बुद्धिवादिता पर टिके हुए हैं। कबीरदास ने अपने जीवन में आने वाली प्रत्येक परिस्थिति,घटना और विचार को पहले अपनी बुद्धि की कसौटी पर कसा है और तभी उसके विषय में अपना मत प्रकट किया है यों ही किसी बात को वेद, शास्त्र, पुराण या कुरान के आधार पर सत्य नहीं मान लिया। ''लोक और वेद का प्रमाण तो उन्हें मान्य ही नहीं। उसे वे अज्ञान का कारण समझते हैं। उन्हें तो इस बात से प्रसन्नता रहती थी कि गुरु की कृपा से वे लोक और वेद से मुक्त हो गए।''[1]

''पीछै लाग्या जाय था लोक वेद के साथि।
आगे थे सत गुरु मिल्या दीपक दीया हाथि।।''[2]

यह इस युग में कबीर की सबसे बड़ी विशेषता थी जिसने उनके जीवन में कभी धर्मान्धता की छाया को नहीं घुसने दिया। यह पूर्णरूप से बुद्धिवादी व्यक्ति थे। कबीर कही-सुनी बातों पर विश्वास करना अज्ञानी का कार्य समझते थे। उनकी बुद्धिवादिता में तर्क की अपेक्षा अनुभूति को ही विशेष महत्त्व दिया गया था। साधना के प्रश्न को तर्क द्वारा हल करने वालों को कबीरदास जी मोटी अक्ल वाला कहते हैं-

''कहै कबीर तरक जोई साधै ताकि मति है मोटी।''[3]

---

1 डॉ०गोविन्द त्रिगुणायत-कबीर की विचारधारा, पृ० 107-108
2 डॉ०गोविन्द त्रिगुणायत-कबीर की विचारधारा में उद्धृत पृ०-108
3 यज्ञदत शर्मा-कबीर साहित्य और सिद्धान्त में उद्धृत, पृ० 32

कबीर उच्चकोटि के संत होने के साथ-साथ परोपकारी भी थे। वे तो अपकारी का भी उपकार करने पर बल देते हैं-

''जो तोकू काँटा बुवै, ताहि बोइ तू फूल।
तोकूँ फूल के फूल है, वाकूँ हैं तिरशूल।''[1]

कबीर का हृदय परदु:खकातरता से ओत-प्रोत रहता था। कबीर ने अपने जीवन में दूसरों के लिए कष्ट को स्वीकार किया था। उनका जीवन जनता के उद्‌बोधन में ही व्यतीत हुआ। कबीर एक सच्चे संत की तरह अपने लिए नहीं संसार के लिए रोते और विलाप करते रहे। ''मानव-मानव में भेद उत्पन्न करने वाले बाह्याडम्बरों, मजहबों, रूढ़ियों और अन्धविश्वासों के प्रति जैसा कठोर रूख कबीर ने अपनाया वैसा किसी और साधु-सन्त या भक्त ने नहीं अपनाया था।''[2] कबीर बड़े सरल और निश्छल संत थे। वे जो भीतर थे वही बाहर थे। विनय, स्पष्टवादिता, निर्भयता और परदु:खकातरता उनकी सरलता के प्रमुख अंग थे।

4.213 अक्खड़, फक्कड़ एवं मस्तमौला

अक्खड़पन कबीर का गुण नहीं वरन् परिस्थितियों की मांग थी। ''कबीरदास जिस धर्म और समाज में उत्पन्न हुए थे और जिसके बीच उन्होंने अपने व्यक्तित्व का विकास किया था वह घोर पाखण्ड,कदाचार, विषमता और पारस्परिक विद्वेष का शिकार था।''[3] जिसे मधुर उपदेशों से ठीक नहीं किया जा सकता था। कबीर की अक्खड़ता का विग्रह रूप तब सामने आता है जब वे किसी अवधूत से बात करते हैं-

''अवधू अच्छर हूँसो न्यारा।
जो तुम पवना गगन चढ़ाओ, करो गुफा में वासा।''[4]

---

1 डॉ० सरनामसिंह शर्मा-कबीर: एक विवेचन में उद्‌धृत, पृ० 182
2 डॉ० मीता कौशिक-सामाजिक बुराइयों के उन्मूलन में कबीर का योगदान, पृ०14
3 डॉ० कान्तिकुमार-कबीरदास, पृ० 19
4 डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी-कबीर में उद्‌धृत, पृ० 155

इसी प्रकार वे ब्राह्मण-पंडित से दबते नहीं हैं, अपने ज्ञान पर गर्व करते हुए उसे चुनौती देते हैं काजी को ललकारते हुए कबीर अक्खड़तापूर्वक कह उठते हैं-

''काजी कौन कतेब वषानैं।

पढ़त-पढ़त केते दिन बीते, गति एकै नहिं जानैं।''[1]

विरोधी के ही अस्त्र से विरोधी को घायल करने की कला में कबीरदास उस्ताद थे। कबीरदास की अक्खड़ता के सम्बन्ध में डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं-''कबीरदास ने यह अक्खड़ता योगियों से विरासत में पाई थी। संसार में भटकते हुए जीवों को देखकर करूणा के अश्रु से वे कातर नहीं हो आते थे बल्कि और भी कठोर होकर उसे फटकार बताते थे। वे प्रहलाद की भाँति सर्वजगत् के पाप को अपने ऊपर ले लेने की वाञ्छा से ही विचलित नहीं हो पड़ते थे बल्कि और भी कठोर और भी शुष्क होकर सुरत और निरत का उपदेश देते थे।''[2] कबीर की उक्तियों में यह प्रखरता योगियों, ब्राह्मणों के प्रति ही नहीं, नर-नारियों के प्रति भी व्यक्त हुई है। इससे कबीर की विनयशीलता कलंकित नहीं होती है। कबीर सत् के प्रति झुकते हैं, असत् के प्रति नही। ''कबीर के व्यक्तित्व की अक्खड़ता उन्हें सच्चे सन्त की तरह 'कर्म की रेख पर मेख' मारने के लिए उक्साती है।''[3]

कबीर मस्त जीव थे, फक्कड़ थे। ''उनके जी में जो आता था उसे वह कहने से कभी नहीं चूकते थे। अपने मन के भावों को दबाना वह अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए अहितकर समझते थे। अपनी इन्हीं प्रवृत्तियों के कारण उन्होंने प्रत्यक्ष रूप से न तो किसी का शिष्यत्व स्वीकार किया और न 'कागद की लेखी' से ही कुछ सीखा परमात्मा के घर से वह जो शरीर, जो मन, जो हृदय, और जो

---

1 सं० श्यामसुंदरदास-कबीर ग्रंथावली, पृ० 94

2 डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी-कबीर, पृ० 155

3 डॉ० कान्तिकुमार-कबीरदास, पृ० 19

मस्तिष्क लेकर आए थे उस पर उन्होंने कभी भी बाहरी रंग नहीं चढ़ाया।''[1] कबीर सत्य के जिज्ञासु थे और कोई मोह-ममता उन्हें अपने मार्ग से विचलित नहीं कर सकती थी। वे अपना घर जलाकर हाथ में मुराड़ा लेकर निकल पड़े थे- ''हम घर जाल्या आपणां, लिया मुराड़ा हाथि''[2] और उसी को साथी बनाने को तैयार थे जो उनके हाथों अपना घर भी जलवा सके ''अब घर जालौं तास का, जे चलै हमारे साथि।''[3] कबीर के सम्बन्ध में डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी अपना मत व्यक्त करते हुए लिखते हैं- ''वे सिर से पैर तक मस्त-मौला थे। मस्त, जो पुराने कृत्यों का हिसाब नहीं रखता, वर्त्तमान कर्मों को सर्वस्व नहीं समझता और भविष्य में सब कुछ झाड़-फटकार निकल जाता है।''[4]

4.214 अखण्ड आत्मविश्वास

कबीर के व्यक्तित्व में सबसे प्रमुख तत्त्व जो हमें आकृष्ट करता है। वह है उनका आत्मविश्वास। कबीर में अखण्ड आत्म-विश्वास था। ''उन्होंने कभी भी अपने ज्ञान को, अपने गुरु को और अपनी साधना को सन्देह की दृष्टि से नहीं देखा। उन्हें विश्वास था कि जो कुछ भी वह कर रहे हैं, वह समाज के हित के लिए कर रहे हैं, उसमें स्वार्थ सिद्धि को स्थान नहीं है। उन्हें अपनी साधना पर भरोसा था। उनमें इतना आत्मबल था कि वे कह सके जो चादर देव-मुनियों ने ओढ़ कर मैली कर दी है, वह कबीर ने बड़ी यत्नपूर्वक ओढ़ी, इसलिए इस पर कोई दाग तक नहीं लगा।''[5] इससे कबीर का अखण्ड आत्मविश्वास स्पष्ट होता है। उनकी अखण्ड आत्म-निष्ठा

---

1 राजेन्द्र सिंह गौड़-संत कबीर दर्शन, पृ० 15
2 सं० श्यामसुंदरदास-कबीर ग्रंथावली, पृ० 60
3 सं० श्यामसुंदरदास-कबीर ग्रंथावली, पृ० 60
4 डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी-कबीर, पृ० 157
5 पुष्पा कुमारी शर्मा 'कौशिक'-कबीर, पृ० 44-45

में एक क्षण के लिए भी दुर्बलता नहीं दिखाई दी। वे वीर साधक थे, और वीरता अखण्ड आत्मविश्वास को आश्रय करके ही पनपती है।

4.215 प्रेम के पक्षधर और जनहितवादी

कबीर प्रेम-पथिक थे। कबीर का प्रेम क्षेत्र बहुत व्यापक है। उनकी साम्य-भूमिका प्रेम पर ही आधारित है। कबीर का व्यक्तित्व ही प्रेम तत्त्व से निर्मित प्रतीत होता है। प्रेम कबीर का सर्वस्त है। कबीर का उद्देश्य है ब्रह्म के प्रेम में लीन हो जाना। ''कबीर का प्रेम निरन्तर विकसनशील है। कबीर के मत से प्रेम तो दिन-दूना रात चौगुना होता है, नित्य नवीन होता जाता है। मनुष्य-जन्म की सफलता एवं सार्थकता प्रेम के द्वारा ही है। इसी कारण कबीर नित्य प्रेम-उपवन की शांत-शीतल छाया में संचरण करने के लिए कटिबद्ध है। उनकी आत्मा परमात्मा के लिए विरह-व्यथित नारी की भाँति छटपटाती रहती है। उनका प्रेम 'राम' में सन्निविष्ट है।''[1] कबीर के अनुसार यह ऐसी वस्तु नहीं है जिसे राजा ही खरीद सकता हो, रंक न खरीद सकता हो। 'सिर' देकर ही इसे खरीदा जा सकता है-

''प्रेम न खेती नीपजै, प्रेम न हाट बिकाइ।
राजा परजा जिस रूचै, सिर दे सो ले जाइ।।''[2]

प्रेम का मार्ग सरल होते हुए भी कठिन है। इसमें आपा भूलकर प्रिय को ही लक्ष्य बनाना होता है।

कबीर सच्चे अर्थों में एक आदर्श नेता थे। वे सत्य-प्रेमी, स्पष्टवादी, निर्भीक, अहिंसक, वक्ता और त्यागी थे। कबीर ने अपने समय की कुरीतियों को परखा,

---

1 डॉ० राजकुमार पाण्डेय-साहित्यिक निबन्ध, पृ० 296-297

2 डॉ० राजकुमार पाण्डेय-साहित्यिक निबन्ध में उद्धृत, पृ० 297

धर्माडम्बरों को तोड़ा, समाज को एक जनहितकारी पथ का संकेत दिया। जनता कबीर के लिए सब कुछ थी, और वह जनता जिसे धर्म-शास्त्रों को पढ़ने और सुनने का अधिकार नहीं था, मन्दिरों में जिसकी पहुँच नहीं थी, समाज में जिसका नीचा स्थान था, उच्च वर्गीय लोग जिससे घृणा करते थे। कबीर की सहज-भावना जनहित की भावना थी। कबीर ने जनहितकारी आंदोलन की नींव रखी और समाज तथा धर्म के क्षेत्रों में संकुचित दृष्टिकोणों का खण्डन किया। यज्ञदत शर्मा लिखते हैं-''कबीर जनता का विचारक, जनता का धर्माचार्य, जनता का सुधारक और जनता का प्रतिनिधि था। उसकी वाणी के शब्द से जन-हित की भावना झंकृत होती थी।''[1]

4.216 क्रांतिधर्मी

कबीर अपने युग के सबल प्रतिभाशाली क्रान्तिकारी थे। ''प्रतिभा की चारों प्रधान शक्तियाँ तत्त्व-ग्राहणी शक्ति, तत्त्व-धारणा शक्ति, उद्भावना शक्ति और अभिव्यंजना शक्ति कबीर में अपरिमित रूप से विद्यमान थी।''[2] कबीर वास्तव में क्रान्ति-दूत थे। उनकी क्रान्ति भावनापूर्ण तथा अहिंसा मूलक थी, उसमें घृणा-द्वेष आदि का लेशमात्र भी नहीं था। कबीर विद्रोह और क्रान्ति की प्रतिमूर्ति थे। उन्होंने अपने जन्म-जात संस्कारों से विद्रोह किया अपने वर्त्तमान का प्रतिकार किया और पुरानी मान्यताओं को ठुकरा दिया। कबीर किसी बँधी बँधाई लीक पर नहीं चले। उन्होंने परम्परागत विश्वास और मान्यताओं के झाड़ झंखाड़ को साफ कर अपनी लीक का निर्माण किया। कबीर ऐसी परिस्थितियों में जन्मे थे जब विषमताएं नैराश्य, विश्वासघात, नृशंसता और विध्वंस की आँधी आयी हुई थी। समाज में कुत्सित विचार एवं बाह्याडम्बरों का प्राबल्य था। धर्म के दावेदार मठाधीश बनकर अनाचार की

---

1 यज्ञदत शर्मा-कबीर साहित्य और सिद्धान्त, पृ० 118

2 यज्ञदत शर्मा-कबीर साहित्य और सिद्धान्त, पृ० 120

लीलाएं कर रहे थे। बाह्याडम्बर, असत्य अनाचार, व्यभिचार, वर्णविभेद आदि के प्रति उद्‌भूत यही प्रतिक्रिया ही कबीर की वास्तविक क्रान्ति-भावना थी। उर्वशी सूरती लिखते हैं- ''कबीर मात्र एक भक्त, योगी या ज्ञानी की कोटि में ही गणना- योग्य हो के नहीं रह गये। विद्वानों के लिए अपनी निरक्षता में भी सारी विचित्रताओं के साथ मानव-श्रेष्ठता के रहस्य का अध्ययन करने योग्य सब कक्षा के जिज्ञासुओं के लिए मार्ग-दर्शक पीड़ितों और शोषितों के उद्धारक, सुधारकों के भी सुधारक और क्रान्तिकारियों में भी प्राण फूंक देने वाले क्रान्तिस्वरूप मान्य हुए।''[1]

कबीर का व्यक्तित्व विशिष्ट गुणों का भण्डार है। जिसके निर्माण में समाज की परिस्थितियों और आत्मप्रेरणा का बहुत बड़ा हाथ रहा है। ''वे अपनी साधना के धनी, विश्वासों के राजा और अनुभूतियों के साहूकार थे। जो मार्ग उन्होंने दूसरों को दिखाया वे उसी पर चले थे और वही उनका मुक्ति मार्ग था। बंधन तोड़ने के लिए उन्होंने जो सरलता ढूँढ़ निकाली वही उनके मार्ग की विशेषता थी।''[2] कबीर निरक्षर होते हुए भी सबको सत्य ज्ञान का पाठ पढ़ा गए।

4.3 कबीर की भक्तिभावना

4.3 1 सामान्य परिचय

भारतीय भक्ति-श्रृंखला की कड़ी के रूप में कबीर की भक्ति एक अनुपम अनुदान है, जिसने भक्ति को न केवल विकार-मुक्त ही किया बल्कि अपने समय की परिस्थितियों को सुलझाने की दिशा में भी एक महत्त्वपूर्ण कदम बढ़ाया। ''मध्य-युग की साधारण धर्म-प्राण जनता को सिद्धादि की विविध वीभत्स साधनाओं के दल-दल से तथा नाथों की नीरस यौगिक प्रक्रियाओं के पंकिल गर्त से बाहर

---

1 उर्वशी सूरती - कबीर: जीवन और दर्शन, पृ०69

2 डॉ० सरनामसिंह शर्मा - कबीर: एक विवेचन, पृ० 170

निकालकर भाव-भक्ति की अलौकिक एवम् पावन पयस्विनी में अवगाहन कराने का पूर्ण श्रेय भक्त प्रवर कबीर को है। यह भाव-भक्ति उनके अन्तर्जगत् की अन्यतम विभूति थी; उनके गुरु की दिव्य देन थी। इसी को पाकर कबीर कबीर हुए थे।''[1] हिन्दी साहित्य के इतिहास में कबीरदास पहले व्यक्ति हैं जिन्हें भक्त के रूप में पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त है। ''साधारण जनता में कबीर उसी भक्ति के प्रचारक माने जाते रहे हैं जिसका आंदोलन द्रविड़ देश (दक्षिण भारत) में उभाड़ पर आया और उसे दूसरे शब्दों में 'वैष्णव भक्ति' कह सकते हैं। 'गुरुग्रन्थसाहब' आदि प्राचीन संतवाणी-संग्रहों में भी कबीर के नाम के साथ 'भगत' विशेषण जुड़ा हुआ मिलता है जिससे यह सिद्ध हो जाता है कि मध्यकाल से ही कबीर की ख्याति भक्त के रूप में अधिक थी, समाज सुधारक या योगी के रूप में नहीं।''[2] कबीर के सम्बन्ध में नाभादास ने लिखा है कि ''वे 'भक्ति-विमुख' धर्मसाधनाओं को अधर्म मानते थे। उन्होंने 'भक्ति' की तुलना में 'योग','यज्ञ,' 'ब्रत', 'दान', सभी को तुच्छ बताया है।''[3]

''भक्तिविमुख जो धर्म सुसब अधरमकरि गाये।
योग यज्ञ व्रत दान भजन बिन तुच्छ दिखाये।।''[4]

भक्ति ही ऐसी मूल तत्त्व है, जो कबीर को नाथपंथी योगियों की परम्परा से अलग करती है। कबीर ने अपने पूर्ववर्ती पौराणिक और ऐतिहासिक दोनों ही प्रकार के भक्तों का उल्लेख किया है। पौराणिक भक्तों में उन्होंने 'नारद', 'व्यास', शुकदेव' आदि की चर्चा की है- ''नारद कहै व्यास यौं भाषै, सुखदेव पूछौ

---

1 डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत- कबीर की विचारधारा, पृ० 323-324
2 डॉ० पारसनाथ तिवारी- कबीर-वाणी-संग्रह, पृ० 69
3 डॉ० रामचन्द्र तिवारी- कबीर-मीमांसा में उद्धृत, पृ० 77
4 नाभादास- श्रीभक्तमाल, छप्पय, 60, पृ० 67

जाई''[1]। ऐतिहासिक भक्तों में 'जयदेव' तथा 'नामदेव' का नाम लिया है-''सनक सनंदन जै देवनांमां।''[2] भारत में भक्ति की अलौकिक धारा अनादिकाल से बह रही है। जो मध्ययुग में उच्छृंखल होकर उमड़ चली थी। कबीर ने अपने समय की परिस्थितियों को देखते हुए समाज को आत्म-शोधन के निमित्त एक अमोघ औषधि प्रदान की जिसे कबीर ने 'राम रसायन' कहा है। कबीर ने भक्ति को मनुष्य के अनिष्ट-निवारण एवं रक्षार्थ बह्मास्त्र माना है। यदि मनुष्य की रक्षा का कोई अन्तिम साधन है तो वह कबीर की दृष्टि में भक्ति है। कबीर हिन्दी साहित्येतिहास में उत्तर भारत के निर्गुण भक्ति परमपरा के प्रवर्त्तक रूप में मान्य हैं। कबीर की भक्ति अपनी पूर्णता में एक सच्चे मानव धर्म का रूप ले लेती है। आपकी भक्ति आराध्य के प्रति निश्छल निष्काम, प्रेम, पूर्ण समर्पण तथा पूर्ण आत्म परिष्कार पर बल देती है। जिसमें बाह्याचरणों के लिए कोई स्थान नहीं है।

4.3 11 भक्ति का केन्द्रीय भाव

कबीर की भक्ति का मूलतत्त्व हरि के प्रति उत्कट 'राग' है। प्रभु के प्रति उत्पन्न उत्कट राग को कबीर मानव जीवन की सार्थकता के लिए अनिवार्य मानते हैं। इस 'राग' को विभिन्न सामाजिक सम्बन्धों द्वारा प्रकट किया जाता है। यह राग दाम्पत्य, सरव्य, दास्य तथा वात्सल्य सभी रूपों में अभिव्यक्त हुआ है। इनमें भी सबसे महत्त्वपूर्ण और अद्वैत स्थिति तक ले जाने वाला 'दाम्पत्य' राग है। इसको प्राय: सभी श्रेष्ठ भक्ति साधकों ने महत्त्व दिया है। वात्सल्य भाव के अन्तर्गत कबीर ने अपने आराध्य को कहीं पिता के रूप में, कहीं माता के रूप में माना है। दास्य भाव की

---

1 सं श्यामसुंदरदास - कबीर ग्रंथावली, पृ० 89

2 सं श्यामसुंदरदास - कबीर ग्रंथावली, पृ० 88

अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने 'कुत्ते' का प्रतीक सामने रखा है। ''कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नाउँ''[1] कह कर वे दास्य भाव की चरम सीमा को अभिव्यक्ति देते हैं। सख्य भाव के उदाहरण कबीर की रचनाओं में कम मिलते हैं। पानी से पतले तथा धुएँ से क्षीण और पवन से भी तीव्रागामी तत्त्व से कबीर की दोस्ती थी-

''पाणी ही तैं पातला, धूंवा ही ते क्षीण ।
पवनाँ बेगि उतावला, सो दोस्त कबीरै कीण।।''[2]

कबीर की भक्ति का सर्वप्रमुख भाव 'कान्ता भाव' है, जिसके अन्तर्गत वे अपने आराध्य को अपना पति और स्वयं को उसकी पत्नी मानते हैं-

''राम मोरं पिउ मैं राम की बहुरिया।[3]

संयोग पक्ष में इस भाव का वर्णन सामान्य कोटि का है। वियोग पक्ष के चित्रण में कबीर की वृत्ति रमी है। वियोग का माधुर्य और भी तीव्र है। कबीर आदि सन्तों में 'शान्ति रति' का सवरूप भी लक्षित किया जा सकता है। इसमें भक्त की बुद्धि शमयुक्ता हो जाती है। इसमें भक्त विषयोन्मुखता का त्याग कर अपने आप में रमने लगता है। इस प्रकार के अनेक पद कबीर वाणी में उपलब्ध होते हैं। अत: यह स्पष्ट है कि कबीर की भक्ति में शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और दाम्पत्य सभी भाव उप्लब्ध हैं। ये सभी भाव उनकी भक्ति भावना को पुष्ट करते हैं।

---

1 सं श्यामसुंदरदास - कबीर ग्रंथावली, पृ० 17

2 मन्जु त्रिपाठी - कबीर एवं उनके समसामयिक निर्गुण - संतों की भक्ति पद्धति में उद्धृत, पृ०55

3 मन्जु त्रिपाठी - कबीर एवं उनके समसामयिक निर्गुण - संतों की भक्ति पद्धति में उद्धृत, पृ०55

4.3 12 भक्ति आलम्बन : परम तत्त्व

कबीर निर्गुण ब्रह्म के उपासक थे, उनकी भक्ति का आलम्बन निर्गुण निराकर ब्रह्म था। कबीर ने भगवान के गुणातीत निराकारभाव को ही भक्ति के लिए स्वीकार किया। कबीर की भक्ति का आलम्बन निर्गुण राम है जो 'दाशरथि राम' से भिन्न है। उसका न कोई रूप है न आकार है, वही निरंजन है। उसके नाम से कबीर की गहरी अनुरक्ति है। कबीर का उपास्यदेव निर्गुण निराकार ब्रह्म ही है।

''पूजा करूं न निमाज गुजारूं,
एक निराकार हिरदै नमस्कारूं।।''[1]

कबीर ने स्पष्ट कहा है-

''ना जसरथि धरि औतरि आवा, ना लंका का राव सतावा।
ह्वै कूरव न औतरि आवा, ना जसवै ले गोद खिलावा।।
ना वा गवालनि कै संग फिरिया, गोबरधन ले न कर धरिया।
बांवन होय न बलि छलिया, धरनी वेद ले न उधरिया।।
कहै कबीर विचारि कै ये ऊले व्यवहार।
या ही थैं जे अगम है सो बरति रह्या संसार।।''[2]

अतः यह स्पष्ट है उनका राम इन सभी से परे है, अगम है और विश्व के कण-कण में वह व्याप्त है।

4.3 13 भक्ति की दुस्साध्यता

भक्ति का पथ कष्टकाकीर्ण है, इस पर चलना अत्यन्त दुष्कर कार्य है, जो सबके लिए सुगम नहीं है। 'हरि' का सच्चा भक्त ही इस पथ पर चलकर अपने लक्ष्य तक पहुँच पाता है। कबीर भक्ति को दुस्साध्य साधना मानते हैं। कबीर उसे सूली के ऊपर नटविद्या के प्रदर्शन के समान कठिन मानते हैं। जितना कठिन शूली के ऊपर

---

1 डॉ० रामजीलाल 'सहायक' - कबीर-दर्शन में उद्धृत, पृ० 356
2 डॉ० रामजीलाल 'सहायक' - कबीर-दर्शन में उद्धृत, पृ० 356

नटविद्या का प्रदर्शन करना है, उतना ही कठिन हरि का नाम स्मरण करना है। नट यदि अपने कौशल में सफल नहीं होता और ऊपर से फिसलता है तो शूली पर गिरने के सिवा उसके लिए कोई दूसरा विकल्प नहीं है उसी प्रकार हरि का स्मरण करने वाला भक्त यदि साधना के उच्च स्तर से च्युत होता है तो भौतिक दु:खों और कष्टों की शूली पर गिरने के अतिरिक्त उसके लिए कोई दूसरा विकल्प नहीं है।

''कबीर कठिनाई खरी सुमिरंता हरि नाम।

सूली ऊपर नटविद्या गिरौ त नाहीं ठाँम।।''[1]

संसार का आकर्षण और चित्त की चंचलता इस मार्ग में बाधा उत्पन्न करते हैं। इसलिए मनोनिग्रह के बिना मुक्ति सम्भव नहीं है।

4.3 14 भक्ति का लक्ष्य

कबीर की भक्ति का प्रमुख लक्ष्य उस परम तत्त्व के नैकट्य तथा सान्निध्य की प्राप्ति है। इसके लिए प्रभु की कृपा परम आवश्यक है और जिस पर वह अपनी कृपा करता है, उसको अपने सान्निध्य में ले लेता है। भक्ति का वास्तविक लक्ष्य तो आराध्य का सान्निध्य प्राप्त करना ही है। कबीर की भक्ति का लक्ष्य भी अविगत, अपार एवं ज्ञानस्वरूप तथा सर्वत्र व्याप्त परम प्रभु का सान्निध्य प्राप्त करके, राम रसायन पीकर उनके गुणगान में मस्त पड़े रहना है। उस प्रभु का सान्निध्य प्राप्त करने के लिए व्याकुल कबीर कहते हैं-

''बिरहिनी फिरै हे नाथ अधीरा

उपजि बिना कुछ समझ न परई बाँझ न जानै पीरा।[2]

---

1 मन्जु त्रिपाठी-कबीर एवं उनके समसामयिक निर्गुण-संतों की भक्ति पद्धति में उद्धृत, पृ० 68

2 मन्जु त्रिपाठी-कबीर एवं उनके समसामयिक निर्गुण-संतों की भक्ति पद्धति में उद्धृत, पृ० 73

भक्ति ही मात्र ऐसा साधन है जिसके द्वारा कबीर अपने परम लक्ष्य 'प्रभु' की प्राप्ति कर सकते हैं।

4.3 15 अनन्यता

कबीर ने भक्ति साधना के क्षेत्र में अनन्य भाव की उपासना पर बल दिया है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि यदि मैं याचना करता हूँ, तो केवल राम से मुझे अन्य देवताओं से कोई प्रयोजन नहीं है -

''जो जाँचौ तौ केवल राम। आन देव सूँ नाहीं काम।।''[1]

वे साधक को अनन्य भाव से पतिव्रत साधने वाली सती के रूप में देखना चाहते हैं। सती की अपने पति पर अक्षुण्ण निष्ठा होती है। वह अन्य किसी से किसी प्रकार का सम्पर्क रखना नहीं चाहती। कबीर कहते हैं जिस प्रकार सिन्दूर भरी जाने वाली माँग में काजल नहीं लगाया जा सकता है; ठीक उसी प्रकार सती की चित्तवृत्ति अपने पति के अतिरिक्त दूसरी ओर उन्मुख हो ही नहीं सकती। यही अचल निष्ठा कबीर के भक्त हृदय की है। उनके नेत्रों में राम का वास हो गया है। वहाँ अब किसी दूसरे के लिये स्थान नहीं है। शूर की स्थिति का वर्णन करते हुए कबीर कहते हैं वह समर भूमि में जीवन-मरण की चिन्ता छोड़कर सबसे आगे जाकर युद्ध करता है। युद्ध से विमुख नहीं होता। उसी प्रकार सच्चा भक्त अपने प्राणों का मोह त्याग कर भक्ति पथ पर अग्रसर होता है। उसके मन में प्रभु मिलन को छोड़कर कोई दूसरी बात नहीं आती।

4.3 16 निष्कामता

कबीर अपने आराध्य से किसी प्रकार की कामना नहीं करते। क्योंकि वे जानते हैं कि आराध्य स्वयं निष्काम है। अत: उसी भाव की साधना उसके निकट

---

1. डॉ० रामचन्द्र तिवारी - कबीर मीमांसा में उदधृत, पृ० 86

पहुँचा सकती है। कबीर कहते हैं कि भगवान पर भरोसा करते हुए मनुष्य को न तो स्वर्ग की कामना करनी चाहिए और न नरक से भयभीत होना चाहिये। आशा व्यर्थ है, जो हो रहा है सो हो रहा है और वह उसी की इच्छा से हो रहा है-

''सरग लोक न बांछिये, डरिये न नरक निवास।
हूं णां था सो हौ रह्या, मनहु न कीजै झूठी आस।।''[1]

काम पड़ने पर भगवान को याद करना भक्ति नहीं है, स्वार्थ है। भक्ति का निर्मल रूप एवं निष्कलुष प्रेम तो वहाँ होता है जहाँ स्वार्थ का लेश भी नहीं होता। भक्ति का यह प्रमुख लक्षण है।

4.3 2 भक्ति के प्रेरक तत्त्व

कबीर ने भक्ति के द्वार प्रत्येक के लिए खोलकर सबको भक्ति का अधिकारी बताया। वहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि किसी में कोई भेदभाव नहीं, सबकी रचना पाँच तत्त्वों से हुई है और सबका स्रष्टा पिता परमात्मा एक ही है। भक्ति-प्राप्ति के लिए भक्ति के प्रेरक तत्त्व मनुष्य के लिए सहायक होते हैं। जो कि इस प्रकार हैं-

4.3 21 भगवद् कृपा

भक्ति प्रेरणा के अनेक सूत्रों में से भगवत्कृपा प्रमुख है। ''भक्ति साहित्य में यह धारणा किसी न किसी रूप में बराबर पाई जाती है कि मनुष्य अपने कर्मों के परिणामस्वरूप नहीं, भगवान की कृपा से परमसिद्धि को प्राप्त करता है।''[2] कबीर पूर्ण रूप से भगवद् कृपा में विश्वास करते हैं। उनके अनुसार जिस पर भगवान् का अनुग्रह होता है उसी को भक्ति का वरदान मिलता है और जिसको वरदान मिलता है

---

1 डॉ० सरनामसिंह शर्मा-कबीर: एक विवेचन में उद्धृत, पृ० 430

2 विलियम द्वायर-कबीर की भक्ति भावना, पृ० 225

वही भक्ति-मार्ग पर चल भी सकता है। वह अपने पथ को भूल नहीं सकता और कोई भी कारण उसे भ्रान्त नहीं कर सकता-

''जिसहि चलावै पंथ तूं, तिसहि भुलावै कौंण।''[1]

4.3 22 गुरु सेवा

'गुरु शब्द भारतीय संस्कृति में अत्यन्त सम्मान और गौरव का वाचक रहा है। भक्ति-प्रेरणा का दूसरा सूत्र गुरु-सेवा है। ''प्रेम के भाव को जगाकर शिष्य को भक्ति मार्ग पर गुरु ही प्रेरित करता है। ''सतिगुरु ते सुधि पाई'' कह कर कबीर ने भक्ति-प्रेरणा के स्त्रोत की ओर संकेत किया है और 'गुरुदेव ग्यांनी भयौ लगनियां सुमिरन दीन्हौं हीरा' से तो कबीर ने बड़ी दृढ़ता से घोषित किया है कि गुरु भक्ति का प्रेरक होता है।''[2] मनुष्य संसार में आते ही अज्ञान के इन्द्रजाल में फँस जाता है। वह लोक और वेद के व्यवहारों में पड़ कर वास्तविक सत्य तत्त्व को भूल बैठता है। उसकी यह अज्ञानता गुरु की कृपा से ही दूर होती है। कबीर ने गुरु को विशेष महत्त्व दिया है। गुरु की प्राप्ति अनन्य और निष्काम गुरु सेवा से ही सम्भव है। कबीर ने भक्ति की प्राप्ति गुरु सेवा से ही की थी-

''गुरु सेवा ते भगति कमाई''[3]

4.3 23 जगत् की अनित्यता

मनुष्य को जब जगत् की अनित्यता का सम्यक् ज्ञान हो जाता है तब इसी के साथ ही उसकी सत्य की खोज भी प्रारंभ हो जाती है और जब वह अन्तिम एवं एकमात्र सत्य परमात्मा में मिल जाता है तो मनुष्य उसकी शक्ति और

---

1 डॉ० सरनामसिंह शर्मा-कबीर: एक विवेचन में उद्धृत, पृ० 431

2 डॉ० सरनामसिंह शर्मा-कबीर: एक विवेचन, पृ० 432

3 डॉ० रामकुमार वर्मा-संत कबीर, पृ० 214

कृपा की ओर आकृष्ट होने लगता है। ''जगत् की व्यर्थता का ज्ञान वैराग्य पैदा करता है और परमात्मा की सत्ता और सामर्थ्य का ज्ञान परमात्मा की ओर आकर्षण पैदा करता है।''[1] विश्वास के साथ-साथ जब प्रभु-प्रेम दृढ़ होता है तब भक्ति अपने सच्चे रूप में प्रकट होती है। यही भक्ति की मुक्ति और आनन्द है। यहीं से आवागमन के बन्धन की शृंखला भग्न हो जाती है।

कबीर का वैराग्य भक्ति को प्रेरित करने के लिए है, वह पलायनवादियों का निराशावाद नहीं हैं। वे संसार को छोड़ भागने का उपदेश नहीं देते वरन् उसकी व्यर्थता को समझ कर उसके प्रति अनासक्ति-भाव से आचरण करने की बात कहते हैं। कबीर अनित्य वस्तु (संसार) के प्रति आकर्षण को नित्य की ओर मोड़ कर जीवन को सार्थक एवं सफल बनाने को कहते हैं।

4.3 24 भक्तिरस और माधुर्य

भक्तिरस का माधुर्य भी भक्ति का प्रेरक होता है। मनुष्य के सामने प्रत्यक्षत: दो रस हैं (क) विषय-रस (ख) भक्ति-रस। विषयों का परिणाम कटु होता है और भक्ति का मधुर होता है। विषयों का सुख क्षणिक होता है और दुख अमित उत्पन्न होता है, किन्तु भक्ति में दुख का नाम न होकर सुख होता है। वहां तो आनन्द ही आनन्द है। भक्ति की चरमावस्था में भक्ति, भक्त और भगवान् में अभेद हो जाता है। भक्ति की मधुरता का संकेत देते हुए कबीर कहते हैं-

''राम कौ नांव अधिक रस मीठौ, बारंबार पीवै रे।''[2]

वे राम-रस पीने का ढंग भी बतलाते हैं-

''रसनां रांम गुन रमि रस पीजै।''[3]

---

1 डॉ० सरनामसिंह शर्मा-कबीर: एक विवेचन, पृ० 432

2 सं० श्यामसुंदरदास-कबीर ग्रंथावली, पृ० 165

3 सं० श्यामसुंदरदास-कबीर ग्रंथावली, पृ० 182

जो मनुष्य राम-रस के होते हुए भी विषयों में लीन है। कबीर उसको 'अभागा' कहते हैं-

''बिष तजि रांम न जपसि अभागे, का बूड़े लालच के लागे।।''[1]

जिसका मन भक्ति-रस में लीन हो जाता है वह भव-बंधन से मुक्त हो जाता है।

4.3 25 सत्संगति

भक्ति के क्षेत्र में सत्संगति का सर्वाधिक महत्त्व है। सत्संगति से प्राणी के विचार तथा उसका मन क्रमशः शुद्ध होता है, और उसकी वाणी तथा व्यवहार में भी परिवर्तन आता है। इसके साथ उसमें विश्वास तथा श्रद्धा का जन्म होता है। जिससे वह भक्ति की ओर प्ररित होता है। कबीर ने भी सत्संगति को विशेष महत्त्व दिया है। उनका विश्वास था ''जो जैसी संगति करै, सो तैसे फल खाइ।''[2] कबीर ने सन्तों की संगति को महत्त्व देते हुए कहा है ''कबीर संगति साध की, कदे न निरफल होइ।''[3] कबीर सन्तों तथा राम को समान मानते हैं अतः वे सन्तों की निन्दा सुनना नहीं चाहते-

''सन्त कउ मति कोई निन्दहु सन्त रामु है एको।''[4]

स्पष्ट है कि कबीर सत्संगति को भक्ति का प्रबल प्रेरक तत्त्व मानते हैं जो कि संसार रूपी भवसागर पार करने के लिए नौका के समान है। कबीर कहते हैं, साधु

---

1 सं० श्यामसुंदरदास-कबीर ग्रंथावली, पृ० 182

2 सं० श्यामसुंदरदास-कबीर ग्रंथावली, पृ० 42

3 रामचन्द्र श्रीवास्तव 'चन्द्र'- कबीर-साखी-सुधा, पृ० 138

4 मन्जु त्रिपाठी-कबीर एवं उनके समसामयिक निर्गुण-संतों की भक्ति पद्धति में उद्धृत, पृ०132

संग की प्राप्ति यदि तुम्हारे भाग्य में लिखी हो तो तुम्हें मुक्ति जैसे पदार्थ की प्राप्ति होगी और (संसार-सागर रूपी) विषम घाट में कोई अड़चन न होगी-

''कबीर साधू संगु परापाती लिखिआ होइ लिलाट।
मुकति पदारथु पाईऐ ठाक न अवघट घाट।।''[1]

4.3 3 भक्ति की विशिष्टता

कबीर की भक्ति निर्गुण निराकार ब्रह्म की है। जिसकी अपनी अलग विशेषता है। कबीर ने भक्ति को सामाजिक तथा धार्मिक रूढ़ियों से मुक्त करके प्रत्येक के लिए सुलभ कर दिया और बाह्याडम्बरों से मुक्त होकर भक्ति को सरल भी बना दिया। उन्होंने सभी को साथ लेकर चलने वाले भक्ति-भाव की मान्यता में आस्था स्थापित की है। ऊंच, नीच, वर्ण, धर्म सब आपकी प्रेम-धारा में प्रवाहित होकर एक हो गये। कबीर की भक्ति में किसी के लिए कोई प्रतिबन्ध नहीं, अधिकारी-अनधिकारी का कोई झमेला नहीं। वहाँ भक्ति का मूलाधार प्रेम ही है। कबीर की भक्ति अनेकत्व से एकत्व की सिद्धि है। कबीर की भक्ति की विशेषताँए इस प्रकार हैं-

4.3 3 1 भाव – भक्ति

कबीर ने अपनी निर्गुण भक्ति को 'भाव भगति' की संज्ञा प्रदान की है। भाव भगति भक्त सन्तों की वह भावमयी स्थली है, जहाँ वे अपने आराध्य देव से भावनात्मक दृढ़ करने की चेष्टाएँ करते हैं। कबीर की 'भाव भगति' के आधार निर्गुण राम है। जिस प्रकार सगुण भक्ति में प्रभु के स्वरूप की भावना प्रधान रहती है, उसी प्रकार निर्गुण भक्ति में 'भाव' का ही आश्रय ग्रहण किया जाता है। यह भाव प्रधानता साधना की चरमावस्था में भक्त को परमात्मवत बना देती है। कबीर तो

---

1 डॉ० रामकुमार वर्मा-संत कबीर, पृ० 272

स्पष्ट कहते हैं कि ''भाव भगति हरि सूं गठजोरा''[1] है। कबीर भक्ति के क्षेत्र में जप, तप, संयम, व्रत एवं तीर्थ स्थान आदि बाह्य विधि-विधानों को कोई महत्त्व नहीं देते। यदि उनका कोई मूल्य हो सकता है तो 'भाव-भक्ति' के साथ।

''क्या जप क्या तप संजमां, क्या तीरथ व्रत अस्नान।
जो पैं जुगति न जांनियै, भाव भगति भगवान।।''[2]

कबीर की भाव भगति की सबसे बड़ी विशेषता आत्मनिवेदन है और उनकी भावभगति का सबसे महत्त्वपूर्ण साधन रामनाम स्मरण है। जो इस भवसागर को पार करने के लिए अत्युपयुक्त है। स्पष्ट है कि 'भाव भगति' के प्रति कबीर की प्रगाढ़ आस्था है, क्योंकि इसमें बाह्योपचारों को कोई स्थान नहीं, इसकी समस्त साधनाएँ मानसिक रूप में होती हैं। इसमें साधक के लिए स्थान व्यक्ति तथा वस्तु में कोई भेद नहीं रह जाता है। वह तो अपने आराध्य का नाम जपकर उसी का स्वरूप बन जाता है।

4.3 3 2 प्रेमलक्षणा – भक्ति

प्रेम के द्वारा भक्ति करना प्रेम-लक्षणा-भक्ति है। कबीर की भक्ति में प्रेम की प्रधानता है। कबीर ने प्रेम-भक्ति की महत्ता का वर्णन करते हुए उसे सर्वोत्तम कहा है-

''कहु कबीर जन भये खलासे, प्रेम भगति जिह जानी।''[3]

कबीर प्रेम को जीवन का सार मानते हैं। सांचे के प्रति प्रेम और झूठे से विमुखता होनी चाहिये। सत्य है ईश्वर और झूठा है संसार। सांसारिक विषयों से बचने

---

1 सं० श्यामसुंदरदास - कबीर ग्रंथावली, पृ० 138
2 सं० श्यामसुंदरदास - कबीर ग्रंथावली, पृ० 110
3 डॉ० रामजीलाल 'सहायक' - कबीर दर्शन में उद्धृत, पृ० 379

का एक ही अमोघ अस्त्र कबीर मानते हैं, वह है ईश्वरीय प्रेम। कबीर हरि-प्रेम को सार्थक, संसार से प्रेम करने को भूल समझते हैं। कबीर कहते हैं उनके गुरु ने उन्हें प्रेम-भक्ति करने का आदेश दिया और उसकी युक्ति भी बतायी-

''पासा पकड़्या प्रेम का, सारी किया सरीर।
सतगुर दाव बताइया, खेलै दास कबीर।''[1]

प्रेम-भक्ति की सिद्धि कठिनता के साथ होती है। जिसमें अपना सर्वस्व न्यौछावर करके भक्ति-मार्ग पर आरूढ़ होना होता है। कबीर ने प्रेमानन्द को हरिरसानन्द कहा है। कबीर की प्रेम-भावना निस्सीम के प्रति है। ''कबीर का मत है कि हरि के प्रेम के रस का पान कर लेने पर फिर कुछ भी इच्छा नहीं रह जाती, कुछ भी प्राप्तव्य नहीं रह जाता, जैसे कुम्हार का वह घड़ा जो अग्नि में पक्का कर लिया जाता है फिर उसके चाक पर कभी भी नहीं चढाया जाता।''[2]

4.3 3 3 योग मिश्रित भक्ति

कबीर ही केवल एक विचारक है जिन्होंने भक्ति और योग का सम्मिश्रण करने का प्रयास किया है। कबीर की रचनाओं में योग सम्बन्धी अनेकानेक शब्दों का व्यवहार उपलब्ध है। योगियों के गुण-दोष, यौगिक क्रियाओं तथा शब्दावलियों से भी इनका गहरा परिचय दीख पड़ता है, परन्तु हठयोगी इसे साध्य रूप में स्वीकार करते हैं जबकि कबीर मन की एकाग्रता तथा भक्ति की सिद्धि के लिए मात्र साधन रूप में। कबीर आसन और पवन को दृढ़ करने की बात कहते हैं-

''आसन पवन कियै दिढ रहु रे, मन का मैल छाडि दे बौरे।।''[3]

---

1 सं० श्यामसुंदरदास-कबीर ग्रंथावली, पृ० 4
2 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'-कबीर-दर्शन, पृ० 38
3 सं० श्यामसुंदरदास-कबीर ग्रंथावली, पृ० 177

''हठ-योग और प्रेम-योग के साधना-क्षेत्र में आपने भक्ति की जो प्रतिष्ठा की है उससे विभिन्न प्रकार की प्रचलित समकालीन विचारधाराओं में आपने वह साम्य स्थापित करने का प्रयास किया है कि जिससे आस्तिक जनों की विचारावलियों का सामूहिक सम्बन्ध होकर एक अबाध भक्ति का प्रसार हो। जिसमें छोटे बड़े सभी वर्गों के ज्ञानी तथा अज्ञानी व्यक्ति समान रूप से बह सकें, भगवान् भक्ति कर सकें और भगवान् के आनन्दमय स्वरूप का दर्शन कर उस रस का रसास्वादन कर सकें जो जीवन को चिर-शांति, चिर-मंगल प्रदान करने वाला हो।''[1]

4.3 3 4 नारदी भक्ति

कबीर ने एक स्थल पर कहा है-

''भगति नारदी मगन सरीरा,

इहि विधि भव तिरि कहै कबीरा।।''[2]

इसके आधार पर कबीर की भक्ति को नारदीय भक्ति कहा जाता है। नारदी भक्ति में प्रेमतत्त्व की प्रधानता रहती है। ''नारद-भक्ति-सूत्र में ''सा तु कर्म ज्ञान योगेभ्यो अधिकतरा,'' कह कर भक्ति को कर्म ज्ञान और योग इन तीनों से श्रेष्ठ कहा गया है।''[3]

नारद के समान कबीर ने भी भक्ति को कर्म ज्ञान और योग से श्रेष्ठ कहा है। कबीर साहित्य में नारदी भक्ति की प्राय: सभी आसक्तियों के उदाहरण मिल जाते हैं। नारदी भक्ति में भावदशा को आसक्ति कहा गया है। आसक्ति हमारे भावों में होती है। आसक्तियों के अनुसार ग्यारह प्रकार की भक्ति-साधना की जाती है।

---

1 यज्ञदत्त शर्मा- कबीर साहित्य और सिद्धांत, पृ० 96

2 सं० श्यामसुंदरदास- कबीर ग्रंथावली, पृ० 156

3 डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत- कबीर की विचारधारा, पृ० 325

कबीर अपनी भक्ति को 'नारदी भक्ति बताते हैं और कहते हैं कि अगर 'नारदी भक्ति' नहीं मिलती तो व्यर्थ की कृच्छ साधना से क्या?

''भगति नारदी रिदै न आई काछि कूछिं तनु दीनां।''[1]

कबीर-वाणी से ज्ञात होता है कि आपने नारदी भक्ति का उल्लेख निष्प्रयोजन नहीं किया है।

4.3 3 5 नवधा भक्ति

'श्रीमद्भागवत' में निरूपित नवधा भक्ति में कबीर की विशेष आस्था नहीं है। उन्होंने मुख्यत: इसका मानसिक रूप ही ग्रहण किया है। कबीर की रचनाओं में नवधा भक्ति के नौ प्रकार-श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन का भूरि-भूरि संकेत मिलता है।

कबीर की भक्ति संकीर्ण न होकर व्यापक तथा उदार है। भक्ति ही इनका जीवन है। जिसमें प्रभु कृपा के साथ-साथ सामाजिक एकता की प्रतिष्ठा भी होती है।

4.4 कबीर की योग-साधना

4.41 सामान्य परिचय

कबीर का समस्त जीवन सत्य के प्रयोगों में बीता था। योग-सम्बन्धी अभ्यास में उन्होंने अपने जीवन का बड़ा भाग लगाया। कबीर की योग साधना में नाथ साधना की कड़ी का आभास मिलता है। कबीर किसी परंपरा को वहां तक ही पुरस्कृत करते थे जहां तक वह कल्याणकारी सिद्ध होती थी। कबीर योगी थे, किन्तु सिद्धों और नाथों के ढंग के योगी नहीं थे। कबीर ने योग के 'मध्यममार्ग' की सीमाओं में स्वीकार करते हुए उसके मानसिक और आध्यात्मिक पक्ष पर ही विशेष बल दिया था। कबीर ने योग को एक मार्ग के रूप में ही स्वीकार किया है। वह उनका लक्ष्य नहीं

---

1 डॉ० पारसनाथ तिवारी- कबीर-वाणी संग्रह में उद्धृत, पृ० 75

बना बल्कि उन्होंने साधन रूप में भी योग की उन्हीं बातों को स्वीकार किया है जो उनकी अध्यात्म सिद्धि में भी सहायक होती हों।

''कबीर की सम्पूर्ण धर्म-साधना धर्म के विकृत एवं क्लिष्ट स्वरूप की प्रतिक्रिया के रूप में विकसित हुई थी। कबीर का लक्ष्य सदैव ही अनेकता में एकता तथा जटिलता में सरलता स्थापित करना था। योग के क्षेत्र में भी कबीर जटिल यौगिक साधना से सरल यौगिक क्रियाओं की ओर उन्मुख होते गये।''[1] कबीरदास के सम्बन्ध में आचार्य सेन महोदय का मत है कि ''कबीर की आध्यात्मिक क्षुधा और आकांक्षा विश्वग्रासी है। वह कुछ भी छोड़ना नहीं चाहते, इसीलिए वे ग्रहणशील हैं, वर्जनशील नहीं। इसीलिए उन्होंने हिन्दू, मुसलमान, सूफी, वैष्णव तथा योगी प्रभृति सब साधनाओं को ज़ोर से पकड़ रखा है। कबीर के योगमतवाद के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। उन्होंने कुछ अंशों में इसे मान लिया है, कुछ अंशों तक विशेष भाव से आत्मसात कर लिया है, कुछ अंशों तक छोड़ दिया है और फिर किसी-किसी अंश पर कठोर प्रहार भी किया है।''[2] ''उपनिषद् में योग चार प्रकार का कहा गया है-मंत्रयोग, लययोग, हठयोग और राजयोग। पतंजलि का योग 'राजयोग' है ।''[3] योगमार्गों में अष्टांगयोग, हठयोग, लययोग, मंत्रयोग, राजयोग आदि की अच्छी प्रतिष्ठा है।

(क) अष्टांगयोग

अष्टांगयोग को सभी साधकों ने सर्वाधिक अपनाया है। आठ अंगों की साधना वाला योग अष्टांगयोग कहलाता है। ''पातंजल योगदर्शन के अनुसार योग के आठ अंग माने जाते हैं-यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि।''[4] इन आठ अंगों की साधना करना अष्टांग साधना है।

---

1 डॉ० रामजीलाल 'सहायक' -कबीर-दर्शन, पृ० 307

2 डॉक्टर केशनीप्रसाद चौरसिया- मध्यकालीन हिन्दी सन्त-विचार और साधना में उद्धृत, पृ० 307-308

3 सं० पद्मचन्द्र अग्रवाल -विचार, दृष्टिकोण एवं संकेत, पृ० 35

4 डॉ० रामजीलाल 'सहायक' -कबीर-दर्शन में उद्धृत, पृ० 300

(ख) हठयोग

''हठयोग को स्पष्ट करते हुए हठयोग प्रदीपिका के टीकाकार स्वात्मा रामस्वामी ने लिखा है कि 'ह' का अर्थ चन्द्र है और 'ठ' का अर्थ सूर्य। सूर्य और चन्द्र से क्रमश: दक्षिण स्वर और बाम स्वर का प्रतीकात्मक अर्थ भी लिया जाता है। इन्हीं दोनों की समता का नाम हठयोग है। हठयोगी साधक का सिद्धान्त है कि स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीर का ही परिणाम है।''[1] कबीर ने सबसे पहले हठयोग को ही अपनाया था।

(ग) लययोग

''लययोग ध्यानयोग का अवान्तर रूप है। हठयोग प्रदीपिका के अनुसार यह कहा जा सकता है ''लयो विषय विस्मृति:'' अर्थात् वासनाओं का ध्येय में विलय कर देना ही लय है। मन को किसी विशिष्ट स्थान में केन्द्रित करने से वासनाओं का लय हो जाता है।''[2] कबीर का शब्द सुरति योग लययोग ही है।

(घ) मंत्रयोग

सभी योगमार्गों में मंत्रयोग को सरल कहा जाता है। जप-साधना मंत्रयोग की सबसे प्रमुख विशेषता है। इसी मंत्रयोग से सुषुम्ना के दर्शन होते हैं। ''जब किसी मंत्र के सहारे चित्तवृत्ति का विरोध किया जाता है तब उसे मंत्रयोग कहते हैं। पातंजल योगदर्शन में 'उस ईश्वर का वाचक नाम ऊंकार है'' यह लिख कर मंत्रयोग की ओर संकेत किया है।''[3] कबीर में मंत्रयोग भी पाया जाता है। मंत्र में शक्ति तभी

---

1 डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत- कबीर की विचारधारा, पृ० 298

2 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन, पृ० 305

3 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन, पृ० 305

आती है, जब वह गुरु द्वारा दिया गया हो या साधक ने अपनी पवित्र आत्मा को साधना-शक्ति से उसे जीवित कर दिया हो।

(ड.) राजयोग

तीनों योगों से विशिष्ट और उच्चतम है राजयोग। तीनों योग राजयोग की पूर्व-स्थितियाँ हैं। ''राजयोग को समाधि, उन्मनी, अमरत्व, अमनस्क, अद्वैतता, निरालम्ब, जीवनमुक्त अनेक रूपों में वर्णित किया गया है। राजयोग में ज्ञान और भक्ति का समन्वय किया गया है।''[1] ''हठयोग प्रदीपिकाकार का मत है कि जब हठयोग साधना समाप्त हो जाती है तभी राजयोग साधना प्रारम्भ होती है। इस दृष्टि से ध्यान धारणा और समाधि इसके प्रमुख अंग हुए कुछ योग ग्रंथों में राजयोग के 15 अंग माने गये हैं।''[2] राजयोग इंद्रियों के राजा मन का योग है। यह चित्तवृत्ति-निरोध-स्वरूप है। ''चित्त के सागर में जब वृत्तियों की लहरें नहीं उठतीं, तब चित्त निस्तरंग हो जाता है। चित्त की यह निस्तरंगावस्था ही राजयोग का लक्ष्य है।''[3] दूसरे शब्दों में इसे मन के निरोध का योग कहा जा सकता है। ''कबीरदास इस मन को खोजने का उपदेश देते हैं; क्योंकि तन के छूटने पर यह कहाँ चला जाता है, इसका पता नहीं चलता। सनक, सनंदन आदि ऋषियों को भी इस मन का पता नहीं मालूम हुआ, केवल भक्त शुकदेव ही इसे जानकर अपने में लीन कर सके। उनका कहना है कि मन ही सब कुछ है, यही शिव है और शक्ति भी यही है तथा पंचतत्त्व का जीव भी यही मन ही है।''[4]

---

1 सं० रामकिशोर शर्मा-कबीर ग्रंथावली (सटीक), पृ० 51

2 डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत- कबीर की विचारधारा, पृ० 300

3 डॉ० रामेश्वरप्रसाद सिंह-संत- काव्य में योग का स्वरूप, पृ० 369

4 डॉ० रामेश्वरप्रसाद सिंह-संत- काव्य में योग का स्वरूप, पृ० 369-370

कबीर की योग-साधना की कई अवस्थाएँ हैं। प्रारम्भ की अवस्था तथा अन्तिम अवस्था में एक भारी अन्तर है। ''आरम्भ की अवस्था में योग-विषयक जानकारी, अभ्यास है तथा अनुभवों की अपरिपक्व विवेचना, दूसरी अवस्था में क्लिष्ट साधना का वर्णन और अनुभूति और तीसरी अवस्था में क्लिष्ट योग साधना का खंडन एवं सहज व योग-युक्ति का मंडन है।''[1] कबीर की योग साधना का क्रमिक विकास हुआ है। ''उनके योग- सम्बन्धी विचारों को स्थूल रूप से दो भागों में बाँटा जा सकता है, एक वे हैं जो योग के सच्चे स्वरूप की खोज में किए गए हैं, दूसरे वे जिनमें योग के अन्तिम उनके द्वारा स्वीकृत स्वरूप का वर्णन मिलता है। प्रथम प्रकार की उक्तियों में हम विशृंखलता, शिथिलता तथा अस्पष्टता पाते हैं परन्तु दूसरी प्रकार की उक्तियों में अनुभवजन्य दृढ़ता है। पहली प्रकार की उक्तियाँ वर्णन प्रधान हैं और दूसरी प्रकार की उक्तियों में योग के असत् रूप का खंडन और सत् रूप का मंडन है।''[2] कबीर के समय में नाथपंथी योगियों और रामानन्दी योगियों की अधिकता थी। ये दोनों प्रकार के योगी 'अवधूत' कहलाते थे, पर इनमें योग के सच्चे स्वरूप को भूलकर आडम्बर अधिक आ गया था। कबीर जैसे सत्य के पारखी ने इन 'अवधूतों'को तरह-तरह से समझाया। अत: उनकी उक्तियाँ अधिकतर 'अवधूत' को सम्बोधित करके लिखी गई हैं, किन्तु कहीं-कहीं पर उन्होंने सम्बोधन में 'योगी' शब्द का प्रयोग भी किया है। जहाँ इसका अर्थ नाथपंथी योगी से हो सकता है।

4.411 हठयोग

डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत ने कबीर के हठयोग की तीन अवस्थाओं का वर्णन किया है जोकि इस प्रकार हैं-

---

1 डॉ० रामजीलाल सहायक - कबीर-दर्शन, पृ० 307

2 सं० पद्मचन्द्र अग्रवाल-विचार, दृष्टिकोण एवं संकेत, पृ० 36

(क) हठयोग का जटिलतम स्वरूप

डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत के अनुसार ''कबीर की रचनाओं को पढ़ने से मालूम होता है कि उन्होंने सब से पहले हठयोग के जटिलतम स्वरूप को अपनाया था। इसी अवस्था में उन्होंने पूरक, रेचक, कुम्भक, धोती, नेती, वस्ति, वायु संचालन के 16 आधार कुण्डलनी उत्थापन तथा तत्सम्बन्धी अनेकानेक चक्रों का वर्णन किया है। इसी अवस्था से सम्बन्धित उक्तियों में 10 दरवाज़े, 52 कोठरी, 14 चन्दा, 64 दिया, द्वादशकोश, 7 सुरति, 16 संख, 72 नाड़ियों की चरचा की है। इस अवस्था के वर्णनों में हठयोग के विविध साधकों की कही हुई बातों का पिष्टपेषण तो है ही, साथ ही साथ नाथपंथ और तंत्र साधना की अनेकानेक गुह्य बातें भी आ गई हैं।''[1]

हठयोग में कुण्डलनी उत्थापन प्रक्रिया

हठयोगी का चरम लक्ष्य है कुंडलिनी को जागृत करना। ''कुण्डलनी की व्युत्पत्ति इस प्रकार है-''कुण्डले अस्या: स्त: इति कुण्डलनी''। अर्थात् वह (शक्ति) जिसके दो कुण्डल हों। ये कुण्डल ईड़ा और पिंगला है। इन दोनों नाड़ियों के बीच सुषुम्ना नाड़ी है। इसी से होकर कुण्डलनी शक्ति ऊपर की ओर प्रवाहित होती है।''[2] इन नाड़ियों के कई सांकेतिक नाम भी हैं। इन्हें सिद्धात्मा ने क्रमश: ललना, रसना, अवधूति, संतों ने गंगा, यमुना और सरस्वती संज्ञाएँ दी हैं। जहाँ यह तीनों नाड़ियाँ मिल जाती हैं, उस स्थान को त्रिवेणी, संगम, त्रिकुटी आदि नाम दिये गये हैं। इस प्रक्रिया से ही योगी लोग आत्मज्योति दर्शन तथा अनहद नाद श्रवण करते रहे हैं। कुण्डलनी स्वयंनाद स्वरूपा ज्योति स्वरूपा तथा शक्ति स्वरूपा मानी जाती है। कबीर में इड़ा,

---

1 डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत- कबीर की विचारधारा, पृ० 301-302

2 डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत- कबीर की विचारधारा, पृ० 303

पिंगला तथा सुषुम्ना आदि नाड़ियों की खूब चर्चा है। संक्षेप में इनकी स्थिति बतायी है-

''अरध उरध की गंगा जमुनां, मूल कमल कौ घाट।
षट चक्र की गागरी, त्रिवेंणी संगम बाट।।''[1]

(ख) स्पष्ट सरल वर्णन

हठयोग साधना की दूसरी अवस्था में पहुँच कर कबीर कुछ अधिक स्पष्ट हो चलते हैं। उनकी अस्पष्ट जटिलता स्पष्ट सरल वर्णनों में परिवर्तित हो जाती है। ''इस अवस्था से सम्बन्धित उक्तियों में हठयोग के जो वर्णन मिलते हैं, वे प्राय: प्रसिद्ध हठयोग, नाथपंथी योग या तंत्र ग्रंथों के आधार पर किए हुए जान पड़ते हैं।''[2] ऐसे स्थलों पर वे कभी तो षट चक्र भेदन की बात कहते हैं, त्रिवेणी स्नान का आदेश देते हैं और कभी भगन (ब्रह्म रन्ध्र) के अमृत पान करने का उपदेश देते हैं-

''कदली कुसुम दल भीतरा, तह छ: अंगुल का बीच रे।
तहाँ दुआ दस खोजिले, जनम होत नहीं नीच रे।
बंक नालि के अंकरे, पछिम दिसा की बाट रे।
नीझर झरै रस पीजिए, तहाँ भंवर गुफा के घाट रे।
त्रिवेणी मह नाइयें, सुरति मिलै जो हाथ रे, (इत्यादि)''[3]

हठयोग साधना की दूसरी अवस्था में अस्पष्टता और जटिलता नहीं है जो उनके योग के प्राथमिक स्वरूप में मिलती है। साधना की इस अवस्था में उन्हें पवनशोधन में पूर्ण विश्वास है। वे कहते हैं-

''आसन पवन किये दृढ़ रहु रे, मन को मैल छांड़ि दे वीरे।''[4]

---

1 डॉ० रामजीलाल 'सहायक' - कबीर - दर्शन में उद्धृत, पृ० 317
2 डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत - कबीर की विचारधारा, पृ० 307
3 डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत - कबीर की विचारधारा में उद्धृत, पृ० 307 - 308
4 डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत - कबीर की विचारधारा, पृ० 308

(ग) जटिल स्वरूप का पूर्ण बहिष्कार

हठयोग साधना के विकास की तृतीय अवस्था में कबीर का दृष्टिकोण बदला हुआ प्रतीत होता है। इस अवस्था में हठयोग के जटिल स्वरूप का पूर्ण बहिष्कार तथा सरल हठयोग का प्रेम से सुन्दर सामंजस्य स्थापित किया है-

''हिडोलना तहाँ झूलै आतम राम।
प्रेम भगति हिडोलना, सब संतनि कौ विश्राम।।
चंद सूर दोइ खंभवा बंक नालि की डोरि।
झूलें पंच पियारियाँ, तहाँ झूलै जीय मोर।।''[1]

कबीर ने प्रेम और योग के सम्बन्ध को सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है। महात्मा कबीर इसी राम रसायन को पीकर मतवाले हो गए थे।

4.412 शब्द – सुरति – योग

हठयोग की क्लिष्ट प्रक्रियाओं की ओर से कबीर का मन उचट गया और वे सरल यौगिक क्रियाओं की ओर उन्मुख हुए। मन को केन्द्रित करने के हेतु उन्होंने लययोग की साधना प्रारम्भ की। कबीर का लययोग, कबीरपन्थ में 'शब्द-सुरति-योग' के नाम से प्रख्यात है। शब्द-रूप ब्रह्म की धारणा अत्यन्त प्राचीन है। वेदों में अनेक स्थलों पर शब्द ब्रह्म का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। ओंकार अथवा प्रणव शब्द ब्रह्म का प्रतीक है। ''महर्षि पतंजलि ने ''तस्य वाचक: प्रणव'' कहकर शब्द ब्रह्म को ही प्रतिपाद्य माना है।''[2] डॉ० बड़थ्वाल शब्द-सुरति-योग के सम्बन्ध में लिखते हैं- ''वह योग जिसके द्वारा सुरति एवं शब्द का संयोग सिद्ध होता है और उक्त सीमाएँ शब्द में लीन हो जाती हैं, शब्द योग

---

1 सं० रामकिशोर शर्मा- कबीर ग्रंथावली (सटीक), पृ० 322
2 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन, पृ० 321

अथवा सुरति-शब्द-योग कहा जाता है। शब्द सर्वप्रथम भगवत्प्रेम के रूप में तथा भगवन्नाम के रूप में मुँह से निकलता है और अंत में स्वयं शब्दरूप ब्रह्म हो जाता है। इसे सहजयोग भी कहा जाता है।''[1] सुरति-शब्द-योग में 'सुरति' का बड़ा महत्त्व है। ''कबीर के मतानुसार 'सुरति' इतनी विलक्षण है कि इसकी तुलना न आत्मा से की जा सकती है, न प्राण, मन, बुद्धि, चित्त आदि किसी अन्य तत्त्व से ही विद्वानों के अनुसार 'शब्द' का अर्थ 'अनहद नाद' है, और 'सुरति' 'सूक्ष्म भावात्मक वस्तु' है।''[2] कबीर साहित्य में इस 'सुरति' के साथ 'निरति' का प्रयोग भी मिलता है। ''कबीर ने इनको क्रमशः व्यष्टि शक्ति और समष्टि शक्ति के रूप में मान्यता दी है तथा इन दोनों के सम्मिलन की स्थिति को 'शंभु' के रूप में व्यक्त किया है।''[3] महात्मा कबीर 'शब्दब्रह्म' में पूर्ण आस्था रखते थे। कबीर ने शब्दब्रह्म के प्रति अपनी सहज आस्था को विविध ढंग से व्यक्त किया है। कहीं वे रामनाम को निरंजन शब्दब्रह्म बताते हैं- ''सबद निरंजन रांमनांम साचा''[4] और कहीं अनाहद शब्द के चिन्तन की बात करते हैं। ''ऐसा ध्यान थरौ नरहरी, सबद अनाहद च्यंतन करी''।[5] कबीर भी ऊं कार को शब्द-ब्रह्म का वाचक समझते हैं। इस ऊं कार अथवा शब्द-ब्रह्म को जगत् का मूल तत्त्व कहा है। सृष्टि का आदि कारण यही ओंकार है और यह नामरूपात्मक जगत् के सूक्ष्म से सूक्ष्म तथा महान् से भी महान् रूप में परिव्याप्त है-

''ऊँकार आदि है मूला, राजा परजा एकहि सूला।।''[6]

---

1 डॉ० रामजीलाल 'सहायक' -कबीर-दर्शन, पृ० 324
2 सं० विजयेन्द्र स्नातक -कबीर, पृ० 197
3 सं० विजयेन्द्र स्नातक -कबीर, पृ० 197
4 सं० श्यामसुंदरदास-कबीर ग्रंथावली, पृ० 116
5 सं० रामकिशोर शर्मा -कबीर ग्रंथावली (सटीक), पृ० 505
6 सं० रामकिशोर शर्मा -कबीर ग्रंथावली (सटीक), पृ० 633

कबीर ने चरम सत्य शब्द-ब्रह्म की साधना करने का निर्देश किया है। शब्द में ध्यानावस्थित हो जाना लय है और इसी से शब्द साधना को शब्द-सुरति-योग कहा जाता है। कबीर शब्द-सुरति-योग में मन साधना के द्वारा सुरति को त्रिकुटी अथवा ब्रह्मरन्ध्र में केन्द्रित करने का उपदेश देते हैं-

''द्वादश दल अभि अंतरि भ्यंत, तँह प्रभु पाइसि करिलै च्यंत।''[1]

कबीर के शब्द सुरति योग की प्रवृत्ति भी जटिलता से सरलता की ओर रही है। षट्चक्र-बेधन, कुंडलिनी-उत्थापन आदि की ओर से उनका ध्यान हट गया था। ध्यान के अखंड तारतम्य के लिए कबीर ने नाम-जप का महत्त्व बताया है। जाप जब बिना उच्चारण और ध्वनि के स्वत: ही सम्पन्न होता रहता है तब वह अजपा जाप हो जाता है। अजपा जाप की पूर्णावस्था की प्राप्ति के लिए साधक को अपने मन को वश में रखना अनिवार्य है। कबीर ने इसी अवस्था में उल्टीचाल की व्यवस्था कर दी है। बहिर्मुखी वृत्तियों को अन्तर्मुखी करना ही उल्टी चाल है। कबीर का पूर्ण विश्वास है उल्टी चाल से परब्रह्म की प्राप्ति सरलता से हो जाती है-

''उल्टी चाल मिलै परब्रह्म, सो सद्गुरु हमारा।''[2]

शब्द-सुरति-योग की सिद्धि के लिए कबीर ने पवन शोधन के महत्त्व को तो कम कर दिया है; किन्तु ज्ञान का महत्त्व बढ़ा दिया है। ज्ञान से कबीर का तात्पर्य चरम सत्य से है। ब्रह्म ही सत्य ज्ञान है, चरम सत्य है और इसमें ध्यान लगाने से योग सिद्धि प्राप्त हो जायगी, ऐसा कबीर का विचार है।

---

1 डॉ० रामजीलाल 'सहायक' - कबीर-दर्शन में उद्धृत, पृ० 324

2 डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत- कबीर की विचारधारा में उद्धृत, पृ० 318

4.413 सहजयोग

कबीर के योग की अन्तिम स्थिति ''सहज-योग'' है। सहज योग जैसा कि कबीर ने स्वयं कहा है साधना का वह रूप जिसके लिए साधक को किसी प्रकार का प्रयत्न नहीं करना पड़ता है-

''सहजे होय सो होय''[1]

कबीर ने अपने सहजयोग में भी शब्द ब्रह्म को ही ब्रह्म का सहज स्वरूप माना है। उसे वे ''सहजशून्य'' कहते हैं। ''मन का इसी सहज शून्य में लय हो जाना परमानन्द की प्राप्ति है। यही लय हो जाने की अवस्था उन्मनावस्था है और यही समाधि की भी अवस्था है। इसी अवस्था में पहुँच कर साधक को तीनों कालों का ज्ञान प्राप्त होता है।''[2] यह योग का सरलतम रूप है जिसकी स्थापना कबीर ने साधारण जनता के उपासनार्थ की है। सहज साधना के लिए कहीं भटकने की आवश्यकता नहीं, अनेक विधि-विधानों, मुद्राओं, षट्कर्म आदि की कोई आवश्यकता नहीं। साधना ऐसी होनी चाहिए जो नित्यप्रति सहज भाव के साथ की जा सके। ''कबीर की उन्मनि रहनी अथवा सहजावस्था एकार्थक ही है। सहज शब्द का अर्थ सरल ही नहीं है, वरन् वह ब्रह्म के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। अतएव सहजावस्था वह स्थिति है जहाँ साधक को ब्रह्मात्मैक्य की प्राप्ति हो जाती है।''[3] सहजयोगी का वास्तविक स्वरूप निरूपित करते हुए कबीर कहते हैं-

''अवधू जोगी जग थैं न्यारा।
मुद्रा निरति सुरति करि सींगी, नाद न खंडै धारा।।टेक।।

---

1 डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत- कबीर की विचारधारा में उद्धृत, पृ० 319
2 यज्ञदत शर्मा- कबीर साहित्य और सिद्धान्त, पृ० 98
3 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन, पृ० 326

बसै गगन मैं दूनीं न देखवै, चेतनि चौकी बैठा।

चढ़ि अकास आसण नहिं छाड़ै, पीवै महारस मीठा।।

परगट कथा माहैं जोगी, दिल मैं द्रपन जोवै।

सहँस इकीस छ सै धागा, निहचल नाकै पोवै।।

ब्रह्म अगनि मैं काया जारै, त्रिकुटी संगम जागै।

कहै कबीर सोई जोगेस्वर, सहज सुनि ल्यौ लागै।।''[1]

सहजयोग अत्यन्त सरलतम रूप धारण कर लेता है। वह इन्द्रियनिग्रह और मन-साधना में परिवर्त्तित हो जाता है। कबीर ने सच्चे योग का वर्णन करते हुए मन साधना को ही महत्त्व दिया है। ''उनके मतानुसार सच्चा योगी वास्तविक मुद्रा न धारण कर मन की मुद्रा ही धारण करता है। वह रात-दिन इसी मन साधना में संलग्न रहता है। मन को एक क्षण भी इधर-उधर नहीं होने देता। वह सदैव मन में ही आसन आदि का साधन करता है। वह किसी प्रकार के बाह्य जप तप भी नहीं करता। उसके लिए मन निग्रह ही जप, तप और संयम है। यह अन्य योगियों की भाँति षपरा और सींगी भी नहीं धारण करता। उसका वास्तविक यौगिक स्वरूप उसकी मन साधना में ही निहित है। इस प्रकार साधक मनोजप करके काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि अन्य विकारों पर विजय प्राप्त कर लेता है। तभी उसे सफलता प्राप्त होती है।''[2]

4.414 भक्तियोग

''कबीर के इसी सहज-योग ने बाद में जाकर भक्ति-योग का स्वरूप धारण किया जहाँ पहुँच कर योग की अपेक्षा भक्ति की प्रधानता स्थापित होती चली गई। कबीर की योग भावना इस तरह आद्योपान्त परिवर्तनशील रही है। जटिल-से-जटिल

---

1 सं० रामकिशोर शर्मा- कबीर ग्रंथावली (सटीक) पृ० 350

2 डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत- कबीर की विचारधारा, पृ० 322

हठयोग से चलकर कवि सहज-योग और भक्ति-योग के स्वाभाविक सरलमार्ग पर पहुँच गया। हठयोग से लय-योग; लय-योग से सहज-योग और सहज-योग से मंत्र योग। यही मंत्र-योग आगे चलकर सहज-योग तथा फिर भक्ति-योग के नाम से उच्चारित हुआ।''[1] इसमें कबीर ने भक्ति को प्रमुख तत्त्व और योग को गौण तत्त्व माना है।

4.415 सिद्धावस्था

योग की अंतिम अवस्था 'पूरे सों परिचय' प्राप्त करके होती है और वही योगी की सिद्धावस्था है। महात्मा कबीर ने ''पूरे सो परिचय'' प्राप्त किया था। उस परिचय को प्राप्त करते ही वे सिद्ध हो गये। उनकी सारी कामनायें शांत हो गईं और वह ब्रह्मानन्द में पूर्णरूपेण विलीन हो गए। ऐसी दशा में योगी को अपने तन की सुधि नहीं रहती और यही उसकी मुक्तावस्था है। आत्मा ब्रह्म में विलीन हो जाती है और दोनों का पारस्परिक भेद-भाव मिट जाता है।

''मैं मत अविगत रता अकलप आसा जीत।
राम अमिल माता रहै जीवत मुकुति अतीत।।''[2]

अत: यह कहा जा सकता है कि कबीर की योग साधना में किसी पद्धति या परम्परा की खोज करना व्यर्थ है। सारग्राही की भांति उन्होंने योग-साधना को उनके स्त्रोतों से संगृहीत करके जो व्यवस्था की है वह स्वस्थ और पुष्ट है जिसका लक्ष्य मन को भ्रम-मुक्त करके सहज-रूप देता है। कबीरदास जी भक्ति और योग को साथ-साथ लेकर चले हैं। इस प्रकार योग और भक्ति के समन्वय की जो धारा कबीर ने प्रवाहित की वह जन मंगलकारिणी थी।

---

1 यज्ञदत्त शर्मा -कबीर साहित्य और सिद्धान्त, पृ० 98

2 डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत-कबीर की विचारधारा में उद्धृत, पृ० 323

4.5 कबीर का रहस्यवाद

4.51 सामान्य परिचय

मानव मन अनादिकाल से ही सृष्टि के रहस्यों के प्रति विस्मय और कौतुक भरी दृष्टि रखता आया है। उसकी यह सदैव से जानने की जिज्ञासा रही है कि इस सृष्टि का नियन्ता कौन है? उसका स्वरूप कैसा है ? आदि। संसार चक्र का प्रवर्त्तन किसी अज्ञात शक्ति के द्वारा होता है, इस अज्ञात शक्ति को जानने की इच्छा मनुष्य में चिरकाल से रही है। परंतु वह शक्ति उस प्रकार नहीं दिखाई देती जिस प्रकार जगत् के अन्य दृश्य रूप; और न उसका ज्ञान ही किसी साधारण विचारधारा के द्वारा हो सकता है जिस प्रकार अन्य दृश्य रूपों का होता है। रहस्यवाद के मूल में ऐसी ही अज्ञात शक्ति की जिज्ञासा काम करती है। ''मानव में जबसे ज्ञान-बुद्धि-नामक तत्त्व की स्थिति हुई तभी से उसकी चिन्तन-प्रक्रिया में सृष्टि के उद्‌गम और अपने मूल के सम्बन्ध में जिज्ञासा रही है। उसने जब इस सृष्टि नियन्ता के स्वरूप की गुत्थी को ज्ञान का आश्रय लेकर सुलझाने का प्रयास किया तब यह दर्शन का विषय बन गया, किन्तु जब इसे कवि ने समझने का प्रयास कर अपने अनुभवों को वाणी की विशेष पद्धति में अभिव्यक्त किया तब इसे 'रहस्यवाद' कहा गया।''[1] संसार का लगभग प्रत्येक श्रेष्ठ कवि किसी न किसी अंश में रहस्यवादी होता है। अमेरिकन प्रो० प्रॉट (Prof. Prat) का कथन उचित ही है।

"Every poet has at least a touch of mysticism"[2]

परमात्मा को पिता, माता, प्रियतम, पुत्र अथवा सखा के रूप में देखना रहस्यवाद ही है। परमात्मा के पितृत्त्व की भावना बहुत प्राचीन काल के वेदों ही में

---

1 डॉ० पुष्पपाल सिंह- कबीर ग्रंथावली (सटीक), पृ० 47

2 डॉ० पुष्पपाल सिंह- कबीर ग्रंथावली (सटीक) में उद्‌धृत, पृ० 47

मिलने लगती है। ''ऋग्वेद की एक ऋचा में यो 'यों नः पिता जनिता यो विधाता' कहकर परमात्मा का स्मरण किया गया है। वेदों में परमात्मा को माता भी कहा गया है- त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ'। परमात्मा के मातृ पितृत्त्व से प्राणियों के भ्रातृत्त्व की भावना का उदय होता है- ''अज्येष्ठासौ अकनिष्ठासौ एते संभ्रातरो'।''[1] वैदिक मन्त्रों एवं प्रार्थनाओं में विशुद्ध रहस्यवाद जैसी वस्तु नहीं मिलती। उसमें देवताओं से अपने कल्याण की प्रार्थना और विनय ही प्रमुख है। उनमें आत्मा का परमात्मा से वह उत्कट प्रेम व्यंजित नहीं होता जो रहस्यवाद की प्रमुख प्रवृत्ति है। वेद-मन्त्रों में स्थापित सम्बन्धों में रक्षा और कल्याण की भावना का ही प्राधान्य है। उपनिषद्ों में आकर अद्वैतवाद के प्रतिपादन से रहस्यवादी परम्परा का प्रारम्भ होता है। रामरतन भटनागर के अनुसार-''यदि जीव और ब्रह्म के अलौकिक सम्बन्ध को अनुभव करने का नाम ही रहस्यवाद है तो उपनिषद् भारतीय रहस्यवाद के आदि स्रोत हैं। उनके द्रष्टाओं ने ऐसी चरम सत्ता का अनुभव किया है जो प्रकृति और मन में अनन्त काल से व्याप्त हो रही है, जिससे सृजन होता है, जिसमें संसार कार्य करता हुआ जीता है और अन्त में जिसमें सृष्टि का लोप हो जाता है। वे इस सत्ता को बौद्धिक तर्क द्वारा प्रमाणित करके ही नहीं रह जाते, उसकी प्राप्ति का मार्ग भी बताते हैं। वे आत्मज्ञान की ओर संकेत करते हैं परन्तु यह भी जानते हैं कि अनुभूतिजन्य पारलौकिक ज्ञान जो स्वयं एक अलौकिक और रहस्यपूर्ण अनुभव है, शब्दों द्वारा प्रगट नहीं किया जा सकता। वह ज्ञान तो भीतर की वस्तु है, आत्मा में स्थित हो जाता है। उसकी ओर तो आत्मज्ञानी योगी इंगित ही कर सकता है जिससे नये साधक को अंधकार में स्थान-स्थान पर प्रकाश स्तंभ मिल सके।''[2] ''वेद और उपनिषद्ों में रहस्यवाद की झलक विद्यमान है। गीता में भगवान् के मुँह से उनकी विभूति का जो

---

1 सं० श्यामसुंदरदास - कबीर ग्रंथावली, पृ० 48

2 रामरतन भटनागर - कबीर: एक अध्ययन, पृ० 140

वर्णन कराया गया है, वह भी अत्यंत रहस्यपूर्ण है।''[1] डॉ० पुष्पपाल सिंह के अनुसार-''सर्वप्रथमगीता के दशम अध्याय में भावात्मक प्रणाली पर सर्ववाद का निरूपण हुआ है, जो रहस्यवाद का ही एक अंश है।''[2]

''महर्षय: सप्त चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमा: प्रजा:।।
x x x x x x x x x x x x x x x x
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मानुपयान्ति ते।।''[3]

तदनन्तर सिद्धों और योगियों की वाणी में भी रहस्य भावना के दर्शन होते हैं, किन्तु वहाँ भावना की अपेक्षा साधना प्रमुख है। सूफियों और सन्तों में कबीर के द्वारा सर्वप्रथम रहस्यवाद में प्रेम की मधुर भावना प्राप्त होती है।

4.52 रहस्यवाद की आस्थाएँ तथा परिस्थितियाँ

आस्थाएँ

रहस्य भावना की जागृति के लिए या यूँ कहे रहस्यवाद की भूमिका चार प्रमुख तत्त्वों से निर्मित होती है। जोकि इस प्रकार है-आस्तिकता, प्रेम और भावना, गुरु और मार्ग ।

(क) आस्तिकता

आस्तिकता रहस्यवाद की सर्वप्रथम आस्था है आस्तिकता का अर्थ है-परमतत्त्व अथवा ब्रह्म के अस्तित्त्व में विश्वास जिस प्रकार ऊसर भूमि में बोया हुआ

---

1 सं० श्यामसुंदरदास- कबीर ग्रंथावली, पृ० 47
2 डॉ० पुष्पपाल सिंह- कबीर ग्रंथावली (सटीक), पृ० 49
3 डॉ० पुष्पपाल सिंह- कबीर ग्रंथावली (सटीक), पृ० 49

कोई बीज नहीं जमता उसी प्रकार नास्तिक के हृदय और मन में ईश्वर- संबंधी कोई भाव या विचार जम नहीं सकता । आध्यात्मिक सत्य में आस्था रखे बिना रहस्यवादी की साधना आगे बढ़ नहीं सकती। आस्तिक्य की कसौटी श्रद्धा है। कबीरदास जी पूर्ण रूप से आस्तिक थे। उनकी वाणी अपने युग की नास्तिक धर्म पद्धतियों की प्रतिक्रिया के रूप में उदय हुई थी। यही कारण है कि आपने नास्तिक मतावलम्बियों की निन्दा की है-

'' बौद्ध जैन और साकत सेना,
चार भाग चतुरंग विहीना।''[1]

कबीर ने ब्रह्म के लिए 'शून्य' शब्द का प्रयोग किया है जिसके कारण बहुत से लोग उन्हें शून्यवादी कहकर नास्तिक समझ सकते हैं। डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत इस सम्बन्ध में लिखते हैं- ''कबीर ने शून्य शब्द कभी उस अर्थ में नहीं प्रयुक्त किया है, जिसमें बौद्ध और सिद्ध लोग किया करते थे। कबीर का शून्यवाद नाथपंथियों से प्रभावित है। नाथपंथ में शून्य शब्द अलखनिरंजन सत्ता का पर्यायवाची हो चला था। कबीर ने शून्य का प्रयोग इसी अर्थ में किया है। कुछ ऐसे भी स्थल हैं जहाँ उसका प्रयोग सहस्रदल कमल के अर्थ में भी किया गया है। उसमें उन्हें नाद स्वरूपी और ज्योति स्वरूपी ब्रह्म के दर्शन होते हैं। अत: स्पष्ट है कि कबीर की शून्य साधना भी आस्तिक है।''[2]

(ख) प्रेम और भावना

रहस्यवाद की दूसरी आस्था है- प्रेम और भावना। आस्तिक होने के साथ-साथ जब साधक परमात्मा के प्रति प्रेम-भावना से परिपूर्ण होकर उसमें तन्मय हो जाता है तब रहस्यवाद का जन्म होता है। कबीर ने यह बात पूरी तौर पर अनुभव

---

1 डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत- कबीर की विचारधारा में उद्धृत पृ० 213
2 डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत- कबीर की विचारधारा पृ० 213

कर ली थी कि उसकी प्राप्ति प्रेम या भक्ति से ही हो सकती है यही कारण है कि उन्होंने स्थान-स्थान पर ''भाव भगति'' और ''प्रेम भगति'' का उपदेश दिया है। ''चतुराई रीझै नहीं, रीझै मन कै भाइ', कहकर कबीर ने भाव या प्रेम के गौरव को अभिव्यक्त कर दिया है।''[1] राम के प्रति कबीर का प्रेम-भाव ही उन्हें यह कहने के लिए प्रेरित करता है-

'' पुर पाटण सूबस बसै, आनंद ठांयें ठांइ ।

रांम सनेही बाहिरा, ऊजँड मेरे भाइ ।।''[2]

''जहाँ तक भावना और भक्ति का सम्बन्ध है कबीरदास जी ने भक्ति में सात्विक हृदय की ब्रह्म में अनन्या भक्ति मानी है परन्तु जहाँ प्रेम का सम्बन्ध आता है वहां सूफी-साधना का आश्रय लिया गया है।''[3]

(ग) गुरु का अस्तित्त्व

परमात्मा के प्रति साधक की प्रेम-भावना जागरित हो कैसे? इस प्रश्न का उत्तर ही रहस्यवाद की तीसरी आस्था है और वह है- गुरु का अस्तित्त्व। '' ब्रह्म में आस्था होने और आत्मा में ब्रह्म से मिलने की भावना तथा प्रेम का उदय होने के पश्चात् भी दोनों का मिलन उस समय तक सम्भव नहीं है जब तक कि दोनों को मिलाने वाला कोई सच्चा सद्गुरु न हो । वास्तव में गुरु के द्वारा ही शिष्य के हृदय में ब्रह्म के प्रेम का अंकुर जमता और पल्लवित होता है।''[4] कबीर इस जीवन में प्रेम को एक अनिवार्य क्रीड़ा मानते हैं क्योंकि इसके बिना उद्धार नहीं है और प्रेम की बाजी में सफल होना सरल काम नहीं है। केवल वे ही लोग सफल होते हैं जो गुरु के बताये हुए दाव को अच्छी तरह समझ कर चाल चलते हैं। यह दाव वह मार्ग है, जिसे

---

1 डॉ० सरनामसिंह शर्मा- कबीर: एक विवेचन, पृ० 372

2 डॉ० सरनामसिंह शर्मा- कबीर: एक विवेचन में उद्धृत, पृ० 372

3 यज्ञदत्त शर्मा- कबीर साहित्य और सिद्धान्त, पृ० 75

4 यज्ञदत्त शर्मा- कबीर साहित्य और सिद्धान्त, पृ० 75

भुलाकर रहस्य-साधक बाजी नहीं जीत सकता । इसीलिए कबीर बड़ी मुस्तैदी से कहते हैं-

''पासा पकड़्या प्रेम का, सारी किया सरीर।
सतगुरु दाव बताइया, खेलै दास कबीर''[1]

प्रेम-सृजन, प्रिय-सन्देश तथा प्रेम-मार्ग-दर्शन-ये तीन प्रमुख कार्य कबीर ने गुरु से सम्बन्धित किये हैं। शिष्य में प्रेम को अंकुरित करने वाला गुरु ही है। 'प्रेम का अंक' पढ़ा कर गुरु अपने शिष्य को तैयार कर देता है।

(घ) मार्ग

कबीर की रहस्य साधना में 'मार्ग' का विशेष स्थान है। कबीर ने इस को 'सहज मार्ग' कहा है। ''कबीर का 'सहज मार्ग' उस साधना का विरोध करता है जिसमें अनेक अप्राकृतिक उपायों से इन्द्रियों का दमन करने की चेष्टा की जाती है। कबीर की साधना 'दमन' को स्वीकार नहीं करती 'शमन' चाहती है।''[2] 'सहज' हरि-प्राप्ति का सरलतम मार्ग है-

''सहज-सहज सबको कहै, सह जन चीन्हैं कोइ।
जिन्ह सहजैं हरिजी मिलै, सहज कहीजै सोइ।''[3]

कबीर का 'सहज मार्ग' अन्तर का मार्ग है। जब तक मन की भौतिक सत्ता रहती है तब तक 'सूक्ष्म मार्ग' का निर्माण नहीं हो सकता । इस मन का शमन कबीर का मुख्य मार्ग है और यह शमन 'प्रेम' से बहुत सरल होता है। कबीर में रहस्यवाद की सभी आस्थाएँ पायी जाती हैं। वह आस्तिक तो हैं ही, साथ ही अपने परमतत्त्व के प्रति प्रेम-भावना से परिपूर्ण है और गुरु के महत्त्व को स्वीकार करते हैं तथा उसे पाने के लिए सहजमार्ग में विश्वास रखते हैं।

---

1 डॉ० सरनामसिंह शर्मा-कबीर : एक विवेचन में उद्धृत, पृ० 375
2 डॉ० सरनामसिंह शर्मा-कबीर : एक विवेचन, पृ० 377
3 डॉ० सरनामसिंह शर्मा-कबीर : एक विवेचन में उद्धृत, पृ०377

परिस्थितियाँ

डॉ० रामकुमार वर्मा के अनुसार ''हम रहस्यवादियों की उद्देश्य-प्राप्ति में तीन परिस्थितियों की कल्पना कर सकते हैं।''[1]

(क) पहली परिस्थिति

जहाँ व्यक्ति विशेष अनंत शक्ति से अपना संबंध जोड़ने के लिए अग्रसर होता है। वह संसार की सीमा को पार करके ऐसे लोक में पहुँचता है जहाँ भौतिक बंधन, संसार के नियम तथा शारीरिक अवरोधों की परवाह नहीं है। वह ईश्वर के समीप पहुँचता है और उसकी दिव्य विभूतियों को देखकर चकित हो जाता है। इस परिस्थिति का वर्णन कबीर ने बड़ी सुन्दर रीति से किया है-

''घट घट में रटना लागि रही,
परघट हुआ अलेख जी।
कहुँ चोर हुआ, कहुँ साह हुआ,
कहुँ बाम्हन है कहुँ सेख जी''[2]

(ख) द्वितीय परिस्थिति

दूसरी स्थिति तब उत्पन्न होती है जब आत्मा परमात्मा से प्रेम करने लग जाती है। ''उस समय उसकी भावनाएँ तीव्र हो जाती हैं और उस पर एक प्रकार का उन्माद, एक प्रकार का नशा छा जाता है। इस परिस्थिति में संसार की अन्य वस्तुएँ उसकी दृष्टि से विलीन हो जाती हैं। वासनाएँ मर जाती हैं।''[3] इसके पश्चात् केवल एक भाव रह जाता है, और वह है प्रेम का प्रबल प्रवाह।

---

1 डॉ० रामकुमार वर्मा-कबीर का रहस्यवाद, पृ० 11
2 डॉ० रामकुमार वर्मा-कबीर का रहस्यवाद, पृ० 12
3 राजेन्द्र सिंह गौड़-प्राचीन कवियों की काव्य-साधना, पृ०15

''दुलहिन गावहु मंगलचार,
हम घर आए राजाराम भरतार।
तन रत करि, मैं मन रत करि हूँ, पंचतत बराती।
रामदेव मोरे पाहुन आए, मैं जोबन मैं माती।।''[1]

(ग) तीसरी परिस्थिति

इस परिस्थिति में आत्मा और परमात्मा का इतना घनीभूत एकीकरण हो जाता है कि आत्मा अपने अस्तित्त्व को ही भूल जाती है। उस समय आत्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं रह जाता । यह परिस्थिति रहस्यवाद की चरम सीमा है।

''लाली मेरे लाल की जित देखौं तित लाल।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल।।''[2]

''आत्मा-परमात्मा के इस प्रकार के एकीकरण का स्पष्टीकरण, यदि असम्भव नहीं तो, कठिन अवश्य होता है। यही कारण है कि रहस्यवादियों की रचनाएँ जटिल एवं दुरूह होती हैं।''[3]

कबीर की रहस्यवादी भावना में तीनों परिस्थितियों का समावेश हुआ है और आपने इनका चित्रण समान रूप से किया है।

4.53 रहस्यवाद के भेद

कबीर का रहस्यवाद भारतीय परंपरा का रहस्यवाद है जिसमें सभी प्रकार के रहस्यवादों का समन्वय हुआ है। वह एकान्तिक नहीं, प्रवृत्यात्त्मक है। कबीर ने किसी मत विशेष के अन्तर्गत अपने रहस्यवाद की सृष्टि नहीं की। उनकी दृष्टि उदार थी।

---

1 राजेन्द्र सिंह गौड़- संत कबीर दर्शन, पृ० 57
2 राजेन्द्र सिंह गौड़- संत कबीर दर्शन, पृ० 57
3 राजेन्द्र सिंह गौड़- प्राचीन कवियों की काव्य-साधना, पृ० 15-16

4.531 भावात्मक रहस्यवाद

ब्रह्म की भावात्मक अनुभूति का मूल विधायक प्रेम ही है। बाकी सब तो उपसाधन मात्र है। संतकवियों का रहस्यवाद प्रमुखत: भावमय है। इसमें आत्मा और परमात्मा में अद्वयता स्थापित की गई है। भावात्मक रहस्यवाद में प्रेम की प्रधानता रहती है। यह प्रेम सम्बन्ध कई रूपों में मिलता है। ''इस भाव दशा में साधक जब अपने उपास्य के दर्शन करता है। तब वह प्रेम और श्रद्धा की अतिरेकता के कारण उससे अपना घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने लगता है। यही कारण है कि कभी वह उसे माता के रूप में, कभी स्वामी के रूप में, कभी पिता के रूप में और कभी पति के रूप में देखता है। इन सब सम्बन्धों में कान्ता भाव अत्यन्त मधुर और भावात्मक है।''[1] यह प्रेम पति-पत्नी के संबंध में ही पराकाष्ठा को प्राप्त करता है। कबीर की रचनाओं में हमें सभी सम्बन्ध ध्वनित मिलते हैं, किन्तु कान्ताभाव को उन्होंने विशेष रूप से अपनाया है। वे कहते हैं ''हरि मेरा पीव मैं हरि की बहुरिया''[2] इस दाम्पत्य भाव से ही साधक और साध्य की पूर्ण अद्वैतता संभव होती है।

कबीर की रचनाओं में दाम्पत्य भाव के दोनों पक्षों संयोग और वियोग के अत्यन्त मनोरम चित्र मिलते हैं। जब तक परमतत्त्व की उपलब्धि नहीं हो जाती आत्मा विरहिणी की भाँति व्यग्र एवं व्यथित रहती है और जब आत्मा परमात्मा का संयोग संभव हो जाता है तो रहस्यवाद के उद्देश्य की सिद्धि हो जाती है।

4.532 साधनात्मक रहस्यवाद

कबीर में दूसरे प्रकार का रहस्यवाद वहाँ प्राप्त है, जहाँ वे उस प्रिय को विविध हठयोगी साधनाओं से प्राप्त करने का उपक्रम करते हैं। यहाँ भावना की मधुरता नहीं, अपितु साधना की जटिलता है-

---

1 डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत-कबीर की विचारधारा, पृ० 249

2 डॉ० पुष्पपाल सिंह-कबीर ग्रंथावली (सटीक), पृ० 360

''षट दल कंवल निवासिया, चहु कौं फेरि मिलाइ रे।।

x x x x x x x x x x x x x x x x

तहीं कबीरा रमि रह्या, सहज समाधी सोइ रे।।''[1]

कबीर ने हठयोग का वर्णन अधिकांशत: सिद्धों और योगियों की परम्परा में किया है। कबीर पर नाथ सिद्धों और योगियों की विचारधारा का भी पर्याप्त प्रभाव रहा है। सिद्धों और नाथों ने योग के कायिक पक्ष को ही विशेष महत्त्व दिया था। कबीर ने योग के मानसिक पक्ष को प्रधानता देकर उसको आध्यात्मिक पक्ष से समुपेत किया। योग-साधना में आठ तथ्यों का बड़ा महत्व रहा है। जिनके नाम हैं- यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इनके द्वारा परमात्मा की प्राप्ति का प्रयत्न किया जाता है। समाधि की अवस्था में ब्रह्म की अनुभूति होती है और शब्द-ब्रह्म का अनहद नाद सुनाई देता है।

''अनहद बाजै नीझर झरै, उपजै ब्रह्म गियान।

आबगति अन्तरि प्रगटै, लागै प्रेम धियान।।''[2]

कबीर की रचनाओं में मन की उलटी चाल, उन्मनावस्था, षट्चक्र, अनहदनाद, गगन-गुफा, इड़ा-पिंगला और सुषम्ना नाड़ियों, ब्रह्मरंध, आदि का वर्णन मिलता है-

''गगन गरजै बरषैं अमी, बादल गहर गँभीर।

चँहु दिसि दमकै दामिनी, भीजै दास कबीर।।''[3]

---

1 डॉ० पुष्पपाल सिंह- कबीर ग्रंथावली (सटीक), पृ० 298

2 सं० श्यामसुंदरदास- कबीर ग्रंथावली, पृ० 13

3 रामरतन भटनागर- कबीर : एक अध्ययन, पृ० 148

कबीर ने अपनी योगपरक साधना में प्रेम का रस मिलाकर उसे मधुर बना दिया है। जिससे उनकी इस प्रकार की उक्तियों में रहस्यवाद का रूप उतर आता है। वे अपने चंचल मन को स्थिर एवं शान्त बनाने के लिए उसे प्रेम की दृढ़ रज्जु में बाँधकर अपने माधव के पास पहुँचा देते हैं-

''प्रेम की जेवरिया तेरे गलि बांधू,
तहाँ लै जाउं जहां मेरौ माधौ।।''[1]

अत: यह कहा जा सकता है कबीर ने सभी प्रकार से प्रमुखता प्रेम को ही प्रदान की है।

4.533 रहस्यवाद की पारिभाषिक शब्दावली

कबीर की वाणी में रहस्यात्मकता का समावेश बहुत कुछ पारिभाषिक शब्दों के सहारे भी हुआ है। कबीर ने अनेक रहस्यपूर्ण पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है। सम्भवत: इन शब्दों के प्रयोग के पीछे नाथों और सिद्धों के हठयोग का प्रभाव कार्य कर रहा था। ''उन्होंने कहीं पर तो 64 दीया और 14 चन्दा का, कहीं 16 पवन आधारों का, कहीं 52 कोठरियों का, कहीं 16 चक्रों का और कहीं दस दरवाजों का वर्णन किया है। इसी प्रकार कहीं ब्रह्म अग्नि, कहीं ब्रह्म नालि की, कहीं भ्रमर गुफा की और कहीं त्रिवेणी संगम की चर्चा करते हैं।''[2] डॉ० पुष्पपाल सिंह इस सम्बन्ध में लिखते हैं-''इस साधनात्मक पारिभाषिक शब्दों से युक्त रहस्यवाद का प्रेममूलक रहस्यवाद के समान ही मिलनावस्था तक पूर्ण विकास प्राप्त होता है। मिलन का वर्णन भी कबीर ने साधनात्मक प्रतीकों द्वारा ही किया है।''[3]

---

1 सं० श्यामसुंदरदास- कबीर ग्रंथावली, पृ० 137
2 डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत- कबीर की विचारधारा, पृ०255
3 डॉ० पुष्पपाल सिंह- कबीर ग्रंथावली (सटीक) पृ० 52

''सुरति समाणीं निरत मैं, अजपा माहै जाप।

लोक समाणां अलेख मैं, यूं आपा माहैं आप।।''[1]

कबीर ने जहाँ पारिभाषिक शब्दों के आधार पर अपनी रहस्य भावना को व्यक्त किया है वहाँ वह जटिल और क्लिष्ट हो गई है। अत: यह कहा जा सकता है कि कबीर की रहस्य-साधना की यह विशेषता है कि वह अत्यन्त जटिल होते हुए भी मधुर और क्लिष्ट होते हुए भी स्वाभाविक है।

4.534 अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद

अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद सिद्धों और नाथ पंथियों में बराबर पाया जाता था। इन रहस्यपूर्ण अभिव्यक्तियों को उनमें संध्याभाषा के नाम से पुकारते थे। कबीर का अभिव्यक्ति मूलक रहस्यवाद उनसे अत्यधिक प्रभावित है। कबीर ने अपने रहस्यवाद की अभिव्यक्ति विभिन्न प्रतीकों, रूपकों और उलटबांसी आदि के माध्यम से की है। डॉ० सरनाम सिंह शर्मा के अनुसार- ''कबीर के समय में संख्यावाचक प्रतीकों का अधिक प्रचलन था, किन्तु कबीर ने इनके अतिरिक्त अन्य प्रतीकों का भी प्रयोग किया है जो छोटे-मोटे रूपक प्रतीत होते हैं।''[2] कबीर की अटपटी उलटवासियाँ ऐसी रहस्यमयी है कि पाठक उनका अर्थ सोचता ही रह जाता है। जैसे-

''बैल बियाइ गाइ भइ बांझ''[3]

कबीर ने बहुत से अन्य स्थलों पर भी साधारण बात को इस प्रकार सांकेतिक शैली में अभिव्यक्त किया है कि वे रहस्यमयी हो गयी हैं। उदाहरण के लिए

''अंबरि दीसै केता तारा, कौंन चतुर ऐसा चितरनहारा।

---

1 डॉ० पुष्पपाल सिंह- कबीर ग्रंथावली (सटीक) पृ० 52

2 डॉ० सरनामसिंह शर्मा- कबीर: एक विवेचन, पृ० 395

3 डॉ० पुष्पपाल सिंह- कबीर ग्रंथावली (सटीक) पृ० 342

जे तुम्ह देखौ सो यहु नाहीं, यहु पद अगम अगोचर माहीं।।
तीनि हाथ एक अरधाई, ऐसा अंबर चीन्हौं रे भाई।।
कहै कबीर जे अंबर जांनैं, ताही सूं मेरा मन मानैं।''[1]

प्रस्तुत पंक्तियां विषय और शैली दोनों ही दृष्टियों से रहस्यात्मक है। अत: यह कहा जा सकता है कि कबीर की रचनाओं में अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद का प्रभावशाली चित्रण मिलता है।

4.54 रहस्यवाद की विशेषता

कबीर के रहस्यवाद में एक सुन्दर संगम दिखलाई देता है। जिसकी अपनी कुछ विशेषताँए हैं। कबीर का रहस्यवाद किसी विशेष प्रकार के रहस्यवाद की कोटि के अन्दर नहीं रखा जा सकता। उन्होंने सत्य को सम्पूर्णता से पकड़ने की चेष्टा की थी। सम्पूर्ण सत्य को ग्रहण करने की चेष्टा से उनमें सब प्रकार के रहस्यवाद की सृष्टि हो गई। कबीर के रहस्यवाद की दूसरी विशेषता उसकी प्रवृत्यात्त्मकता है। वह एकान्तिक नहीं है। वे कोरे रहस्यवादी नहीं थे। वे उच्च कोटि के विचारक, गृहस्थ, सुधारक और उपदेशक भी थे। कबीर के रहस्यवाद में प्रेम की प्रधानता है। इस प्रेम-तत्व ने कबीर के सभी प्रकार के रहस्यवादों में एक अलौकिक आनन्द तत्त्व उत्पन्न कर दिया है। एकात्मानुभूति भी कबीर के रहस्यवादों की एक प्रमुख विशेषता है। कबीर के रहस्यवाद में विकासवाद का भी सन्देश निहित है। वे पूर्व जन्म के संस्कारों और इस जन्म के कर्मों को विकास का कारण मानते हैं। उन्होंने कहा है-

''देखो कर्म कबीर का, कछु पूरब जनम का लेख।
जाका महल न मुखि लहैं, सो दोसत किया अलेख।।''[2]

---

1 सं श्यामसुंदरदास - कबीर ग्रंथावली, पृ० 116

2 डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत - कबीर की विचारधारा, पृ० 258

कबीर को जन्मान्तरवाद भी मान्य है। इस जन्मान्तरवाद के साथ-साथ विकास की भावना सम्बद्ध है। कबीर का सम्पूर्ण जीवन-क्षेत्र आध्यात्मिकता से ओतप्रोत है जिसकी विशेषता है उसकी सक्रियता जिसकी छाप उनकी रहस्यानुभूतियों में स्थान-स्थान पर लगी दिखायी पड़ती है। संक्षेप में कबीर का रहस्यवाद अत्यन्त पूर्ण और मधुर है।

अत: यह कहा जा सकता है कबीर हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ रहस्यवादी कवि ठहरते हैं। अमेरिकन महिला अंडरहिल ने भी कबीर को ''भारतीय रहस्यवाद के इतिहास में सर्वाधिक रोचक व्यक्ति'' माना है-

"The most interesting personality of the history of Indian Mysticism"[1]

4.6 कबीर की उलटवासियाँ

4.61 सामान्य परिचय

भारतीय वाङ्मय में उलटवासी की परम्परा अति प्राचीन है। ''ऋग्वेद से ही जन्म लेकर लौकिक संस्कृत, पालि-प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं के प्रमुख तीर्थों का स्पर्श करती हुई, नामरूप से परिवर्त्तित होती हुई, साधनाश्रयी, प्रतीक जीवी, विरोध गर्भिता वाणी उलटवासी या 'उलटीचर्चा के रूप में गोरखनाथ के साहित्य में पल्लवित एवं प्रतिष्ठित हो चुकी थी। आगे चलकर कबीर ने उसे मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्य में प्रचारित किया।''[2] उलटवासी काव्य का वह रूप है जिसमें किसी भाव, धारणा या विचार को ऐसे माध्यम से अभिव्यक्त किया जाता है जो अपने बाह्य रूप में नितांत असंगत, अतार्किक और लौकिक धरातल पर अघटित हो, पर आन्तरिक रूप में प्रतीकार्थ स्पष्ट हो जाने पर एक नूतन गूढ़ार्थ की चमत्कारिक

---

1 डॉ० पुष्पपाल सिंह-कबीर ग्रंथावली (सटीक) पृ० 53

2 डॉ० रमेशचन्द्र मिश्र-हिन्दी सन्तों का उलटवाँसी साहित्य, पृ० सात (प्रस्तावना)

अभिव्यंजना करे। ''मन-वाणी से अगम-अगोचर आध्यात्मिक अनुभूति की अनिर्वचनीयता के कारण कभी-कभी परस्पर लोक-विरोधी उक्तियों द्वारा उल्टे ढंग से व्यक्त करने की पद्धति साधक द्वारा अपनायी जाती है और बड़े अटपटे कथनों से भावों की अभिव्यक्ति की जाती है जिसके गूढ़ आशयों से अनभिज्ञ श्रोता हतबुद्धि-सा रह जाता है। 'बैल बिपाय, गाय भई बाँझ, बछरा दूहे तीनों साँझ' ऐसे लोक-विरोधी कथनों के कारण इन्हें उलटवासी कहा जाता है।''[1]

उलटवासी शैली का प्रयोग सहजयानी सिद्धों, नाथयोगियों तथा संत कवियों द्वारा वैविध्य के साथ हुआ है। इस शैली के प्रयोक्ता साधक वे है; जिन्होंने आध्यात्मिक अनुभूतियों को, वाणी के संकेतों के माध्यम से, अभिव्यक्त किया है। उलटवासियाँ बहुधा 'अटपटी बानियों' के रूप में रची गई हैं, जिसके कारण इनके गूढ़ आशय को समझ पाने वाला, सुनकर, आश्चर्य से अवाक् रह जाता है। उलटवासियों में किसी न किसी प्रकार से जीवन और जगत् की समस्या पर विचार प्रकट किया जाता है। अतः इस जानकारी में जो तन्मयावस्था होती है, वह रसावस्था तथा ज्ञानावस्था के समकक्ष है। उलटवासियों में रहस्य, चमत्कार या अद्‌भुत की मात्रा विशेष रूप में रहती है और इस रहस्य या अद्‌भुत तत्त्व का वहन प्रतीकों के माध्यम से होता है।

'उलटवासी' शब्द, शैली के रूप में, अपने विभिन्न नामों द्वारा हिन्दी-साहित्य के आदिकाल से ही प्रयोग में आता रहा है। ''वैचारिक अनुभवों को साकार रूप प्रदान करने वाली उलटवाँसी शैली एक दिन का विकास नहीं है। प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में वैदिक काल से लेकर नाथ-पंथी योगियों तक की वक्र कथन शैली ही विवेच्य उलटवाँसी शैली के रूप में विकसित हुई है। इस शैली में वर्णित विषय के अंग

---

1. डॉक्टर केशनी प्रसाद चौरसिया-मध्यकालीन हिन्दी सन्त-विचार और साधना, पृ० 502

भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, परन्तु वे सभी एक अंग 'साधना' के अन्तर्गत आ जाते हैं। इस शैली का कलात्मक पक्ष 'चमत्कार' है, पर अनुभूति पक्ष 'विचार या भाव' ही है।''[1] हिन्दी उलटवाँसी शैली के प्रयोग के सुदीर्घ इतिहास में 'उलटी चर्चा' गाने वाले गोरखनाथ को विवेच्य शैली का प्रथम प्रयोक्ता माना जा सकता है। गोरखनाथ का कहना है कि 'जो पवन को उलटकर वाणी को पलट देते हैं, वे ब्रह्म ज्ञानी होकर अमृत का पान करते हैं-

''उलटंत पवन पलटंत वांणीं, अपीव पीवत जे ब्रह्मज्ञांनी।।''[2]

ऐसी वाणी को गोरख ने 'उलटी चरचा' का नाम दिया है-

''नगरी कौ पांणीं कूई आवै, उलटी चरचा गौरष गावै।।''[3]

गोरखनाथ के पश्चात्, उपलब्ध 'बानियों' में, कबीर का ऐसा व्यक्तित्व है, जो विवेच्य-शैली के प्रयोग के लिए सर्वप्रमुख कहा जा सकता है। सम्पूर्ण सन्त-साहित्य में जिस प्रकार कबीर की वाणी बेजोड़ मानी जाती है, वैसे ही विषय-प्रतिपादन, प्रतीक-योजना, रूपकतत्त्व और चमत्कार-सृष्टि में उनके उलटवाँसी-पद विशेष हैं। कबीर ने अपनी बानियों में 'उलटवाँसी' का प्रयोग न करके 'उलटिवेद' या 'उलटावेद' शब्द का प्रयोग किया है।

''है कोई जगत गुर ग्यांनीं, उलटिबेद बूझै।।''[4]

प्रयोग की दृष्टि से यदि कबीर की उलटवासियाँ अपने पूर्ववर्त्ती सहजयानी बौद्ध-सिद्धों और नाथ-योगियों की उलटवासियों का विकसित और परिष्कृत रूप है, तो रूपकतत्त्व, सांकेतिक और पारिभाषिक प्रतीक शब्दों की योजना ने अपने

---

1 डॉ० रमेशचन्द्र मिश्र-हिन्दी सन्तों का उलटवाँसी साहित्य, पृ० 170

2 डॉ० रमेशचन्द्र मिश्र-हिन्दी सन्तों का उलटवाँसी साहित्य में उद्धृत, पृ० 4

3 डॉ० रमेशचन्द्र मिश्र-हिन्दी सन्तों का उलटवाँसी साहित्य में उद्धृत, पृ० 4

4 डॉ० पुष्पपाल सिंह-कबीर ग्रंथावली (सटीक) पृ० 381

उत्तरवर्त्ती सन्तों की उलटवाँसी-पदों को प्रभावित किया है। ''कबीर की उलटवासियाँ प्रतीक-परिवार की सहेलियाँ हैं। कबीर के अनेक विचार उलटवासियों में ही अभिव्यक्त हुए हैं। जिस प्रकार वेदों में ज्ञान निहित है उसी प्रकार उलटवासियों में भी कबीर का ज्ञान संचित हुआ है। उलटावेद कहकर कबीर ने उनको महत्त्व दिया है।''[1]

कबीर की उलटवासियों में प्रयुक्त प्रतीक मर्म तथा परिस्थिति अभिव्यक्त करने में समर्थ हैं। कबीर की उलटवासियों का एक-एक प्रतीक अपने मर्म के लिए अनिवार्य है। प्रतीकों के पीछे छिपा हुआ अर्थ उद्घाटित होने पर जीवन और साधना सम्बन्धी अनुभूतियों के रहस्य का भी उद्घाटन हो जाता है। जब वे सन्तों को सम्बोधित करते हैं तो अपने विचार का पक्ष समझाते अथवा परामर्श देते हुए प्रतीत होते हैं और जब वह अवध, पांडे, पण्डित आदि को सम्बोधित करते हैं तो प्रतिपक्ष की मान्यता का खण्डन-सा करते हुए प्रतीत होते हैं। लोगों, भाई आदि सम्बोधन उनकी सहृदयता का सूचक हैं। कबीर के उलटवाँसी-पदों में गीति तत्त्व की प्रमुखता देखी जाती है। आपके उलटवाँसी-पदों में मस्तिष्क के साथ-साथ हृदय का अपूर्व सामंजस्य दिखाई देता है।

4.62 उलटवासियों के प्रकार

कबीर की उलटवासियाँ इसी प्रकार प्रसिद्ध हैं जिस प्रकार अमीर खुसरों की मुकरियां। कबीर के काव्य में उलटवासियों का विशिष्ट स्थान है। प्रतीकों का चयन, उनकी विरोध वैचित्यपूर्ण योजना, उनकी सैद्धान्तिक व्याख्या आदि बातें बँधी बँधाई विशिष्ट प्रणाली पर चला करती हैं। साधना की विभिन्न अवस्थाओं में हुए विभिन्न अनुभवों को बाह्य प्रमाणों द्वारा सिद्ध करना, अलौकिक आध्यात्मिक अनुभवों को

---

1 सं० विजयेन्द्र स्नातक-कबीर, पृ० 177

लौकिक भाषा शैली में व्यक्त करना कठिन है। उलटवासियों में आध्यात्मिक बातों का लोक विपरीत ढंग से वर्णन किया जाता है। साधक परम पुरूष की प्राप्ति के लिए संसार के प्रवाह के प्रतिकूल चलना ही उचित बताते हैं। किसी भी प्रवाह के प्रतिकूल चलकर ही उसके मूल में पैठा जा सकता है। अत: सांसारिक समस्त मान मर्यादाओं, विधि-विधानों तथा प्राकृतिक नियमों को उलटकर इन उलटवासियों में रखा गया। उलटवासियों में व्यक्ति को व्यर्थ के भुलावे में न डालकर यत्नपूर्वक वर्ण्य विषय की ओर आकृष्ट करके जागृत किया जाता है। कबीर ने अपनी इस प्रकार की वाणियों को उलटा वेद कहा है। संसार के प्रवाह की विपरीत दिशा में चलकर साधना करने वाले व्यक्ति को उन्होंने बहुत महत्त्व दिया है-

''केती लहर समंद की, कत उपजै कत जाइ।
बलिहारी ता दास की, उल्टी मांहि समाइ''[1]

4.621 प्रकृति आधारित उलटवासियाँ

डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत ने अपनी पुस्तक 'कबीर की विचारधारा' में कबीर की उलटवासियों को उनकी प्रकृति के अनुसार भागों में बाँटा हैं-

(क) ''अलंकार प्रधान ।
(ख) अद्‌भुत प्रधान ।
(ग) प्रतीक प्रधान ।''[2]

(क) अलंकार प्रधान

अलंकार प्रधान उलटवासियाँ अधिकांश विरोध-मूलक होती हैं। अत: इनमें प्रयुक्त अलंकार भी विरोध मूलक होता है। विरोध-मूलक होने के कारण ही उनमें

---

1 डॉ० पुष्पपाल सिंह- कबीर ग्रंथावली (सटीक) पृ० 213
2 डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत- कबीर की विचारधारा, पृ० 397

चमत्कार भी अधिक पाया जाता है। इन अलंकारों में विरोधाभास, असंभव, विभावना, असंगति, विषय आदि का प्राधान्य रहता है। इस प्रकार की उलटवासियों में कबीर ने विरोधात्मक शब्दों की संगति द्वारा पाठकों का ध्यान वर्ण्यविषय की ओर आकृष्ट किया है। असंगति में अन्तर्भूत संगति से पाठक चमत्कृत हो उठता है।

''अवधू ऐसा ग्यान विचार।
भेरै चढ़े सु अधधर डूबै, निराधार भये पार।
ऊघट चले सु नगरि पहुँचे बाट चले ते छूटे।
एक जेबड़ी सब लपटानै के बाँधे के छूटे।
मन्दिर पैसि चहुँदिस भीगे, बाहर रहे तो सूका।
सीर भारे ते सदा सुखारे, अनभारे ते दूषा
बिन नैन के सब जन देखै, लोचन अछते अंधा।
कहै कबीर कछु समझि परी है, यह जग देख्या धंधा।''[1]

इस पद की प्रथम दो पंक्तियों में विरोधाभास अलंकार है, 'बिन नैनन के सब जग देखै, में तथा 'लोचन अछते अंधा' में क्रमशः विभावना और विशेषोक्ति अलंकार है। इस प्रकार इस पद में विरोधमूलक अलंकारों के माध्यम से एक आध्यात्मिक तथ्य की अभिव्यक्ति की गई है।

(ख) अद्‌भुत रस प्रधान

अद्‌भुत रस-प्रधान उलटवासियाँ भी विरोध-मूलक होती हैं और उनमें चमत्कार भी पाया जाता है। अलंकार प्रधान तथा अद्‌भुत रस-प्रधान में अन्तर केवल इतना है कि जहाँ अलंकार-प्रधान उलटवासियों में अलंकार का स्थान प्रमुख होता है। वहाँ अद्‌भुत रस प्रधान उलटवासियों में अलंकार का स्थान गौण होता है। डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत के अनुसार ''कबीर की बहुत सी उलटवासियाँ ऐसी हैं जिनमें

---

1 डॉ० पुष्पपाल सिंह-कबीर ग्रंथावली (सटीक) पृ० 45

विरोध मूलक अलंकार गत चमत्कार अद्‌भुत रस के आश्रित दिखाई पड़ता है। ऐसे स्थलों पर कवि का लक्ष्य घटना, व्यापार और चित्र की अद्‌भुतता को ही अधिक से अधिक प्रवेग पूर्ण शब्दों में व्यक्त करना होता है। ऐसी उक्तियों में प्रतीक और अलंकार गौण पड़ जाते हैं, अद्‌भुत रस मुख्य स्थान ग्रहण कर लेता है। अद्‌भुत चित्रों की कहीं-कहीं इतनी अधिकता पाई जाती है कि हमारा ध्यान अर्थ से हठकर आश्चर्य सागर में डूब जाता है।''[1]

''अंबर बरसै धरती भीजै, यह जाणैं सब कोई
धरती बरसै अंबर भीजैं, बूझै बिरला कोई।।''[2]

''बिनु चरनन को दुहुँ दिस धावे, विन लोचन जग सूझै।
ससैं उलटि सिंध को ग्रासै, ई अचरज को बूझै।।''[3]

कबीर की रचनाओं में ऐसी अनेक उलटवासियाँ मिलती हैं जिनमें अद्‌भुत रस की प्रधानता है।

(ग) प्रतीक प्रधान

कबीर ने कुछ ऐसी उलटवासियों की योजना की है जिनमें उन्होंने गूढ़ातिगूढ़ योजनाओं को प्रश्रय दिया है। साधना के निगूढ़तम रहस्यों और गूढ़ भावों को अभिव्यक्ति प्रदान करने के हेतु कबीर ने प्रतीक योजना और गूढ़ पारिभाषिक शब्दावली का आश्रय लिया है। ऐसी उलटवासियों में प्रतीकों के साथ रूपक का भी सन्निवेश रहता है। कुछ उलटवासियाँ ऐसी होती हैं जिनमें प्रतीक-योजना गौण और रूपक-योजना प्रमुख होती है। जिन्हें हम मूलत: रूपक प्रधान उलटवासियाँ कह

---

1 डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत- कबीर की विचारधारा, पृ० 398-399
2 राजेन्द्र सिंह गौड़- संत कबीर दर्शन में उद्‌धृत, पृ० 85
3 राजेन्द्र सिंह गौड़- संत कबीर दर्शन में उद्‌धृत, पृ० 85

सकते हैं। जिन उलटवासियों में प्रतीक योजना मुख्य और रूपक योजना गौण होती है उन्हें हम मूलत: प्रतीक प्रधान उलटवासियाँ कह सकते हैं। इस प्रकार प्रतीक प्रधान उलटवासियों के हम दो भाग कर सकते हैं-

(क) मूलत: रूपक प्रधान

(ख) मूलत: प्रतीक प्रधान

मूलत: रूपक प्रधान

''तरवर एक अनन्त मूरति, सुरताँ लेहु पिछाणीं।
साखा पेड़ फूल फल नाहीं, ताकी अमत वाणी।
पुहुप बास एक भंवरा राता, बारा लै उर धरिया।।
सोलह मंझै पवन झकोरै, आकासे फल फलिया।।
सहज समाधि बिरष यहु सींच्या, धरती जल हर सोष्या।।
कहै कबीर तास मैं चेला, जिनि यहु तरवर पेष्या।।"[1]

मूलत: प्रतीक प्रधान

''कैसे नगरि करौ कुटवारी, चंचल पुरिष विचक्खन नारी।
बैल बियाइ गाइ भई बाँझ, बछरा दूहै तीयू साँझ।
मकड़ी घरि माषी छछिहारी, मास पसारि चील्ह रखवारी।।
मूसा खेवट नाव बिलइया, मीडक सोवै साँप पहरिया।
निति उठ स्याल सिंह सू जूझै, कहै कबीर कोई बिरला बूझै।''[2]

इस प्रकार स्पष्ट है कि कबीरदास जी की उलटवासियों में प्रेम के अद्‌भुत रहस्य और ज्ञान का अपरिमित कोष भरा पड़ा है।

---

1 डॉ० पुष्पपाल सिंह- कबीर ग्रंथावली (सटीक) पृ० 46

2 डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत- कबीर की विचारधारा, पृ० 400

डॉ० नज़ीर मुहम्मद ने अपनी पुस्तक 'कबीर के काव्यरूप' में कबीर की उलटवासियों को शैली, विषय, प्रयोजन तथा रचना के आधार पर विभिन्न वर्गों में विभाजित किया है।

4.622 शैली आधारित उलटवासियाँ

शैली के आधार पर कबीर की उलटवासियों के तीन प्रकार बताये गए हैं-

(क) विरोध पर आश्रित

(ख) सादृश्य पर आश्रित

(ग) गूढ़ार्थ प्रतीत पर आश्रित

(क) विरोध पर आश्रित

विरोध पर आश्रित कबीर की उलटवासियों में किसी न किसी प्रकार का विरोध रहता है। यह विरोध भी तीन प्रकार का दिखाई देता है-

(1) विधि विरोध (2) प्रकृति विरोध (3) धर्म या गुण विरोध

(1) विधि विरोध

''कबीर की विधि विरोध सम्बन्धी उलटवासियों की पंक्तियों में लोक-मर्यादा, प्रणाली, व्यवस्था, शास्त्रोक्त, विधान, नियम तथा विधियों आदि का व्यतिक्रम है।''[1] इनमें प्रतीक, उपमान या कथन वाच्य रूप में किसी न किसी प्रकार से विधि विरोधी तत्त्वों से परिपूर्ण हैं।

''पहलैं पूत पीछैं भई माइ, चेला के गुर लागै पाई।
तलि करि साष ऊपरि करि मूल, बहुत भांति लागे जड़ फूल।''[2]

---

1 डॉ० नज़ीर मुहम्मद-कबीर के काव्यरूप, पृ० 143

2 डॉ० नज़ीर मुहम्मद-कबीर के काव्यरूप, पृ० 143

पहले माँ होती है तब पुत्र, शिष्य गुरु को प्रणाम करता है, वृक्ष की मूल नीचे और शाखाएँ ऊपर होती हैं। लेकिन यहाँ सब कुछ उलटा है। सब विधियों का विरोध कर दिया गया है।

(2) प्रकृति विरोध

प्रकृति विरोध सम्बन्धी उलटवासियों में प्राय: मानवेतर प्राणियों की प्रधान प्रवृत्ति, प्रकृति अथवा स्वभाव के विपरीत कथन होता है। इनमें जीवों की प्रधान प्रवृत्ति के विरूद्ध कार्यों या क्रियाओं का कथन है। जैसे बिल्ली का स्वभाव चूहे को खाना है, मछली का स्वभाव जल में रहना है, परन्तु प्रकृति विरोध उलटवासियों में प्रकृति के विरूद्ध वर्णन होता है। जैसे-

''एक अचम्भा देखा रे भाई, ठाड़ा सिंह चराबै गाई।
जल की मछली तरवर व्याई पकड़ि विलाई मुरगै खाई
बैंलहि दाबि गूंनि धरि आई कुत्ता कूँ लैं गई विलाई।''[1]

(3) धर्म विरोध

किसी वस्तु या व्यक्ति की वह नित्यवृत्ति गुण या लक्षण जो उससे कभी अलग ही न हो सके धर्म कहलाता है। इस धर्म का विरोध करने वाली उलटवासियाँ ही धर्म विरोधिनी हैं। जैसे-

''अम्बर बरसै धरती भीजै, यहु जानैं सब कोई।
धरती बरसै अम्बर भीजै, बूझै बिरला कोई।।''[2]

अम्बर का बरसना और धरती का भीगना तो स्वाभाविक है पर धरती के बरसने और अम्बर के भीगने में बहुत बड़ा धर्म विरोध है।

---

1 डॉ० नज़ीर मुहम्मद-कबीर के काव्यरूप में उद्धृत, पृ० 143
2 डॉ० नज़ीर मुहम्मद-कबीर के काव्यरूप में उद्धृत, पृ० 144

(ख) सादृश्य पर आश्रित

सादृश्य पर आश्रित कबीर की उलटवासियों में किसी न किसी प्रकार साम्य बना रहता है। यह साम्य आकार-प्रकार का, गुण एवं क्रिया का तथा सांगरूपक तत्त्वों के आधार पर हो सकता है। जैसे-

''मैं सामने पीव गौंह नि आई
पंच जनां मिलि मंडप छायौ तीन जनां मिलि लगन लिखाई।।
सखी सहेली मंगल गावैं, सुख दुख माथे हलद चढ़ाई।''[1]

यहाँ विवाह के सांगरूपक के साथ वर्णन किया है।

(ग) गूढ़ार्थ प्रतीति पर आश्रित

जिन उलटवासियों में शास्त्र विशेष के रूढ़ प्रयोगों, तिथियों, संख्याओं या संख्या गणकों के रूढ़ प्रयोगों के कारण अर्थ गूढ़ हो गया है उनको इस वर्ग में रखा जा सकता है। जैसे-

''नव गज दस गज गज उगनीसा, पुरिया एक तनाई।
सात सूत दे गंड बहतरि, पाट लगी अधिकाई।''[2]

4.623 विषयाधारित उलटवासियाँ

वर्ण्य विषय के दृष्टिकोण से कबीर की उलटवासियों को सात वर्गों में विभाजित किया है।

(क) उपदेश प्रधान

(ख) अनुरक्ति विरक्ति भावना से परिपूर्ण

(ग) विश्वास प्रधान

(घ) साधना काल की

(ङ) परीक्षा काल की

---

1 डॉ० नज़ीर मुहम्मद - कबीर के काव्यरूप में उद्धृत, पृ० 144

2 डॉ० नज़ीर मुहम्मद - कबीर के काव्यरूप में उद्धृत, पृ० 144

(च) माया सम्बन्धी

(छ) सिद्धि और उसके फल से सम्बन्धित

(क) उपदेश प्रधान

उपदेश प्रधान उलटवासियों में कबीर जी ने मानव जीवन की क्षणभंगुरता, तथा भाव चक्र की भीषणता का बोध कराया है।

''इहि बिधि रांम सूं ल्यौ लाइ ।
चरन पाषैं निरत करि, जिभ्या बिनां गुंण गाइ।। टेक।।
जहाँ स्वांति बूंद न सीप साइर, सहजि मोती होइ।
उन मोतियन मैं नीत पायौ, पवत अंबर धोई।।
जहां धरनि बरषै गगन भीजै, चंद सूरज मेल।
दोइ मिलि तहां जुड़न लागे, करत हंसा केलि।।''[1]

(ख) अनुरक्ति विरक्ति भावना से परिपूर्ण

इस प्रकार की उलटवासियों में संत कबीर के मन की अनुरक्ति विरक्ति पूर्ण भावनाओं की योजना है। कबीर साधना मार्ग की विकटता बताकर साधक को उससे विमुख नहीं करते अपितु उस पथ की विषमताओं से उसे सचेत कर धैर्य, दृढ़ता, अटूट श्रद्धा आदि गुणों से परिपूर्ण कर ईश्वर-भक्ति पथ पर लगाना चाहते हैं-

''बागड़ देस लूवन का घर है,
तहाँ जिनि जाइ दाझन का डर है ।। टेक।।
सब जग देखौं कोई न धीरा, परत घूरि सिरि कहत अबीरा।
न तहाँ सरवर न तहाँ पांणीं, न तहाँ सतगुर साधू बांणीं।।
न तहाँ कौकिल न तहाँ सूवा, ऊँचे चढ़ि चढ़ि हंसा मूवा।।

---

1 डॉ० पुष्पपाल सिंह- कबीर ग्रंथावली, पृ० 443

देस मालवा गहर गंभीर, डग डग रोटी पग पग नीर।।

कहै कबीर घरहीं मन मांनां, गूंगे का गुड़ गूँगै जांनां।।''[1]

(ग) विश्वास प्रधान

कबीर की इस प्रकार की उलटवासियों में साधक के मन से संशय समाप्त होकर उसे साधना मार्ग के प्रतिपूर्ण विश्वास हो जाता है। उलटवासियों में यही विश्वास की भावना दिखाई देती है।

''अब मैं पाइबो रे पाइबो ब्रह्म गियान।

सहज समाधैं सुख मैं रहिबौ कोटि कलप विश्राम।

पुहुप बिना एक तरिवर फलिया, बिन कर तूर बजाया।

नारी बिना नीर घट भरिया, सहज रूप सो पाया।''[2]

(घ) साधना विषयक

कबीर ने कुछ उलटवासियों में अपनी साधना पद्धति का विस्तृत वर्णन किया है। वे साधना सम्बन्धी विचारधारा से परिपूर्ण हैं। इन उलटवासियों में मुख्यत: पारिभाषिक और सांकेतिक प्रतीकों द्वारा योग, भक्ति, ज्ञान आदि साधना प्रक्रियाओं का वर्णन किया गया है।

''अवधू जोगी जग थैं न्यारा।

मुद्रा निरति सुरति करि सींगी, नाद न षडै धारा।।

बसै गगन मैं दुनीं न देखैं, चेतनि चौकीं बैठा।

चढ़ि आकास आसण नहीं छाडै, पीवै महा रस मीठा।।''[3]

---

1 डॉ० पुष्पपाल सिंह - कबीर ग्रंथावली, पृ० 335

2 डॉ० नज़ीर महुम्मद - कबीर के काव्यरूप में उद्धृत, पृ० 145

3 डॉ० पुष्पपाल सिंह - कबीर ग्रंथावली, पृ० 336

यहाँ कबीर हठयोगी साधना का वर्णन करते हैं कि योगी समस्त संसार से पृथक् आचरण करने वाला व्यक्ति है। उसका तो मुद्रा, इड़ा-पिंगला, शृंगी और अनहद नाद से ही अटूट सम्बन्ध होता है।

(ङ) परीक्षा सम्बन्धी

साधना में तल्लीन होते समय साधक की साधना में अनेक प्रकार के विघ्न आते हैं। कबीर ने अपनी उलटवासियों में इस प्रकार के विघ्नों का वर्णन किया है। कबीर कहते हैं कि मैं प्रभु के पावन नगर में किस प्रकार प्रवेश करूँ क्योंकि मार्ग में अनेक बाधाएँ हैं। यह जीवात्मा अत्यन्त चंचल है और इसको पथ-भ्रष्ट करने वाली माया जैसी चतुर स्त्री है जो विविध आकर्षणों से इसे अपने वश में करना चाहती है।

''कैसैं नगरि करौं कुटवारी, चंचल पुरिष बिचषन नारी ।। टेक।।
बैल बियाइ गाइ भई बांझ, बछरा दूहै तीन्यूं सांझ।।
x x x x x x x x x x x x x x x x x x x x x
नित उठि स्याल स्यंघ सूं झूझै, कहै कबीर कोई बिरला बूझै।।''[1]

(च) माया सम्बन्धी

माया सम्बन्धी उलटवासियों में कबीर ने माया के प्रभाव और शक्ति का वर्णन किया है। माया विश्व को मोह लेने वाली है। वह जीव को मोह पाश में फँसाये रहती है। माया विषयक उलटवासियों में माया के तात्त्विक स्वरूप, मायाबद्ध जीव की दुर्दशा, साधना और उसके लक्ष्य 'मुक्ति' की प्राप्ति में आने वाले मायिक (अज्ञान, विषय-विकार आदि) व्यवधानों का वर्णन है।

''भाई रे चूंन बिलूंटा खाई,
बाघनि संगि भई सबहिन कै, खसम न भेद लहाई ।। टेक।।

---

1 सं श्यामसुंदरदास-कबीर ग्रंथावली, पृ० 99

सब घर फोरि बिलूंटा खायौ, कोई न जानै भेव।

खसम निपूतौ आंगणि सूतौ, रांड न देई लेव।।''[1]

(छ) सिद्धि और उसके फल से सम्बन्धित

''साधना मार्ग की समस्त बाधाओं और सांसारिक प्रपंचों को पार करके साधक अपना लक्ष्य सिद्ध करता है। सहस्रार से स्रवित अमृत का पान करके परमानन्द की अनुभूति करने वाला योगी और प्रेम रस में निमग्न, अद्वैतानुभूति में विभोर भक्त दोनों ही सिद्धि काल में जिस तन्मयावस्था में पहुँचते हैं, उस अलौकिक अवस्था की अभिव्यक्ति अभिधा द्वारा संभव नहीं है। अभिव्यक्ति के लिए व्यग्र साधक की वाणी विरोधाश्रित प्रतीकों और संकेतों का आश्रय लेती है।''[2] सिद्धि के प्राप्त होने पर साधक को अत्यन्त आनन्द प्राप्त होता है उसके समस्त मोह पाश समाप्त हो जाते हैं। सर्वत्र ज्ञान का प्रकाश फैल जाता है।

''नरहरि सहजै हीं जिंनि जांनां।

गत फल फूल तत तर पलव, अंकुर बीज बसांनां।।

प्रगट प्रकास ग्यांन गुरगमि थै, ब्रह्म अगनि प्रजारी।

ससि हर सूर दूर दूरंतर, लागी जोग जुग तारी।।''[3]

4.624 प्रयोजनाधारित उलटवासियाँ

कबीर की उलटवासी रचना के कुछ प्रमुख प्रयोजन है जिनसे प्रभावित होकर ही उन्होंने अपने विचारों को उलटवासियों में प्रकट किया है। प्रयोजनानुसार उलटवासियों को विभिन्न वर्गों में विभाजित किया गया है-

(क) पाण्डित्य प्रदर्शन

---

1 सं श्यामसुंदरदास- कबीर ग्रंथावली, पृ० 99-100

2 डॉ० उमा ठुकराल- कबीरपंथ: साहित्य दर्शन एवं साधना, पृ० 402

3 डॉ० पुष्पपाल सिंह- कबीर ग्रंथावली, पृ० 302

(ख) विस्मय तथा कौतूहल वृद्धि

(ग) गुह्य प्रवृत्ति

(घ) साधनात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति

(क) पाण्डित्य प्रदर्शन

पाण्डित्य प्रदर्शन करने के लिए कबीर ने अपनी उलटवासियों में अनेक उलटी पुलटी बातों का संयोग करके ज्ञाता पंडितों को चुनौती देते हुए दिखाई देते हैं-

''चरषा जिनि जरै।

कातोंगी हजरी का सूत, नणद के भइया की सौं।

जलि जाई थलि ऊपजी, आई नगर में आप।।

एक अचम्भा देखिया, बिटिया जायौ बाप।

कहै कबीर सो पंडित ग्याता जो या पदहि विंचारै।

पहलैं परचैं गुरु मिलैं तौ सतगुरु तारैं।''[1]

(ख) विस्मय तथा कौतूहल वृद्धि

इस प्रकार की उलटवासियों में कबीर ने अनेक प्रकार से जनता को आश्चर्यान्वित कर देने का प्रयत्न किया है-

''एक अचम्भा देखो रे भाई।

ठाड़ा सिंह चरावै गाई ।।''[2]

(ग) गुह्य प्रवृत्ति

गुह्य प्रवृत्ति प्रधान उलटवासियों में गुप्त रहस्यात्मक भावनाओं को रखा गया है। यह इन भावनाओं से परिपूर्ण है-

''नव बहियाँ दस गौनि आहि। कसनि बहतरि लागे ताहि

---

1 डॉ० नज़ीर मुहम्मद- कबीर के काव्यरूप में उद्धृत, पृ०147

2 डॉ० नज़ीर मुहम्मद- कबीर के काव्यरूप में उद्धृत, पृ० 147

सांत सूत मिलि बनिज कीन्ह, कर्म पयायौं सम लीन्ह।।

तीन जगाती करत रारि, चल्यौ है बनिजवा बनज झारि।''[1]

(घ) साधनात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति

यह उलटवासियाँ साधनात्मक अनुभूति प्रदर्शक हैं।

''अवधू ग्यान लहरि धुनि मांडी रे।

सबद अति अनाहद राता, इहि विधि त्रिष्णां षाड़ी।

वन कै ससै समद घर कीया, मंछा बसें पहाड़ी।

कहै कबीर सुनहु रे संतौ अगम ग्यान पद माँही।

गुरु प्रसाद सुई कैं नांकै हस्ती आवै जांही।''[2]

4.625 रचना की दृष्टि से

रचना की दृष्टि से कबीर की उलटवासियाँ कई प्रकार की हैं। कुछ उलटवासियों की सभी पंक्तियों में उलटी पुलटी अनेक बातों का संग्रह कर दिया गया है और कुछ उलटवासियों के बीच-बीच में साधारण शब्दावली में रहस्यात्मक बातों को समझाने का प्रयत्न किया गया है। ''कुछ उलटवासियों की पंक्तियों के अर्द्ध भागों में उलटी बातें बताई गई है शेष अर्द्ध भाग में उन्हीं का प्रभाव प्रदर्शित किया गया है। इसी प्रकार साखियों में भी कहीं-कहीं सम्पूर्ण पदों में ही उलटी पुलटी बातों का संयोग है और कहीं कहीं केवल किसी पदांश में कोई उलटी बात कह दी गई है।''[3]

अत: यह कहा जा सकता है कि कबीर की उलटवासियों में निहित गूढ़ विचार और रहस्य की भावना असाधारण स्तर की है तथा वे समझने के लिए असाधारण ज्ञान की आवश्यकता है।

---

1 डॉ० नज़ीर मुहम्मद-कबीर के काव्यरूप में उद्धृत, पृ० 147

2 डॉ० नज़ीर मुहम्मद-कबीर के काव्यरूप में उद्धृत, पृ० 147

3 डॉ० नज़ीर मुहम्मद-कबीर के काव्यरूप में उद्धृत, पृ० 148

4.7 कबीरदास के धर्म सम्बन्धी विचार

4.71 सामान्य परिचय

''धर्म के वस्तुत: दो स्वरूप हैं एक लोकधर्म दूसरा सत्ताश्रयी धर्म। लोकधर्म जनसाधारण के संघर्ष, आशा-आकाँक्षा और इसके दुख-दर्द से सीधा जुड़ा है। वह साधारण जन-जीवन के प्रति आस्था पैदा करता है और संकट में भरोसा देता है उसे उदार और मानवीय बनाता है। वह जन से जन के सम्बन्ध सूत्रों को सघन और सामाजिक बनाता है। सामान्यत: धर्म का यह स्वरूप, सकारात्मक और वरेण्य है।''[1] धर्म का लक्ष्य है सुख। सुख भी दो प्रकार का होता है। प्रथम लौकिक सुख, द्वितीय पारलौकिक सुख। लौकिक सुख का संबंध इंद्रिय जगत् से होता है तथा पारलौकिक सुख का संबंध इन्द्रियातीत जगत् से है। ऐहिक एवं पारलौकिक सुख, शान्ति एवं समृद्धि की ओर ले जाने वाला साधन धर्म है। कहा जाता है कि ''सृष्टि के विकास क्रम के साथ-साथ बौद्धिक मानव मृत्यु के माध्यम से यम के संहारक प्रहार को न सह सका। सदा बने रहने की बलवती इच्छा ने उसमें एक अज्ञात शक्ति के प्रति भय उत्पन्न कर दिया। इस भय से ही मानव में उस शक्ति के प्रतिविश्वास, श्रद्धा और प्रेम उत्पन्न हुआ। यह भगवत्प्रेम ही धीरे-धीरे कुछ बन्धनों के साथ मानव धर्म में परिणत हुआ।''[2] मानव-धर्म महान् है। उसे किसी तर्क की नहीं, अनुभूति की आवश्यकता होती है। उसके आचार में किसी बाह्य बंधन का नहीं, एकमात्र सद्भाव और निर्लिप्तता का ही राज्य होता है। लेकिन मानव पारिवारिक एवं सामूहिक प्राणी है, अत: उसने मानव-धर्म को भी सामाजिकता के कटघरे में बन्द करना प्रारम्भ कर

---

1 डॉ० मीता कौशिक- सामाजिक बुराइयों के उन्मूलन में कबीर का योगदान, पृ० 38

2 धर्मपाल मैनी- संतों के धार्मिक विश्वास, पृ० 178

दिया। सामाजिकता के संकीर्ण घेरे में मानव-धर्म पनप नहीं सकता, अतः उपयुक्त क्षेत्र के अभाव में उसमें भी विकार आने अवश्यम्भावी है।''[1]

धर्म का साधारण स्वरूप यश, काल और व्यक्ति की सीमाओं के परे रहता है इसमें मानव मात्र के नैतिक नियमों की प्रतिष्ठा रहती है। धर्म का यह स्वरूप ही मानव धर्म के नाम से प्रसिद्ध है। ''समय के प्रवाह में सदैव उसकी प्रतिक्रिया उदय होती है। धर्मों का इतिहास वास्तव में इसी क्रिया और प्रतिक्रिया का इतिहास है। जब-जब समाज में धर्म के विशेष रूप को अधिक महत्त्व देकर उसे विकृत किया गया तब-तब धर्म के साधारण स्वरूप की पुनर्प्रतिष्ठा की गई है। प्रतिक्रिया रूप में उद्भूत धर्म के इन साधारण स्वरूपों में सहजाचरण, सहजसाधना और सहजोपासना विधि पर सदैव ही ध्यान रखा गया है। धर्म के साधारण स्वरूप को सहज धर्म की संज्ञा समय-समय पर दी गई है। वेदों के (व्रात्य) इसी सहज पंथ के प्रवर्त्तक माने जाते हैं। बौद्धों के सहजयान और बाउल सम्प्रदाय सहज सम्प्रदाय आदि सभी मत और पंथ, धर्म के साधारण और सहज रूप से ही सम्बन्धित है। ये सभी धर्म के विशेष स्वरूप के विकृत हो जाने पर ही उसकी प्रतिक्रिया रूप में ही उदय होते रहे हैं। इन सब में मानव धर्म की पुनर्प्रतिष्ठा करने का प्रयत्न किया गया है।''[2] ''ब्राह्मण धर्म में जब धर्म के साधारण स्वरूप की अवहेलना कर विशेष रूप को महत्त्व दिया गया-तभी बौद्ध और जैन धर्म का आविर्भाव हुआ।''[3] धर्म की भिन्न-भिन्न शाखाओं के बनने का कारण ही पारस्परिक मतभेद है। जो कि धर्म के साधारण और विशेष स्वरूपों के आधार पर बनते और बिगड़ते रहते हैं।

---

1 धर्मपाल मैनी- कबीर के धार्मिक विश्वास, पृ० 15

2 डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत- कबीर की विचारधारा, पृ० 355

3 यज्ञदत्त शर्मा- कबीर साहित्य और सिद्धान्त, पृ० 101

4.72 धर्म सम्बन्धी विचार

''समस्या और जिज्ञासा का समाधान करने वाली मानसिक प्रक्रिया का नाम विचार है। परिणामस्वरूप विचार में बुद्धि तत्त्व और तर्क की प्रधानता होती है।''[1] ''कबीर के जीवन-काल में भारत को हिन्दू और इस्लाम धर्म के ठेकेदारों ने भोली भाली जनता में पाखण्डी प्रचार और अंधविश्वास तथा धर्म के बाह्याडम्बरों के जाल फैलाने का गढ़ बनाया हुआ था। धर्म के इसी विकृत स्वरूप के प्रति प्रतिक्रिया के रूप में कबीर की धार्मिक विचारधारा ने जन्म लिया।''[2] कर्मकाण्डी धर्म-व्यवस्था की कुरीतियों के प्रति कबीर की विचारधारा में विद्रोह की भावना का प्राधान्य हुआ और उन्होंने हिन्दू तथा इस्लामी धार्मिक कुव्यवस्थाओं का मुक्त कण्ठ से खंडन किया। ''कबीर ने जिस धार्मिक विचारधारा का प्रसार किया उसे 'सहज धर्म' कहा गया, अर्थात् जिसमें किसी भी कठिन धार्मिक व्यवस्था में आस्था स्थापित नहीं की गई। 'निज-धर्म' और 'मानव-धर्म' भी इसे कहा जा सकता है। इस कर्म में किसी भी रूढ़िवादी विचारधारा को बिना विचारे पालन करने की प्रथा का अनुमोदन कबीर ने नहीं किया।''[3]

कबीर ने सत्य का कवच पहन कर समाज के सब अधार्मिक ठेकेदारों को झाड़कर, फटकार कर उचित धर्म मार्ग पर अग्रसर होने के लिए कहा। कबीर अपनी आत्मा के सच्चे पुजारी थे, आपने सत्य और धर्म के आचरण के नीचे जमी हुई मैल को बाहर निकाल फेंकने का प्रयत्न किया। कबीर के धर्म की विशेषता सार्वजनिक चिरन्तन मानव धर्म की स्थापना करना है। डॉ० मीता कौशिक लिखते हैं-''इसलिए उसके कथन में सत्य का बल, वाणी का ओज, भाषा की सरलता और सादगी, जीवन

---

1 डॉ० उमा ठुकराल- कबीरपंथ: साहित्य, दर्शन एवं साधना, पृ० 375

2 यज्ञदत्त शर्मा- कबीर साहित्य और सिद्धान्त, पृ० 101

3 यज्ञदत्त शर्मा- कबीर साहित्य और सिद्धान्त, पृ० 101

की सच्चाई, वास्तविकता, आचार की रूपरेखा, हृदय की पीड़न, भाव का उच्छलन, ज्ञान का प्रकाश, बौद्धिकता का विकास, मानव मन का स्वभाव तथा समाज का कल्याण है, और इससे भी बढ़ कर है जीवन का अमर-सन्देश-एकमात्र सत्य से तादात्मय। जिसने उसे पहचाना, वह अमर हो गया, जिसने उसे सुना वह निर्मल हो गया, जिसने उसे अपनाया वह स्वयं कबीर महान् ही हो गया।''[1] कबीर जन्म, जाति और कर्म से सामान्य मानव थे, इसलिए उनके माध्यम से मानव धर्म का प्रसार हुआ। मध्य युग में धर्मों का प्रचलन पाखण्ड और व्यर्थ के कर्मकाण्ड में हो रहा था। कोई वेदपाठी था, कोई उदासी, कोई दीन बना फिर रहा था तो कोई दान पुण्य में ही व्यस्त था। कोई मदिरा सेवन को चरम साधना मानता, तो कोई तन्त्र-मन्त्र, तीर्थ-व्रत आदि में अपना कल्याण मानता था। पर राम नाम में लीन कोई न था। समाज रूढ़ियों में घुट रहा था और धार्मिक स्थापनाओं तथा मान्यताओं में अन्धविश्वास का खोखलापन निहित था। कबीर अन्दर और बाहर का सामंजस्य चाहते थे। कबीर धर्म को आडंबर से परे एक भावसत्य सत्ता मानते थे। ''उन्होंने किसी नामधारी धर्म के संबंध में अपने आपको नहीं डाला, और स्पष्ट कह दिया है कि मैं न हिंदू हूँ न मुसलमान।''[2] कबीर ने जिस 'सत्य' को 'धर्म' माना, वह धर्म सभी धर्मों में व्याप्त है। कबीर ने जनसाधारण को आडम्बरपूर्ण धर्म से निकाल कर सहजधर्म की ओर प्रवृत्त किया। कबीर का सहज धर्म किसी धर्म विशेष का अनुकरण न होकर अनेक धर्मों के सहज तथा शाश्वत तत्त्वों का समन्वय है। यह सहजधर्म हिन्दू, मुसलमान, ब्राह्मण, शूद्र सभी को मान्य हो सकता है।

4.721 धर्म ग्रन्थ

वेद, पुराण, स्मृति आदि ग्रन्थ प्राचीन काल से ही भारतीय जीवन को प्रभावित करते आये हैं परन्तु कबीरदास जिस धर्म के समर्थक हैं उसमें ऐसे धर्म ग्रन्थों की आवश्यकता नहीं है जो धर्मानुयायी के विवेक तथा स्वानुभूति को कमजोर करता है।

---

1 डॉ० मीता कौशिक- सामाजिक बुराइयों के उन्मूलन में कबीर का योगदान, पृ० 39

2 सं० श्यामसुंदरदास- कबीर ग्रंथावली, पृ० 42

धर्म ग्रन्थ यदि पाठक में प्रेम की भावना को जागृत करता है तो उसका अध्ययन सार्थक है अन्यथा नहीं। कबीर पंडित से कहते हैं-

''वेद पुरान पढ़थ अस पाडे, खर चंदन जैसे भारा।
राम नांम तत समझत नांही, अंति पड़ै मुख छारा।।''[1]

काजी को भी उसी तरह का सम्बोधन है-

''काजी कौन कतेब वषांनै,
पढ़त-पढ़त केते दिन बीते, गति एकै नहि जानै।''[2]

कबीर उस परम प्रभु की प्राप्ति का उपाय सहज हृदय, सहज मन बताते हैं। वेद सुनने और पढ़ने से कुछ नहीं होता, जब तक हृदय कलुषित है तब तक उसे प्राप्त नहीं कर सकते। कबीर का इरादा धर्म ग्रन्थों की निन्दा नहीं है। पढ़ने वालों को इसके मर्म को समझने की कोशिश करनी चाहिए। कबीर कहते हैं-

''वेद कतेब कहहु मत झूठा, झूठा जो न बिचारे।''[3]

कबीर ने पुस्तकीय ज्ञान की अपेक्षा स्वानुभूति जन्य ज्ञान को अधिक प्रामाणिक माना है।

4.722 तीर्थ सेवन आदि सम्बन्धी भावना

कबीर पवित्र नदियों में स्नान करने में विश्वास नहीं करते थे । उनके अनुसार बाह्य स्वच्छता से कोई लाभ नहीं, आन्तरिक पवित्रता होनी चाहिए । यदि शरीर के भीतर विकार विद्यमान है तो बाहरी शरीर को मल मल कर धोने से कोई लाभ नहीं।

---

1 सं० रामकिशोर शर्मा- कबीर ग्रंथावली (सटीक), पृ० 64
2 सं० रामकिशोर शर्मा- कबीर ग्रंथावली (सटीक), पृ० 64
3 सं० रामकिशोर शर्मा- कबीर ग्रंथावली (सटीक), पृ० 64

कबीर कहते हैं- तीर्थ-यात्रा निरर्थक है, यह मन ही मथुरा है, दिल ही द्वारिका है और काया ही काशी है। यह शरीर ही दस द्वारों वाला देवालय है। इसमें जो आत्मज्योति है, उसे पहचानो और उसी की उपासना करो, बाहर व्यर्थ भटकते फिरते हो-

''मन मथुरा दिल द्वारिका, काया कासी जाणि।
दसवाँ द्वारा देहुरा, तामैं जोति पिछाणी।।''[1]

जप, तप, तीर्थ आदि पर विश्वास करने वालों की गति कबीर ने तोते के समान प्रदर्शित की है-

''जप तप दीसै थोंथरा, तीर्थ व्रत बेसास।
सूवैं सेबल सेविया, यौ जग चल्या निरास।''[2]

कबीरदास कहते हैं कि जप-तप, तीर्थ-व्रत और विश्वास यह सभी सारहीन है। ये सब निस्सार दृष्टिगत होते हैं। इनके ऊपर आश्रित व्यक्ति अन्त में इसी प्रकार निराश होता है जैसे तोता सेंवल के फल पर आश्रित रह कर निराश होता है। सेंवल एक वृक्ष विशेष है जिसका फल बड़ा आकर्षक होता है। तोता अपनी चोंच मार कर उसे फोड़ता है तो उसके बीच का हिस्सा उड़ जाता है और मात्र खोखला हिस्सा ही बचता है। कबीर ने तीर्थ-व्रत आदि के व्यर्थ आडम्बरों से लोगों को सावधान किया है।

4.723 कर्म – ज्ञान – भक्ति

कबीर कर्म फल को सामने लाकर पाप से बचने और पुण्य करने का उपदेश देते हैं। कबीर कहते हैं कि कलिकाल में परिणाम शीघ्र ही मिला करता है। इसलिए

---

1 सं० रामकिशोर शर्मा- कबीर ग्रंथावली (सटीक), पृ० 225
2 सं० रामकिशोर शर्मा- कबीर ग्रंथावली (सटीक), पृ० 225

बुराई किसी की भी नहीं करनी चाहिए। यदि तुम बायें हाथ से अन्न बोओ और दाहिने हाथ से लौटा दो तो दोनों का फल उसी के अनुरूप होगा-

''कली काल ततकाल है, बुरा करौ जिनि कोइ।
अन बावैं लौहा दांहिणै, बोवै सु लुणतां होइ।''[1]

जो जैसा करता है उसे वैसा ही फल मिलता है। कर्म का न्याय परमात्मा करता है और तदनुरूप फल देता है कबीर ने ज्ञान को सर्वोपरि तथा सर्वोत्तम माना है। कबीर कहते हैं ''जहां ज्ञान तह धर्म है। जिसने अपने जीवन में ज्ञान का चिन्तन नहीं किया उसका जन्म व्यर्थ ही समझना चाहिये। कबीर ने साधना के मार्ग में विचार पर सवार होकर सहजज्ञान के पाँवड़े पर पैर रखने का आदेश दिया है।''[2] कबीर ने भक्ति के लिए परम तत्त्व का ज्ञान अपेक्षित माना है, क्योंकि उसे जाने बिना प्रेम की स्थिति कठिन है। ''कर्म को कबीर ने सर्वप्रथम स्थान दिया है क्योंकि जो कुछ हम करते हैं उन कर्मों का हमें फल मिलता है तथा ज्ञान कर्मों के क्षेत्र में अपना योगदान देते हैं, परन्तु ज्ञान का पूर्ण लाभ भक्ति से ही हो सकता है।''[3] अत: इन तीनों का परस्पर घना तथा निकटत्म सम्बन्ध है।

4.724 प्रेम और एकता

कबीर के सहज धर्म का मूल आधार है प्रेम और एकता। ''प्रेम का भाव इतना विशद् और व्यापक है कि प्रकृति के कण-कण में आत्मभाव दृष्टिगत होता है। इसमें शाश्वत सुख-शान्ति की परिकल्पना तो है किन्तु अन्तत: यह निष्काम है। इस धर्म का आचरण करने वाला आत्यन्तिक स्थिति में सुख-दुख, निन्दा-स्तुति,

---

1 डॉ० पुष्पपाल सिंह- कबीर ग्रंथावली, पृ० 229
2 डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत- कबीर की विचारधारा, पृ० 363
3 डॉ० मीता कौशिक- सामाजिक बुराइयों के उन्मूलन में कबीर का योगदान, पृ० 47

मान-अपमान, यश-अपयश, ऊंच-नीच आदि द्वन्द्वों तथा विषमताओं से अलग समरस हो जाता है। यह विषय-वासनाओं को सहज ही में छोड़कर राममय हो जाता है।''[1]

4.725 सतगुरु

''कबीर ने गुरुओं के बीच से सतगुरु का चयन करके अपने मानव-धर्म के प्रतिपादित तथा संरक्षण का दायित्व उसी पर डाल दिया लेकिन धर्म-साधना में गुरु की एकांगी भूमिका उन्हें मान्य नहीं है। शिष्य को पूर्णरूपेण जागरूक रहना चाहिए। सतगुरु बेचारा क्या कर सकता है। यदि शिष्य में ही चूक है। सतगुरु वही है जो अनन्त ज्योति का उद्घाटन करके प्रेम से आत्मा को पूर्ण कर देता है और द्वैत के बन्धनों को काटकर पूर्ण से मिला देता है।''[2] परिणामत: शिष्य के जाति-पाति के बन्धन स्वत: टूट जाते हैं।

4.726 योगसाधना

कबीर ने धर्म के क्षेत्र में आत्मिक शुद्धता, हृदय की निष्कलुषता और आचरण की सात्विकता को अनिवार्य माना। मन को निर्विकार करने के लिए योगसाधना को भी धर्म-साधना में उचित स्थान दिया। कबीर योगसाधना के ऐसे स्वरूप को अपनाने की सलाह देते हैं जो कि सहज योग हो। यह सहज योग भाव योग का ही पूरक है।

4.727 आराधना

कबीर ने आराधना के सामूहिक और वैयक्तिक दोनों रूपों को प्रतिपादित किया है। कीर्तन, भजन और गुणगान समूह में किए जा सकते हैं और नाम स्मरण एकान्त में वैयक्तिक स्तर पर। नाम एक तरह का सूक्ष्म और सरल मंत्र है

---

1 सं० रामकिशोर शर्मा- क़बीर ग्रंथावली (सटीक), पृ० 64

2 सं० रामकिशोर शर्मा- कबीर ग्रंथावली (सटीक), पृ० 62

जिसका जप बहुत ही सरल है। कबीर सामूहिक गुणगान का निर्देश करते हुए कहते हैं -

''असंग संगति जिनि जाइ रे भुलाइ।
साध संगति मिलि हरि गुण गाइ।।''[1]

4.728 'राम' नाम

कबीर ने अपनी आस्था का प्रतीक 'राम' नाम को चुना। उनका यह 'राम' नाम वास्तव में ओऽम, अल्लाह, रहीम, करीम, करतार, निरंजन, गोपाल, मुरारी आदि जितने ईश्वरीय नाम हैं उन सबका वाचक है। यह नाम किसी स्थूल का बोधक न होकर सूक्ष्म परमात्मा का बोधक और मूलतः भावरूप था। कबीर ने यही निर्देश देना चाहा कि व्यक्ति से भाव अधिक महत्त्वपूर्ण है।

4.729 समरसता

कबीर ने अपने सहज धर्म में समरसता को विशेष महत्त्व दिया है। कबीर संसार के महान् क्रान्तिकारी होने के साथ-साथ सच्चे साम्यवादी भी थे। वे जीवन में, समाज में, धर्म में, साधना में सर्वत्र एक समरसता चाहते थे। समाज में जाति भेद के ऊबड़-खाबड़ टीले को समभूमि के रूप में बदल देना उनका लक्ष्य था। वे साधना में कथनी और करनी दोनों को उचित और सम महत्त्व देना अत्यन्त आवश्यक समझते थे। धर्म में अनुराग और विराग को भी उन्होंने समभूमि पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया था। कबीर का सारा जीवन ही विविध विषमताओं को सम रूप देने में ही लगा रहा।

---

1 सं० रामकिशोर शर्मा- कबीर ग्रंथावली (सटीक), पृ० 63

4.7210 स्वानुभूति

कबीर का सारा जीवन अध्यात्म साधना में ही व्यतीत हुआ। उनकी वह साधना अनुभूति के आधार पर ही टिकी हुई थी। कबीर का सहज धर्म अध्यात्म की पुट लिए हुए था। उसकी उत्पत्ति अनुभूति के ही सांचे में ढलकर हुई थी। कबीर का सारा जीवन सत्य के प्रयोगों में बीता था। वे सब प्रयोग स्वानुभूति के सहारे हुआ करते थे। इन प्रयोगों से जो सत्य खण्ड निकलते थे, वे ही कबीर को मान्य थे। कबीर ने इनमें से उन्हीं को महत्त्व दिया जो सहज एवं सरलतम प्रतीत होते थे। कबीर का सहज धर्म ऐसे ही सरलतम सत्य खण्डों से बना हुआ है।

अत: यह कहा जा सकता है कि कबीर का सहज धर्म सब प्रकार से सात्विक, सरल, सहज, भावात्मक और बौद्धिक है। कबीर जैसे सत्यान्वेषक ने सत्य को समझने और उसे असत्य से अलग करने का भरसक प्रयत्न किया। वे धर्म के बाहरी रूप को हर प्रकार से अनुचित समझते थे। इसीलिए पंडित-मौलवी, मंदिर-मस्जिद, सभी समान रूप से उनकी आलोचना के विषय बने। धर्मपाल मैनी लिखते हैं- ''उनके 'कर्म और धर्म' में एकता थी, 'कथनी और करनी' में साम्य था; 'कहनी और रहनी' में समरूपता थी। उनका धर्म 'नकद धर्म' था, जिसका उधार उनको मान्य नहीं, जिसे सीमित रखना उन्हें सह्य नहीं और जिसका उपदेश उन्हें ग्राह्य नहीं, क्योंकि वे तो केवल सन्देश देने की साधना लेकर आये थे- वह भी कथनी नहीं, करनी के माध्यम से। इसीलिए कबीर का धर्म योग में अटका नहीं, वहां से 'सहज' बन कर निकल आया; ज्ञान में उलझा नहीं, वहां से 'विवेक' बन कर चला आया; और भक्ति में रमा नहीं, वहां से अनुभूति बन कर वह निकला। अत: वह विभिन्न मतों से विवाद करके भी स्वत: किसी 'वाद' के चक्कर में नहीं

फँसे, अन्यान्य सम्प्रदायों से झगड़ कर भी किसी झगड़े में नहीं उलझे; इसीलिए किसी विशिष्ट समुदाय के धर्म-प्रणेता न बन मानव-धर्म के निर्माता बने।''[1]

4.8 निष्कर्ष

हिन्दी साहित्य के इतिहास में कबीर से अधिक सशक्त व्यक्तित्व रखने वाला अन्य कोई नहीं है। यदि यह कथन सत्य है कि जो व्यक्तित्व जितना महान् होता है उसका उतना ही विरोध होता है तो कबीरदास का विरोध उनकी महानता को स्पष्ट करता है। कबीरदास का व्यक्तित्व हिन्दी काव्य के इतिहास में अप्रतिम सिद्ध होता है। कबीर का उदय जिन परिस्थितियों में हुआ, वे परिस्थितियाँ ही स्वत: ऐसे सशक्त और क्रान्तिकारी व्यक्ति के आविर्भाव के लिए उत्तरदायी हैं। कबीर अपने समय की उपज थे। उन्होंने स्वयं अपना नेतृत्त्व और निर्माण किया था। वह द्रष्टा थे, स्रष्टा थे, युग प्रवर्त्तक थे। कबीर का युग राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक दृष्टिकोण से मिथ्यावाद और बाह्याडम्बर के मायाजाल से ग्रस्त था। महात्मा कबीर ने अपने युग की दशा को भली प्रकार परखा और एक निर्द्वन्द्व व्यक्ति के नाते साहस के साथ धर्म और समाज की कुरीतियों के विरूद्ध आवाज़ उठाई। आपने समाज की धार्मिक प्रवृत्तियों का अपनी दृष्टि से संस्कार किया और अपनी पाखंड-रहित वाणी से तत्कालीन जनता के जीवन को अनुप्राणित किया। आपने जहाँ बुराईयों की आलोचना की वहीं यदि उन्हें कोई अच्छाई की झलक दिखाई दी तो उसे अपनी वाणी में व्यक्त किया।

कबीरदास जी ने हिन्दू तथा मुसलमान पाखण्डी धर्म-प्रचारकों को आड़े हाथों लिया। कबीर का सारा जीवन सत्य की खोज और असत्य का खण्डन करने में व्यतीत

---

1 धर्मपाल मैनी- कबीर के धार्मिक विश्वास, पृ० 18-19

हुआ जो उन्हें अपने प्रयोग में सत्य ठहरा उसी का पालन और प्रचार करना उनके जीवन का लक्ष्य बन गया। कबीर का व्यक्तित्व जीवन की ज्योति से जगमग था। उनका वास्तविक रूप साधक का था । वे एक ही साथ निर्भीक, स्पष्टवादी और विनीत थे। कबीर ने भक्ति का द्वार सबके लिए खोल दिया था। कबीर की भक्ति पूर्णता में एक सच्चे मानव धर्म का रूप ले लेती है। जिसमें बाह्याचरणों के लिए कोई स्थान नहीं है। कबीर ने योग-साधना में भी अपने जीवन का बड़ा भाग लगाया था। कबीर ने योग की उन्हीं बातों को स्वीकार किया है जो उनकी अध्यात्म सिद्धि में भी सहायक होती हैं। कबीर का रहस्यवाद भी भारतीय परंपरा का रहस्यवाद है जिसमें सभी प्रकार के रहस्यवादों का समन्वय है। कबीर ने अपनी उलटवासियों में अपने विचारों को अभिव्यक्त किया है। कबीर की उलटवासियों में उनका ज्ञान संचित हुआ है। कबीर का धर्म 'सहज धर्म' है। कबीर मानव-धर्म के अग्रदूत बन कर मध्य-युग में आए और उन्होंने भारतीय जनता को पारस्परिक प्रेम और सद्भावना का सन्देश दिया, मिथ्याडम्बरों और पाखण्डों को चुनौती और जनता को विचार करने की शक्ति दी। कबीर की वाणी में जन-हित की भावना ही व्याप्त है। कबीर की सहज-भावना जनहित की भावना थी। कबीर ने जन-हितकारी आन्दोलन की नींव रखी और संकुचित दृष्टिकोण का खण्डन किया तथा मानव मात्र के लिए धर्म का मार्ग उन्मुक्त कर दिया। कबीर का सन्देश किसी विशेष व्यक्ति, समाज, जाति, देश या वर्ग-विशेष के लिए न होकर मानव मात्र के लिए है।

पंचमः अध्याय

गुरु रविदास और कबीरदास की दार्शनिक विचारधारा

5.1 दर्शन शब्द का अर्थ एवं भारतीय दर्शन का संक्षिप्त परिचय

5.11 दर्शन का सामान्य परिचय

''मनुष्य एवं पशु-पक्षी अपने-अपने जीवन की रक्षा के लिए प्रयत्न करते हैं। पशु-पक्षी का जीवन प्रायः निरुद्देश्य होता है, जबकि मनुष्य का जीवन सोद्देश्य होता है। मनुष्य अपनी बुद्धि से सहायता लेकर अपना तथा संसार का ज्ञान प्राप्त कर, उसके अनुसार जीवनयापन करना चाहता है। बुद्धि की सहायता से वह युक्तिपूर्वक ज्ञान प्राप्त करता है। युक्तिपूर्वक तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के प्रयत्न को दर्शन कहते हैं।''[1] दर्शन की स्थिति स्वतंत्र है। वह सभी विद्याओं का आधार और प्रकाशक है। डॉक्टर केशनी प्रसाद चौरसिया के अनुसार ''दर्शन के अन्तर्गत दृश्यमान जगत् का निर्माण करने वाली क्रियाएँ न आकर आन्तरिक जीवन की सृष्टि करने वाली क्रियाएँ आती हैं, इसीलिए दर्शन को पर्याय स्वरूप 'आत्मज्ञान' की संज्ञा दी जाती है। दार्शनिक वक्तव्यों का सम्बन्ध मनुष्य के आन्तरिक जगत् से होने के कारण उन्हें बाह्य अनुभूतियों से प्रमाणित अथवा अप्रमाणित नहीं किया जा सकता। दर्शन एक प्रकार से समस्त ब्रह्मांड को अथवा समस्त अनुभव-जगत् को एक साथ देखने का प्रयत्न करता है।''[2]

दर्शन अस्तित्त्व अथवा सत्ता के ऐसे रूप की खोज करता रहा है जिसे अनन्त मूल्य का अधिष्ठान माना जा सके। दर्शन की दृष्टि मनुष्य की सौंदर्यमूलक, नैतिक

---

1 डॉ० रामजीलाल 'सहायक' - कबीर - दर्शन, पृ० 108

2 डॉक्टर केशनीप्रसाद चौरसिया - मध्यकालीन हिन्दी सन्त - विचार और साधना, पृ० 79

तथा आध्यात्मिक सम्भावनाओं की ओर होती है। दर्शन उस आन्तरिक बेचैनी की अभिव्यक्ति है जो एक उच्चकोटि के मस्तिष्क और सशक्त कल्पना में निहित होती है, उन आत्माओं में जो अपने को विश्व की समग्रता से सम्बन्धित करना चाहती हैं। ''दर्शन हमारे सामने अणु तथा विराट दशत् के असंख्य रूपों को उपस्थित करता है, जीवन की अनगिनत सम्भावनाओं एवं दृष्टियों की उद्भावना करता है और जीवन तथा जगत् के असंख्य सम्बन्धों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है। इस प्रकार दर्शन हमें जीवन की क्षुद्र स्थितियों से ऊपर उठा कर विश्व-ब्रह्माण्ड की हलचल के केन्द्र में स्थापित कर देता है। .....दर्शन हम में जो चेतना उत्पन्न करता है वह जीवन को उच्चतम कोटि की तृप्ति देती है।''[1] दर्शन भारतीय लोक-जीवन का प्राण रहा है। प्राचीन काल से ही यहाँ के साधकों, विचारकों एवं आचार्यों ने घोर तपश्चर्या का अनुसरण करके दार्शनिक तथ्यों का उद्घाटन किया और धर्म एवं तत्त्वज्ञान को जीवन के लिए अत्यावश्यक बताया। अतःयह कहा जा सकता है दर्शन ज्ञान की यात्रा, बुद्धि का विकास और विचारधारा की प्रगति है।

5.12 विभिन्न विद्वानों का दर्शन सम्बन्धित मत

''भारतवर्ष की विशेष परिस्थिति ने यहाँ के रहने वालों को अनादि काल से शान्त और गंभीर बना रखा है। इन्हीं कारणों से ये लोग अपनी समस्त मानसिक शक्तियों को जीवन तथा विश्व की गहन और उलझी हुई समस्याओं को, मृत्यु के रहस्य को, मरने के बाद जीवात्मा की बातों को, दैवी शक्ति को तथा आध्यात्मिक तत्त्वों को समझने और अज्ञानियों को समझाने में लगा सके।''[2] सृष्टि के रहस्य को समझने के लिए भारतीय अपने जीवन की समस्त शक्तियों को लगाते चले आ रहे हैं।

---

1 डॉक्टर केशनीप्रसाद चौरसिया-मध्यकालीन हिन्दी सन्त-विचार और साधना में उद्धृत, पृ०79-80

2 डॉ० उमेश मिश्र- भारतीय दर्शन, पृ० 3

वेद से लेकर आज तक के सभी साहित्य इसके साक्षी हैं। भारतवर्ष की पुण्य भूमि में अनादि काल से ही आध्यात्मिक चिन्तन की, दर्शन की, विचारधारा बहती चली आ रही है। भारतीय दर्शन के अनुसार हमें तत्त्व का साक्षात्कार हो सकता है जिसे सम्यक् दर्शन कहते हैं। मनु का कथन है-सम्यक् दर्शन प्राप्त हो जाने पर मनुष्य को उसके कर्म-बंधन में नहीं डाल सकते, जिनको यह सम्यक् दृष्टि प्राप्त नहीं है, वे ही संसार के जाल में फँसते हैं-

''सम्यक् दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्ननिबद्ध्यते।

दर्शनेन् विहीनस्तु संसार प्रतिपद्यते।''[1]

अनेक विद्वानों द्वारा दर्शन सम्बन्धित अपने मत प्रकट किए गए हैं जो कि इस प्रकार हैं-

(क) डॉ० रामजीलाल 'सहायक'

''दर्शन शब्द दृश् धातु से करण अर्थ में ल्युट् प्रत्यय लगाकर बना है। दृश्यते अनेन इति दर्शनम् अर्थात् जिसके द्वारा देखा जाय वह दर्शन है। प्रश्न हो सकता है-क्या देखा जाय? इसका उत्तर है-वस्तु का सत्यभूत तात्त्विक स्वरूप। आगे वे लिखते हैं-दर्शन के सन्मुख अनेक प्रश्न होते हैं तथा होती हैं नाना प्रकार की समस्याएँ,यथा-हम कौन हैं? यह विश्व क्या है? यह कैसे बना? इसे किसने बनाया? क्या सबके मूल में एक ही तत्त्व है या अनेक? उस तत्त्व से मनुष्य तथा अन्य प्राणी का क्या सम्बन्ध है? जीवन का क्या उद्देश्य है आदि प्रश्न दर्शन के लिए समस्याएँ हैं। दर्शन इन सबका उत्तर देता है और विवेचन करता है।''[2]

---

1 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'-कबीर-दर्शन में उद्धृत, पृ० 108

2 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'-कबीर-दर्शन, पृ० 108

(ख) उदयभानुसिंह

''दृश् धातु का अर्थ है 'देखना'-स्थूल नेत्र से स्थूल तत्त्वों को देखना, सूक्ष्म नेत्र (प्रज्ञाचक्षु) से सूक्ष्म तत्त्वों को देखना। करण-व्युत्पत्ति से 'दर्शन' का अर्थ है-जिसके द्वारा देखा जाए अर्थात् ज्ञान प्राप्त किया जाए;भाव-व्युत्पत्ति से उसका अर्थ है-ज्ञान । .....अपने पारिभाषिक अर्थ में 'दर्शन' तत्त्वज्ञान, आत्मज्ञान या परमात्मज्ञान का वाचक है। .....संसार के मर्म का, जीवन-मरण के रहस्य का, सुख-दु:ख के हृदय का, अपने स्वरूप का, पुरूष और पुरूष की प्रकृति का, जिस ज्ञान से दर्शन हो जाए वह दर्शन है। सब शास्त्रों के सार को, तत्त्व को पहिचानने की शक्ति हो जाए, सब में एक ही अर्थ, एक ही परमात्मा की विविध विचित्र अनंतकला, देख पड़ने लगे, समदर्शिता हो जाए, सब असंख्य मतों, धर्मों, रूचियों का विरोध-परिहार और सच्चा परस्पर समन्वय हो जाए, सब बातों के भीतर एक ही बात देख पड़े वह सच्चा दर्शन है।''[1]

(ग) डॉ० उमा ठुकराल

"'दर्शन' शब्द का प्रयोग मनीषियों की दृष्टि से उस विचार पद्धति के लिये किया गया है जिसकी प्राप्ति तो अन्तर्दृष्टिजन्य अनुभव से होती है पर जिसकी पुष्टि तार्किक प्रमाणों द्वारा होती है। विद्वानों के इस दृष्टिकोण का आधार दर्शन शास्त्रों के तत्त्वचिन्तन की खंडन-मंडन पूर्ण शैली है किन्तु शंकराचार्य के अनुसार 'दर्शन' की उत्पत्ति क्या होना चाहिये में नहीं अपितु क्या है इसके बोध ग्रहण में है।''[2]

---

1 उदयभानु सिंह- तुलसी दर्शन-मीमांसा में उद्धृत, पृ० 17

2 डॉ० उमा ठुकराल- कबीरपंथ: साहित्य, दर्शन एवं साधना में उद्धृत, पृ० 170

(घ) देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय

"'दर्शन' शब्द आज जो तत्त्व चिन्तन (Philosophy) के अर्थ में प्रचलित है, लेकिन इस बात का निश्चय नहीं कि इस शब्द का प्रयोग कब से प्रारम्भ हुआ है और इसका वास्तविक अर्थ क्या है। दासगुप्त का कहना, ''यथार्थ तत्त्व-विषयक ज्ञान (True Philosophical knowledge) के अर्थ में 'दर्शन' शब्द का प्रयोग सबसे पहले कणाद के 'वैशेषिक-सूत्र' में पाया जाता है जो मेरे मतानुसार बुद्ध-पूर्व काल की रचना है।'' आगे वे लिखते हैं-फिर 'दर्शन' शब्द के वास्तविक अर्थ के बारे में भी कठिनाइयाँ हैं। यह शब्द 'दृश' धातु से बना है जिसका सामान्य अर्थ है देखना, और इसलिए दर्शन शब्द का मूल अर्थ हुआ साक्षात् अनुभव।''[1]

(ङ) डॉ० भगीरथ प्रसाद यादव

''दर्शन का सम्बन्ध प्रत्यक्षानुभूति और आत्म दृष्टि से है। प्रत्यक्ष जीवन के व्यवहार और चिन्तन के उपरान्त जिस चरम-सत्य को अपने अन्तस् में हम देख पाते हैं वही दर्शन का विषय है।''[2]

(च) डॉ० मैथिली प्रसाद भारद्वाज

''दर्शन का सरलीकृत अर्थ जीव, जगत् की तर्क संगत स्थिति और परस्पर अन्तर्सबंधों की उपस्थिति से माना जाता है।''[3]

(छ) डॉक्टर केशनीप्रसाद चौरसिया

''साक्षात्कारमूलक अनुभव राशि को दर्शन कहा गया है। दूसरे शब्दों में 'दृश्यते अनेन इति दर्शनम्' के आधार पर वस्तु के सत्यभूत तात्त्विक सवरूप की

---

1 देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय- भारतीय दर्शन: सरल परिचय, पृ० 40

2 डॉ० भगीरथ प्रसाद यादव- कबीर-काव्य के स्रोत, पृ० 34

3 डॉ० मैथिली प्रसाद भारद्वाज- मध्यकालीन साहित्य-चिन्तन, पृ० 71

सम्यक् जानकारी ही दर्शन है। हम कौन हैं? यहाँ क्यों आये हैं? कहाँ से आये हैं? के पश्चात् जीव कहाँ जाता है? इस दृश्यमान् जगत् का निर्माता कौन है? वह अदृश्य क्यों है? इस प्रकार की प्रश्न-शृंखला का समुचित उत्तर देना दर्शन का प्रयोजन है। आगे वे लिखते हैं-दर्शन मिथ्या को छोड़कर सत्य की खोज करता है, द्वैत में सूत्रात्मक अद्वैत का पता लगाता है, अनेक में एक और असत् में सत् का अन्वेषण करता है।''[1]

(ज) डॉ० उमेश मिश्र

"'दर्शन' शब्द 'दृश्' (देखना) धातु से करण अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय लगाकर बना है। इसका अर्थ है 'जिस के द्वारा देखा जाय'। यहाँ इतना और भी विचार करना उचित है कि 'देखा जाय' इस पद का साक्षात् अर्थ 'ज्ञान प्राप्त किया जाय' भी हो सकता है, या नहीं। ज्ञान प्राप्त करने के लिए अनेक उपाय हैं, किन्तु सब से निश्चित, अर्थात् विश्वसनीय उपाय है, 'प्रत्यक्ष' (आँख से देखना) । प्रत्यक्ष के भी इन्द्रियों के भेद से पाँच भेद हैं, जिनमें चक्षुरूप इन्द्रिय के द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है वही ज्ञान सब से बढ़ कर प्रामाणिक है। इसलिए जहाँ ज्ञान की प्रामाणिकता और दृढ़ता के सम्बन्ध में विशेष ज़ोर देना है वहाँ 'दर्शन' शब्द का ही प्रयोग उचित है और 'जिसके द्वारा देखा जाय' अर्थात् जो आँख से देखा जाय, यही उसका साक्षात् अर्थ करना उचित है। देखना चक्षु के ही द्वारा हो सकता है, अन्य इन्द्रियों से नहीं।"[2]

अत: यह कहा जा सकता है कि 'दर्शन' जगत् को बुद्धि' द्वारा समझने का प्रयत्न है जो समस्याओं का हल खोजता है।

---

1 डॉक्टर केशनीप्रसाद चौरसिया- मध्यकालीन हिन्दी सन्त-विचार और साधना, पृ० 77

2 डॉ० उमेश मिश्र- भारतीय दर्शन, पृ० 5-6

5.13 भारतीय दर्शन

''दुःखत्रय के अभिघात की जिज्ञासा ही भारतीय दर्शन की उद्‌गमभूमि है। इस आरंभिक निराशावाद का अवसान आशा, दुःखध्वंस और आनंदोपलब्धि में है।''[1] भारतीय दर्शन मोक्षशास्त्र, निर्वाणदर्शन अथवा परमार्थदर्शन है। वह अनुभूति की व्याख्या है। उस व्याख्या में विवेचना और आलोचना को भी यथेष्ट गौरव दिया गया है। भारतीय दर्शन का आरंभ संसारबंध-मुमुक्षा, आत्यंतिकदुःखजिहासा, से होता है। संसार के सभी बंधनों का कारण अविद्या है। अतएव अविद्या के निराकरण का उपाय करना चाहिए। दर्शन शास्त्र में संसार, संसारहेतु, मोक्ष और मोक्षोपाय पर विचार किया गया है। इन्हीं को बौद्ध दर्शन में चार आर्यसत्य कहा गया है।

भारतीय दर्शन गहरी आध्यात्मिक भावना से अनुप्राणित है। भारतीय दर्शन तत्त्वतः आध्यात्मिक दर्शन है। वह सत्य के अनुभव और भ्रांति के निराकरण के लिए प्रयत्नशील रहा है। भारतीय दर्शन को 'नास्तिक' और 'आस्तिक' इन दो वर्गों में विभाजित किया जाता है। ''वेद को प्रमाण मान कर अपने मत का प्रतिपादन करने वाले तथा ईश्वर में विश्वास रखने वाले दर्शनों को आस्तिक कहा जाता है और वेदों को प्रमाण न मान कर उनका विरोध करने वाले को नास्तिक कहा जाता है।''[2] आस्तिक-दर्शन की संख्या छह मानी गयी है। इसे ही षड्-दर्शन कहते हैं। ''सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा तथा वेदान्त आस्तिक दर्शन कहलाते हैं। इन षड्दर्शनों के अतिरिक्त छोटे-मोटे और भी कई आस्तिक दर्शन हैं जैसे शैव, शाक्त तथा रसेश्वर आदि।''[3] चार्वाक, जैन एवं बौद्ध नास्तिक दर्शन हैं, क्योंकि वेद उनके विचार से प्रामाणिक नहीं है। आज आस्तिक का अर्थ ईश्वरवादी तथा नास्तिक का अर्थ अनीश्वरवादी भी माना जाने लगा है।

---

1 उदयभानु सिंह-तुलसी-दर्शन-मीमांसा, पृ० 20

2 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'-कबीर-दर्शन, पृ० 109

3 डॉ० नारायणप्रसाद बाजपेयी-भक्ति काव्य की दार्शनिक चेतना, पृ० 23

''भारतीय दर्शन का मूल मन्त्र 'आत्मानं विद्धि'- आत्मा को जानने की ओर रहा है।''[1] ''भारतीय चिंतन का केंद्रबिंदु आत्मा है। इसीलिए हमारे यहाँ आत्मज्ञान पर इतना बल दिया गया है।''[2] भारतीय दर्शन का वास्तविक तत्त्व उसका तर्कमय बाहरी ढाँचा नहीं, बल्कि उसका आभ्यंतर अनुभव-तत्त्व है जो उस तर्कमय ढांचे का आधार है। भारतीय दर्शन अंतर्दर्शन है। उसमें अनुभवगम्य विषय की अपेक्षा अनुभवगम्य विषयी की ओर विशेष ध्यान दिया गया है।

5.14 भारतीय दर्शन के विकास में वेद तथा उपनिषद् की महत्ता

वेद

वेद समस्त दर्शनों का आदि स्रोत माना गया है। वेद भारतीय धर्म और दर्शन के प्राण हैं। ''ये भारतीय साहित्य के ही सर्वप्रथम ग्रंथ नहीं है, प्रत्युत मानव मात्र के इतिहास में इनसे बढ़कर प्राचीन ग्रंथ की अभी तक उपलब्धि नहीं हुई है।''[3] डॉ० नारायणप्रसाद बाजपेयी इस विषय में लिखते हैं-''यद्यपि वेद में कर्म, ज्ञान एवं भक्ति की पावन त्रिवेणी प्रवाहित होती है तथापि वैदिक कर्मकाण्ड एवं ज्ञानकाण्ड ही विशेष रहा। इन्हीं कर्मकाण्डों एवं ज्ञानकाण्डों में साम्य-वैषम्य से ही भारतीय दर्शन धारा समग्र रूप से प्रवाहित होती रही।''[4] डॉ० बलदेव उपाध्याय के अनुसार- ''वैदिक धर्म सभी मत और संप्रदायों का जनक है। यह मत केवल इसलिए नहीं कहा जा रहा है कि इन धर्मों में सत्य, अस्तेय, शौच आदि सदाचार के अंगों की उपलब्धि है, प्रत्युत अन्य संप्रदायों में स्वीकृत परमेश्वर नाम भी वेद से ही गृहीत हुए हैं- ऐसा देखा जाता है। .....हिब्रूमत (जिसका प्रतिपादन बाइबिल के ओल्ड टेस्टामेंट नामक आदिम

---

1 डॉक्टर केशनीप्रसाद चौरसिया- मध्यकालीन हिन्दी सन्त-विचार और साधना, पृ० 78

2 उदयभानु सिंह- तुलसी-दर्शन-मीमांसा, पृ० 19

3 आ० बलदेव उपाध्याय- भारतीय धर्म और दर्शन, पृ० 38

4 डॉ० नारायणप्रसाद बाजपेयी- भक्ति काव्य की दार्शनिक चेतना, पृ० 23

भाग में विशद रूप से मिलता है में परमेश्वर के जो 'यहोवा', यह्वेह', 'यह्वे' इत्यादि विविध नाम प्रसिद्ध हैं, वे देववाचक वैदिक 'यह्' शब्द का ही पूर्णत: अनुसरण करते हैं-यह भाषावैज्ञानिक दृष्टि से प्रतिभात होता है। ऋग्वेद के कई मन्त्रों में 'यह्' शब्द का प्रयोग है।

प्रवो यह्व पुरुणां विशां देवयतीनाम्

यह 'यह्' शब्द 'महत्' के नामों में निघंटु में पठित हुआ है (३१३) 'यह्' का अर्थ है-महान्।''[1]

''वैदिक संहिताएँ हमारे उपनिषद्दिक चिंतन की आधार भूमि है। उनमें यह विश्वास व्यक्त हुआ है कि प्रकृति की प्रत्येक शक्ति एक देवता के अधीन काम करती है और उस देवता की पूजा करने से मनुष्य का कल्याण होता है। ऋग्वेद तैंतीस देवताओं का अस्तित्त्व मानता है।''[2] ''वैदिक देवताओं में से बहुतों का प्राकृतिक आधार प्राय: स्पष्ट है। अग्नि, वायु, आप: (जल), आदित्य, उषम् आदि के नामों और वर्णनों से स्पष्ट हो जाता है कि भौतिक अग्नि, वायु, जल आदि को ही ऊपर उठा कर देव पद पर प्रतिष्ठित कर दिया गया है। हाँ अश्विन, वरूण आदि के वर्णन में इस दृष्टि से अवश्य सन्देह रह जाता है।''[3] यद्यपि वेदों का दृष्टिकोण बहुदेववादी है तथापि उनमें यह विचार भी बीज रूप में वर्त्तमान है कि प्रकृति के नाना रूपों और विविध व्यापारों के पीछे किसी एक ही सर्वशक्तिमान सत्ता का हाथ है। इस सर्वव्यापी परोक्षसत्ता का निरूपण करना ही ऋग्वेद का प्रधान लक्ष्य है। ''यही ''कारण सत्ता'' कार्य वर्गों में अनुप्रविष्ट होकर सर्वत्र भिन्न-भिन्न आकारों में

---

1 आ० बलदेव उपाध्याय- भारतीय धर्म और दर्शन, पृ० 7

2 बाबूराव जोशी- सन्त-काव्य में परोक्षसत्ता का स्वरूप, पृ० 68

3 बाबूराव जोशी- सन्त-काव्य में परोक्षसत्ता का स्वरूप, पृ० 68-69

परिलक्षित होती है। प्रकृति की कार्यावलि के मूल में एक ही सत्ता है, एक ही नियन्ता है, एक ही देवता विद्यमान है। अन्य सब देवता इसी मूल-भूत सत्ता के विकास मात्र है। इस महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का प्रतिपादन भिन्न-भिन्न प्रकारों से वैदिक ऋषियों ने किया है।''[1] इस परोक्षसत्ता का ज्ञान करवाना ही वेदों का प्रमुख उद्देश्य है।

ऋग्वेद में 'ऋत' की बड़ी मनोरम कल्पना है। ऋत का अर्थ है सत्य, अविनाशी सत्ता। ''इस जगत् में 'ऋत्' के कारण ही सृष्टि की उत्पत्ति होती है। सृष्टि के आदि में 'ऋत' ही सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ। विश्व में सुव्यवस्था, प्रतिष्ठा, नियमन का कारणभूत तत्त्व यही 'ऋत' ही है। इस 'ऋत' की सत्ता के कारण ही विषमता के स्थान पर समता का, अशान्ति की जगह शान्ति का, साम्राज्य विराजमान है। .....'ऋत' अर्थात् सत्यभूत ब्रह्म । देवतागण भी ऋत के स्वरूप हैं या ऋत से उत्पन्न हुए हैं। सोम ऋत के द्वारा उत्पन्न (ऋतजात) तथा वर्धित होते हैं, वे स्वयं ऋत रूप हैं .....सूर्य ऋत का ही विस्तार करते हैं तथा नदियाँ इसी ऋत को वहन करती हैं ..... सकल देवताओं के भीतर सकल कार्यों के अन्तर में यही ऋत या कारण सत्ता अनुप्रविष्ट है। इसी सत्ता का अवलम्बन कर कार्य-वर्ग अपनी स्थिति बनाये हुए है।''[2] ''ऋग्वेद संहिता में विविध देवताओं को देखकर बहुत से विद्वानों को यह भ्रम होता है कि उसमें अद्वैतवाद या सर्वात्मवाद के बीजाणु नहीं मिलते, किन्तु यह धारणा निर्मूल है। अनेक ऋग्वैदिक, ऋषि पूर्णत: अद्वैतवादी थे।''[3] ''वेदों में प्रतिपादित परोक्षसत्ता धनात्मक और ऋणात्मक (Negative) दोनों ही प्रकार की परिभाषाओं से युक्त है। वह सगुण है और निर्गुण भी। वेदों तक परोक्षसत्ता की

---

1 बाबूराव जोशी- सन्त-काव्य में परोक्षसत्ता का स्वरूप, पृ० 69-70

2 आ० बलदेव उपाध्याय- भारतीय धर्म और दर्शन, पृ० 44-45

3 बाबूराव जोशी- सन्त काव्य में परोक्षसत्ता का स्वरूप, पृ० 71

भावना वस्तुपरक रही। यद्यपि वेदों में ऐसे मन्त्र भी मिलते हैं जिनमें उसे अवस्तुपरक भी कहा है किन्तु अवस्तुपरक ब्रह्म का विवेचन उपनिषद्काल में अधिक हुआ।''[1]

उपनिषद्

भारतीय दर्शन की सम्पूर्ण उपलब्धि उपनिषदों में सन्निहित है। उपनिषद् ही भारतीय ज्ञान का तथा दार्शनिक विचारधाराओं का मूल ग्रन्थ है। ''उपनिषदों की रचना कर्मकाण्ड प्रधान ब्राह्मण-साहित्य की प्रतिक्रिया स्वरूप हुई। इन्हें वेदान्त अर्थात् ज्ञान की चरम सीमा कहा जाता है। इनमें अध्यात्म तत्त्व के गूढ़तम रहस्यों का विशद् विवेचन किया गया है। ये वेद का जीवन, रस या सार तत्त्वरूप हैं। सम्पूर्ण भारतीय दर्शन में ऐसी कोई महत्त्वपूर्ण विचारधारा नहीं जिसका मूल स्रोत इनमें प्राप्त न हो।''[2] डॉ० उमेश मिश्र लिखते हैं- ''ऐसा अनुमान किया जाता है कि जिज्ञासु लोग अपनी-अपनी शंकाओं को लेकर ऋषियों के समीप आते थे और ऋषि लोग एक-एक करके उनकी शंकाओं को तर्क-वितर्क तथा अपनी अनुभूतियों के द्वारा दूर कर देते थे, तभी परम तत्त्व के वास्तविक स्वरूप का परिचय उन लोगों को मिलता था। ये विचारधारा उपनिषदों के विषय हैं, ये ही उनकी विशेषाएँ हैं। ये शंकाएँ तथा इनके समाधान किसी एक क्रम से नहीं होते थे। इसलिए उपनिषदों में परवर्ती शास्त्रों की तरह कोई भी विचारधारा हमें एक किसी क्रम से नहीं मिलती । तत्त्व के स्वरूप का विभिन्न रूप से, भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से, प्रतिपादन तो सभी उपनिषदों में हमें मिलता है।''[3]

''दर्शन की तर्कपूर्ण पद्धति सर्वप्रथम उपनिषदों में ही पाई जाती है। उनमें विचारों की उच्चता, अनुभूति की गम्भीरता तथा सत्योद्घाटन की जिस प्रणाली को अपनाया गया है वह दार्शनिक होते हुए भी कवित्त्वपूर्ण है। यद्यपि उपनिषद्-साहित्य

---

1 बाबूराव जोशी- सन्त-काव्य में परोक्षसत्ता का स्वरूप, पृ० 72

2 डॉक्टर केशनीप्रसाद चौरसिया- मध्यकालीन हिन्दी सन्त-विचार और साधना, पृ० 81

3 डॉ० उमेश मिश्र- भारतीय दर्शन, पृ० 15

वैदिक साहित्य से भिन्न शैली में है तथापि यह वेद का ही स्वाभाविक परिणाम है।''[1] प्रारम्भिक उपनिषद्ों में भी ऋग्वेद की भांति ब्रह्म को कभी 'आत्मा' और कभी 'सत्' कहा गया है, किन्तु आगे जाकर 'सत्' तथा 'आत्मा' ब्रह्म के अर्थ में प्रयुक्त होने लगे। ''छान्दोग्य एवं मुण्डकोपनिषद्ों में यह सब ब्रह्म के नाम से अभिहित किया गया है। .....इसीलिए वृहदारण्यक उपनिषद् में स्पष्ट ही कह दिया गया है कि 'यह आत्मा ही ब्रह्म है' और मैं ब्रह्म हूँ।''[2] उपनिषद्ों में 'ब्रह्म' के दो स्वरूपों का विषद वर्णन किया गया है-सविशेष अथवा सगुण और निर्विशेष अथवा निर्गुण। ''सगुण ब्रह्म के स्वरूप का परिचय देते हुए कहा गया है- वह सत्य ज्ञान और अनन्त रूप है। वह विज्ञान और आनन्द रूप है। उसकी तीन प्रमुख शक्तियाँ हैं- ज्ञानशक्ति, बलशक्ति और क्रियाशक्ति। सगुण ब्रह्म का तटस्थ लक्षण बताते हुए 'तज्जलान' शब्द का प्रयोग किया गया है। जिसका भाव यह है कि यह जगत ब्रह्म से उत्पन्न होता है, उसी में लीन हो जाता है तथा उसी के कारण स्थिति काल में प्राण धारण करता है। वह इस सृष्टि की उत्पत्ति तथा लय का कारण है।''[3] ''उपनिषद्ों में निर्गुण ब्रह्म का ही निर्गुण कहीं सगुण तथा कहीं-कहीं सगुण-निर्गुण दोनों रूपों में उल्लेख किया गया है।''[4] बाबूराव जोशी लिखते हैं- ''उपनिषद्ों के अनुसार ब्रह्म का निर्गुण रूप श्रेष्ठ है। निर्गुण ब्रह्म वह है ''जिसे किसी विशेषण अथवा लक्षण से लक्षित नहीं किया जा सकता अर्थात् वह निर्विकल्प और निरूपाधि है, अनिर्देश्य है।''[5] डॉ० नारायणप्रसाद बाजपेयी उपनिषद्ों में ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप का वर्णन करते हुए लिखते हैं- ''उपनिषद्ों में ब्रह्म के इन स्वरूपों मे निर्गुण एवं अव्यक्त स्वरूप को ही अधिक ग्राह्य समझा गया। इसके अनुसार ब्रह्म निर्गुण निरूपाधि एवं अनिर्वचनीय है।

---

1 डॉ० नारायणप्रसाद बाजपेयी- भक्ति काव्य की दार्शनिक चेतना, पृ० 36
2 डॉ० नारायणप्रसाद बाजपेयी- भक्ति काव्य की दार्शनिक चेतना, पृ० 37
3 बाबूराव जोशी- सन्त-काव्य में परोक्षसत्ता का स्वरूप, पृ० 73-74
4 डॉ० नारायणप्रसाद बाजपेयी- भक्ति काव्य की दार्शनिक चेतना, पृ० 37
5 बाबूराव जोशी- सन्त-काव्य में परोक्षसत्ता का स्वरूप, पृ० 74

निरूपाधि होने के कारण ही उसे 'एष नेति नेत्यात्मागृहयो' ही कहा गया है। वह देश, काल एवं निमित्त से परे है। वस्तुत: जगत् में जो कुछ प्रकाश दृष्टिगोचर हो रहा है वह अद्वितीय है। उससे भिन्न कोई सत्ता नहीं है।''[1]

उपनिषद् मुख्यत: ब्रह्मात्मैक्य का प्रतिपादन करते हैं। उनके अनुसार समस्त प्राणियों का अन्तरात्मा एक ही है। ''जिस प्रकार अग्नि एक ही है किन्तु तत्तद्वस्तुओं का आकार ग्रहण करके वह अनेक रूपों में प्रकट होती है, उसी प्रकार एक आत्मा अनेक भूतों में अनेक रूप धारण करता है और जो उसका दर्शन कर लेते हैं, वे ही शाश्वत सुख को प्राप्त करते हैं अन्य नहीं । उपनिषदीय ऋषियों के अनुसार मुक्ति या मोक्ष का अभिप्राय आनन्त्यभाव है जिसे मनुष्य आत्मानुभूति की अवस्था में प्राप्त करता है और जिसे प्राप्त कर वह स्वयं ब्रह्म हो जाता है। इस प्रकार बहुदेववाद के अभ्यन्तर एक परम दैवत की कल्पना से अद्वैतवादी ब्रह्म की धारणा का जन्म हुआ।''[2] एक ओर तो वेदों को प्रमाणस्वरूप मानने वाली शास्त्रीय धारा उपनिषद्, भगवद्गीता और श्रीमद्भागवत में प्रवाहित होती रही और दूसरी ओर उसी के समानान्तर लोकजीवन से सम्पृक्त बौद्धधर्म, सिद्ध एवं नाथ-साहित्य के रूप में विकसित होती रही।

5.2 सन्त साहित्य की दार्शनिक विचारधारा

निर्गुण काव्यधारा के संत कवि मूलत: दार्शनिक नहीं थे, किन्तु आध्यात्मिक अभिव्यक्ति के मूल में दर्शन-शास्त्र के तत्त्वों का समावेश हो जाना स्वाभाविक है। संतकवि की बानियों के अन्तर्गत आये हुए दार्शनिक तत्त्वों का यदि विवेचन किया जाय तो उनमें अद्वैतवाद, विशिष्टद्वैतवाद, द्वैतवाद, केवलद्वैतवाद, और सूफी एकेश्वरवाद आदि अनेक 'वाद' किसी न किसी रूप में अवश्य प्राप्त हो जायँगे।

---

1 डॉ० नारायणप्रसाद बाजपेयी- भक्ति काव्य की दार्शनिक चेतना, पृ० 39

2 डॉक्टर केशनीप्रसाद चौरसिया- मध्यकालीन हिन्दी सन्त-विचार और साधना, पृ० 81-82

दार्शनिक वादों की इस पँचमेल खिचड़ी में कोई भी वाद अपने शुद्ध रूप में नहीं है। यह स्थिति इस परम्परा के साहित्य में सर्वत्र मिलती है। संत कवियों के समक्ष कोई भी निश्चित दार्शनिकवाद नहीं था। ये सारसंग्रही व्यक्ति थे। उन्होंने किसी एक परंपरा के पालन का प्रयत्न नहीं किया और न ही दार्शनिक तत्त्वों का निरूपण करना उनका लक्ष्य था अपनी अनुभूति व्यक्त करते समय जहाँ दर्शन की कोई बात आ गई है, उसे आने से उन्होंने रोका भी नहीं है। श्याम सुन्दर शुक्ल इस सम्बन्ध में लिखते हैं-''इन संतों की दार्शनिक मान्यताओं को किसी बँधे हुए सुनिश्चित साँचे में नहीं बैठाया जा सकता। उनके सिद्धान्त किसी एक वाद को आधार मानकर अभिव्यक्त नहीं हुये हैं। अत: कौन संत या कवि पूर्णतया किसी दार्शनिक वाद की परंपरा में आता है,यह कहना आसान नहीं है। फिर भी ऐसा लगता है कि प्राय: सभी सन्त उपनिषद्ों, ब्रह्मसूत्र, गीता और सूफी प्रेम-पोषित इस्लामी एकेश्वरवाद आदि से मिलती-जुलती बातें कह रहे हैं।''[1]

सन्त-साहित्य की दार्शनिक विचारधारा किसी विशेष शास्त्र पर आधारित नहीं क्योंकि सन्त-दृष्टि शास्त्रों की अपेक्षा आत्मानुभूति पर विशेष आस्थावान् थी। डॉक्टर केशनी प्रसाद चौरसिया के अनुसार-''दर्शन का दर्पण जब तक अनुभूति की आभा से आलोकित नहीं होता तब तक साधक को आत्मस्वरूप का प्रतिबिम्ब देख पाना दुर्लभ है। सन्त-साहित्य की दार्शनिक विचारधारा ने उपनिषद्ों, सिद्धों, नाथों और सूफियों की प्रेममयी अनुभूतिशील चिन्तनशीलता को आधार-स्वरूप मान कर अपने रूप का निर्माण किया है।''[2] सन्त स्वतन्त्र चिन्तक थे और चिन्तन के परिणाम स्वरूप उन्हें जो भी सत्य खण्ड उपलब्ध हुए उन्हीं का उपदेश देते रहे। सन्त सारग्राही महात्मा थे, अपने से पूर्ववर्ती दार्शनिक पद्धतियों की जटिलता एवं कृत्रिमता के

---

1 श्याम सुन्दर शुक्ल- हिन्दी काव्य की निर्गुण धारा में भक्ति, पृ० 220

2 डॉक्टर केशनीप्रसाद चौरसिया- मध्यकालीन हिन्दी सन्त-विचार और साधना, पृ० 83

आवरण को चीर कर अपनी एक सहज, सरल और मौलिक विचारधारा प्रस्तुत की । उन्होंने शास्त्रीय ज्ञान की अपेक्षा अनुभव ज्ञान को अधिक महत्त्व दिया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सन्तों ने वेद आदि, शैव-शक्ति, आचारी-उदासी, नाथपंथी-तांत्रिक, बौद्ध-सिद्ध, हिन्दू-मुसलमान सभी की आलोचना की है, किन्तु उनकी प्रवृत्ति समन्वयदादी थी। उन्होंने बिना भेद-भाव किये सभी मतों, ग्रन्थों, सन्तों और सम्प्रदायों के सत्य तत्त्व को ग्रहण भी किया ।

सन्तों ने जहाँ किसी मत, सम्प्रदाय आदि की जो निन्दा की है वे अकारण नहीं है। सन्त किसी में भी बढ़ती हुई अन्धानुसरण की प्रवृत्ति को पसन्द नहीं करते थे। दूसरे जो ज्ञान सर्वसाधारण की पहुँच से बाहर हो उन्हें वह मान्य नहीं था। सन्तों ने वेद, उपनिषद्, वैष्णव धर्म, योग वाशिष्ट दर्शन, गीता, बौद्ध धर्म, जैन धर्म, शैवदर्शन, इस्लाम, तन्त्रमत सभी में से उन्हीं बातों को ग्रहण किया जो सभी के लिए उपयुक्त हों। ''सन्त मत के निर्गुणवाद की मूल भावनाएँ-प्रकृति अथवा भौतिक सृष्टि की त्रिगुणात्मकता और सत् पुरूष का परात्परत्त्व अथवा त्रिगुणातीतत्त्व-वेदों में बीज रूप से विद्यमान है।''[1] बाबूराव जोशी लिखते हैं-''वस्तुतः सन्त साहित्य का विषय वही है जो उपनिषद्ों का था। उपनिषद्ों की आध्यात्मिक चर्चा ही सन्तों के काव्य में सर्वत्र दिखाई देती है। ऋषि जिस प्रकार अपनी आध्यात्मिक चर्चा अनुभूति को पूरे भाव गांभीर्य के साथ व्यक्त करते हैं उसी प्रकार सन्त भी पढ़ी-पढ़ाई या सुनी-सुनाई बातों को छोड़कर व्यक्तिगत अनुभूति को ही वाणी देते हैं। सन्त-काव्य में हृदय की सरलता, सीधी चोट करने की क्षमता, भावुकता और स्पष्ट कह डालने की तत्परता सब कुछ उपनिषद्ों का ही प्रभाव है। ब्रह्म विचार के प्रसंग में तो सन्तों ने उपनिषद् के दृष्टाओं की चिन्तन प्रणाली का ही अनुकरण किया है। यदि उन्हें

---

1 बाबूराव जोशी- सन्त-काव्य में परोक्षसत्ता का स्वरूप, पृ० 72

सन्तों की विचारधारा की आधारशिला कह दें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।''[1] अपनी अद्वैतदृष्टि और प्रपत्ति भाव के लिए वे गीता के भी ऋणी हैं । गीता ने अनेक प्रकार से अद्वैत वेदान्त का प्रतिपादन किया गया है। उसके अनुसार अद्वैत दृष्टि ज्ञान की चरम सीमा है। सन्तों के काव्य में स्वानुभूति का जो महत्त्व दिखाई देता है। वस्तुत: वह बौद्ध दर्शन की बुद्धिवादिता का ही प्रभाव है। अत: यह कहा जा सकता है कि सन्तों की दार्शनिक विचारधारा अनेक धर्मों, मतों आदि से प्रभावित है, किन्तु उनकी यह विचारधारा सत्यखण्डों का समन्वित रूप है। सन्त-कवियों ने स्वसंवेद्य ज्ञान को ही प्रामाणिक माना है। यही कारण है कि उनमें पर्याप्त समानता है। सन्तों का दर्शन स्वार्जित अनुभूति है। ''जैसे सहस्रों पुष्पों की सुगन्धि मधु की एक बूँद में समाहित है, किसी एक फूल की सुगन्धि मधु में नहीं है, उस मधु-निर्माण में भ्रमर की अनेक पुष्प-तीर्थों की यात्रायें सन्निविष्ट हैं, अनेक पुष्पों की क्यारियाँ मधु के एक-एक कण में निवास करती हैं, उसी प्रकार सन्त-सम्प्रदाय का दर्शन अनेक युगों और साधकों की अनुभूतियों का समुच्चय है।''[2]

5.3 गुरु रविदास और कबीरदास की वाणी के दार्शनिक विचार

5.31 सामान्य परिचय

संतों की साधना का प्रारम्भ ब्रह्म-जिज्ञासा से ही होता है। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में सर्वत्र उसे जानने की इच्छा, उसके सम्बन्ध में प्रबल जिज्ञासा तथा उससे साक्षात्कार करने की तड़प दिखाई देती है। यद्यपि गुरु रविदास और कबीरदास आचार्य शंकर अथवा आचार्य रामानुज की भांति दार्शनिक नहीं थे; तथापि ये एक मौलिक और महान् विचारक अवश्य थे। इन्होंने अनेक प्रकार से परम तत्त्व को

---

1 बाबूराव जोशी- सन्त-काव्य में परोक्षसत्ता का स्वरूप, पृ० 76

2 डॉक्टर केशनीप्रसाद चौरसिया- मध्यकालीन हिन्दी सन्त-विचार और साधना में उद्धृत, पृ० 83-84

जानने का प्रयत्न किया था। इन्होंने अपने आध्यात्मिक सिद्धान्तों के लिये 'पुस्तकीय ज्ञान' को आधार न बनाकर स्वानुभूति को ही अपना सम्बल बनाया। इसी स्वानुभूति को इन्होंने अपनी वाणी के माध्यम से अभिव्यक्ति प्रदान की है।

"'उपनिषद्', 'ब्रह्मसूत्र' और गीता-ये प्रस्थानत्रयी के नाम से भारतवर्ष में प्रसिद्ध हैं। इन्हीं में प्रतिपादित तत्त्वज्ञान 'वेदान्त' है। विविध आचार्यों ने प्रस्थानत्रयी का प्रतिपादन कर विविध दार्शनिक मतों की स्थापना की, जिसमें सर्वप्रथम स्थान शंकर का अद्वैत का है। इतिहास साक्षी है कि बौद्ध धर्म के बाद 8वीं शताब्दी जगद्गुरु शंकराचार्य (788-820ई०) में वैदिक धर्म की पुनःस्थापना की और अद्वैत मत का प्रचार किया। शंकर के मतानुसार ब्रह्म एक, निर्विकल्प और निर्विकार है। वह सगुण और निर्गुण दोनों ही हैं। माया के संकलित हो जाने के कारण वह सगुण रूप धारण करता है ओर संसार के उद्भव, स्थिति और लय का कारण बनता है।'"[1] आगे चलकर इस सिद्धान्त को आधार मानकर दक्षिण में चार प्रधान मतों की स्थापना हुई। रामानुज का विशिष्टाद्वैत मत, निम्बार्क का द्वैताद्वैत मत, विष्णु स्वामी का शुद्धाद्वैत मत और मध्वाचार्य का द्वैतमत। रविदास और कबीरदास की वाणी का अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि रविदास और कबीरदास ने किसी भी धर्म के ग्रन्थों, मतों या सम्प्रदायों को अपनी विचारधारा का आधार नहीं बनाया। इन्होंने भले ही वेद, उपनिषद्, षड़दर्शन आदि का ज्ञान प्राप्त किया हो, किन्तु इन्हें परमतत्त्व को समझने के लिए अन्तिम सत्य नहीं माना। इनको जब जैसी अनुभूति हुई उसका निरूपण, वर्णन तथा विवेचन वाणी में हुआ। इनका विचारक रूप एक संत-भक्त का है। वस्तुतः इनका चिन्तन परमात्मा में लीन एक अनुभवी भक्त की रहस्यानुभूति का प्रकाशन कहा जा सकता है।

---

1 डॉ० रमेश मेहरा- भक्त रविदास में उद्धृत, पृ० 59-60

गुरु रविदास और कबीरदास का लक्ष्य दार्शनिक मत-विशेष का प्रचार-प्रसार नहीं था। ये उन्हीं सिद्धान्तों के पोषक थे जो सत्य की कसौटी पर खरे उतरने वाले थे। इनके काव्य में किसी दार्शनिक परम्परा के गम्भीर-सूक्ष्म तन्तुओं के विवेचन-विश्लेषण का कोई लक्ष्य-प्रेरित प्रयास नहीं मिलता, किन्तु इनमें स्वतंत्र चिन्तक की समर्थ दृष्टि अवश्य रही है। जिससे इनकी वाणी में विभिन्न दार्शनिक मतों के सारभूत तत्त्वों का अनूठा संयोजन मिलता चलता है। इन संतों के पास पुस्तकीय ज्ञान तो नहीं था, परन्तु जीवन की सहज पाठशाला में अर्जित ज्ञान को ही इन्होंने अपनी दार्शनिक व आध्यात्मिक सोच का आधार बनाया। कबीर दोनों के बीच के इस मूल अंतर को 'कागज लेखी और आंखन देखी' के नाम से व्याख्यायित करते हैं। इनका ज्ञान व्यावहारिक जीवन के अनुभवों से उत्पन्न हुआ, इसीलिए इन्होंने अपनी दर्शन व भक्ति संबंधी मान्यताओं को भी सहजता के धरातल पर अंगीकार किया । इनसे पूर्व साधना-पद्धति अनेक तरह के यंत्रों, मंत्रों, तंत्रों तथा शब्दों और दार्शनिक मत-वाद में उलझी हुई थी। संतों ने इन जटिल साधना-पद्धतियों को सहजता व सरलता के धरातल पर लाकर खड़ा किया और ईश्वर की आराधना को संकुचित घेरे से निकाल कर सरल शब्दों में जनसाधारण के सामने प्रस्तुत किया ।

5.3 2 गुरु रविदास और कबीरदास के ब्रह्म सम्बन्धी विचार

5.3 21 गुरु रविदास के ब्रह्म सम्बन्धी विचार

भारतीय चिन्तन-परम्परा में प्रधानतया ब्रह्म के दो रूप मिलते हैं- (क) अव्यक्त (ख) व्यक्त। रविदास जी ने सर्वोच्चसत्ता को वेदांतियों की भाषा में 'ब्रह्म' ही कहा है और उसे पूर्ण एवं सर्वव्यापक स्वीकार किया है। डॉ० पदम गुरचरन सिंह के अनुसार- ''रविदास जी ने मुख्यत: ब्रह्म के अव्यक्त रूप का वर्णन किया है; परन्तु ब्रह्म के व्यक्त रुप का निरूपण भी कहीं-कहीं मिल जाता है। इस रूप में संत

जी का भक्त-हृदय भावावेश में आकर अपनी रहस्यानुभूति और भक्ति-भावना को अभिव्यंजित करता है। इस रूप में भी इनका ब्रह्म निर्गुण ही बना रहता है। इस प्रकार रविदास जी की वाणी में ब्रह्म के दोनों रूपों को अभिव्यक्ति मिली है।''[1]

5.3 211 ब्रह्म का अव्यक्त रूप

रविदास जी की वाणी में ब्रह्म के अव्यक्त-स्वरूप का निरूपण, वर्णन और विश्लेषण दो प्रकार से हुआ है-

(क) अव्यक्त निर्गुण तथा (ख) अव्यक्त सगुण

(क) अव्यक्त निर्गुण ब्रह्म

निर्गुण भारतीय दर्शन का पारिभाषिक शब्द है। ब्रह्म-निरूपण के प्रसंग में तत्त्व चिंतकों ने इस शब्द को बड़ी सूक्ष्मता से पारिभाषित किया है। निर्गुण ब्रह्म का अर्थ है कि उसमें जीव के हेय गुण, राग-द्वेष आदि नहीं हैं।

''निर्गुणावादाश्च परस्य ब्रह्मणो हेयगुणा सम्बन्धात उपपद्यन्ते।''[2]

रविदास निर्गुण ब्रह्म के उपासक थे। उन्होंने निर्गुण निराकार ब्रह्म को संसार के कण-कण में विद्यमान माना है। वह सूक्ष्मदर्शी इस संसार के बारे में जानकारी रखता है। वह अपने आप में संपूर्ण है। उसके बिना और कोई मानव संपूर्ण नहीं हो सकता

'' सखै एक अनेके स्वामी
सभ घट-भोगवे सोई।''[3]

---

1 डॉ० पदम गुरचरन सिंह- संत रविदास: विचारक और कवि, पृ० 102

2 डॉ० पदम गुरचरन सिंह- संत रविदास: विचारक और कवि में उद्धृत, पृ० 102

3 सं० मीरा गौतम- गुरु रविदास : वाणी एवं महत्त्व, पृ० 212

परमात्मा के वर्णन के साधन अपूर्ण हैं, वे उस तक पहुंचने में अशक्त हैं, असमर्थ हैं। इस विचार को रविदास ने स्वीकार किया है। इन्होंने अनेक स्थलों पर परम तत्त्व को अव्यक्त कहा है-

''जस हरि कहियें तस हरि नाहीं, है हरि बस कछु ऐसा।''[1]

परमात्मा के स्वरूप को वाणी के माध्यम से कहना कठिन है। परम तत्त्व तो अनुभव-मात्र है। रविदास-वाणी में ऐसे अव्यक्त निर्गुण ब्रह्म को अनेक रूपों में निरूपित किया गया है। अव्यक्त निर्गुण ब्रह्म के विभिन्न प्रकार हैं। (क) अनिर्वचनीय तत्त्व-रूप ब्रह्म (ख) शब्द-रूप ब्रह्म (ग) शून्य-रूप ब्रह्म (घ) निरंजन-रूप ब्रह्म।

अनिर्वचनीय तत्त्व-रूप ब्रह्म

रविदास जी ने अव्यक्त निर्गुण ब्रह्म को अनिर्वचनीय कहा है। इनके मतानुसार वह अबोल है अर्थात् वाणी से नहीं बताया जा सकता है। परम तत्त्व अपने जैसा आप ही है। उसका वर्णन करना असम्भव सा है-

''कहि रविदास अकथ कथा, बहु काइ करीजै।
जैसा तू तैसा तुही, किआ उपमा दीजै।।''[2]

रविदास जी ने अव्यक्त निर्गुण ब्रह्म का वर्णन निर्गुणतावाचक विशेषणों द्वारा भी किया है। आपने ब्रह्म को अरूप कहा है-

''अवरण वरण रूप नहिं जाके, कहै सो जाई समाई।। टेक ।।''[3]

---

1 डॉ० योगेन्द्र सिंह- संत रैदास, पृ० 158
2 डॉ० पदम गुरचरन सिंह- संत रविदास: विचारक और कवि में उद्धृत, पृ० 103
3 डॉ० योगेन्द्र सिंह- संत रैदास, पृ० 120

रविदास जी ने परम तत्त्व को अलख कहा है। उसका कोई निश्चित स्थान नहीं है। जहाँ कि वह विराजमान रहता है। वह ब्रह्म अगम, अगोचर, अज्ञेय और निर्विकार है। कहीं पर आपने निर्गुण ब्रह्म को विरोधात्मक वर्णनों द्वारा भी निरूपित किया है। इनके अनुसार परमात्मा सृष्टि का रचयिता है और वही इसको समाप्त भी करता है-

''सरवेश्वर, सर्वांगी, सब गति, कर्त्ता हरता सोई।''[1]

रविदास जी ने जहाँ परम तत्त्व को रूपात्मक शैली में वर्णित किया है। वहाँ इन्होंने परमात्मा के लिए 'बाजीगर' का उपमान प्रयुक्त किया है। वह बाजीगर है और उसकी सृष्टि बाजी है। वह बाजीगर ही सत्य-स्वरूप है-

बाजीगर संग कहिये, बाजी कूं मरम हम जाना ।
बाजी झूठ, सांच बाजीगर, जाना मन पतियाना।।''[2]

शब्द-रूप ब्रह्म

''भारतीय चिन्तन में शब्द-ब्रह्म की धारणा बहुत पुरानी है। उपनिषद्ों में ब्रह्म को अक्षर कहा गया है। कठोपनिषद् में स्पष्ट कहा गया है कि अक्षर ही ब्रह्म है। यही अक्षर परब्रह्म भी है। अत: इस अक्षर को जान लेने से मनोवांछित वस्तु प्राप्य है।''[3] रविदास जी ने शब्द-ब्रह्म के प्रतिरूप 'ऊंकार' को स्वीकार कर उसे ही तीनों लोकों में व्याप्त बतलाया है-

"बटक बीज जैसा औंकार, पसर्‌यो तीन लोक विस्तार।"[4]

"रविदास जी ने शब्द-ब्रह्म के महत्त्व को स्वीकार तो किया है परन्तु अनाहत नाद के द्वारा परम तत्त्व में ध्यान केन्द्रित करने की बात को स्वीकार नहीं

---

1 डॉ० योगेन्द्र सिंह- संत रैदास, पृ० 168
2 डॉ० योगेन्द्र सिंह- संत रैदास, पृ० 124
3 डॉ० पदम गुरचरन सिंह- संत रविदास: विचारक और कवि, पृ० 104
4 डॉ० योगेन्द्र सिंह- संत रैदास, पृ० 146

किया । इन्होंने कबीर जी की भांति नाद-बिन्दु की साधना को ही शब्द-ब्रह्म की साधना नहीं माना है।"[1] इन्होंने स्पष्ट कहा है कि नाद-बिन्दु की साधना से भगवद्-प्राप्ति नहीं होती है-

"रथ को चतुर चलावन हारो ।
खिन हांके खिन उभौ राखौ, नहीं आन को सारो ।। टेक ।।
जब रथ थकै सारथि थाकै, तब को रथहिं चलावै ।
नाद -विन्दये सबही थाके, मन-मंगल नहिं गावै ।।''[2]

शून्य-रूप ब्रह्म

कबीर, रविदास आदि संतों ने शून्य को आस्तिक भाव से ब्रह्म के पर्याय के रूप में स्वीकारा है । रविदास-वाणी में अनेक स्थलों पर शून्य का वर्णन ब्रह्म रूप में हुआ है । रविदास जी के अनुसार प्रभु-प्रेम का निर्माण सहज शून्य अर्थात् परम तत्त्व की स्वाभाविक अनुभूति की भाठी में होता है-

"सहज सुन्न में भाठी सखै, पावै रैदास गुरुमुख दखै।।''[3]

रविदास जी ने यह भी बतलाया है कि जीव उस परम तत्त्व (शून्य) से पैदा होता है और फिर उसी में लीन हो जाता है-

"जहाँ का उपज्या तहाँ समाय,
सहज शून्य में रह्यो लुकाय।।"[4]

अत: यह कहा जा सकता है कि रविदास जी ने परम्परागत शून्य शब्द का प्रयोग एक सच्चे आस्तिक भक्त के रूप में किया है।

---

1 डॉ० पदम गुरचरन सिंह- संत रविदास: विचारक और कवि, पृ० 105
2 डॉ० योगेन्द्र सिंह- संत रैदास, पृ० 164
3 डॉ० पदम गुरचरन सिंह- संत रविदास: विचारक और कवि में उद्धृत, पृ० 106
4 डॉ० पदम गुरचरन सिंह- संत रविदास: विचारक और कवि में उद्धृत, पृ० 106

निरंजन रूप ब्रह्म

'निरंजन' शब्द का अर्थ है 'अंजन रहित', 'अंजन' का कोशगत अर्थ काजल अथवा स्याही है। "भारतीय आध्यात्मिक साहित्य में इस शब्द को अनेक अर्थों में प्रयुक्त किया गया है। इसका प्रयोग माया-रहित, निर्विकार, निर्लेप आदि अर्थो में हुआ है।"[1] रविदास जी ने 'निरंजन' शब्द का प्रयोग निर्गुण, निराकार ब्रह्म के लिए किया है। रविदास जी निरंजन-रूप ब्रह्म की पूजा में दिखावे के पूजा उपकरणों की आवश्यकता नहीं समझते हैं-

"अविगत नाथ निरंजन देवा, मैं क्या जानूँ तुम्हरी सेवा ।। टेक।।
बाँधू न बन्धन, धैऊँ न छाया, तुम्हें सेऊँ निरंजन राया।। 1 ।।
तोड़ूँ न पाती, पूजूँ न देवा, सहज समाधि करूँ हरि सेवा।। 4 ।।"[2]

रविदास जी का मत है कि निरंजन-रूप ब्रह्म को प्राप्त करने के लिये गुरु की कृपा आवश्यक है। सद्गुरु की कृपा से ही निरंजन प्राप्य है-

"गुर प्रसादि निरंजनु पावउ।।"[3]

(ख) अव्यक्त सगुण ब्रह्म

डॉ० पदम गुरचरन सिंह के अनुसार ''रविदास जी की वाणी में अव्यक्त सगुण ब्रह्म का वर्णन भी हुआ है। यहाँ अव्यक्त सगुण ब्रह्म से अभिप्राय है निर्गुण अव्यक्त ब्रह्म में गुणों का आरोप करना। यहाँ यह बता देना प्रासांगिक ही होगा कि ये गुण ब्रह्म के सगुणवाद वाले नहीं हैं। इन गुणों के बावजूद भी ब्रह्म निर्गुण ही रहता है। इसी दृष्टिकोण के आधार पर 'अव्यक्त सगुण' कहा गया है। रविदास-वाणी में इस

---

1 डॉ० पदम गुरचरन सिंह- संत रविदास: विचारक और कवि, पृ० 106
2 डॉ० योगेन्द्र सिंह- संत रैदास, पृ० 122
3 डॉ० पदम गुरचरन सिंह- संत रविदास: विचारक और कवि, पृ० 107

अव्यक्त सगुण-ब्रह्म के तीन गुण मिलते हैं- (1) एक, (2) सतिनाम तथा (3) ज्योति- स्वरूप।"[1]

एक

रविदास जी ने परम तत्त्व को एक माना है रविदास जी के विचार अनुसार परम तत्त्व केवल एक है वही एक विश्व में अनेक रूप धारण करके घट-घट में व्याप्त रहता है। रविदास जी केवल निर्गुण राम को ही सत्य मानते हैं और वह केवल एक है। वही एक राम सृष्टि का कर्त्ता भी है ।

"केवल करता एक सही कर, सत्त राम तिहिं ढाई।।"[2]

एक ब्रह्म ही इस सृष्टि के आरम्भ में था और मध्य में है और वही अन्त में भी रहेगा। यही एक, भ्रम से अनेक कहलवाता है-

"अदिहु एक अन्त पुनि सोई, मध्य उपाधि जु कैसे ।
है यह एक, पै भ्रम रूँ दूजो, कनक अलंकृत जैसे।।"[3]

अत: यह कहा जा सकता है कि रविदास जी ने 'एक परमात्मा' की स्थापना करके बहुदेववाद का खण्डन किया। परम तत्त्व को 'एक' कहकर आपने भारतीय समाज में एकता की भावना का प्रचार किया।

सत्य स्वरूप ब्रह्म

रविदास जी ने ब्रह्म को सत्य कहा वही केवलमात्र सत्य है। रविदास जी कहते हैं कि मेरा मन सत्य स्वरूप ब्रह्म की उपासना करता है। वह ब्रह्म आदि, मध्य और अन्त में रहने वाला है और वही लोगों के संशय को दूर भी करने वाला है।

---

1 डॉ० पदम गुरचरन सिंह- संत रविदास: विचारक और कवि, पृ० 107-108
2 डॉ० योगेन्द्र सिंह- संत रैदास, पृ० 153
3 डॉ० योगेन्द्र सिंह- संत रैदास, पृ० 158

"मेरो मन सत्य स्वरूप विचारं,
आदि अन्त अनन्त परम पद, संसा सकल निवरं ।। टेक।।"[1]

रविदास जी ने परम तत्त्व को नाम-स्वरूप भी कहा है। ब्रह्म का नाम ही केवल मात्र सत्य है, उसके बिना सब कुछ मिथ्या है। वही नाम सर्वत्र संसार में व्याप्त है उसी की उपासना श्रेयस्कर है।

"नाम तेरो आरती मजनु मुरारे।।
हरि के नाम बिनु झूठे सगल पसारै।।
x x x x x x x x x x x x
कहै रविदासु नाम तेरो आरती सतिनामु है हरि भोग तुहारे।।"[2]

ज्योति-रूप ब्रह्म

रविदास तथा कबीर ने निर्गुण ब्रह्म को ज्योति-स्वरूप कहा है। रविदास जी के अनुसार वही प्रकाश-स्वरूप परम-पद है। वह एक है और बाह्याडम्बरों से अप्राप्य है-

"कह रैदास प्रकास परम पद, का जप तप विधि पूजा।
एक अनेक अनेक एक हरि, कहों कौन बिधि दूजा।।"[3]

एक अन्य स्थल पर आपने आत्मा को ज्योति-स्वरूप कहा है जो कि अन्त में उसी परम तत्त्व में मिल जाता है।

"चहुदिसि दिवला बरि रहै, जगमग ह्वै रह्यो रे।
जीति जोति सम ज्योति, ज्योति में हिल मिल ह्वै रहो रे ।।"[4]

5.3 212 ब्रह्म का व्यक्त रूप

गुरु रविदास निर्गुण ब्रह्म के उपासक थे, परन्तु भक्ति-भावना में आकर आपने ब्रह्म में अनेक गुणों की स्थापना की है और ब्रह्म की अनेक विशेषताओं की

---

1 डॉ० पदम गुरचरन सिंह- संत रविदास: विचारक और कवि में उद्धृत, पृ० 110
2 डॉ० पदम गुरचरन सिंह- संत रविदास: विचारक और कवि, पृ० 198-199
3 डॉ० पदम गुरचरन सिंह- संत रविदास: विचारक और कवि, पृ० 111
4 डॉ० योगेन्द्र सिंह- संत रैदास, पृ० 167

चर्चा भी की है। ''इनकी वाणी में प्रभु-गुण प्रशंसा के द्वारा अपने दुःखों-कष्टों को समाप्त करने की बात भी कही गई है। इन्होंने परमात्मा के मानवोचित और दिव्य दोनों प्रकार के गुणों का गायन किया है इसे निर्गुण ब्रह्म का व्यावहारिक रूप कहा जा सकता है। इसे सगुणवादी भक्तों का भगवान नहीं कहा जा सकता है क्योंकि रविदास जी अवतारवाद और मूर्ति-पूजा के उपासक नहीं थे। इन्होंने ब्रह्म के अवतरित रूप रामचन्द्र आदि के प्रति अनास्था प्रकट की है।"[1]

डा० पदम गुरचरन सिंह के अनुसार "महात्मा रविदास जी की वाणी में व्यक्त अर्थात् सगुण ब्रह्म के अनेक रूप मिलते हैं। इनमें से प्रमुख रूप इस प्रकार हैं- (क) ब्रह्म का भावना-निर्मित दिव्य स्वरूप (ख) ब्रह्म का विराट-स्वरूप, (ग) ब्रह्म का प्रतीकमय स्वरूप, (घ) सुलतान व राजा स्वरूप।"[2]

(क) भावना-निर्मित दिव्य-स्वरूप

रविदास जी ने स्वयं को अपने आराध्य के सम्मुख अत्यन्त दीन रूप में अभिव्यक्त किया है । रविदास जी का कहना है कि प्रभु भक्तों का उद्धारक है। वह भक्तों के दुःखों को दूर करने वाला है। वह नीचों को ऊपर उठाने वाला है। प्रभु बहुत दयालु है। वह जिस पर दया दिखाता है उसके सारे कार्य सम्पन्न हो जाते हैं। ऐसे गरीब निवाज़ को तो रैदास जैसा अछूत भी साधिकार पुकार सकता है।

"दीनानाथ सुनहु विनती, कौने हेत विलम्ब न करीजै।
रैदास-दास संत चरनहि मोंहि अवलम्ब दीजै।"[3]

---

1 डॉ० पदम गुरचरन सिंह- संत रविदास: विचारक और कवि, पृ० 111
2 डॉ० पदम गुरचरन सिंह- संत रविदास: विचारक और कवि, पृ० 111
3 सं० प्रो० (श्रीमती) सन्तोष कुमारी शर्मा- सौम्य सन्त गुरु रविदास में उद्धृत, पृ० 117

रविदास जी ने परम तत्त्व को माता-पिता के विशेषणों से भी सम्बोधित किया है। इन्होंने उसे मोक्ष-प्रदाता कहते हुए माता-पिता के रूप में स्मरण किया है-

"सोई मुकंदु मुकति का दाता ।
सोई मुकंदु हमरा पित माता।"[1]

इस प्रकार रविदास जी ने ब्रह्म के अनेक रूप बनाकर उसे दिव्य बना दिया।

(ख) ब्रह्म का विराट-स्वरूप

"ब्रह्म का विराट स्वरूप सर्वप्रथम ऋग्वेद तथा यजुर्वेद में मिलता है। वह विराट रूप बुद्धि-विनिर्मित है। ब्रह्म के इसी विराट स्वरूप का विकास श्रीमद्भगवद् गीता में भी मिलता है।"[2] रविदास जी ने ब्रह्म को अनन्त शक्तिशाली, अनन्त विस्तृत, और सर्वव्यापकता के गुणों से युक्त माना है। अपने ब्रह्म के विराट स्वरूप का निरूपण करते हुए कहते हैं-

" चरन पताल सीस असमाना, सो ठाकुर कस संपुट- समाना।। 2।।
शिव सन्कादि अंत न पाया, ब्रह्मा खोजत जनम गँवाया।। 3।।
नरव परस्वेद जाके सुरसरि धारा, रोमावली अठारह भारा।।5।।
चार वेद जाके सुमिरत साँसा, भक्ति हेतु गावत रैदासा ।। 6।।"[3]

परम तत्त्व सर्वव्यापक होते हुए भी अन्तर्यामी है। वह विराट ब्रह्म कर्त्ता और हर्त्ता के गुणों से युक्त है। वह सम्पूर्ण है, सर्वेश्वर है। वह सर्वत्र फैला हुआ भी सब समय एक रस रहता है।

"आदि अन्त औसान एक रस, एक तार ही भाई।"[4]

---

1 डॉ० पदम गुरचरन सिंह- संत रविदास: विचारक और कवि में उद्धृत, पृ० 113
2 डॉ० पदम गुरचरन सिंह- संत रविदास: विचारक और कवि, पृ० 113
3 स्वामी रामानन्द शास्त्री- संत रविदास और उनका काव्य में उद्धृत पृ० 186
4 डॉ०योगेन्द्र सिंह- संत रैदास, पृ० 168

अत: यह कहा जा सकता है कि रविदास जी का विराट रूप ब्रह्म का निरूपण सरस और सुन्दर बन पड़ा है।

(ग) ब्रह्म का प्रतीकमय स्वरूप

प्रतीक के रूप में ब्रह्म की उपासना करने की साधना अत्यन्त प्राचीन है। प्रतीक के दो प्रकार हैं-मूर्त और अमूर्त। रविदास के काव्य में ब्रह्म के प्रतीकमय स्वरूप की रोचक और रसग्राही योजना दर्शनीय है। इन्होंने अपने ब्रह्म को चन्दन, धन, चन्द्र, दीपक, मोती, स्वर्ण आदि मूर्त प्रतीकों द्वारा व्यक्त किया है।

"अब कैसे छूटै राम रट लागी ।। टेक।।
प्रभुजी तुम चंदन हम पानी । जाकी अँग अँग बास समानी ।। 1 ।।
प्रभुजी तुम घन हम बन मोरा। जैसे चितवत चंद चकोरा ।। 2 ।।
प्रभुजी तुम दीपक हम बाती। जाकी जोति बरै दिन राती ।। 3 ।।
प्रभुजी तुम मोती हम धागा। जैसे सोनहिं मिलत सुहागा ।। 4 ।।
प्रभुजी तुम स्वामी हम दासा। ऐसी भक्ति करै रैदासा ।। 5 ।।"[1]

रविदास जी ने मन रूप में तो ब्रह्म का निरूपण नहीं किया है परन्तु मन की उस अवस्था का वर्णन किया है जिसमें वह परमात्म-तत्त्व में तल्लीन रहता है। मन की ऐसी अवस्था को 'उन्मन मन' कहा गया है।

"उनमन मन मन ही मिले छुटकत बजर कपाट।।" [2]

इस प्रकार मन 'उन्मनि अवस्था' में रहकर परम तत्त्व के निर्गुण और सगुण रूपों को एक ही रूप मानता है। एक अन्य स्थल पर ब्रह्म को बनजारा कहा गया है। "इसमें ब्रह्म एक ऐसा बनजारा है जिसने सारे संसार को ही बनजारा बना दिया है।

---

1 डॉ० रमेशचन्द्र मिश्र- संत रैदास वाणी और विचार, पृ० 228-229

2 डॉ० पदम गुरचरन सिंह- संत रविदास: विचारक और कवि में उद्धृत, पृ० 115

बनजारा, निम्न पद में कवि की रहस्यात्मक अनुभूति को बनजारा के प्रतीक द्वारा अभिव्यक्ति मिली है"[1]-

"साहिब लेखा मांगिया बनजारिया, तेरी छाडि पुरानी थेह बे ।
छाड़ि पुरानी जिद्द अजाना, वालदि हांकि सबरियां बे।।"[2]

रविदास जी ने बड़े ही सुन्दर शब्दों में ब्रह्म के प्रतीकमय स्वरूप का निरूपण किया है।

(घ) ब्रह्म का सुलतान और राजा स्वरूप

"दार्शनिक चिन्तन में परम तत्त्व के लिए शाहंशाह अथवा सुलतान की कल्पना इस्लाम धर्म द्वारा हुई है। इस्लाम धर्म में परम तत्त्व को शाहंशाह कहा गया है।"[3] रविदास जी ने परम तत्त्व को सुलतानों का सुलतान कहा है अर्थात् वह सर्वशक्तिशाली महाराजा है। वह सुलतान बुद्धिमान है, वह जन्म मरण में नहीं आता है। उसका कोई निश्चित रूप नहीं है और वह निर्बल मनुष्य की रक्षा करता है-

"या रामां एक तू दानां, तेरा आदि वेषना।
तू सुलतान, सुलताना, बन्दा सकिस्ता अजाना।। टेक।।"[4]

एक अन्य स्थल पर आपने ब्रह्म को 'बड़ राजा' के सम्बोधन से स्मरण किया है-

"कहै रैदास सुमिरौ बड़ राजा, काटि दियै जन साहिब लागा।।"[5]

यह 'बड़ राजा' लोगों के कष्टों को दूर करने वाला है ऐसे परम तत्त्व को हमेशा याद करते रहना चाहिए।

---

1 डॉ० पदम गुरचरन सिंह- संत रविदास: विचारक और कवि, पृ० 115
2 डॉ० पदम गुरचरन सिंह- संत रविदास: विचारक और कवि में उद्धृत, पृ० 115
3 डॉ० पदम गुरचरन सिंह- संत रविदास: विचारक और कवि, पृ० 114
4 डॉ० योगेन्द्र सिंह- संत रैदास, पृ० 160
5 डॉ० योगेन्द्र सिंह- संत रैदास, पृ० 146

5.3 213 रविदास जी के राम

परम्परा से प्राप्त एवं वातावरण में परिव्याप्त सभी ब्रह्म विषयक नामों को रविदास ने स्वीकार कर लिया, किंतु इन सभी में आपने 'राम' नाम को ही सर्वाधिक महत्ता दी है किन्तु यहाँ यह बात स्मरणीय है कि सभी संतों और रविदास जी ने 'राम' शब्द को परम्परा से व्याप्त सहज अभिव्यक्ति तथा विभिन्न अंतर्भेदों की जटिलता के निराकरण रूप ग्रहण किया था, उनका लक्ष्य अवतार वाले साकार राम से बिल्कुल नहीं था। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि "मेरा 'राम' लोक प्रसिद्ध दशरथ का पुत्र नहीं है। वह सर्वव्यापक है। वह मेरे अंदर भी निवास करता है और वही इस विश्व कुटुंब में बसता है। लोग उसे अपने-अपने विश्वास तथा अपनी-अपनी सुविधा के अनुसार विभिन्न नामों से पुकारते हैं। रविदास जी ने भी उन नामों को स्वीकार किया है किन्तु, उन्होंने साथ ही कहा है कि वे सब एक राम के ही रूप हैं। इसी कारण तो उनका यह भी कहना है कि "जब तक कृष्ण, करीम, राम, रहीम, हरि, राघव-इन सब को एक रूप नहीं मान लिया जाता और वेद, कुरान, पुराण आदि ग्रंथों को पढ़कर भी जब तक ब्रह्म तथा इस जगत को एक रूप नहीं देखा जाता तब तक प्रभु प्राप्ति के निमित्त जिस-जिस देवता की पूजा व आराधना की जाती है वह सब निष्फल ही होती है।"[1] इनका राम परम तत्त्व का प्रतीक है। अपने राम के स्वरूप के सम्बन्ध में स्पष्ट घोषित करते हैं-

"राम कहत सब जगत भुलाना सो यह राम न होई ।
करम अकरम करूणामय केशव, कर्त्ता नांव सु कोई ।।
x x x x x x x x x x x x x x x x x
भनै रैदास उदास ताहीं, मैं करता को है भाई।
केवल करता एक सही कर, सत्त राम तिहिं ढाई।।"[2]

---

1 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद- रविदास-दर्शन , पृ० 79-80

2 डॉ० योगेन्द्र सिंह- संत रैदास, पृ० 153

संक्षेप में कह सकते हैं कि रविदास जी ने ब्रह्म के अव्यक्त और व्यक्त दोनों रूपों को व्याख्यायित किया है। रविदास जी ने अपने ब्रह्म को 'राम' नाम से पुकारा है। उनका 'राम' निर्गुण ब्रह्म का प्रतीक है। वह सत्य स्वरूप है जो घट-घट में रमण करता है।

5.3 22 कबीरदास के ब्रह्म सम्बन्धी विचार

"अवांग मनसागोचर स्वयं प्रकाश स्वरूप चेतन सत्ता का नाम ब्रह्म है। बृहदारण्यकोपनिषद् में इस निर्विकल्पक निरूपाधि और निर्विकार सत्ता के दो स्वरूपों का संकेत किया गया है। एक सच्च और दूसरा त्यच्च। निर्गुण और सगुण ब्रह्म के इन दो रूपों की कल्पना इसी श्रुति के आधार पर की गई है। भारत की दार्शनिक पद्धतियों में से कुछ ने केवल निर्गुण सत्ता को ही अपना प्रतिपाद्य बनाया था। ऐसी दार्शनिक पद्धतियों में शंकराचार्य का मायावाद विशेष उल्लेखनीय है। आचार्य शंकर की सम्मति में उपनिषद्ों का प्रतिपाद्य निर्गुण ब्रह्म ही है। आचार्य शंकर की प्रतिक्रिया के रूप में उदय होने वाली दर्शन पद्धतियों में अधिकतर ब्रह्म के सगुण स्वरूप के प्रति ही आस्था प्रकट की है।"[1] संत लोग भारत की ज्ञानमार्गीय, भक्तिमार्गीय और योगमार्गीय इन तीनों धाराओं से प्रभावित हुए थे। उनके ब्रह्म निरूपण पर वैसे तो इन तीनों का प्रभाव परिलक्षित होता है किन्तु उन्होंने मान्यता सबसे अधिक निर्गुण रूप को ही दी है। ''संतों को योग और उसकी विविध शाखाओं की ओर बौद्ध दर्शन तथा उसकी विविध पद्धतियों की लम्बी-चौड़ी परम्परा प्राप्त हुई थी। संत लोग इस परम्परा से भी प्रभावित हुए थे। योग की सभी शाखाओं में ब्रह्म के ज्योतिस्वरूप तथा नाद-स्वरूप की प्रतिष्ठा रही है। संत लोग भी उच्च कोटि के योगी थे अतएव

---

1 डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत- हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि, पृ० 392

उन्होंने ज्ञानमार्गीय निर्गुण ब्रह्म का योगमार्गीय सगुण-निर्गुण ब्रह्म से सामंजस्य स्थापित करके उसे भी निर्गुण बना दिया है। इस नादस्वरूपी और ज्योतिस्वरूपी ब्रह्म की ही उन्होंने ज्ञानमार्गीय ढंग से विवेचना की है, किंतु इससे पवित्र हृदय की प्यास नहीं बुझी। उन्होंने उस यौगिक पुरूष की प्रतिष्ठा भावना क्षेत्र में की। उसे उन्होंने अपनी भक्ति का आराध्य बनाया। वह निर्गुण होते हुए भी सगुण बना किंतु उसकी सगुणता शुद्ध मानसिक ही रही। वह बाहिरजामी न रहकर अंतर्जामी ही रहा। इस प्रकार संतों ने ज्ञान-भक्ति और योग तीनों दृष्टियों से अपने ब्रह्म का निरूपण करते हुए भी उसे निर्गुण ही रखा है।"[1]

डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत के अनुसार- "संसार के कण-कण में एक अलौकिक अनिर्वचनीय एवं अव्यक्त सत्ता विद्यमान है। इसी सत्ता की आत्मगत अनुभूति का नाम ब्रह्म भावना है। यह ब्रह्म-भावना तीन प्रकार की हो सकती है-आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक।"[2] जड़वादियों की ब्रह्म-भावना अधिकतर आधिभौतिक होती है। ब्रह्म की आधिदैविक भावना सम्पन्न साधक बाह्य सौंदर्य और शक्ति का दैवीकरण करके उन्हें साकार सगुण रूप में चित्रित किया करता है। "आध्यात्मिक ब्रह्म भावना इन दोनों प्रकार की भावनाओं में श्रेष्ठ है। इसमें आधिभौतिक पर्यवेक्षण के अनुरूप न तो हमारी दृष्टि केवल बाह्यात्मक रहती है और न आधिदैविक भावना के अनुकूल वह ब्रह्म सत्ता का दैवीकरण ही करती है। उसमें ब्रह्म सत्ता का अनुभव निर्गुण, निराकार और अनिर्वचनीय सत्ता के रूप में होता है। साधक विश्व की प्रत्येक वस्तु में इस सत्य के दर्शन करता है। जहाँ तक कबीर की ब्रह्म भावना का सम्बन्ध है, वह पूर्ण आध्यात्मिक है। यह आध्यात्मिक दृष्टि उसी को

---

1 डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत- हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि, पृ० 392-393

2 डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत- कबीर की विचारधारा पृ० 197

प्राप्त हो सकती है जिसने तर्क करना त्याग दिया है।"[1] कबीर ने ब्रह्म की आधिभौतिक और आधिदैविक भावना त्याग कर आध्यात्मिक भावना को ही आश्रय दिया था। उनका ब्रह्म निरूपण इसी के प्रकाश में देखना चाहिए। प्रधान रूप से ब्रह्म के दो स्वरूप बहुत स्पष्ट होते हैं- व्यक्त और अव्यक्त। साधारणतया अव्यक्त ब्रह्म की भावना अधिकतर आध्यात्मिक ही हुआ करती है। कबीर का ब्रह्म निरूपण पूर्ण रूप से आध्यात्मिक है। उन्होंने सर्वत्र अव्यक्त ब्रह्म के वर्णन ही प्रस्तुत किए हैं । ब्रह्म के व्यक्त स्वरूप के वर्णन उनमें केवल एकाध स्थलों पर ही मिलते हैं। डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत लिखते हैं- "कबीर में पाए जाने वाले यह व्यक्त ब्रह्म के वर्णन प्राय: आध्यात्मिक होते हुए भी आधिदैविक हो गए हैं। इनका प्रमुख कारण कबीर की रहस्य भावना और भक्ति भावना है। यद्यपि भक्ति मूर्त और अमूर्त दोनों प्रकार के ब्रह्म के प्रति सम्भव है, और कबीर में भी यह बात ध्वनित पाई जाती है, किन्तु प्रधान रूप से उनके उपास्य निर्गुण ब्रह्म ही हैं।"[2]

5.3 221 ब्रह्म का अव्यक्त रूप

कबीर का वास्तविक उपास्य अव्यक्त ब्रह्म ही है। उन्हीं को वे निर्गुण और निराकार कहते हैं। डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत के अनुसार कबीर में अव्यक्त ब्रह्म के वर्णन चार प्रकार के मिलते हैं-

(क) ''अव्यक्त सगुण
(ख) अव्यक्त निर्गुण
(ग) अव्यक्त सगुण निर्गुण
(घ) अव्यक्त अद्वैत विलक्षण, परात्पर और नेति मूलक"[3]

---

1 डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत- कबीर की विचारधारा, पृ० 197
2 डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत- कबीर की विचारधारा, पृ० 201
3 डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत- कबीर की विचारधारा पृ० 206

(क) अव्यक्त सगुण

"कबीर का ब्रह्म निर्गुण है अर्थात् सभी गुणों से रहित क्योंकि गुणों का आरोप करते ही वह सगुण हो जाता है। जब गुणों के आधार-रूप को वह धारण करता है, तो साकार बन जाता है।"[1] कबीर ने अपनी रचनाओं में अपने अव्यक्त या निर्गुण ब्रह्म में बहुत से गुणों का आरोप किया है । इनमें सबसे प्रथम विचारणीय गुण उनकी एकता है। कदीर ने अनेक स्थलों पर अपने ब्रह्म को एक विशेषण से विशिष्ट किया है। कबीर कहते हैं जिसने उस एक को जान लिया, उसके लिए कुछ भी जानना बाकी नहीं रहा है-

'' जै वो एकै जांणिया तो जांण्या सब जांणै''[2]

कबीर बार-बार कहते हैं कि मैंने तो उस एक तत्त्व को 'एक' ही करके समझा है। जो 'दो' कहते हैं, उन्होंने उसे ठीक से पहचाना नहीं है। ऐसे ही लोगों को दोज़ख में जाना पड़ता है-

''हम तौ एक-एक करि जानाँ।

दोइ कहैं तिनहीं कौं दोजग,नाहिंन पहिचाना''[3]

कबीर बलपूर्वक कहते हैं कि हिन्दुओं और तुर्कों का कर्त्ता एक ही है। 'राम' और 'रहीम' 'केशव' और 'करीम' 'बिसमिल' और 'विश्वम्भर' में भेद नहीं करना चाहिए-

"हमारे राम रहीम करीमां केसो अलह राम सति सोई।

बिसमिल मेटि बिसंभर एकै, और न दूजा कोई।।"[4]

---

1 धर्मपाल मैनी- कबीर के धार्मिक विश्वास, पृ० 26

2 डॉ० ज्योत्स्ना दाधीच- कबीर का दार्शनिक चिंतन में उद्धृत पृ०101

3 डॉ० रामचन्द्र तिवारी- कबीर मीमांसा में उद्धृत, पृ० 117

4 डॉ० रामचन्द्र तिवारी- कबीर मीमांसा में उद्धृत, पृ० 117

कबीर ने अपने ब्रह्म को एक कहने के साथ-साथ उसकी अद्वैतता सिद्ध करने के लिये उसकी अखण्डता एवं एक रसता पर विशेष ज़ोर दिया है। वे कहते हैं-

"आदि मध्य औ अन्त लों अविहड़ सदा अभंग।
कबीर उस कर्त्ता की सेवक तजै न संग।।"[1]

कबीर ने जहाँ ब्रह्मानुभूति का वर्णन किया है, वह पूर्ण ब्रह्म की ही है "कहै कबीर मैं पूरा पाया सब घटि साहिब दीसा।"[2] यही पूर्ण अद्वितीय तत्त्व सब में परिव्याप्त है। ज़ो इस तत्त्व को नहीं जानते वे अज्ञानी हैं। कबीर ने अपने अव्यक्त सगुण भगवान् को आनन्द रूप में भी ध्वनित किया है। राम को रसायन रूप कहकर उन्होंने उसकी रस रूपता या आनन्द विशिष्टता ही प्रकट की है। कबीर ने अव्यक्त ब्रह्म में कर्तृत्त्व शक्ति का भी आरोप किया है। ''परमात्मा में कर्तृत्त्व मानने के कारण ही कबीर ने उसे 'कर्त्ता' शब्द से सम्बोधित किया है। वे अपनी साखियों में कहीं कहते हैं कि 'कर्त्ता की गति अगम्य है' और कहीं कहते हैं कि 'कर्त्ता में अनेक गुण हैं' अवगुण एक भी नहीं है।'"[3] इन गुणों के अतिरिक्त कबीर ने ब्रह्म को सत्य एवं ज्ञानस्वरूप माना है। ''सत्य का सही लक्षण यही है कि वह सदैव शाश्वत, एक ओर अखण्ड रहता है जिसे देशकाल तथा परिस्थितियों की सीमा में नहीं बांधा जा सकता।"[4] कबीर ब्रह्म को "अविगत अपरंपार ब्रह्म, ग्यांन रूप सब ठांम, कहकर उसे अज्ञेय, असीम, सर्वव्यापक तथा ज्ञानस्वरूप ही स्वीकार करते हैं।''[5] डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत के मतानुसार कबीर ने अव्यक्त ब्रह्म का साकार वर्णन निम्नलिखित रूपों में किया है-

1. "योगियों के द्वैताद्वैत विलक्षण ज्योति रूपी ब्रह्म के रूप में ।

---

1 डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत- कबीर की विचारधारा में उद्धृत, पृ० 207
2 डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत- कबीर की विचारधारा में उद्धृत, पृ० 208
3 डॉ० रामचन्द्र तिवारी- कबीर-मीमांसा, पृ० 120
4 डॉ० ज्योत्स्ना दाधीच- कबीर का दार्शनिक चिंतन, पृ० 104
5 डॉ० ज्योत्स्ना दाधीच- कबीर का दार्शनिक चिंतन, पृ० 104

2. उपनिषद्‌ों में वर्णित अनन्त प्रकाश रूप में ।

3. सूफियों के नूर रूप में ।

4. उपनिषद्‌ों में वर्णित अंगुष्ठ-प्रमाण ज्योति के रूप में।"[1]

(ख) अव्यक्त निर्गुण

कबीरदास जी ने प्रधान रूप से ब्रह्म के निर्गुण अव्यक्त स्वरूप का ही प्रतिपादन किया है। यज्ञदत्त शर्मा इस सम्बन्ध में डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के विचार प्रकट करते हुए लिखते हैं- "कबीरदास के निर्गुण ब्रह्म में गुण का अर्थ सत्त्व, रज आदि गुण हैं, इसलिए 'निर्गुण ब्रह्म' का अर्थ वे निराकार निस्सीम आदि समझते हैं, निर्विषय नहीं।''[2] यह निरूपण शब्द, शून्य, अनिर्वचनीय तत्त्व और सहज रूप में किया है।

शब्द रूप

शब्दब्रह्म की अवधारणा अत्यन्त गूढ़ और रहस्यमय है जिसे कबीर ने अपनी अनुभूति और सत्संगति के बल पर उसका मूल तत्त्व अवश्य समझ लिया था जो उनके 'सबदों' (साखियों) तथा पदों में व्यक्त हुआ है। कबीरदास शब्द ब्रह्म की महिमा से पूर्णतया परिचित थे। उन्होंने अनेक स्थलों पर उनका विविध रूपों में वर्णन किया है। अनहद नाद-वर्णन के व्याज से उन्होंने शब्द-ब्रह्म की ओर संकेत किया है। "अनहद सबद होत झनकार' तथा 'सबद अती अनाहद राता, इहि विधि तृष्णां षांडी'यहाँ मूल शब्द ब्रह्म की ध्वनि में ध्यान केन्द्रित करने की बात कही है।"[3] कबीर ने नाद-बिन्दु-साधना का उल्लेख भी किया है। इस अनहद नाद को ही बिन्दु और

---

1 डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत- कबीर की विचारधारा, पृ० 209

2 यज्ञदत्त शर्मा- कबीर साहित्य और सिद्धांत में उद्‌धृत, पृ० 65

3 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन पृ० 135

बिन्दु को नाद कहा है तथा इसकी साधना के द्वारा गोविन्द के साक्षात्कार की बात भी कही है-

"नादहि व्यंद कि व्यंदहि नाद, नादहि व्यंद मिले गोव्यंद।।"[1]

रामनाम को तो कबीर ने निरंजन शब्द-रूप माना है- "शब्द निरंजन रामनाम साँचा"[2]। शब्दब्रह्म के प्रतिरूप अथवा ऊंकार को कबीर ने श्रद्धापूर्वक अपनाया है और उसे विश्व का मूलतत्त्व कहा है- "ऊंकारे जग ऊपजे"[3], "ऊंकार आदि है मूला"[4]। शब्दब्रह्म की साधना के लिए कबीर ने अनेक बार कहा है। "साधो शब्द साधना कीजै"।[5] कबीर का प्रसिद्ध "शब्द सुरति योग" शब्द ब्रह्म की साधना पर ही आधारित है। इस प्रकार स्पष्ट है कि कबीर को शब्द ब्रह्म की धारणा पूर्ण रूप से मान्य है।

शून्य रूप

"भारत अपने शून्यवाद के लिए प्रसिद्ध है। उपनिषदों में वपित, बौद्धों में अंकुग्ति और संतों में पल्लवित शून्यवाद अपना एक अलग इतिहास रखता है।"[6] कबीर ने शून्य को आस्तिक भाव से ब्रह्म-रूप में अपनाया। कबीर ने शून्य का प्रयोग अभाव रूप और क्षणिक रूप के अर्थ में नहीं किया, जैसा अधिक बौद्धों ने किया है। कबीर का शून्यवाद बौद्धों के शून्यवाद से कुछ भिन्न है। शून्य रूप ब्रह्म का वर्णन कबीर में कई स्थलों पर है-

"अबरन बरन धाम नहिं छाया। अबरन पाइये गुरु की साया।

टारी न टरै आवै न जाई। सुन्न सहज महि रह्यो समाई।।"[7]

---

1 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन में उद्धृत, पृ० 135
2 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन में उद्धृत, पृ० 135
3 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन में उद्धृत, पृ० 136
4 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन में उद्धृत, पृ० 136
5 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन में उद्धृत, पृ० 136
6 डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत- कबीर की विचारधारा, पृ० 212
7 डॉ० ज्योत्स्ना दाधीच- कबीर का दार्शनिक चिंतन में उद्धृत पृ० 111

डॉ० ज्योत्स्ना दाधीच कबीर के शून्य रूप ब्रह्म भावना के विषय में लिखती हैं- ''वे 'शून्य' तत्त्व को शून्य ब्रह्म के रूप में स्वीकार करते समय उसे अपनी आस्तिक भावना से भी अभिमण्डित करना उचित समझते हैं। उन्होंने मृत्यु का दृश्यचित्रण करते हुए कहा है कि अन्ततोगत्वा सभी प्राणी शून्यरूप ब्रह्म में ही समा जाते हैं। हठयोग की साधना से प्रभावित होने के कारण उन्होंने 'शून्य' शब्द को 'सुषुम्ना' के वाचक अर्थ में तथा ब्रह्मरंध्र के व्यंजक अर्थ में भी प्रयुक्त किया है।''[1] ''शून्य शब्द का प्रयोग कबीरदास जी ने शून्यावस्था, शून्य सरोवर, शून्य चक्र, शून्य पदवी, शून्य भाव, शून्य मार्ग इत्यादि प्रकार से किया है।''[2] कबीर का शून्यवाद ब्रह्मवाद से प्रभावित है और इसी कारण उन्होंने शून्य-रूप ब्रह्म का वर्णन किया है।

अनिर्वचनीय तत्त्व रूप

निर्गुण ब्रह्म का विवेचन अनिर्वचनीय तत्त्व रूप में किये जाने की पद्धति प्राचीन काल ही से प्रचलित है। कबीर ने ब्रह्म का तत्त्वरूप में वर्णन किया है। वह कहते हैं-''वह ऐसा अनूपतत्त्व है जिसका कोई आकार नहीं है और जो पुष्प की सुगंध से भी सूक्ष्म है।''[3] कबीर ने निर्गुण ब्रह्म को अनिर्वचनीय कहा है। ''उनके अनुसार उस तत्त्व का इन्द्रियों द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता, क्योंकि 'बोलनां का कहिये रे भाई, बोलत बोलत तत्त नसाई।' अर्थात् उसे वाणी से नहीं बताया जा सकता, उसका बताना तत्त्व की अनभिज्ञता ही है।''[4] कबीर ने ब्रह्म को ''गूंगे का गुड़ गूंगै जांनां''[5] की उपमा दी है। गूँगा गुड़ के मिठास के विषय में कुछ भी नहीं कह सकता क्योंकि गूँगा वाणी से बोल ही नहीं सकता। अनिर्वचनीय ब्रह्म के सम्बन्ध में भी वाणी अशक्त ही है। कबीर ''ब्रह्मानुभूति को 'अनिवच कथा' कहते हैं जो

---

1 डॉ० ज्योत्स्ना दाधीच- कबीर का दार्शनिक चिंतन, पृ० 111

2 यज्ञदत्त शर्मा- कबीर साहित्य और सिद्धांत, पृ० 65

3 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन, पृ० 138

4 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन, पृ० 138

5 डॉ० ज्योत्स्ना दाधीच- कबीर का दार्शनिक चिंतन में उद्धृत, पृ० 112

कुल मिलाकर 'अनिर्वचनीयता' की ही द्योतक है।''[1] डॉ० रामजीलाल 'सहायक' के अनुसार-कबीर ने अनिर्वचनीय तत्त्वरूप ब्रह्म का वर्णन अनेक प्रकार से किया है-

(अ) ''ब्रह्म में निर्गुणता-वाचक विशेषणों का आरोप करके।

(ब) विश्वोत्पत्ति के पूर्व की अवस्था का वर्णन करके।

(स) विभावनात्मक वर्णनों के आधार पर।

(द) नकारात्मक शैली का प्रयोग करके।''[2]

अत: यह कहा जा सकता है कि कबीर का अनिर्वचनीय तत्त्व ब्रह्म अवर्णनीय, अकथनीय तथा अदृश्य है।

सहज रूप

यज्ञदत्त शर्मा के अनुसार-''कबीर ने शून्य और सहजावस्था का एकीकरण कर दिया है।''[3] यज्ञदत्त शर्मा डा० हजारी प्रसाद के मत को प्रकट करते हुए लिखते हैं-''कबीरदास प्राय:। 'सहज शून्य' का एक ही साथ प्रयोग करते हैं और कितनी ही जगह एक ही अर्थ में भी प्रयोग किया है।''[4]

(ग) अव्यक्त सगुण निर्गुण

''कबीर ने पूर्णब्रह्म का स्वरूप निर्गुण और सगुण के अंतर्सम्बन्धों में भी स्वीकार किया है। वे उसे अजर, अमर, अलख, अकथनीय, निराकर, वर्णविहीन, घटघटवासी, पिंडब्रह्मांडव्याप्त आदि-अंतविहीन तो कहते ही हैं, साथ ही साथ यह भी मानते हैं कि वह पिण्ड और ब्रह्माण्ड से भी परे है जिसे 'हरि' नाम से भी पुकारा

---

1 डॉ० ज्योत्स्ना दाधीच- कबीर का दार्शनिक चिंतन, पृ० 112

2 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन पृ० 139-140

3 यज्ञदत्त शर्मा- कबीर साहित्य और सिद्धांत, पृ० 65

4 यज्ञदत्त शर्मा- कबीर साहित्य और सिद्धांत में उद्धृत, पृ० 65

जाता है।''[1] यज्ञदत्त शर्मा के अनुसार ''कहीं-कहीं पर कबीरदास जी विचारों की तन्मयता में आकर भावनाओं में बह निकलते हैं और उन स्थानों पर आपने ब्रह्म का सगुण और निर्गुण रूप एक ही स्थान पर प्रदर्शित कर दिया है''[2] कबीर ने अपने ब्रह्म को सगुण निर्गुण भी कहा है जिसका उदाहरण यह पद है-

''संतों धोरवा कासूं कहिये।
गुण में निरगुण निरगुण में गुण है, बाटि छांड़ि क्यूं बहिये।।
अजरा अमर कथै सब कोई, अलख न कथणा जाई।
नाति सरूपवरण नहीं वाकै, घटि-घटि रह्यौ समाई।।
पिंड ब्रह्मांड कथै सब कोई, वाके आदि अरु अंत न होई।
प्यंड ब्रम्हांड छांडि जे कथिये, कहै कबीर हरि सोई।।''[3]

(घ) परात्पर रूप

डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत के अनुसार ''कबीर का ब्रह्म वास्तव में सगुण और निर्गुण सत, रज, तम सबसे अतीत है। यहाँ तक कि उसे उन्होंने 'तिहुँ लोक विवर्जित' तक कह डाला है। कबीर का सर्व विवर्जितवाद ही योगियों का द्वैताद्वैत विलक्षण वाद, वेदों का परात्परवाद और बौद्धों का अनिर्वचनीयता वाद और रहस्यवादी भक्तों का अद्‌भुतवाद है। कबीर के परात्परवाद पर इन सबकी छाया है। कभी तो वे अपने निर्गुण ब्रह्म को द्वैताद्वैत विलक्षण इन्द्रियातीत तत्त्व के रूप में ध्वनित करते हैं, कभी नेतिवाद और अनिर्वचनीयतावाद का आश्रय लेते हैं। उन्होंने कई बार उसे अद्‌भुत भी कहा है। ब्रह्म की परात्परता तो उन्होंने न मालूम कितनी बार प्रकट की है। यह सब वर्णन कबीर के ब्रह्म के सर्वातीत, परात्पर, सर्व विलक्षण अनिर्वचनीय

---

1 डॉ० ज्योत्स्ना दाधीच- कबीर का दार्शनिक चिंतन, पृ० 114
2 यज्ञदत्त शर्मा- कबीर साहित्य और सिद्धांत, पृ० 66
3 डॉ० ज्योत्स्ना दाधीच- कबीर का दार्शनिक चिंतन में उद्‌धृत, पृ० 114

निर्गुण तत्त्व के ही रूप में ही ध्वनित करते हैं। उनका ब्रह्म हिन्दुओं के राम योगियों के गोरख तथा मुसलमानों के एकेश्वर से विलक्षण है, किन्तु इन सब निरूपणों से उन्हें सन्तोष नहीं होता है। अन्त में कबीर यही कहते हैं कि ब्रह्म तत्त्व जैसा भी हो वह वैसा ही रहे। हमें तो उसके गुणों का ही वर्णन करना है।''[1]

''हरि जैसा तैसा उहि, रहो हरसि गुन गाथ।''[2]

5.3 222 ब्रह्म का व्यक्त रूप

''यद्यपि शुद्ध सत्ता अनेक रूपों में प्रकट होती है, तथापि युक्ति उन्हें यथार्थ नहीं मानती, तब तक यह स्वीकार करना पड़ता है कि जगत् के मूल कारण में ऐसी अनिर्वचनीय शक्ति है, जो वह वस्तुतः अद्वैत (अपरिणामी) होते हुए भी अनेक रूपों में अपने को उद्भासित करती है। आस्तिकवाद के शब्दों में इस दार्शनिक तथ्य को मायाशक्तिसम्पन्न सृष्टिकर्त्ता ईश्वर कह सकते हैं। यही सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ईश्वर या सगुण ब्रह्म है। संसार के समस्त विषय नाम रूप का परित्याग कर रूपान्तर में परिणत हो जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि वे अपने मूल-कारण सत्ता में विलीन हो जाते हैं और इसी से ईश्वर को लय कर्त्ता या संहारकारी भी कहते हैं।''[3] ''गीता में कहा है- ''अव्यक्त में चित्त की एकाग्रता करने वाले को बहुत कष्ट होते हैं क्योंकि इस अव्यक्त गति को पाना देहेन्द्रिय धारी मनुष्य के लिए स्वभावतः कष्टदायक है।''[4] इससे यह सिद्ध होता है कि भक्त साधकों को अव्यक्त में अनेक विशेष गुणों का आरोप करके सत्ता को व्यक्त जैसा कल्पित करना अनिवार्य हो जाता है। इसीलिये भक्त लोग सगुण-साधना की ओर अधिक उन्मुख हुआ करते हैं। भक्ति हृदय की सात्विक अनन्यासक्ति है। ''भक्ति के लिए श्रद्धा और प्रेम का हृदय में

---

1 डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत- कबीर की विचारधारा, पृ० 216

2 सं० श्यामसुंदरदास- कबीर ग्रंथावली, पृ० 255

3 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन, पृ० 147-148

4 डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत- कबीर की विचारधारा में उद्धृत, पृ० 201

जागृत होना आवश्यक है और इनके जाग्रत होने से ही मन इष्ट देव पर केन्द्रित हो सकता है। प्रेम और श्रद्धा को उत्पन्न करने के लिए ईश्वर में आकर्षण होने की नितान्त आवश्यकता है और आकर्षण के लिए उसमें सौंदर्य, सरलता, सौम्यता, माधुर्य और ज्ञान की आवश्यकता है। इन सब के साथ-ही-साथ भक्ति की दृढ़ता में पूर्व जन्म के संस्कार भी साथ देते हैं।''[1] डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत के अनुसार- ''इसमें कोई सन्देह नहीं कि कबीर जन्म से ही ऐसे संस्कार लेकर उत्पन्न हुए थे। जिनके प्रभाव से उनके हृदय में भगवान की अनन्य भक्ति जाग्रत हो उठी थी, किन्तु फिर भी प्रेम की स्थिरता के लिये कोई आश्रय अवश्य चाहिये। यह आश्रय तीन प्रकार के हो सकते हैं-

(क) ''भावना विनिर्मित।

(ख) बुद्धि विनिर्मित

(ग) प्रतीक के रूप में।''[2]

(क) भावना विनिर्मित

''भक्त जब अपनी भावना द्वारा अनेक दिव्य गुणों की कल्पना अपने आराध्य में करता है और एक विशिष्ट कल्पनाजन्य स्वरूप की भावना अपनी बुद्धि में धारण करता है, तो आराध्य का यह स्वरूप भावना-विनिर्मित दिव्य स्वरूप कहलाता है।''[3] कबीर का भावना विनिर्मित विग्रह दर्शनीय है। भावना के आवेश में भक्त अपने भगवान् के अन्दर उच्चतम गुणों की अनुभूति करता है। भगवान् के अत्यधिक निकट पहुंचने के लिए वह भगवान् से प्रणय-सम्बन्ध स्थापित करता है। लोक में प्राय: दो सम्बन्ध ऐसे हैं जिनमें प्रेम की चरम परिणति देखी जाती है। ये दो

---

1 यज्ञदत्त शर्मा- कबीर साहित्य और सिद्धांत, पृ० 62

2 डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत- कबीर की विचारधारा पृ० 202

3 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन पृ० 149

97-98

हैं-दाम्पत्य सम्बन्ध तथा वात्सल्य-सम्बन्ध। कबीर में दोनों सम्बन्ध पाये जाते हैं। वर-वधू के वैवाहिक सम्बन्ध से दाम्पत्य-जीवन का सम्बन्ध स्थापित होता है। कबीर ने अपने को दुलहिन और भगवान् को पति-रूप में कल्पना करके दाम्पत्य सम्बन्ध का रोचक वर्णन प्रस्तुत किया है-

''दुलहनीं गावहु मंगलाचार, हम घरि आये हो राजा राम भरतार।
तन रत करि मैं मन रत करिहूं, पंच तत बराती।
रामदेव मोरे पांहुनैं आये, मैं जोबन मैं माती।।''[1]

वात्सल्य-प्रेम अद्वितीय है। भक्त अपनी विनय-भावना द्वारा भगवान् से यह सम्बन्ध स्थापित करता है! भक्त अपनी भावना के द्वारा भगवान् को माता एवं पिता के रूप में कल्पित करता है तथा अपने आपको उनका पुत्र। कबीर में वात्सल्य-सम्बन्ध के वर्णन भी पाये जाते हैं। वे कहते हैं-हे भगवान् ! मैं तो तेरा पुत्र हूँ और तू मेरा पिता है हम दोनों एक ही स्थान में बास करते हैं।

'हौं पूत तेरा तू बाप मेरा, एकै ठाहरि दुहा बसेरा।।'[2]

भक्ति के लिये प्रेम के साथ-साथ भगवान् को द्रवित करने के लिये भक्त को अपनी क्षुद्रता और भगवान की महानता का प्रदर्शन करना पड़ता है। वह भगवान् में, विश्व के सभी सद्गुणों का आरोप करता है। जब वह विनय की भावना में बहता है तो अपने को क्षुद्र-से-क्षुद्र प्राणी मानता है और जब प्रेम की भावना में बहता है तो अपने को विरहणी के रूप में निरखता है। इन्हीं भावनाओं में भक्त अपने उपास्य देव का भक्तवत्सल और समदर्शी रूप चित्रित करता है। कबीर ने भी ऐसे ही भक्तवत्सल, अनन्त करूणामय ब्रह्म के प्रति अनन्य श्रद्धा से वशीभूत होकर भगवान् का भावनामूलक वर्णन किया है।

---

1 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन में उद्धृत, पृ० 152
2 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन में उद्धृत, पृ० 153

''भजि नारदादि सुकादि बंदित चरन पंकज भामिनी।
भजि भजसि भूषन पियामनोहर देव-देव सिरोवनी।।
X X X X X X X X X X X X X X
बहु पाप परबत छेदना भौ ताप दुरित निवारणा।
कहै कबीर गोविन्द भज परमानन्द बंदित कारणा।।''[1]

(ख) बुद्धि विनिर्मित

''भक्त अपनी बुद्धि के द्वारा भाँति-भाँति की कल्पना करता है और अपनी कल्पना के अनुकूल भगवान् के विशिष्ट स्वरूप एवं आकार की कल्पना करके अपनी बुद्धि में उस स्वरूप का निर्माण कर उसकी उपासना में दत्तचित्त होता है। इसे बुद्धिविनिर्मित स्वरूप कहते हैं।''[2] कबीर ने ब्रह्म के बुद्धिविनिर्मित स्वरूप का वर्णन किया है। भक्त लोग इस स्वरूप का वर्णन भगवान् की महान् महिमा और अनन्त शक्ति प्रकट करने के लिए करते हैं, किन्तु कबीर ने इन दोनों विशेषताओं के साथ-साथ उसमें दिव्य-सौन्दर्य को भी दिखाया है।

''कोटि सूर जाकै परगास। कोटि महादेव अरु कविलास।।
दुरगा कोटि जाकै मरदनु करै। ब्रह्मा कोटि वेद उचरै।।
X X X X X X X X X X X X X X
कंद्रप कोटि जाकै लबै न धरहि। अंतर मनसा हरहि।।
कहि कबीर सुनि सारिगपान। देहि अभै पहु माँगउ दान।।''[3]

ब्रह्म के बुद्धि-विनिर्मित स्वरूप के वर्णन अरस एवं शुष्क हो सकते हैं, परन्तु कबीर का वर्णन सरस एवं सौन्दर्यपूर्ण है। कबीर ने ब्रह्म में कर्तृत्त्व-शक्ति, संहार-शक्ति एवं धारण-शक्ति का भी आरोप किया है। कबीर का ब्रह्म न्यायकर्त्ता,

---

1 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन में उद्धृत, पृ० 151
2 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन, पृ० 150
3 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन में उद्धृत, पृ० 155

सर्वशक्तिमान है। उसमें अनन्त सामर्थ्य है। वह असम्भव को भी सम्भव कर सकता है। वह सबको उनके कर्मानुसार फल देने वाला है। कबीर का स्वामी अनेक विशिष्टताओं का भण्डार है। उसके गुणों का अन्त नहीं। ''सभी समुद्रों की स्याही बनायी जाय, सब वनों की लेखनी और समूची धरती का कागज बनाकर यदि उसके गुण लिखे जायँ, तो भी उनका लिखा जाना असम्भव है।''[1]

(ग) प्रतीकमय स्वरूप

''भक्त विश्व के अपरिमित शक्ति वाले विलक्षण पदार्थों के माध्यम से आराध्य के प्रति भक्ति-भावना का संयोजन करता है। इसे प्रतीकमय स्वरूप कहते हैं।''[2] भक्त अनेक प्रतीकों की योजना करके प्रतीकोपासना करता है। ये प्रतीक अमूर्त भी होते हैं और मूर्त भी। कबीर में प्रतीकमय ब्रह्म-वर्णन कम ही पाये जाते हैं। कबीर ने प्रतीकों का प्रयोग मन को ही ब्रह्म रूप मानने में किया है-

''मन लागा उन मन्न सौं, गगन पहुंचा जाइ।।''[3]

यहाँ 'उन मन्न' से तात्पर्य ब्रह्म ही से है। उन्होंने इसे स्पष्ट भी कर दिया है-

''कहु कबीर जो जानै भेउ। मनु मधुसूदनु त्रिभवण देउ।।''[4]

5.3 223 कबीरदास जी के राम

कबीर की वाणी में राम-नाम का अनेक स्थलों पर उल्लेख है। उनके मतानुसार ब्रह्म के अनेक और असंख्य नाम हैं। जिनसे उसे पुकारा जा सकता है। कबीर ने परम तत्त्व के लिए 'राम', 'हरि', 'गोविन्द', 'निरंजन', 'केशव',

---

1 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन पृ० 156
2 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन पृ० 150
3 सं० श्यामसुंदरदास- कबीर ग्रंथावली, पृ० 12
4 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन में उद्धृत, पृ० 157

'नारायण', जगजीवन', 'माधव', 'मुकुन्द', 'महादेव', 'गोपाल', 'शालिग्राम', 'रघुनाथ', 'सहज', 'शून्य', 'विश्वंभर', 'नरहरि', 'बीठुला', 'मुरारि', 'करीम', 'रहीम', 'अल्लाह', आदि नामों से सम्बोधित किया है। ब्रह्म के लिये प्रयुक्त किये गये इन नामों से कबीर की उदारता और विश्वात्मभावना का पता चलता है और साथ ही यह भी ज्ञात होता है कि वे सभी मतमतान्तरों में तादात्म्य और सामंजस्य लाना चाहते थे।

सगुणभक्ति-धारा के अनुसार राम को विष्णु का अवतार माना जाता है। लौकिक भाषा में उन्हें भगवान् रामचन्द्र अथवा दशरथ-पुत्र राम भी कहा जाता है। कबीर के द्वारा राम नाम का प्रयोग निर्गुण ब्रह्म के लिए किया गया है। कबीर कहते हैं-''मृग की नाभि में कस्तूरी की थैली होती है। उसकी सुगन्ध से उन्मत्त होकर मृग उसकी खोज में व्याकुल रहता है और इस बात को नहीं जान पाता कि सुगंध उसके अपने शरीर में ही है और इसी प्रकार विश्व के कण-कण में व्याप्त तत्त्व राम है, पर लोग उसे देख ही नहीं पाते। अतएव कबीर का राम सर्वव्यापी है, अरूप है।''[1]

''कस्तूरी कुंडलि बसै, मृग ढूढ़ै बन माँहि।
ऐसैं घटि घटि राम है, दुनिया देखै नांहि।।''[2]

कबीर का राम दाशरथि राम नहीं है। उनका राम सर्वत्र व्याप्त तत्त्व, पारमार्थिक सत्य, अजन्मा, निराकार ब्रह्म ही है। कबीर ने ब्रह्म के लिए राम शब्द का प्रयोग अत्यधिक रूप में किया है। निर्गुण, निराकार, अचिंत्य, अनन्त सामर्थ्यवान्, अलख, अविगत ब्रह्म ही कबीर के राम है।

---

1 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन, पृ० 161

2 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन में उद्धृत, पृ० 161

अत: संक्षेप में कहा जा सकता है कबीर का ब्रह्म निरुपण कुछ अपनी विशेषताएँ रखता है। ब्रह्म के व्यक्त और अव्यक्त स्वरूपों में से कबीर का प्रमुख प्रतिपाद्य भगवान् का अव्यक्त स्वरूप ही है। ब्रह्म के अव्यक्त स्वरूप का जितने प्रकार से निरूपण सम्भव हो सकता है, कबीर ने किया है। ब्रह्म के व्यक्त रूप के वर्णन में कबीर ने अधिकतर भावनामूलक तथा बुद्धिमूलक में ही विचार प्रकट किये हैं। कबीर की ब्रह्म सम्बन्धी धारणा प्रधान रूप से आध्यात्मिक है। कबीर ने अपने ब्रह्म का वर्णन कहीं पर भी शास्त्रीय शैली में नहीं किया है। उसकी अभिव्यक्ति अधिकतर उपदेशात्मक, भावनात्मक, रहस्यात्मक और बुद्धिमूलक शैली में ही हुई है।

5.3 3 गुरु रविदास और कबीरदास के जीवात्मा सम्बन्धी विचार

5.3 3 1 गुरु रविदास के जीवात्मा सम्बन्धी विचार

भारतीय चिन्तन में जीवात्मा को जानने और समझने का प्रयास बहुत प्राचीन काल से होता आ रहा है। ''जीवात्मा के स्वरूप का परिचय ऋग्वेद के प्रसिद्ध मंत्र 'द्वा सुपर्णा' में व्यक्त किया गया है। इस मंत्र में कहा गया है- ''सदा साथ रहने वाले, परस्पर सख्य-भाव रखने वाले दो पक्षी एक ही वृक्ष का आश्रय लेकर रहते हैं। उनमें एक जीवात्मा उस वृक्ष के फलों का उपभोग करता है, किन्तु दूसरा उनका उपभोग न करता हुआ साक्षी रूप में केवल देखता रहता है।''[1] वैदिक काल की बहुदेववादी विचारधारा उपनिषद् तक आते-आते आत्म-विचार में केन्द्रित हो गई थी। ''उपनिषद् के ऋषि इस परिणाम पर पहुंच गए कि शरीर, प्राण, मन, बुद्धि आदि आत्मा न होकर उसके बाह्योपकरण मात्र हैं। मूल तत्त्व तो आत्मतत्त्व है। यही समस्त पदार्थों में निहित है। यह प्रकट रूप से तो दृष्टिगोचर नहीं होता, किन्तु सूक्ष्मदर्शी

---

1 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन, पृ० 163

साधक बुद्धि से उसे देख लेते हैं। यह आत्मा सबमें निवास करती है।''[1] ''देहस्थ आत्मा ही जीव कहलाता है जीव के अन्तर स्थित पारमार्थिक तत्त्व आत्मा ही जीव का आधार भूत चैतन्य है।''[2] आत्मा निर्विशेष चैतन्य है और वही जीव को प्रकाशित करता है। ''जीव आत्मा से भिन्न नहीं और आत्मा जीव का सत्य स्वरूप ही है। इस प्रकार जीव ब्रह्म ही है, उससे भिन्न नहीं। देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि के संघात से अलग सत्य चैतन्य-मात्र स्वरूप ही आत्मा है। शरीर से अलग होकर जो अपना स्वरूप प्राप्त करता है, वही उसका पारमार्थिक रूप है। इस प्रकार शंकराचार्य ने जीव ब्रह्म की एकता का ही प्रतिपादन किया है।''[3] रविदास जी के पूर्व कई संतों ने आत्मा के स्वरूप का विशद् वर्णन किया है। इन संतों पर भारतीय चिन्तन का प्रत्यक्ष प्रभाव परिलक्षित होता है। रविदास जी ने भी जीवात्मा सम्बन्धी विचार प्रस्तुत किये हैं-

5.3 3 11 अद्वैतभाव

रविदास जी ने आत्मा का वर्णन अद्वैत वेदान्त के अनुसार किया है। रविदास जी अद्वैतवादी हैं। इसीलिए वे ब्रह्म तथा जीवात्मा में कोई तात्विक भेद नहीं मानते। उनके मतानुसार ब्रह्म और जीव में अद्वैत भाव है। उनमें कोई अंतर नहीं है। ब्रह्म और जीव में ऐसा ही भेद है जैसा सोने और सोने से बने आभूषण में, जल में और जल से उठी लहर में, सूत में और सूत से बने कपड़े में तथा पत्थर और पत्थर से बनी मूर्ति में। इन में मूलत: कोई अलगाव नहीं है, कोई अंतर नहीं है।

''कनक कुटक सुत पट जुदा,

रजु भुअंग भ्रम जैसा।

---

1 डॉ० नारायणप्रसाद बाजपेयी- भक्ति-काव्य की दार्शनिक चेतना, पृ० 39-40

2 डॉ० नारायणप्रसाद बाजपेयी- भक्ति-काव्य की दार्शनिक चेतना, पृ० 67

3 डॉ० नारायणप्रसाद बाजपेयी- भक्ति-काव्य की दार्शनिक चेतना, पृ० 67-68

जल तरंग पाहन प्रतिमा ज्यों,

ब्रह्म जीव दुति ऐसा।।''[1]

रविदास जी कहते हैं कि मेरे (जीव) और तेरे (ब्रह्म) में क्या अंतर? तू और मैं वास्तव में एक हैं, ठीक इसी प्रकार जैसे सोना और गहना तथा जल और तरंग-

''तोही मोहीं मोहीं तोही अंतरू कैसा,

कनक कटिक जल तरंग जैसा।।''[2]

5.3 3 12 द्वैतभाव

ब्रह्म और आत्मा का यह द्वैतभाव भ्रमजन्य है। यह माया के कारण होता है। ''अविद्या (माया अथवा अज्ञान) से ज्ञान दीपक मलिन हो जाता है। जीव माया में फंसकर अपने मूल रूप ब्रह्म को भूल जाता है। अपने कर्म बंधनों में बंधकर वह अनेक योनियों में भटकता चक्कर काटता रहता है। उसे पाप-पुण्य का कुछ भी ध्यान नहीं रहता और उसकी तू-मैं की भावना उग्र हो जाती है। रविदास जी का स्पष्ट मत है कि जब जीव का यह अहंभाव नहीं रहता तो उसका द्वैतभाव नष्ट हो जाता है और वह ब्रह्म रूप हो जाता है।''[3]

5.3 3 13 जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध

रविदास जी ने जीव और ब्रह्म का अंशांशिभाव प्रकट किया है। आपने जीव को ब्रह्म का अंश स्वीकार किया है। ''इसलिए ''सोई मुकुंद हमरा पित माता'' कहकर उन्होंने उससे अपना सम्बन्ध भी स्पष्ट कर दिया है।''[4] रविदास अपने इस

---

1 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद- रविदास दर्शन, पृ० 80

2 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद- रविदास दर्शन, पृ० 80

3 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद- रविदास दर्शन, पृ० 81

4 धर्मपाल मैनी- रैदास, पृ० 30-31

मत के समर्थन में सलिल और सागर का दृष्टान्त उपस्थित करते हैं। उनका विचार है कि जैसे सलिल सागर की लहर में प्रवेश करता है और जल तथा सागर की लहर मिलकर एक हो जाते हैं और इस प्रकार जल का जल में विलयन हो जाता है तथा उनमें कोई अन्तर नहीं रह जाता, उसी प्रकार जीव और ब्रह्म मिलकर एकाकार हो जाते हैं और उनमें कोई भिन्नता नहीं रह जाती।

''सलिल गवन कियो लहर महोदधि, जल केवल जल माहीं।''[1]

5.3 3 14 ज्योति, मन, आनन्द रूपों में वर्णन

महात्मा रविदास ने आत्मा का ज्योति, मन, आनन्द आदि रूपों में भी वर्णन किया है। ''नाथ-सम्प्रदाय में आत्मा को ज्योति-स्वरूप कहा गया है। गोरखनाथ के मतानुसार परमात्मा ने दो दीपकों (अव्यक्त) और (व्यक्त) को बनाया है जिनकी एक ज्योति से तीनों लोक जगमगा रहे हैं। रविदास जी ने गोरखनाथ से प्रभावित होकर आत्मा को ज्योति-स्वरूप कहा है। आत्मा के व्यावहारिक रूप जीव को कहा गया है कि वह अपने मन-मन्दिर में दीपक जलाकर प्रकाशित हो कर रहे। इस प्रकार ज्योति ज्योति से मिल सकेगी।''[2]

संक्षेप में कह सकते हैं रविदास जी ने आत्मा को परम तत्त्व का अंश माना है। आत्मा परमात्मा दोनों एक हैं। रविदास जी के अनुसार जीव माया आदि के भ्रम-जाल से जब मुक्त हो जाता है तब पुनः अपने अंशी अर्थात् परमात्मा में लीन हो जाता है। रविदास जी की वाणी में जीवतत्त्व विषयक वर्णन में वह व्यापकता नहीं जो कबीर-वाणी में है। फिर भी जहाँ रविदास जी ब्रह्म और आत्मा के एकत्व एवं अद्वयत्व का परिचय करते हैं, वहाँ उनकी वाणी सरल, स्पष्ट और सजीव लगती है।

---

1 स्वामी रामानन्द शास्त्री- संत रविदास और उनका काव्य, पृ० 188

2 डॉ० पदम गुरचरन सिंह- संत रविदासः विचारक और कवि, पृ० 119

5.3 3 15 मनुष्य

परमात्मा ने मनुष्य का निर्माण पांच तत्त्वों से किया है- ''पांच तत्त्व को यहु रथ साज्यौ, अर्थे ऊर्ध्व निवासा।''[1] इसी शरीर में जीवात्मा निवास करती है। परमात्मा द्वारा निर्मित सृष्टि के अनन्त जीवों में मनुष्य को सर्वोत्तम जीव कहा गया है क्योंकि इसी में रहकर आत्मा परमात्मा को प्राप्त करती है। अत: मनुष्य-योनि बहुत दुर्लभ है। रविदास जी ने इस योनि को दुर्लभ माना है-

''दुलभ जनमु पुनं फल पाइउ,
बिरथा जात अबिबेकै।।''[2]

''रविदास जी के अनुसार मनुष्य शरीर में स्थित आत्मा शरीर के नष्ट हो जाने पर दूसरे मनुष्य में प्रवेश पा लेती है-बिनसि गइआ जाइ कहूं समाना।''[3] रविदास जी ने मनुष्य को अपने जीवन में ही आत्मा को प्रबुद्ध कर परमात्मा में लीन होने का उपदेश दिया है।

5.3 3 16 कर्म-बन्धन

रविदास ने सांसारिक कर्म-बन्धन को एक 'भरम' ही माना है। इससे शीघ्रातिशीघ्र मुक्ति की वे प्रार्थना करते हैं और उनका विश्वास है कि एक मात्र ईश्वर ही उन्हें कर्म-बन्धन से मुक्ति दिला सकता है। ''सन्त रविदास की दृष्टि में 'कर्मबन्धन' और 'मोह-फाँस' एक समान हैं। दोनों का ही एक व्यापक और विस्तृत क्षेत्र है। पाँचों कर्मेंद्रियों का अस्तित्त्व उन्हें इसलिए 'पंचदोष'या दुखदायी जान पड़ता है क्योंकि वे जीव को कर्म के लिए विवश करती हैं।''[4]

---

1 डॉ० योगेन्द्र सिंह- संत रैदास, पृ० 164
2 डॉ० पदम गुरचरन सिंह- संत रविदास : विचारक और कवि में उद्धृत, पृ० 120
3 डॉ० पदम गुरचरन सिंह- संत रविदास : विचारक और कवि, पृ० 122
4 स्वामी रामानन्द शास्त्री- संत रविदास: और उनका काव्य, पृ० 193

रविदास जी के विचारानुसार मनुष्य-जीवन प्रभु-प्राप्ति के निमित्त ही प्राप्त होता है। अतः इसका सदोपयोग करना चाहिए।

5.3 3 2 कबीरदास के जीवात्मा सम्बन्धी विचार

''स्वरूप लक्षण की दृष्टि से जीवात्मा ब्रह्म का अंश है। अतः ब्रह्म के साथ उसका अंशांशि संबंध है। यह अंशांशि संबंध अद्वैत विचार के अनुकूल है। वहाँ जीवात्मा और ब्रह्म में विचार के धरातल पर अभिन्नता बताई गई है। नानात्व में प्रतिभासित होते हुए भी, वही सर्वत्र व्याप्त है। उसकी सोपाधिकता जगत् व्यवहार के लिए है।------ परमार्थ चिंतन में जो आत्मा है, वही व्यवहार में जीव या जीवात्मा कहलाती है। जब वह जीवात्मा है, तब वह मायाच्छन्न है और तभी उसमें नाम-रूप का नानात्व होता है। इसे यों कहा जा सकता है कि जब आत्मा या चैतन्यांश कर्तृत्त्व-भोक्तृत्त्व रूप सोपाधिकता से जुड़ जाता है, तभी वह जीवात्मा कहलाती है।''[1] कबीरदास जी की कृतियों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि आत्मा-सम्बन्धी विचार जहाँ भी आया है वह ब्रह्ममय होकर ही प्रस्फुटित हुआ है, स्वतन्त्र रूप से बहुत कम। कबीर ने आत्मा और परमात्मा की एकरूपता पर ही बल दिया है यही अद्वैतवाद का प्रधान विचार है। आत्मा का वर्णन कबीर की रचनाओं में भावनात्मक तथा विचारात्मक दोनों प्रकार से मिलता है। वास्तव में कबीर ने अध्यात्म के सभी मूल तत्त्वों को, भावना और बुद्धि, दोनों की ही कसौटी पर कसकर परखने का प्रयत्न किया है।

5.3 3 21 अद्वैतभाव

महात्मा कबीर ने जीवात्मा को सदैव ही एक तथा अद्वैत रूप माना है, जिसमें आत्मा और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं माना जाता। कबीर ने आत्मतत्त्व की एकता

---

1 सं० डॉ० विजयेन्द्र स्नातक- कबीर वचनामृत, पृ० 64

तथा अद्वैतता का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि जिस प्रकार पांच रंग की दस गायों का दूध एक ही रंग का होता है, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न नामरूपात्मक संसार में एक ही आत्मतत्त्व सभी के भीतर समान रूप से विद्यमान है-

''पंच वरन दस दुहिये गाइ, एक दूध देखौ पतिआइ।।
कहै कबीर संसा करि दूर, त्रिभवननाथ रह्या भरपूर।।''[1]

5.3 3 22 द्वैतभाव

जब जीव-ब्रह्म एक हैं तो फ़िर भेद क्यों है? कबीर इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि इसका कारण भ्रम है। ''माया के कारण जीवात्मा भ्रम से अपने को ब्रह्म से पृथक समझने लगता है। माया अथवा अज्ञान का आवरण हटते ही उसका भ्रम नष्ट हो जाता है और ज्ञान की अवस्था में वह प्रश्न करने लगता है कि हे राम ! मुझे तारकर तुम कहां ले जाओगे? यदि तुम मुझे अपने से भिन्न समझते हो तब तो मुक्ति की बात बताओ। अब जबकि मुझमें और तुममें कोई अन्तर नहीं है और तुम सभी में एक रूप से व्याप्त हो तो फिर भ्रम क्यों फैला रहे हो? जब तक मुक्ति का इच्छक और मुक्तिदाता में भेद देखा जाता है तब तक तत्त्व (ज्ञान) प्राप्त नहीं हो पाता।''[2] कबीर कहते हैं कि ''जो लोग द्वैतवाद में विश्वास रखते हैं, वे इसको अज्ञानवश जान नहीं पाते और उन्हें नर्क ही प्राप्त होता है।''[3] आत्मा एक और अद्वैत है। कबीर कहते हैं जिस प्रकार जल में पड़ा हुआ एक ही बिम्ब अनेक प्रतिबिम्बों के रूप में प्रतिभासित होता है उसी प्रकार एक ही आत्मा अनेक रूपों में दिखाई देता है-

''खंडित मूल विनास कहौ किम विगतह कीजै।
ज्यूं जल में प्रतिव्यंव त्यू सकल रामहि जाणीजैं।''[4]

---

1 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन पृ० 172
2 डॉ० नारायणप्रसाद वाजपेयी- कबीर-चिन्तन, पृ० 92
3 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन पृ० 172
4 डॉ० नज़ीर मुहम्मद- कबीर के काव्यरूप, पृ० 185

5.3 3 23 जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध

महात्मा कबीर जीव को ब्रह्म का अंश मानते हैं। उन्होंने स्पष्ट घोषित किया है ''कहु कबीर इहु राम कौ अंसु, जस कागद पर मिटै न मंसु''[1], कह कर अंशांशिभाव की ओर संकेत किया है। यह अंशांशिभाव अखण्डात्मक है। कबीर बूंद-समुद्र का उदाहरण देकर इसे समझाते हैं-

'' 'बूंद समांनी, समुंद में, सो कत हेरी जाइ।
'समुंद समांना बूंद में, सो कत खोज्या जाइ।।'[2]

इस अंशांशिभाव को स्पष्ट करने के लिए कबीर ने जल-कुंभ-न्याय का उदाहरण प्रस्तुत किया है-

''जल मैं कुंभ कुंभ मैं जल है, बाहरि भीतरि पानी।
फूटा कुंभ जल जलहि समांना,यहु तत कथौ गियानी।।'[3]

5.3 3 24 विविध रूपकों द्वारा जीवात्मा-वर्णन

कबीर ने जीवात्मा का वर्णन कई प्रकार से किया है। जीवात्मा के स्वरूप को व्यक्त करने के लिए कभी प्राण-रूप, कभी ज्योति-स्वरूप, वाणी- स्वरूप तथा पवन-रूप, कभी शब्द-रूप तो कभी मन-रूप आदि में वर्णन किया है।

प्राण-स्वरूप वर्णन

कबीर ने जीवात्मा के लिए प्राण शब्द का प्रयोग किया है-

''प्राण पंड कौं तजि चलै, मूवा कहैं सब कोइ।
जीव छताँ जामैं मरैं, सुषिम लखै न कोइ।।'[4]

---

1 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन पृ० 173
2 सं० डॉ० विजयेन्द्र स्नातक- कबीर वचनामृत, पृ० 64
3 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन में उद्धृत, पृ० 174
4 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन में उद्धृत, पृ० 175

कबीर का मत है कि मानव-शरीर आत्मा के चैतन्य से ही प्रकाशमान होता है और कार्य करता रहता है। आत्मा के शरीर से अलग हो जाने पर शरीर निर्जीव हो जाता है तथा वह किसी भी कार्य करने में समर्थ नहीं रहता।

ज्योति-स्वरूप

कबीर ने आत्मा को दीपक की ज्योति के समान तथा हंस रूप भी कहा है। शरीर रूपी मन्दिर में प्राण-दीपक की ज्योति के विलीन होने पर अन्धकार हो जाता है अर्थात् हंस (आत्मा) रूप पथिक के छोड़ जाने पर जीव को मृतक कहा जाने लगता है और लोग उसे घर से बाहर कर देते हैं-

''मंदिर मांहि झबूकती, दीवा कैसी ज्योति,
हंस बटाऊ चलि गया काढ़ौं घर की छोति।''[1]

वाणी-रूप

वाणी के प्रयोग से हम अन्तरतम के गूढ़ से गूढ़ भावों को प्रकट करके अपना आशय दूसरे पर व्यक्त करते हैं। कबीर को इसका आश्चर्य है कि भाँति-भाँति से वाणी स्वरूप जो व्यक्त हो रहा था, वह कहाँ चला जाता है, यह रहस्य उनसे कोई भी नहीं कहता-

''कबीर हंसा जीव मैं, कोइ न कहै समझाइ।
बिधि बिधि बाणीं बोलता, सो कत गया बिलाइ।।''[2]

पवन-रूप

प्राणी के जीवित रहने का एक लक्षण उसके श्वास-प्रश्वास का परिचालन है। यह श्वास-प्रश्वास-वायु द्वारा संचालित होते हैं। यही पवन जब शरीर से विलग जाती

---

1 डॉ० नारायणप्रसाद वाजपेयी- कबीर-चिन्तन, पृ० 94

2 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन, पृ० 177

है, तभी श्वास-प्रश्वास क्रिया स्थगित हो जाती है। कबीर जीवात्मा को पवन रूप कहते हैं-

''बिनसि जाइ कागद की गुड़िया,
जब लग पवन तबै लग उड़िया।।
X X X X X X X X X
पवन थक्यौ गुड़िया ठहरानी,
सीस धुनै धुनि रोवै प्रांनी।।''[1]

शब्द-रूप

कबीर जहां ब्रह्म को शब्द रूप कहते हैं वहां आत्मा को भी शब्द स्वरूप मानते हैं। शब्द ही समस्त ब्रह्माण्ड एवं पिण्ड में समाया हुआ है। अन्तर्बाह्य शब्द ही व्याप्त है। शब्द के छूट जाने पर ही मृत्यु हो जाती है-

''कबीर सबद शरीर मैं बिनि गुन बाजै तंति,
बाहरि भीतरि भरि रह्या,याथै छूटि मरंति।।''[2]

मन-रूप

कबीर ने आत्मा को मन-रूप कहा है। मन ही कोई वस्तु देता है, मन ही उस वस्तु को पाता है, बिना मन के कुछ भी नहीं होता। मन ही से यह समस्त सृष्टि, आकाश आदि है-

''मन दीयां मन पाइए, मन बिन मन नहीं होइ।

मन उनमन उस अंड ज्यूं, खनल अकासा जोइ।।''[3]

---

1 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन, पृ० 177
2 डॉ० नारायणप्रसाद वाजपेयी- कबीर-चिन्तन, पृ० 94
3 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन में उद्धृत, पृ० 178

प्रकाश – रूप

कबीर ने आत्मा को स्वयं प्रकाश स्वरूप भी कहा है। आत्म तत्त्व के स्वयं प्रकाश रूप को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं-

''कौतिग दीठा देह बिन, रविससि बिना उजास।
साहिब सेवा मांहि है वेपरवाही दास।''[1]

''यह प्रकाश स्वरूपी आत्मा ब्रह्मरन्ध्र में वृत्तियों को केन्द्रित करने पर देखी जा सकती है।''[2]

आनन्द – स्वरूप

कबीर ने आत्मा को आनन्द-स्वरूप कहा है-

''ते तौं आहि अनंद सरूपा''[3]

उपनिषद् के अनुकूल कबीर ने आत्मा को आनन्द का मूल कहा है-

''आनन्द मूल सदा पुरूसोत्तम, घट बिनसै गगन न जाई ले।''[4]

अत: यह कहा जा सकता है कि कबीर ने आत्म-निरूपण कई प्रकार से किया है। कबीर ने आत्मा और ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं माना है। उनके अनुसार जीवात्मा नित्य, मुक्त, शुद्ध, बुद्ध, अनन्त, असीम, निर्गुण, निराकार, निर्विकार, अजर, अमर, अविनाशी, चैतन्य एवं आनन्द-स्वरूप है।

5.3 3 25 जीव और ब्रह्म का तादात्म्य

डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत के अनुसार ''जीव ब्रह्म का तादात्म्य तीन प्रकार का हो सकता है- (क) भावात्मक (ख)यौगिक (ग) ज्ञानात्मक।''[5]

---

1 डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत- कबीर की विचारधारा में उद्धृत, पृ० 224
2 डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत- कबीर की विचारधारा, पृ० 224
3 डॉ० नारायणप्रसाद वाजपेयी- कबीर-चिन्तन, पृ० 95
4 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन, पृ० 179
5 डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत- कबीर की विचारधारा, पृ० 227

(क) भावात्मक

भावात्मक में ''भक्त को प्रेम-भाव से साधना करनी होती है।''[1] भक्त और रहस्यवादी दोनों ही के उपास्य अधिकतर साकार और सगुण होते हैं। अन्तर केवल इतना है कि रहस्यवादी का ब्रह्म निर्गुण सगुण तथा भक्त का केवल सगुण होता है।''[2] कबीर की ब्रह्म सम्बन्धी धारणा निर्गुण और कहीं-कहीं निर्गुण सगुण भी है। अत: उनकी भक्ति भावना रहस्य भावना में घुलमिल गई है। कबीर का रहस्यवादी चित्रण इसी भावात्मक तादात्म्य का सजीव उदाहरण है।

(ख) यौगिक

आत्मा का सगुण निर्गुण ब्रह्म से तादात्म्य योग के द्वारा भी सम्भव है। इस यौगिक तादात्म्य का भी सम्बन्ध रहस्यवाद से ही है। कबीर ने उन साधनाओं का वर्णन भी किया है जिससे यौगिक तादात्म्य को प्राप्त किया जाए।

(ग) ज्ञानात्मक

यज्ञदत्त शर्मा के अनुसार- ''ज्ञानी लोग आत्मा और परमात्मा में कोई वास्तविक भेद नहीं समझते। उनका मत है कि यह भेद माया-जन्य है। जब साधना द्वारा जीवात्मा इस माया के आवरण को चीर देती है तो आत्मा और परमात्मा का मिलन हो जाता है और जीवात्मा जीवन-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाती है। मोक्ष की भावना को व्यक्त करते हुए आत्मा और परमात्मा के इस सम्बन्ध का कबीरदास ने सुन्दर वर्णन किया है।''[3]

---

1 यज्ञदत्त शर्मा- कबीर साहित्य और सिद्धांत, पृ० 70

2 डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत- कबीर की विचारधारा, पृ० 277

3 यज्ञदत्त शर्मा- कबीर साहित्य और सिद्धांत, पृ० 70

संक्षेप में कहा जा सकता है कि कबीर के आत्मचिन्तन और ब्रह्म-निरूपण में तर्क-वितर्क के लिए कोई स्थान नहीं है। आपका आत्म-चिन्तन भी स्वानुभूति मूलक ही है। आपके आत्म वर्णन पर शंकर के मायावाद की छाया और उपनिषदों की स्पष्ट झलक है। कबीर आत्म तत्त्व की अद्वैतता और एकता में पूर्ण विश्वास करते हैं। वे आत्मा को स्वयं प्रकाश एवं ज्ञान रूप मानते हैं। आत्मा और ब्रह्म में अंशांशि भाव आपने प्रकट किया है। यह अंशांशिभाव भेदाभेदी न होकर पूर्ण अद्वैती ही है।

5.3 4 गुरु रविदास और कबीरदास के जगत् सम्बन्धी विचार

5.3 41 गुरु रविदास के जगत् सम्बन्धी विचार

''आचार्य शंकर ने त्रिकालबाधित वस्तु को ही सत्य माना है। वे नित्य वर्त्तमान रहने वाले पदार्थ को ही पारमार्थिक सत्य मानते हैं। इस दृष्टिकोण से ब्रह्म ही सत्य है और ब्रह्म एवं आत्मा के अभेद होने के कारण आत्मा भी त्रिकालबाधित होने से सत्य है। इसके अतिरिक्त समस्त दृश्यमान पदार्थ मिथ्या हैं। इस विचार से जगत् भी मिथ्या है। जगत् अनादि एवं व्यवहार काल में वर्त्तमान अवश्य है किन्तु वह अनन्त नहीं। अतएव व्यावहारिक दृष्टि से सत्य होते हुए भी तत्त्वत: वह असत्य है। पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म ही परम सत्य है अन्य सब मिथ्या हैं, भ्रम हैं, माया हैं। जो यह दिखाई दे रहा है, वह अविद्या का कारण है। अविद्या के नाश होने पर ज्ञानावस्था में आत्मानुभूति होते ही जीव ब्रह्म का तादात्म्य होकर जगत् का विलय हो जाता है।''[1]

''ब्रह्म में जगत् का अध्यास तीन प्रकार से होता है यथा-सीप में चांदी का, रज्जु में सर्प का तथा मरीचि में मरीचिका का। आचार्य शंकर ने जगत् प्रपंच को माया निर्मित होने के कारण रस्सी में प्रतीत होने वाले सांप तथा मृगतृष्णा की भाँति मिथ्या

---

1 डॉ० नारायणप्रसाद बाजपेयी- भक्ति-काव्य की दार्शनिक चेतना, पृ० 69-70

कहा है। जगत् को स्वप्न एवं जादू की भाँति असत् मानते हुए भी वे उसकी व्यावहारिक सत्ता से कभी इन्कार नहीं करते, किन्तु जीव ब्रह्मैक्य के साथ ही जगत् का नानात्व भी समाप्त हो जाता है।''[1] अद्वैतवादियों की ही भाँति संतकवि भी जगत् की पारमार्थिक सत्ता स्वीकार नहीं करते। इनकी धारणा है कि पारमार्थिक सत्ता तो केवल ब्रह्म की है और ब्रह्म ही सम्पूर्ण जगत् में व्यक्त हो रहा है!

रविदास जी ने जगत् का निरूपण दो रूपों में किया है-

- सैद्धान्तिक रूप
- व्यावहारिक रूप

5.3 411 सैद्धान्तिक रूप

सैद्धान्तिक रूप में संतों ने जगत् को बहुधा एक निषेधात्मक स्थिति ही ठहराया है। ''जब संत जगत् की व्याख्या करते हैं तब वे सैद्धान्तिक रूप से उसको मिथ्या, ब्रह्म पर ही अध्यारोपित विवर्त्त आदि मानते हैं जो कि भ्रम अथवा अविद्या के तिरोहित होने पर बाह्य दृश्य रूप न रहकर एक मात्र ब्रह्म ही रह जाता है।''[2] सैद्धान्तिक रूप से रविदास के द्वारा भी जगत् को माया का ही बाह्य प्रकाशित रूप मानकर उसे एक निषेधात्मक दृष्टि से देखा गया है। उनके अनुसार जगत् स्वयं में अस्तित्त्ववान न होकर ब्रह्म का ही स्वरूप है। रविदास जी संसार की नश्वरता की उपमा कुसुम्भा के फूल से करते हुए कहते हैं-

''जैसा रंगु कसुंभ का तैसा इहु संसारू।।
मेरे रमईए रंग मजीठु का कहु रविदास चमार।।''[3]

---

1 डॉ० नारायणप्रसाद बाजपेयी- भक्ति-काव्य की दार्शनिक चेतना, पृ० 71
2 डॉ० योगेन्द्र सिंह- संत रैदास, पृ० 58
3 डॉ० पदम गुरचरन सिंह- संत रविदास: विचारक और कवि, पृ० 124

''गुरु रविदास जी के विचारानुसार यह संसार स्वप्नवत् तथा मिथ्या इसी रूप में है जैसे कि एक राजा स्वप्न में भिखारी बन जाता है और अपने अक्षुण्ण राज्य के चले जाने पर भारी दु:ख अनुभव करता है, किंतु, जागते ही वह अपनी पूर्व स्थिति में आ जाता है और उसका राज्य खो जाने का दु:ख स्वप्न के समान ही जाता रहता है। रविदास जी का कहना है कि प्रभु से बिछुड़कर इस स्वप्नजगत् में आकर मनुष्य दु:ख उठाता है, लेकिन ज्ञान के उदय होते ही वह अपने मूल आनंदमय रूप में मिल जाता है और तब वह संसार के समस्त दु:खों-कष्टों से मुक्ति पा जाता है''[1]

''नरपति एकु सिंघासनि सोइआ सुपने भइआ भिखारी।
अछत राज बिछुरत दुखु पाइआ, सो गति भई हमारी।।''[2]

इस दृश्यमान जगत् को रविदास जी ने मिथ्या तथा विनाशशील कहा है- ''जो दीसै सो होइ बिनासा।''[3] रविदास जी ने जगत् को प्रभु का खेल (बाजी) कहा है-

''बाजीगर संग कहिये, बाजी कूं मरम हम जाना।
बाजी झूंठ, सांच बाजीगर, जाना मन पतियाना।।''[4]

रविदास जी के मतानुसार यह संसार परमात्मा की बाजी है। प्रभु 'बाजीगर' है और यह जगत् उसकी 'बाजी' है। बाजीगर सत्य है और यह बाजी झूठी है। अर्थात् यह संसार नश्वर है। इस बाजी के मर्म को वही जान सकता है जो बाजीगर के रंग में रंगा हुआ है।

---

1 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद- रविदास-दर्शन, पृ० 83-84
2 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद- रविदास-दर्शन, पृ० 83
3 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद- रविदास-दर्शन, पृ० 83
4 डॉ० पदम गुरचरन सिंह- संत रविदास: विचारक और कवि, पृ० 125

5.3 412 व्यावहारिक रूप

व्यावहारिक रूप में बहुधा संतों ने जगत् को विधेयात्मक रूप, एक कर्त्तव्य क्षेत्र अथवा तैयारी का क्षेत्र आदि माना है। व्यावहारिक रूप में इसका परिणाम संतों ने कभी भी निष्क्रियता या उदासीनता अथवा उच्छृंखलता नहीं होने दिया। ''जगत् को, उन्होंने विशिष्ट कर्त्तव्य-क्षेत्र माना और मानव जीवन को उचित कर्त्तव्य करते रहने का सुअवसर, चाहे इन कर्मों की प्रेरणा तत्कालीन विश्वास के अनुसार परलोक या लोक की मुक्ति से ही रही हो।''[1] जिस समय रविदास जी जब व्यावहारिक रूप में जगत् की बात करते हैं तब वह उसे एक सत्कर्म का क्षेत्र मानते हैं। रविदास जी इस दुःख भरे संसार को कर्म-क्षेत्र मानकर मनुष्यों को सत्कर्म करने का उपदेश देते हैं-

''अब की बेर सुकृत करीजा, बहुरि न यह गढ़ पाय बे।।''[2]

एक स्थल पर रविदास जी चेतावनी देते हुए कहते हैं कि मृत्यु के उपरांत तुझसे कर्मों का हिसाब लिया जायेगा-

''क्या तैं खर्चा क्या तैं खाया, चल दल हाल दिवान बुलाया।
साहब मांगै लेखा लेखी, भीड़ पड़ै तू भर भर देखी।''[3]

रविदास जी के अनुसार मानव-जीवन एक दुर्लभ उपलब्धि है-

''मानुषावतार दुर्लभ, तिहुं संगति पोच।''[4]

रविदास जी का मत है इसी मानव शरीर से हम सत्कर्म करते हुए अपने को पुनर्जन्म के बन्धन से मुक्त करा सकते हैं। वे मनुष्य शरीर की उपमा कच्चे घड़े से

---

1 डॉ० योगेन्द्र सिंह- संत रैदास, पृ० 58
2 डॉ० योगेन्द्र सिंह- संत रैदास, पृ० 60
3 डॉ० योगेन्द्र सिंह- संत रैदास, पृ० 61
4 सं० योगेश गुप्त- संत रैदास, पृ० 24

देते हैं और चेतावनी देते हैं कि इस जीवन को वृथा न खोकर इसका सदुपयोग किया जाना चाहिए-

''दुर्लभ जनम पुनिफल पाइयो, बिरथा जा न अविवेके।''[1]

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि रविदास जी ने जहाँ सैद्धान्तिक रूप से संसार को मिथ्या. स्वप्नवत् और नश्वर कहा है, वहीं व्यावहारिक रूप में संसार को कर्मक्षेत्र माना है और मानव जीवन को कर्त्तव्य एवं उचित कर्मों हेतु सुविधा प्राप्त अवसर माना है।

5.3 42 कबीरदास के जगत् सम्बन्धी विचार

''जगत् के सम्बन्ध में कबीर की धारणा अद्वैतवाद से अत्यन्त प्रभावित है। अद्वैतवाद में जगत् की सत्ता व्यावहारिक है पारिमार्थिक नहीं। सत्ताएँ चार प्रकार की मानी गई हैं- पारमार्थिक, व्यावहारिक, प्रातिभासिक और अलीक। ब्रह्म की सत्ता पारमार्थिक है। जगत् की सत्ता व्यावहारिक है, किन्तु उत्पत्ति की दृष्टि से वह प्रातिभासिक भी है। भ्रम पर आधारित सत्ता को ही प्रातिभासिक कहा जाता है।''[2] कबीर आध्यात्मिक विचार-प्रधान महापुरूष थे। अध्यात्मवाद के अनुसार ब्रह्म ही एकमात्र पारमार्थिक सत्ता है। नामरूपात्मक जगत् की पारमार्थिक सत्ता नहीं है। इस नामरूपात्मक जगत् में मूलसत्ता ब्रह्म व्याप्त है। सकल विश्व आत्मा की अभिव्यक्ति है, ब्रह्म ही इस विश्व का अधिष्ठान है। कबीर भी कहते हैं कि विश्वात्मा ब्रह्म जगत् में व्याप्त है और जगत् ब्रह्म में व्याप्त है, सर्वत्र ब्रह्म ही ब्रह्म है-

''खालिक खलक खलक मैं खालिक, सब घट रह्यौ समाई''[3]

---

1 सं० योगेश गुप्त- संत रैदास, पृ० 24

2 डॉ० नज़ीर मुहम्मद- कबीर के काव्यरूप, पृ० 187

3 सं० श्यामसुंदरदास- कबीर ग्रंथावली, पृ० 81

5.3 421 सृष्टि – सम्बन्धी जिज्ञासा

युग-युगान्तर से मनुष्य अपने सब ओर प्रकृतिक सौंदर्य एवं दृश्यों को देखकर आश्चर्यचकित होता रहा है। उसके मन में सृष्टि के रहस्य को जानने की जिज्ञासा उत्पन्न हुई। सृष्टि के रहस्यों को जानने के लिए उसने गवेषणा एवं अन्वेषण किया। ''विश्व के अत्यन्त प्राचीन ज्ञान-स्रोत वेदों में सृष्टि-जिज्ञासा के दर्शन होते हैं। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में सृष्टि-जिज्ञासा की सुन्दर झाँकी है। उपनिषद्ों में भी सृष्टि-विषयक जिज्ञासा का उल्लेख पाया जाता है।''[1] कबीर सत्यान्वेषी एवं तत्त्वान्वेषी थे। उनके मन में सृष्टि-जिज्ञासा का प्रकटीकरण स्वाभाविक था। उनकी कृतियों में सृष्टि-विषयक जिज्ञासा अनेक स्थलों पर देखने को मिलती है-

''कहो भइया अम्बर कासूं लागा, कोई जानेगा जाननहार सभागा।
अम्बर दीसै केता तारा, कौन चतुर ऐसा चितरनहारा।।'[2]

कबीर की नामरूपात्मक जगत् के आगे भी दृष्टि गयी। उन्होंने प्राणी-जगत् की ओर भी दृष्टिपात किया ।

''उपजै प्यंड प्रान कहां थैं आवै, मूवा जीव जाइ कहां समावै।।'[3]

कबीर को यह भी जिज्ञासा हुई कि यह विश्व किस क्रम से किसके द्वारा निर्माण किया गया? इसकी रचना हुई भी अथवा नहीं हुई? जहाँ मूलतत्त्व है, वहाँ कुछ भी या कुछ भी नहीं है!

''प्रथमे गगन कि पुहमि प्रथमें प्रभू, प्रथमे पवन कि पांणीं ।
प्रथमे चंद कि सूर प्रथमें प्रभू, प्रथमें कौन विनांणीं।।
X X X X X X X X X X X X X X
कहै कबीर जहां बसहु निरंजन, तहां कुछ आहि कि सुन्यं।।'[4]

---

1 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन, पृ० 202
2 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन, पृ० 203
3 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन में उद्धृत, पृ० 203
4 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन में उद्धृत, पृ० 203

कबीर की इन सृष्टि जिज्ञासाओं ने ही उन्हें सृष्टि के स्वरूप और विकास क्रम पर विचार करने के लिए प्रेरित किया था।

5.3 422 जगत् सत्ता का स्वरूप

''सभी प्रकार की प्रतीतियों का नाम जगत् या संसार है। समस्त जगत् या इसके प्रत्येक विषय को एकसा अन्ततम सत्य या पारमार्थिक सत्य नहीं कह सकते। जगत् जब नामरूपात्मक ही लिया जाता है, तब वह केवल व्यावहारिक दृष्टि से सत्य है या यों कहे कि प्रातिभासिक सत्ता की अपेक्षा अधिक सत्य है और पारमार्थिक सत्ता की अपेक्षा कम सत्य।''[1] कबीर ने संसार को सर्वत्र नश्वर, मिथ्या एवं स्वप्नवत् ही कहा है। कबीर कहते हैं-प्रगाढ़ निद्रा में मनुष्य भांति-भांति के स्वप्न देखता है जागने पर वे स्वप्न उसके लिए व्यर्थ हो जाते हैं । स्वप्न क्षण-भर के लिए ही सत्य-से थे, यों वे असत्य हैं। इसी प्रकार यह संसार भी स्वप्न के समान असत्य है-

''समझि विचारि जीउ जब देखा, यहु संसार सुपन करि लेखा।।''[2]

कबीर ने जगत् को सेंमल के फूल के समान कहा है-

''यहु ऐसा संसार है, जैसा सबंल फूल।
दिन दस के त्यौहार कौं, झूठै रंगि न भूलि।।''[3]

व्यावहारिक ज्ञान के लिए जगत् वास्तविक है। मनुष्य जब इस में उलझ जाता है और माया में फँसकर पारमार्थिक सत्य को भूल जाता है तथा अपने नित्य-मुक्त, शुद्ध-बुद्ध स्वभाव को बिसार देता है, तब यह जगत् दु:खमय है, असत्य ही है। कबीर ने जगत् के नामरूप-स्वरूप के लिए कहा है-

''जो तुम देखो सो यह नाँही,यह पद अगम अगोचर माँही।।''[4]

---

1 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन, पृ० 203
2 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन में उद्धृत, पृ० 204
3 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन में उद्धृत, पृ० 204
4 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन, पृ० 205

कबीर इस नाम-रूपात्मक जगत् को 'बाजी' अर्थात् खेल समझकर उसे कृत्रिम मानते हैं-

''बाजी का यह सरल पसारा बाजी मांहि रहै संसारा''[1]

''यह सब बाजी कृतिम है, साँच सुनो सब कोय''[2]

5.3 423 सृष्टि-विकास

डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत के अनुसार- ''कबीर की रचनाओं में कहीं पर भी व्यवस्थित सृष्टि विकास क्रम नहीं मिलता है। सृष्टियोत्पत्ति के सम्बन्ध में उनमें केवल दो एक स्थलों पर संकेत मात्र मिलते हैं। उनकी सृष्टियोत्पत्ति एवं विकास सम्बन्धी धारणा पूर्ण भारतीय ही है। केवल एकाध स्थल पर ही वे सूफी मत और इस्लाम से कुछ प्रभावित मालूम पड़ते हैं। भारतीय दर्शन में भी उनके सृष्टि विकास क्रम पर वेदान्त और सांख्यों का ही प्रभाव अधिक मालूम पड़ता है।''[3] कबीर सृष्टि-उत्पत्ति के पूर्व की स्थिति के सम्बन्ध में लिखते हैं-

''जब नहीं होते पवन नहीं पानी, तब नहीं होती सृष्टि उपानीं।
जब नहीं होते प्यंड न वासा, तब नहीं होते धरनि अकासा।
X X X X X X X X X X X X X X
जब नहीं होते गुरु न चेला, गम अगमे पंथ अकेला।''[4]

(क) ऊंकार से सृष्टि-रचना

कबीर का ओंकार से सृष्टि-उत्पत्ति का विचार वेद एवं उपनिषद् के अनुकूल है। यहाँ सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, विकास एवं विलय सब कुछ ओंकार

---

1 डॉ० नारायणप्रसाद वाजपेयी- कबीर चिन्तन में उद्धृत, पृ० 112
2 डॉ० नारायणप्रसाद वाजपेयी- कबीर चिन्तन में उद्धृत, पृ० 112
3 डॉ०गोविन्द त्रिगुणायत- कबीर की विचारधारा, पृ० 283
4 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन, पृ० 209

अर्थात् ब्रह्म ही को बताया गया है। सम्पूर्ण जगत् ब्रह्ममय है, ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति है। कबीर ने एकआध स्थल पर ऊंकार से सृष्टि की उत्पत्ति बतायी है-

''ऊँकार आदि है मूला, राजा परजा एकहि सूला।।''[1]

एक स्थल पर ऊंकार ने शब्द के द्वारा सृष्टि की रचना की, इसका उल्लेख है। ओंकार से जगत् की उत्पत्ति एवं विकार से विलय होता है। उसने शाश्वत शब्द से सृष्टि रचना की और उसमें वह व्याप्त हो गया-

''ऊंकारे जग ऊपजै, बिकारे जग जाइ।
अनहद बेन बजाइ करि, रह्या गगन मठ छाइ।।''[2]

(ख) नूर से सृष्टि-रचना

कबीर ने एकाध स्थल पर नूर से सृष्टि की उत्पत्ति बतायी है। कबीर के नूर शब्द के आधार पर कुछ लोग उनके सृष्टि विकास क्रम को सूफी कहते हैं-

''अला एकै नूर उपनाया, ताकी कैसी निंदा।
ता नूर थैं सब जग किया, कौन भला कौन मंदा।।''[3]

(ग) माया से सृष्टि की उत्पत्ति

कबीर ने माया से सृष्टि की रचना का उल्लेख कई स्थलों पर किया है। सृजनहार ने सृष्टि की रचना की। त्रिगुणमयी माया के द्वारा पाँच तत्त्वों के सम्मिश्रण से जरायुज, अण्डज, स्वेदज तथा उद्भिज्ज नाम की चार जीवों की कोटियों का निर्माण किया। इन जीवों के लिए पृथक्-पृथक् पाप, पुण्य, मान, अभिमान आदि बंधनों का भी निर्माण कर दिया।

---

1 सं० रामकिशोर शर्मा- कबीर ग्रंथावली (सटीक), पृ० 633
2 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन में उद्धृत, पृ० 210
3 सं० श्यामसुंदरदास- कबीर ग्रंथावली, पृ० 92

''एक बिनांनी रच्या बिनांन, सब अयांन जौ आपै जांन।।
सत सज तम थैं कीन्हीं माया, चारि खानि विस्तार उपाया।।
पंच तत ले कीन्ह बंधान, पाप पुनि मांन अभिमान।।
अहंकार कीन्हें माया मोहू, संपत्ति विपति दीन्हीं सब काहू।।''[1]

डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत कबीर की माया से सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में लिखते हैं- ''सांख्यों के समान वे भी त्रिगुणात्मक माया से सृष्टि का विकास मानते हैं। सांख्यों के 5 तत्त्व का भी निर्देश उनकी रचनाओं में कई बार मिलता है। इन सब के आधार पर कुछ लोग उनके सृष्टि विकास क्रम को सांख्यिक मान सकते हैं, किन्तु थोड़ा सूक्ष्म अध्ययन करने के बाद हम सरलता से इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि जिस प्रकार उन्होंने अन्य क्षेत्रों में भी वेदान्त मत का अनुसरण किया है, उसी प्रकार इस क्षेत्र में भी वेदान्त सम्मत मत का ही प्रगटीकरण करते हैं।''[2]

(घ) गुणोत्कर्ष द्वारा सृष्टि-उत्पत्ति

कबीर की कुछ उक्तियों से ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने सांख्यवादियों के गुण-परिणामवाद के अनुसार सृष्टि-वर्णन किया है। एक स्थल पर वे सृष्टि का लय क्रम दिखलाते हुए कहते हैं-

''पृथ्वी का गुण पानी सीखा, पानी तेज मिला वाहि।
तेज पवन मिल पवन सबद मिल, सहज समाधि लगावहिगे।।''[3]

डॉ० रामजीलाल 'सहायक' इस विषय में लिखते हैं- ''यहाँ तीन गुण, माया या प्रकृति, पाँच तत्त्व और सृष्टि के विलय-क्रम से कबीर का सृष्टि-विकास क्रम सांख्यिक कहा जा सकता है। मैं इससे सहमत नहीं हो सकता, क्योंकि सांख्यों की

---

1 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन, पृ० 211
2 डॉ०गोविन्द त्रिगुणायत- कबीर की विचारधारा, पृ० 284
3 डॉ०गोविन्द त्रिगुणायत- कबीर की विचारधारा में उद्धृत, पृ० 284

प्रकृति स्वतंत्र है, पर कबीर की माया ब्रह्माश्रित है। यहाँ (सत रज तम थैं कीन्हीं माया) माया त्रिगुणात्मक ब्रह्म के द्वारा प्रेरित अथवा सृजित है, स्वतंत्र नहीं है।''[1]

5.3 424 सृष्टि रचना में कारण – कार्य – सम्बन्ध

डॉ० ज्योत्स्ना दाधीच के अनुसार-''कबीर ने सृष्टिरचना के संदर्भ में कारण-कार्य-सम्बन्धों का भी उल्लेख किया है। उनकी रचनाओं में वर्णित ब्रह्म और जगत् के पारस्परिक सम्बन्ध को समझने के लिए उनकी विशेष उपयोगिता है। अपनी स्वानुभूति और सत्संगति के बल पर उन्होंने अनेक स्थलों पर ऐसी उक्तियाँ कही हैं जिनका तत्त्वबोध करने पर इस बात का पता चलता है कि कबीर ने भले ही कार्यकारण से सम्बन्धित दार्शनिक वादों का अध्ययन नहीं किया हो, फिर भी उनकी झलक उनकी रचनाओं में मिल ही जाती है।''[2]

(क) कबीर में आरम्भवाद या परमाणुवाद

वैशेषिक दर्शन के अनुसार जगत् का मूल कारण परमाणु है। ये परमाणु संख्या में असंख्य हैं। इन्हीं परमाणुओं के संयोग से सृष्टि का विकास हुआ है। इसे परमाणुवाद या आरम्भवाद कहते हैं। कबीर परमाणुवाद से सहमत नहीं है, वे इस प्रकार से सृष्टि-उत्पत्ति को स्वीकार नहीं करते।

(ख) कबीर में गुण – परिणामवाद

कबीर को सांख्यदर्शन का गुण परिणामवाद भी एक सीमा तक ही मान्य था। जिसमें कहा गया है कि मूल प्रकृति ही परिवर्त्तित हो कर जगत् के रूप में प्रकट होती है।

---

1 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन, पृ० 213

2 डॉ० ज्योत्स्ना दाधीच- कबीर का दार्शनिक चिंतन, पृ० 158

(ग) विवर्त्तवाद और कबीर

''किसी द्रव्य के विकार का आभास (जैसे अंधकार में रस्सी का साँप के रूप में दिखाई पड़ना विवर्त्त कहलाता है। विवर्त्तवाद इस बात को स्वीकार करता है कि कार्य पहले ही से अपने उपादान कारण में विद्यमान रहता है।''[1] यह अद्वैतवाद का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त का विवेचन अधिष्ठान की दृष्टि से किया जाता है। कबीर विवर्त्तवाद का समर्थन करते हैं। वे जड़-जगत् को वास्तविक सत्ता-स्वरूप स्वीकार नहीं करते।

(घ) अध्यासवाद और कबीर

अद्वैत वेदांत का दूसरा सिद्धान्त अध्यासवाद है। ''जहाँ जो वस्तु नहीं है उसे वहाँ कल्पित करना अध्यास कहलाता है। अवस्तु वस्तु में आरोप होना अध्यास है।''[2] कबीर अध्यासवाद के समर्थक हैं। जब वे ब्रह्म को पारमार्थिक सत्य कहकर जगत् को भ्रममात्र मानते हैं तो वह एक प्रकार से अध्यासवाद का ही समर्थन है।

(ङ) प्रतिबिम्बवाद और कबीर

यह भी अद्वैतवाद का एक सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार संसार ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है। जिस प्रकार प्रतिबिम्ब केवल दृष्टि ग्राह्य होता है, सत्य नहीं होता। उसी प्रकार यह संसार भी सत्य नहीं है। कबीर की कृतियों में प्रतिबिम्ब का वर्णन पाया जाता है। उनके अनुसार जिस प्रकार दर्पण में व्यक्ति का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार ब्रह्म भी जगत्-रूपी दर्पण में प्रतिबिम्बत होता है।

---

1 डॉ० रामजीलाल 'सहायक' - कबीर-दर्शन में उद्धृत, पृ० 215

2 डॉ० रामजीलाल 'सहायक' - कबीर-दर्शन, पृ० 217

(च) अवच्छेदवाद और कबीर

अद्वैतवादियों का एक सिद्धान्त अवच्छेदवाद है। कबीर ने अवच्छेदवाद के समर्थन में जलाशय और घड़े की उपमा दी है। ''जलाशय में उसी के जल से भर कर कई घड़े रखे जायँ। उन घड़ों में जल अलग-अलग दिखाई देगा और उसे हम घड़े का जल तथा जलाशय के जल के नाम से अलग-अलग कहते हैं। यद्यपि जल वस्तुत: एक ही है, केवल घड़ों की उपाधिमात्र से पृथक्-पृथक् दिखाई पड़ता है। जब घड़े फूट जाते हैं, तो घड़े और जलाशय का पानी एक दूसरे में मिल जाता है और भेद मिट जाता है। इसी प्रकार ब्रह्म एक है, माया और भ्रम से नामरूप में भासित होता है। अज्ञान मिट जाने पर उसको हम समझ पाते हैं।''[1]

(छ) सर्वात्मवाद और कबीर

कबीर में सर्वात्मवाद भी पाया जाता है। ''ब्रह्म की चराचर जगत् में व्याप्ति सिद्ध करते समय जब वे उसे 'साधो एक आप जग मांही'' शीर्षक पद में व्यक्त करते हैं तो उनकी रचनाओं में 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' का सर्वात्मवाद झलकने लगता है।''[2]

(ज) ब्रह्म-परिणामवाद और कबीर

''यह मत विशिष्टद्वैतवादियों का है। इसके अनुसार कारणावस्था में ब्रह्म का सूक्ष्म शरीर उसमें लीन, व्यक्तिगत आत्माओं और प्रकृति तत्त्वों से बना है। कार्यावस्था में जब सृष्टि उत्पन्न होती है, यह शरीर ही विकसित होता है। यद्यपि ब्रह्म सदा अव्यक्त और अव्यय ही बना रहता है। यही ब्रह्म परिणामवाद है।''[3] कबीर ब्रह्म और

---

1 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन, पृ० 218

2 डॉ०ज्योत्स्ना दाधीच- कबीर का दार्शनिक चिंतन, पृ० 159

3 डॉ०गोविन्द त्रिगुणायत- कबीर की विचारधारा, पृ० 287

जीवात्मा में तत्त्वत: कोई भेद नहीं मानते। कबीर ने एकआध स्थल पर ब्रह्म-परिणामवाद की ओर संकेत किया है-

''तलि करि साषा ऊपरि करि मूल, बहुत भांति लागे जड़ फूल।।''[1]

इससे ब्रह्म-जगत् का सम्बन्ध प्रतीत होता है। इस उक्ति के मूल में ब्रह्म-वृक्ष की कल्पना है। ''सृष्टि और ब्रह्म के सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए प्राय: प्राचीन ग्रंथों में वृक्ष का रूपक कल्पित किया गया है। महाभारत में उसे ब्रह्म वृक्ष कहा गया है। उपनिषद्ों में यही सनातन अश्वस्थ वृक्ष के नाम से वर्णित है। कठोपनिषद् में उसका वर्णन इस प्रकार किया गया है-''ऊर्ध्वमूलोडवाक्शास्त्र एषोड़ श्वस्थ: सनातन:।'' अर्थात् जिसका मूल ऊपर की ओर है तथा शाखाएँ नीचे की ओर हैं, ऐसा यह वृक्ष अनादि और सनातन है। कबीर ने उपनिषद्ों के इस रूपक को ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया है।''[2] संसार वृक्ष के इस रूपक से ब्रह्म और संसार का सम्बन्ध स्पष्ट है।

अत: यह कहा जा सकता है कि कबीर की सृष्टि सम्बन्धी जिज्ञासा अत्यन्त तीव्र है। कबीर का सृष्टि विकास क्रम बहुत कुछ वेदान्तानुकूल ही है। कहीं कहीं पर उन पर सांख्यों का प्रभाव दिखाई पड़ता है। डॉ० नारायणप्रसाद वाजपेयी लिखते हैं-''जगत् के सम्बन्ध में कबीर अद्वैत वेदान्त के अनुसार विवर्त्तवादी हैं और शंकराचार्य के मायावाद के ही अधिक समीप हैं। जिसके अनुसार ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है, जीव ही ब्रह्म है; अन्य नहीं।''[3]

---

1 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन, पृ० 220

2 डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत- कबीर की विचारधारा, पृ० 288

3 डॉ० नारायणप्रसाद वाजपेयी- कबीर-चिन्तन, पृ० 115

5.3 5 गुरु रविदास और कबीरदास के माया सम्बन्धी विचार

'' 'मा' का अर्थ है नहीं और 'या' का अर्थ है जो अर्थात् जो है नहीं, वह माया है। वस्तुत: माया का कोई अस्तित्त्व नहीं है। वह न सत् है और न असत् वरन् अनिर्वचनीय है। वह सब विशेषणों से युक्त एवं अनन्त शक्ति-सम्पन्न है। इस दृश्यमान् नानात्व का कारण अविद्या ही है। नाम रूप प्रपंचात्मक है और ब्रह्म अप्रपंचात्मक। माया कल्पित है और उसी से जगत् की उत्पत्ति होती है। शंकर के अनुसार जब माया ही मिथ्या है तो उसकी सृष्टि जगत् भी मिथ्या है। माया के कारण ही अपरिणामी ब्रह्म नाम रूपात्मक भिन्न प्रतीत होने वाले जगत् में अवभासित होता है। जगत् माया का परिणाम और ब्रह्म का विवर्त्त है। वह प्रतीति मात्र है, उसका (जगत् का) सत्य ब्रह्म है।''[1] आचार्य शंकर के अद्वैतवाद का मूल मायावाद ही है। वे इस माया का दूसरा नाम अविद्या बतलाते हैं। माया को अविद्या इसलिए कहा जाता है कि वह ज्ञान विरोधिनी है। ज्ञान उपस्थित होते ही वह विलीन हो जाती है।

''माया की दो शक्तियाँ हैं- (क) आवरण और (ख) विक्षेप। माया की इन्हीं दो शक्तियों के कारण ब्रह्म का वास्तविक रूप तिरोहित हो जाता है और उसमें अवस्तु रूप जगत् की प्रतीति होने लगती है। आवरण शक्ति तमोरूपा है और विक्षेप शक्ति रजो रूपा। ये दोनों शक्तियाँ एक-दसरे की पूरक हैं। पहली शक्ति के द्वारा वस्तु का वास्तविक रूप तिरोहित कर दिया जाता है और दूसरी के द्वारा एक नवीन वस्तु की सृष्टि हो जाती है।''[2] संतों के माया विषयक विचार स्वामी शंकराचार्य के माया-निरूपण से मिलते जुलते हैं। संतों ने अपनी रचनाओं में बार-बार माया विषयक विचारों को व्यक्त किया है और अपने वर्णनों में माया की कटु एवं तीव्र निन्दा की

---

1 डॉ० नारायणप्रसाद बाजपेयी- भक्ति-काव्य की दार्शनिक चेतना, पृ० 63-64

2 डॉ० नारायणप्रसाद बाजपेयी- भक्ति-काव्य की दार्शनिक चेतना, पृ० 66

है। माया तत्त्व के चित्रण की यह प्रवृत्ति वैदिक काल से ही प्रचलित है। वेदों में 'माया' शब्द का प्रयोग रूप बदलने के अर्थ में हुआ है। उपनिषद्ों में माया का निरूपण नामरूप के अर्थ में हुआ है। गीता में माया को भ्रम, अविद्या कहा गया है।

5.3 51 गुरु रविदास के माया सम्बन्धी विचार

''इस संसार में निर्गुण और सगुण दोनों मिले हुए हैं। निर्गुण तो ब्रह्म है, जो अजर है, अमर है, शाश्वत है, निश्चल है, अखण्ड है, अनादि है, निष्कलंक और निखिल है। सगुण माया है, जो साकार है, नश्वर है, चपल और चंचल है। ब्रह्म केवल निरूपाधि है और माया उपाधिरूप है। माया का भास होता है, ब्रह्म का नहीं। माया की रचना होती है उसका नाश भी होता है किन्तु ब्रह्म की न तो रचना होती है और न उसका नाश ही। माया अज्ञानी को अच्छी लगती है किन्तु ज्ञानी उससे दूर भागता है माया का विस्तार सर्वत्र है, उसमें ब्रह्म की स्थिति छिपी रहती है।''[1] प्राणी को ब्रह्म से दूर रखने में 'माया' का वही स्थान है जो सूफी-मत में 'बन्दे' को खुदा से दूर रखने में 'शैतान' का है। काम, क्रोध, मद, लोभ और मोह आदि माया के अस्त्र-शस्त्र हैं जो मनुष्य मात्र पर अपना प्रभुत्व कायम किए रहते हैं तथा उसे ईश्वर-भक्ति की ओर उन्मुख ही नहीं होने देते। रविदास ने भी इस बहुरूपिणी माया का परिचय देते हुए, प्राणी को सावधान किया है।

5.3 511 माया का विधेयात्मक रूप

डॉ० योगेन्द्र सिंह के अनुसार ''माया के अस्तित्त्व को व्यावहारिक रूप में लगभग सभी सन्तों ने स्वीकार किया है। माया को अनिर्वचनीय कहते हुए शंकराचार्य ने भी व्यावहारिक रूप में माया को अस्तित्त्ववान माना है। रैदास ने अन्य सभी संतों

---

1 स्वामी रामानन्द शास्त्री- संत रविदास और उनका काव्य, पृ० 194

द्वारा प्रतिपादित माया के विधेयात्मक कल्याणकारी रूप की ओर बहुत कम दृष्टिपात किया है। उन्होंने स्पष्टत: तो माया के कल्याणकारी रूप की कहीं चर्चा नहीं की है, हाँ, केवल एकआध स्थल पर व्यावहारिक रूप से माया के ही अंग पाँच-पच्चीस के द्वारा ब्रह्म प्राप्ति का मार्ग दिखाने का सांकेतिक आभार अभिव्यक्त किया है।''[1]

''पाँचो मेरी सखी सहेली, तिन-विधि दई दिखाई।''[2]

अत: यह कहा जा सकता है कि रविदास जी ने माया के विधेयात्मक और कल्याणकारी रूप की ओर अधिक दृष्टिपात नहीं किया है।

5.3 512 माया का निषेधात्मक रूप

डॉ० योगेन्द्र सिंह रविदास के माया के निषेधात्मक रूप पर अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखते हैं- ''रैदास ने माया के मात्र निषेधात्मक रूप का ही अधिक वर्णन किया है। माया की यह निषेध-रूपता दो रूपों में अभिव्यक्त हुई है-प्रथमत: उसके अनस्तिव विषयक प्रश्न पर और द्वितीय उसके द्वारा जीवन तथा साधना में उत्पन्न होने वाली हानियों के कारण।।''[3]

(क) माया का अनस्तित्त्व रूप

''जहाँ तक माया के अनस्तित्त्व का प्रश्न है, यह निषेध-स्थिति भी दो रूपों में पाई जाती है-प्रथम तो वैचारिक रूप से ही उसको अनस्तित्त्ववान माना गया है, द्वितीय रूप यह है कि वह नष्टप्राय है, नश्वर है।''[4] दार्शनिक दृष्टि से यह दृष्टियाँ कुछ भेदयुक्त हैं; किन्तु व्यावहारिक रूप में उनका प्रभाव तथा उनके द्वारा उत्पन्न माया के प्रति प्रतिक्रिया एक ही सी होती है।

---

1 डॉ०योगेन्द्र सिंह- संत रैदास, पृ० 54
2 डॉ०योगेन्द्र सिंह- संत रैदास, पृ० 54
3 डॉ०योगेन्द्र सिंह- संत रैदास, पृ० 54
4 डॉ०योगेन्द्र सिंह- संत रैदास, पृ० 54

अनस्तित्त्ववान

माया को अनस्तित्त्ववान मानते हुए रविदास जी कहते हैं कि यह माया पूर्णत: झूठ है-

''झूठी माया जग डहकाया, तौ तीन ताप दहै रे।''[1]

रविदास जी माया को थोथी (मिथ्या) भी कहते हैं-

''यहु माया सब थोथरी भक्ति प्रतिकार।

कहै रैदास सत वचन गुरु के सो जीव तें न बिसार।।''[2]

गुरु रविदास माया के अनस्तित्त्व को एक सुन्दर बिम्ब देकर स्पष्ट करते हैं-

''थोथो जनि पछोरौ रे कोई। जोई रे पछोरौ जा में निज कन होई।।

थोथी काया थोथी माया। थोथा हरि बिज जनम गंवाया।।''[3]

नश्वर रूप

यदि माया का अस्तित्त्व ही नहीं है, तो उसका नाश कैसे होता है। यह प्रश्न दर्शन का ही एक जटिल प्रश्न है, इससे यह कहा जा सकता है कि माया पूर्णत: अनस्तित्त्वमय नहीं है। शंकराचार्य ने इसी विचित्र स्थिति का स्पष्टीकरण माया को अनिर्वचनीय कहकर किया था। रविदास भी उसी अनिर्वचनीयता की जैसी स्थिति में बोलते हैं-

''माधवे का कहिये भ्रम ऐसा, जैसा मानिये होय न तैसा।।''[4]

व्यावहारिक रूप में हम माया को अस्तित्त्ववान मानकर चल सकते हैं किन्तु वह भी लेशमात्र में नाशवान है। रविदास ने इसकी नाशवानता पर कहा है-

''जो दीसै सो सकल विनास, अनदी है, सो नहीं बिसवास।।''[5]

---

1 डॉ० रमेश मेहरा- भक्त रविदास, पृ० 64
2 डॉ० रमेश मेहरा- भक्त रविदास, पृ० 64
3 डॉ० रमेश मेहरा- भक्त रविदास, पृ० 64
4 डॉ० योगेन्द्र सिंह- संत रैदास, पृ० 55
5 डॉ० रमेश मेहरा- भक्त रविदास, पृ० 65

(ख) माया का हानिकारक रूप

रविदास ने माया के इस हानिकारक रूप को बड़ा प्रभावशाली माना है। उनके कथनानुसार सम्पूर्ण जगत् ही माया के वश में आ जाता है। उसके प्रभाव से बालक, वृद्ध, युवक, स्त्री-पुरूष, योगी-साधु, सन्यासी और यहाँ तक कि देवता भी नहीं बच पाते हैं-

''..... भाया सब जग खाया।
महा प्रबल सब ही सन,यह सुर मुनि नर भरमाया।
बालक बृद्ध तरून अति सुन्दर, नाना भेस बनावै।
जोगि जती तपी सन्यासी, पण्डित रहन न पावै।
'.....जो देखै सो भूलि रहै, वा का चेला मरम न पावै।
खण्डि ब्रह्माण्डि लोक सब जीनै, इहि विधि तेज जनावै।।''[1]

माया के इस हानिकारक प्रभावशाली रूप के दो पक्ष कहे जा सकते हैं-

(क) स्थूल माया (ख) सूक्ष्म माया।

संतों ने माया के दोनों ही रूपों से बचने का उपदेश दिया है।

(क) स्थूल माया

स्थूल माया में सम्पूर्ण बाह्य आकर्षण आते हैं जैसे-परिवार, धन-सम्पत्ति, घर-द्वार, आदि। रविदास ने स्थूल माया का प्रतीक सम्पूर्ण परिवार तथा सारा ही जगत् माना है। इससे बचने के लिए आपने चेतावनी तक दी है। उसे परस्त्री मानकर उसके प्रति आसक्ति दुष्परिणामों की ओर संकेत किया है-

''जम छ डिगम डोरि छै कंकण, परत्रिया लागो जानि रे।
होइ रस-लुब्धि, रमें यहु मूरख, मन पछितावै अजान रे।
पाँच मिल्यो छै धर्म निबोली, तू देखि देखि फल चाखि रे।।
परत्रिया संग भलो जे हौवे, तो राणा रावण देखि रे।''[2]

---

1 डॉ० योगेन्द्र सिंह- संत रैदास, पृ० 56

2 डॉ० योगेन्द्र सिंह- संत रैदास, पृ० 163

माया के इस स्थूल रूप की भर्त्सना गुरु रविदास की वाणी में कतिपय अन्य सन्तों की वाणी की अपेक्षा उतनी मुखर नहीं हुई है।

(ख) सूक्षम माया

सूक्ष्म माया में मनुष्य के आंतरिक मनोविकार माने गये हैं । जिनमें प्रमुखत: काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार और त्रिगुण-सत, रज, तम आदि प्रमुखत: आते हैं। संतों का मत है यह सूक्ष्म माया अति प्रबल होती है और इसके प्रभाव से बचना कठिन है। रविदास ने सूक्ष्म माया के अंगों के विषय में पर्याप्त विशद् रूप से कहा है। कहीं वे उसके प्रभाव से मुक्त होने के लिये चेतावनी देते हैं। तो कहीं स्वयं ही इस सूक्ष्म माया से दु:खी होकर एक विनयपूर्ण सत्य का परिचय दिया है-

''माया मोहिला काना, मैं जन सेवक तेरा।
संसार प्रपंच में व्याकुल, परमानन्दा,
त्राहि त्राहि अनाथ नाथ गोविंदा।''[1]

रविदास कहते हैं उनका मन पाँचों इंद्रियों के वश में आकर चंचल हो रहा है, साधना में स्थिर नहीं होता-

''नाथ कछु अनजानो, मन माया के हाथ बिकानो।
चंचल मनुआ चहुं दिसि धावै, पाँचों इंद्री फिर न रहावै।''[2]

इसके अतिरिक्त रविदास त्रिगुणात्मकता को भी ब्रह्म और जीव के मिलन में बाधक मानते हैं-

''त्रिगुण योनि अचेत सम्भव, पाप पुण्य असोच।
मानुषावतार दुर्लभ तिहुं संगति पोच।''[3]

---

1 डॉ०योगेन्द्र सिंह- संत रैदास, पृ० 57
2 डॉ०योगेन्द्र सिंह- संत रैदास, पृ० 57
3 डॉ० रमेश मेहरा- भक्त रविदास, पृ० 67

(ग) माया से छुटकारा

गुरु रविदास ने इस विकट तथा अति प्रबल माया से छुटकारा पाने के लिये राम-नाम के स्मरण को कहा है-

''कहै 'रविदास' राम जपि रसना, माया कैसे संग रहै रे।''[1]

संक्षेप में कह सकते हैं कि रविदास जी ने माया को स्वतन्त्र सत्ता न मानकर परमात्मा के अधीन माना है। माया के स्थूल और सूक्ष्म दोनों रूप भ्रम हैं, मिथ्या हैं। इन से बचने के लिए गुरु की शरण लेनी चाहिए।

5.3 52 कबीरदास के माया सम्बन्धी विचार

''माया का अर्थ है ईश्वर की विचित्रार्थ-सर्गकारी (अद्भुत विषयों की सृष्टि करने वाली) शक्ति।''[2] कबीर के उद्भव से पूर्व अद्वैतवादी शंकराचार्य की इस मान्यता का बोलबाला था कि-

''ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैवः नापरः।''[3]

अर्थात् एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है। यह जगत् मिथ्या या असत्य है, किन्तु माया के प्रभाव के कारण सत्य प्रतीत होता है, तथा आत्मा ब्रह्म का ही अंश है अथवा जीव ब्रह्म ही है। कबीर ने भी अपनी कृतियों में माया का वर्णन किया है। कबीर की अद्वैतवादी सिद्धान्त में प्रगाढ़ आस्था रही है। अतः कबीर ने अद्वैतवादियों की भांति माया की घोर निन्दा की है। आपने सन्तों को माया से बचने की बार-बार चेतावनी दी है।

---

1 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद- रविदास-दर्शन, पृ० 82

2 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन, पृ० 188

3 डॉ० पदम गुरचरन सिंह- संत रविदासः विचारक और कवि में उद्धृत, पृ० 60

5.3 521 माया – तत्त्व

''कबीर ने माया को अज्ञान तथा भ्रमरूप माना है जो बुद्धि में भ्रम उत्पन्न कर उसे विकारयुक्त बना देती है। उसके कारण असत् में सत् की प्रतीति होने लगती है जिसके कारण जीव भ्रमजाल में फंसकर परम तत्त्व का ज्ञान भूल जाते हैं।''[1] इस माया के भ्रम के कारण ही जो जैसा नहीं है उसमें वैसी ही प्रतीत होने लगती है।''जिस प्रकार सत्य रस्सी को रात्रि के अन्धकार में असत्य सर्प समझ कर उससे डंसे जाने का भय सवार हो जाता है। उसी प्रकार जीव भी भ्रमरूप झूठ को देखकर डर जाता है। बिना सर्प के दुनियाँ के डँसे जाने को ही कबीर माया ठहराते हैं।''[2]

''ज्यूं रजनी रजु देखत अंधियारी, उसे भुवगंम बिन उजियारी।
झूठ देखि जीव अधिक डराई, बिनां भुवंगम डसी दुनियांई।।'[3]

इस भ्रम का निराकरण रात्रि के अवसान पर जब सूर्य का प्रकाश होता है तब मनुष्य रज्जु को सर्प नहीं समझता, उसका भ्रम दूर हो जाता है और इसी प्रकार ज्ञान हो जाने पर मनुष्य की बुद्धि पर पड़े हुए माया के आवरण का उच्छेद हो जाता है।

''रजनीं गत भई रवि परकासा, भरम करम धूं केर विनासा।।'[4]

5.3 522 माया का स्वरूप और स्वभाव

(क) अनिर्वचनीय

कबीर ने मायारूपी बेल में विरोधी गुणों का आरोप किया है। यह ऐसी बेल है जो सींचने से (ईश्वर के ध्यान से) कुम्हलाती है तथा काटने से (सांसारिक भोगों से) बढ़ती है। अपनी विचित्र स्थिति के कारण वह अनिवर्चनीय है।

---

1 डॉ० ज्योत्स्ना दाधीच- कबीर का दार्शनिक चिंतन, पृ० 138
2 डॉ० नारायणप्रसाद वाजपेयी- कबीर-चिन्तन में उद्धृत, पृ० 101
3 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन में उद्धृत, पृ० 190
4 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन में उद्धृत, पृ० 190

''जो काटौं तो डहडही, सोंचौ तो कुंभिलाइ
इस गुणवंती बेलि का, कुछ गुण कह्या न जाइ।।''[1]

(ख) काल्पनिक और सारहीन

कबीर ने माया को काल्पनिक और सारहीन भी कहा है। उसका असत् रूप शशश्रृंग (खरगोश के सींग) के समान है। कबीर ने उसे बांझ के पुत्र तथा अनयाई गाय के दूध के समान माना है। इस बेल का फल आकाश में लगता है जिसे तोड़ने की कल्पना दुराशामात्र है-

''आंगणि बेलि अकास फल, अण व्यावर का दूध
ससा सींग की धूनहड़ी, रमै बांझ का पूत।।''[2]

(ग) प्रसवधर्मिणी

कबीर माया को प्रसवधर्मिणी कहते हैं जो संसार को रचती है किन्तु स्वयं अव्यक्त रहती है। कबीर द्वारा विवेचित माया की प्रकृति अथवा स्वभाव का वर्णन सांख्य दर्शन के प्रकृति तत्त्व से मिलता-जुलता है। इस माया से ही अण्डज, पिण्डज, स्वेदज और उद्भिज उत्पन्न हुए। पंच तत्त्वों के संयोग से इसी ने सृष्टि की उत्पत्ति की और उसके साथ पाप, पुण्य, अहंकार, संपत्ति और विपत्ति के भी बन्धन बाँधे-

''सत रज तम थैं कीन्हीं माया, चारि खानि विस्तार उपाया,
पच तत लै कीन्ह बंधानं, पाप पुंनि मानं अभिमानं।
अहंकार कीन्हें, माया, मोहू संपत्ति विपति दीन्हीं सब काहूं''[3]

(घ) विलयधर्मिणी

प्रसवधर्मिणी होने के साथ-साथ माया विलयधर्मिणी भी है। उसका सृजन और विलय व्यतिक्रम से होता है। गुणों के संयोग से वह सृष्टिरचना करती है तथा उनके

---

1 डॉ० नारायणप्रसाद वाजपेयी- कबीर-चिन्तन में उद्धृत, पृ० 102
2 डॉ० रागजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन में उद्धृत, पृ० 191
3 डॉ० नारायणप्रसाद वाजपेयी- कबीर चिन्तन, पृ० 103

वियोग से उसका विलय कर देती है। वह सम्पूर्ण विश्वप्रपंच की नियामिका है। समस्त तत्त्व और गुण तथा उनके विकार माया के ही खेल हैं।

''पाँच तत तीनि गुण जुगति करि सन्यासी, अष्ट बिन होत नहीं क्रम काया।
पाप पुन बीज अंकूर जामैं भरै, उपजि बिनसै जेती सर्ब माया।।''[1]

इस प्रकार पाँच तत्त्व, तीन गुण आदि तथा अष्टधा प्रकृति, सभी विकार, उत्पन्न होना एवं विनाश होना यह सब माया ही है। माया के द्वारा ही यह सभी कार्य किये जाते हैं।

(ङ) परिवर्तनशील

कबीर माया को परिवर्तनशील मानते हैं। यह क्षण-प्रति-क्षण स्वरूप बदलती ही रहती है। यह वायु के समान सदा-सर्वदा अविरल धारा-प्रवाह में प्रवाहित रहती है-

''कबीर माया डोलनी, पवन बहै हिवधार।।''[2]

कबीर ने मृत्यु और जन्म के परिवर्तनों को प्रकृति के इसी गुणाधीन माना है। यही परिवर्तन आवागमन है-

''संतों आवै जाय सो माया।
है प्रतिपाल काल नहिं वाके, न कहुँ गया न आया।।''[3]

(च) दुःखरूपा तथा बंधनरूपा

कबीर ने माया को दुःखरूपा, बंधनरूपा तथा अज्ञानरूपा भी कहा है। संसार के सम्पूर्ण दुःख और बंधन उसी के परिणाम कहे जा सकते हैं। कबीर माया को त्रिविध

---

1 डॉ० रामजीलाल 'सहायक' - कबीर-दर्शन में उद्धृत, पृ० 192
2 डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत- कबीर की विचारधारा में उद्धृत, पृ० 269
3 यज्ञदत्त शर्मा- कबीर साहित्य और सिद्धांत में उद्धृत, पृ० 85

ताप, दु:ख और संताप का ऐसा वृक्ष कहते हैं जिसमें शीतल छाया का नाम नहीं और जिसके फल अत्यन्त खट्टे हैं और जिसका तन भयंकर ज्वाला है-

''माया तरवर त्रिविध का, साखा दुख संताप।
सीतलता सुपिनै नहीं, फल फीकौ तनि ताप।।''[1]

(छ) व्यभिचारिणी

कबीर के अनुसार माया स्वभाव से व्यभिचारिणी है। यह अत्यन्त मोहक और आकर्षक है। माया के व्यभिचारी स्वभाव के सहायक हैं कनक, कामिनी। इन दो में माया की मनमोहक जकड़ है। कनक और कामिनी रूपी माया की चमक-दमक से सम्पूर्ण संसार व्यथित है, जल रहा है। जैसे रूई में लिपटी हुई आग से रूई अनिवार्य रूप से जलेगी ही, इसी प्रकार इन दोनों से मनुष्य दु:ख उठाता ही है।

''माया की झल जग जल्या, कनक कांमिणीं लागि।
कहु धौं किहि विधि राखिये, रूई पलेटी आगि।।''[2]

(ज) दुराचारिणी

कबीर ने माया को महती दुराचारिणी कहा है जो अत्यन्त सुन्दर, आकर्षक एवं मनमोहक है। इसने सकल संसार को भ्रष्ट कर दिया है। मनुष्य तो इसके आगे कुछ भी नहीं इसने योगी, यति और साधुओं को भी नहीं छोड़ा। प्रभु-भजन बिना इसका उच्छेद नहीं किया जा सकता ।

''कहत कबीर सुहाग सुन्दरी, हरि भजि हवै निस्तारा।
सारा खलक खराब किया है, मानस कहा बिचारा।।''[3]

---

1 सं० श्यामसुंदरदास- कबीर ग्रंथावली, पृ० 29
2 सं० श्यामसुंदरदास- कबीर ग्रंथावली, पृ० 30
3 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन में उद्धृत, पृ० 193

(झ) कुटिल स्वभाव

कबीर माया को कुटिल स्वभाव वाली मानते हैं जो एकत्व के स्थान पर अनेकत्व की स्थापना करती है। भेद-बुद्धि के कारण संसार क्लेश, द्वेष, घृणा, मोह आदि की अग्नि में जलता रहता है-

''मोर तोर करि जरे अपारा, मृग त्रिष्णां झूठी संसारा।
माया मोह झूठ रह्यौ लागी, का भयौं इहां का ह्वैहै आगी।।''[1]

(ञ) पापिनी

कबीर माया को पापिनी कहते हैं। जिसके भुलावे में सभी प्राणी उलझे रहते हैं। और इसका पूर्ण उपभोग कोई भी नहीं कर पाता, वरन् इसकी चपेट में उलझने वाला अपना ही सर्वनाश कर लेता है-

''कबीर माया पापणीं, लालै लाया लोग।
पूरी किन्हूं न भोगई, इनका इहै बिजोग।।''[2]

5.3 523 माया के विविध नाम

माया के स्वरूप तथा स्वभाव के कारण कबीर ने माया को कई प्रकार के नाम दिये हैं। माया का विस्तार, जल, थल और आकाश सभी स्थानों पर कबीर ने माना है। विश्व के सभी बन्धन माया जन्य है। यही माया जन्य सम्बन्ध आत्मा को अपने में फंसा कर ईश्वर से दूर ले जाते हैं और उसके साधना-मार्ग में बाधक होते हैं। ''कबीर ने माया को व्यक्त और अव्यक्त दोनों ही रूप में निरखा है। अव्यक्त ने ही माया को सर्वव्यापी बनाया है। माया का अव्यक्त स्वरूप वेदान्ती और साँख्य दोनों ही दार्शनिकों को मान्य है। व्यापक माया का कबीर ने विस्तार के साथ चित्रण किया है।''[3] कबीर ने माया को डाइन, डंकनी, सर्पनी, नकटी, चोरटी, पिशाचिनी आदि नामों

---

1 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन में उद्धृत, पृ० 193
2 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन में उद्धृत, पृ० 193
3 यज्ञदत्त शर्मा- कबीर साहित्य और सिद्धांत, पृ० 85

से संबोधित किया है। कबीर ने माया को वैश्या बताया है। वैश्या रूपिणी माया संसार की हाट में मनुष्यों को प्रवृत्ति मार्ग की ओर ले जाती है और मन को कुमति की शृंखला से बांध देती है। यह तन की उजली और मन की मैली है। यह खांड की भाँति मीठी है -

''कबीर माया मोहनी, जैसी मीठ खाँड।''[1]

5.3 524 माया का स्थान और विस्तार

माया की कल्पना समष्टि और व्यष्टि दोनों रूपों में की जाती है। समष्टिरूप माया समस्त संसार में व्याप्त है। इसका स्थान जगत् के समस्त नामरूप हैं। सम्पूर्ण विश्व में, अखिल ब्रह्माण्ड में उसका विस्तार है। कबीर ने समष्टि रूप में माया का वास एवं विस्तार सम्पूर्ण विश्व में माना है -

''कीड़ी कुंजर में रही समाई,
तीनि लोक जीत्या माया किनहूं न खाई।।''[2]

व्यष्टिरूप में कह सकते हैं कि प्रत्येक जीव अविद्या से ग्रस्त होने के कारण एक ब्रह्म के स्थान में नाना विषय और जीव देखता है। व्यष्टिरूप माया भ्रम, अज्ञान, मिथ्याज्ञान, क्रोध, लोभ, वासना, मोह, आसक्ति आदि के रूप में व्यक्ति के मन-प्रदेश में निवास करती है और इसका विस्तार समस्त शरीर में होता है। कबीर ने कहा है कि माया मन में वास करती है और क्षण-क्षण मेरा ह्रास करती है -

''इक डाइंनि मेरे मन मैं बसै रे, नित उठि मेरे जीव कौं डसै रे।।''[3]

---

1 सं० श्यामसुंदरदास- कबीर ग्रंथावली, पृ० 28
2 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन में उद्धृत, पृ० 194
3 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन में उद्धृत, पृ० 194

5.3 525 माया और मायापति

माया और मायापति का सेविका और स्वामी का सम्बन्ध है। कबीर ने माया को ब्रह्माश्रित माना है। उसे रघुनाथ की माया कहा है-

''तू माया रघुनाथ की खेलन चली अहेड़े।''[1]

कबीर माया को ब्रह्म की लीला शक्ति मानते हैं। वह उसे जादूगर का खेल कहते हैं। जो व्यावहारिक जगत् के रूप में प्रकट होकर अनेक प्रकार के क्रीड़ा कौतुक किया करती है। कबीर का आशय है कि त्रिगुणात्मक माया की आवरण तथा विक्षेप-शक्ति के कारण मनुष्य की बुद्धि में भ्रम होता है। जिसके कारण वह मूलतत्त्व को देख नहीं पाते और उसके स्थान में नाना प्रकार के नामरूपात्मक जगत् की कल्पना कर बैठते हैं और उसी को सत्य समझ कर उलझ जाते हैं। यथार्थ में जगत् की पारमार्थिक सत्ता है ही नहीं। कबीर ने ब्रह्म और माया के रहस्य को समझ लिया था, अतः उन्होंने माया को ब्रह्मरूपी ठग की ठगौरी तथा आश्चर्यचकित करने वाली वस्तुमात्र माना है-

''हरि ठग जग कौं ठगौरी लाई, हरि कै वियोग कैसे जीऊ मैरी भाई।
कहै कबीर ठंग सौं मन मांना, गई ठगौरी ठग पहिचानां।।''[2]

कबीर ने माया को ब्रह्माश्रित माना है। जिसका एक अभिप्राय यह भी है कि वह स्वतंत्र नहीं है। वह ब्रह्म से ऐसे ही अभिन्न है, जैसे अग्नि से दाहकता और मन से संकल्प। ब्रह्म का माया से सीधा एवं स्पष्ट सम्बन्ध है। कबीर ने उसे कर्ता की बाजी कहा है-

''कहै कबीर करता की बाजी, एक पलक मैं राज विराजी।।''[3]

---

1 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन में उद्धृत, पृ० 196
2 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन में उद्धृत, पृ० 197
3 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन में उद्धृत, पृ० 197

''कबीर ने माया के मुख से 'जाकी मैं मंछी सो मेरा मंछा' कहलाकर अंत में 'सौ मेरा रखवालू, टुक एक तुम्हरै हाथ लगाऊं तो राजा राम रिसांलू' की पंक्तियां कही हैं। उनका यही अभिप्राय है कि मत्स्यरूपी ब्रह्म के लिए माया उन्हीं की मछली के तुल्य है जो रामभक्तों पर अपना जाल फैला ही नहीं सकती। यदि वह ऐसा करने का उपक्रम करे तो परम प्रभु के क्रोध का भाजन बन सकती है।''[1]

5.3 526 माया के भेद

डॉ० रामजीलाल 'सहायक' के अनुसार- ''कबीर ने तात्त्विक दृष्टि से माया को एक ही बताया है। व्यावहारिक दृष्टि से वे उसके तीन भेद बताते हैं। एक को वे मोटी माया कहते हैं और दूसरी को झीनी माया और तीसरी को विद्या रूपिणी माया अथवा संतों की दासी माया-

मोटी माया सब तजैं, झीनी तजी न जाय।
पीर पैगम्बर औलिया, झीनी सबनि कौ खाय।।

झीनी और मोटी माया के इन दो भेदों के लिए कबीर ने भरम और करम नाम भी दिया है। भ्रम और कर्म-रूपी माया का लोग व्यवहार करते हैं।''[2] इन दोनों के कारण ज्ञान खो जाता है और ये दोनों संसार के लिए भुलावे के समान है।

(क) झीनी अथवा भ्रम-रूप माया

मिथ्याज्ञान, अज्ञान अथवा भ्रम पर्यायवाची हैं। सत्यज्ञान के प्रकाश से ही भ्रम अर्थात् माया का उच्छेद होता है। अत: भ्रम से कबीर का तात्पर्य मन के विकारों से ही है। इस भ्रमरूपी माया को कबीर ने झीनी माया कहा है। माया का यह स्वरूप झीना

---

1 डॉ० ज्योत्स्ना दाधीच- कबीर का दार्शनिक चिंतन, पृ० 141

2 डॉ० रामजीलाल 'सहायक'- कबीर-दर्शन, पृ० 198

अर्थात् बारीक है, परन्तु प्रबल शक्तिशाली है। कबीर के अनुसार माया के इस स्वरूप से बच निकलना कुछ ही साधकों का काम है।

(ख) मोटी माया अथवा कर्मरूप माया

माया के इस स्वरूप में संसार के भौतिक पदार्थ आते हैं। माया के इस भेद के अन्तर्गत धन, सम्पदा, कनक, कामिनी, वैभव आदि आते हैं। कबीर ने यह कहा है कि मोटी माया सब तजैं, यहाँ उनका आशय यही है कि साधक जगत् के भौतिक पदार्थो का त्याग करे। माया के इस भेद की कबीर ने कड़ी आलोचना की है। इसके अन्तर्गत कनक और कामिनी प्रमुख हैं। पूजा-पाठ, वेष-भूषा, जटा रखाना, भाँति-भाँति की आडम्बरपूर्ण साधना में उलझने से मनुष्य सत्य के प्रकाश से दूर हो जाता है। कबीर ने इन कर्मादि को माया कहा है।

(ग) विद्या–रूपिणी माया

माया का यह रूप साधकों के काम का है। इसी के आश्रय से साधक अव्यक्त तक पहुँच पाते हैं। कबीर माया के विद्या रूपी स्वरूप को संतों के लिए उपयुक्त समझते हैं। इसके आशीश अर्थात् आश्रय से ईश्वर का साक्षात्कार सम्भव है, परन्तु इसे भी क्लिष्ट साधना के उपरान्त ही पाया जा सकता है-

''माया दासी संत की, ऊँभी देइ असीस।
बिलसी अरू लातौं छड़ी, सुमिर सुमिर जगदीस।।''[1]

विद्या रूपिणी माया की सहायता से ज्ञान की प्राप्ति संभव है। ज्ञान से माया का उच्छेद करके निज स्वरूप पहिचाना जा सकता है।

5.3 527 माया का निवारण

कबीर माया का निवारण बताते हुए कहते हैं-

''हरि हिरदै एक ग्यांन उपाया,
ताथैं छूटि गई सब माया।।''[2]

---

1 सं० श्यामसुंदरदास- कबीर ग्रंथावली, पृ० 28

2 डॉ० सरनामसिंह शर्मा- कबीर: व्यक्तित्व, कृतित्त्व एवं सिद्धान्त, पृ० 347

अर्थात् परमात्मा जब ज्ञान देता है तो माया छूट जाती है। जिस प्रकार ज्ञान से माया का निवारण होता है उसी प्रकार भगवत्-भक्ति से भी माया का निवारण होता है, इसलिए कबीर कहतै हैं-

''कहै कबीर ताके भ्रम छूटै,
जे रहे रांम ल्यौ लाई।।''[1]

डॉ० सरनामसिंह शर्मा इस सम्बन्ध में लिखते हैं-''सच बात तो यह है कि माया का प्रमुख आसन मन है। माया मन में जो भ्रम पैदा करती है उसको मन ही दूर कर सकता है। जब मन ''अनुभव'' में डूबकर ''उन्मन'' दशा को पहुंच जाता है तब माया का अखिल प्रसार व्यस्त हो जाता है।''[2] जो व्यक्ति मायाजाल में दु:खों से पीड़ित होकर रात दिन रोता रहता है, वह माया से छुटकारा नहीं पा सकता। प्रबुद्ध जीव का काम उसका परित्याग करना है। जिस प्रकार ठग को सम्यक् ज्ञान होने पर ठगौरी का निवारण हो जाता है उसी प्रकार हरि का सम्यक् ज्ञान होने पर माया का निवारण हो जाता है।

5.3 6 गुरु रविदास और कबीरदास के गुरु सम्बन्धी विचार

''कुलार्णव तंत्र में 'गुरु' शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा गया है कि 'गु' शब्द अन्धकार का वाचक है और 'रु' अन्धकार को दूर करने का, इस प्रकार (अज्ञान के) अन्धकार को नष्ट करने के कारण गुरु शब्द का प्रयोग होता है-

गु शब्दस्त्वन्धकारस्याद्रुशब्दस्तन्निरोधक:।
अन्धकार निरोधित्वाद् गुरुरित्यभीधीयते।।''[3]

---

1 डॉ० सरनामसिंह शर्मा- कबीर: व्यक्तित्व, कृतित्त्व एवं सिद्धान्त, पृ० 348
2 डॉ० सरनामसिंह शर्मा- कबीर: व्यक्तित्व, कृतित्त्व एवं सिद्धान्त, पृ० 348
3 श्याम सुन्दर शुक्ल- हिन्दी काव्य की निर्गुण धारा में भक्ति, पृ० 280

''कुलार्णव तंत्र के अनुसार 'यदि ध्यान करना हो तो गुरु की मूर्ति का ही करना चाहिए और पूजा करनी हो तो गुरु के चरणों की ही करनी चाहिए। उनके उपदेश ही मंत्र है, उनकी कृपा ही मोक्ष है, साधक की सभी क्रियाएँ गुरुमय होनी चाहिएँ। इस प्रकार नित्यप्रति की सेवा से सिद्धियाँ निश्चित प्राप्त होती हैं-

''ध्यानमूलं गुरोः मूर्तिः, पूजामूलं गुरोः पदम्।
मंत्रमूलं गुरोर्वाक्यं, मोक्षमूलं गुरोः कृपा।।
गुरूमूलं क्रिया सर्वा, लोकेऽस्मिन् कुलनायिके।
तस्मात् सेव्यो गुरुर्नित्यं सिद्ध्यर्थं भक्तिसंयुते।।''[1]

प्राचीन भारतीय संस्कृति में गुरु का गौरव गान करते हुए उसे देव तुल्य माना गया है-

''गुरुर्ब्रह्मा, गुरुविष्णु, गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्री गुरुवे नमः।।
अखण्ड मण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्री गुरुवेसय नमः''[2]

अर्थात् गुरु ही ब्रह्मा, गुरु ही विष्णु तथा महेश है। गुरु साक्षात् ब्रह्म परमेश्वर है तथा जगत् में सर्वत्र चराचर में व्याप्त है। ऐसे गुरुवर को विनम्र नमस्कार है।

'' संस्थागत दृष्टि से प्राचीन भारत में गुरुकुल की परम्परा रही है। इसका मूल उद्देश्य शिष्य का सभी प्रकार के भौतिक सुखों का त्याग व मानसिक वृत्तियों पर अधिकार करने के पश्चात् मन में एक आस्था के तहत शिक्षा ग्रहण करना रहा है, क्योंकि जब तक आस्था नहीं तब तक उपलब्धि नहीं। वहां उन्हें यह सिखाया जाता

---

1 श्याम सुन्दर शुक्ल- हिन्दी काव्य की निर्गुण धारा में भक्ति, पृ० 281

2 डॉ० अशोक कुमार- सूफी और सन्त काव्य में गुरु सम्बन्धी परिकल्पना में उद्धृत, पृ० 1

था कि लक्ष्य तक पहुंचने के लिए गुरु के प्रति आस्थावान् होना चाहिए। शिष्य के लिए बीज मंत्र था-

मातृदेवो भव पितृदेवो भव
आचार्यदेवो भवअतिथिदेवो भव।''[1]

अर्थात् माता-पिता, गुरु एवं अतिथि को देवता के समान मानना चाहिए। यह एक अनुशासित संयत जीवन की शुरुआत है। गुरु एक शक्ति है जो मानव चित्त वृत्तियों को संयमित करके मनुष्य को लोकोपकार की ओर उन्मुख करता है।

स्वानुभूति और सदाचरण सन्त जीवन के मुख्य पीठाधार हैं। सन्तों की बानी में सदाचरण का नाम है 'रहनी' (रहने या जीवन बिताने का प्रकार) इसे सन्त टेकमन राम इस प्रकार निरुपित करते हैं-

''भजन करे से बेटा हमारा, ज्ञान पढ़े सो नाती।
रहनी रहै से गुरु हमारा, हम रहनी के साथी।।''[2]

"''भजन करनेवाला बेटा है, ज्ञान पढ़नेवाला मेरा नाती। रहनी रहनेवाला मेरा गुरु है। मैं रहनी का साथी हूँ' इस सन्त की दृष्टि में ज्ञान से बढ़कर है भजन और भजन से बढ़कर रहनी (सदाचरण)। सदाचारी व्यक्ति गुरुस्थानीय होता है, क्योंकि सन्त रहनी का संगी सखा होता है। सन्तों की दृष्टि में 'कथनी' से बड़ा दर्जा है 'करनी' का सन्त।"[3] सन्त मत में गुरु का बड़ा आग्रह है। गुरु की अनुकम्पा के बिना आध्यात्मिक तथ्यों की ग्रन्थियाँ खुलती ही नहीं।

''श्रीमद्भागवत् में गुरु-तत्त्व की व्याख्या में 'अकर्णधार वणिक्' की बड़ी सुन्दर तथा उपयुक्त उपमा दी गई है। गुरु के चरण से पराङ्मुख व्यक्ति उसी प्रकार

---

1 डॉ० अशोक कुमार- सूफी और सन्त काव्य में गुरु सम्बन्धी परिकल्पना में उद्धृत, पृ० 2
2 आ० बलदेव उपाध्याय- भारतीय धर्म और दर्शन, पृ० 271
3 आ० बलदेव उपाध्याय- भारतीय धर्म और दर्शन, पृ० 272

भग्न-मनोरथ होता है। जिस प्रकार समुद्र में कर्णधार के बिना यात्रा करने वाले व्यापारी को विफल मनोरथ होना पड़ता है-

''व्यसनशतान्विताः समवहाय गुरोश्चरणम्
वणिज इवाज सन्त्यकृतकर्णधरा जलधौ।।''[1]

इसी परम्परा का अनुसरण कर सन्तों ने जीवन के विकास में गुरु-तत्त्व का अतिशय महत्त्व माना है। गुरु भी कोई जैसा-तैसा व्यक्ति नहीं हो सकता। ''उसे सर्वागार्थतत्त्वज्ञ, सर्वमंत्रविधानवित्, लोकसम्मोहक, प्रियदर्शन, देवोपम, सुमुख, सुलभ, स्वच्छ, भ्रमनाशक, प्राज्ञ, तर्कपटु, अन्तर्लक्षी, सूक्ष्मद्रष्टा, सर्वज्ञ, देशकालवित् निग्रहानुग्रहक्षम, बोधक, शांत, दयालु, जितेन्द्रिय, षडसखिर्ग-जेता, पात्रापात्र-ज्ञाता, निर्मल, नित्य-संतुष्ट, साधुप्रिय, भक्तवत्सल, शिष्यसाधक, राग-द्वेषमय-क्लेश-दंभादि-परित्यागी, स्वविद्यानुष्ठानरत, गुण-दोष-विभेदक और स्वार्थरहित होना चाहिए। तभी वह गुरु पद का अधिकारी हो सकेगा।''[2]

हिन्दी काव्य की निर्गुण काव्यधारा ने जिस आध्यात्मिक वातावरण से अपना जीवन-रस ग्रहण किया था , वह गुरु के प्राधान्य से पूर्णतः ओतप्रोत था। गुरु का स्थान इस काव्यधारा के कवियों की दृष्टि में बहुत महत्त्वपूर्ण था। ''गुरु शब्द इस धारा में दो अर्थो में प्रयुक्त हुआ है। वह 'सद्' शब्द से मिलकर जहाँ एक ओर गुरु का वाचक है वहीं दूसरी ओर वह ब्रह्मवाची भी हो गया है। जहाँ ब्रह्म या परम तत्त्व के लिये संत कवियों को उचित शब्द का अभाव प्रतीत हुआ है, उन्होंने 'सदगुरु' शब्द से ही काम चला लिया है। उनका मानव सद्गुरु भी परम सद्गुरु (ब्रह्म) से कम नहीं है।''[3] संत काव्य में गुरु का स्वरूप विभिन्न स्तरों का होकर भी उसका कार्य सत् मार्ग दिखाना ही होता है।

---

1 आ० बलदेव उपाध्याय- भारतीय धर्म और दर्शन, पृ० 273
2 श्याम सुन्दर शुक्ल- हिन्दी काव्य की निर्गुण धारा में भक्ति, पृ० 281
3 श्याम सुन्दर शुक्ल- हिन्दी काव्य की निर्गुण धारा में भक्ति, पृ० 285.

5.3 61 गुरु रविदास के गुरु सम्बन्धी विचार

रविदास ने ईश्वर प्राप्ति के लिए गुरु की आवश्यकता पर बल दिया है। गुरु ज्ञान से ही उसको अमृत वर्षा का प्याला मिलता है।

5.3 611 गुरु – ज्ञान – ज्योति प्रदाता है

गुरु मार्ग-प्रदर्शक ज्योति है, जिसके बिना अविवेक के अन्धकार में पथ की खोज करना लगभग असम्भव है। गुरु वह ज्योति है, जो हमें सूझ देता है, पहचान देता है और हमारे अन्तर्मन में ज्ञान का उजाला फैलाता है। गुरु रविदास का मानना है कि ''हरिचरणों में साधक का मन लगाने के लिए ज्ञान अति आवश्यक है। ज्ञान द्वारा ही इस जगत् के क्लेश दूर हो सकते हैं। माया ने इस जगत् के प्राणी को अपने जाल में फंसा रखा है। इस संसार में ज्ञान की प्राप्ति गुरु की कृपा से ही सम्भव है, जिस से दैविक, दैहिक एवं भौतिक क्लेशों का नाश होता है।''[1]

''ज्ञान विचार चरण चित्त लावै, हरि की हरनि रहै रे।

X X X X X X X X X X X X X X X
गुरु को सबद अरू सुरति कुदाली, खौदत कोई रहै रे।

X X X X X X X X X X X X X X X
कह रैदास राम जपि रसना, काहु के संग रहै रे।।''[2]

5.3 612 गुरु की महत्ता

रविदास जी गुरु की महत्ता स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि गुरु के चरणों में लगने से उनके सभी विकार दूर हो गए हैं, सभी त्रिषणाएं समाप्त हो गई हैं और उनमें अब शीतलता का निवास हो गया है-

''कांम क्रोध हंकार निबारउ, त्रिसनातिआगहु संत जनां।

कहै 'रविदास' अब सीतल हुऐ, जब लागे गुर के चरना।।''[3]

---

1 डॉ० अशोक कुमार- सूफी और सन्त काव्य में गुरु सम्बन्धी परिकल्पना, पृ० 68

2 डॉ० अशोक कुमार- सूफी और सन्त काव्य में गुरु सम्बन्धी परिकल्पना, पृ० 68

3 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद- गुरु रविदास, पृ० 85

5.3 613 गुरु भाग्य से प्राप्त होता है

रविदास जी ने गुरु का महत्त्व स्वीकार करते हुए कहा है कि गुरु एक पारसमणि है जिसके छूने मात्र से साधारण मनुष्यरूपी लोहा उत्तम सोना, अर्थात् प्रभुभक्त बन जाता है। उसका मन बाहर से हटकर अंतर्मुखी हो जाता है और हृदय मंदिर के मोहरूपी बज्र कपाट खुल जाते हैं तथा अंदर प्रभु की ज्योति प्रकाशित हो जाती है। लेकिन, ऐसे पारसरूप गुरु से भेंट तो बड़े भाग्य से ही होती है-

''पारस मनि तांबो छुए,
कनक होत नहीं बार।।
परस परस गुरु भेंटीऐ,
पूरब लिखत ललाट।।
उनमन मन मनही मिले,
छुटकत बजर कपाट।।''[1]

5.3 614 भवसागर से पार लगाता है

सतगुरु वह जहाज है जो शब्द की शक्ति से माया पीड़ित लोगों को भवसागर से पार लगाता है। रविदास जी कहते हैं कि नाम जपने से ही मनुष्य भवसागर से पार उतरता है। कबीर और नामदेव भी नाम का जाप करने से ही उजागर हुए थे। रविदास का मत है कि राम का नाम रंग लाता है और गुरु कृपा से नाम जपने वाला नरक में नहीं जाता-

''हरि हरि हरि हरि हरि हरि हरि।
हरि सिमरत जन गए निसतरि तरे।।
हरि के नाम कबीर उजागर।
जनम जनम के काटे कागर।।

---

1 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद- रविदास दर्शन, पृ० 108

निमत नामदेउ दूधु पिआइआ।

तऊ जग जनम संकट नहिं आइआ।।

जन रैदास राम रंगि राता।

गुरु परसादि नरक नहिं जाता।।''[1]

5.3 615 हरि, गुरु एवं साधु में समानता

रविदास जी का मानना है कि परमात्मा, गुरु और संत भक्तों में कोई अंतर नहीं है। इन सब को एक समान समझना चाहिए। यही मूल तत्त्व वेद शास्त्रों द्वारा प्रतिपादित है। इस मूल तत्त्व को व्यवहार में लाते हुए यदि आरे से चीरे जाने की कठिन यातना भी सहन करनी पड़े, तो उसे सहर्ष स्वीकार करना चाहिए-

''हरि गुर साध समान चित, नित आगम तत मूल।

इन बिच अंतर जिन परौ, करवत सहन कबूल।।''[2]

5.3 616 माधव सतगुरु है

रविदास जी माधव को सतगुरु कहते हैं, जिसका शिष्य यह सारा संसार है। वे कहते हैं कि अब अगर मैं गुरु से बिछड़ गया तो फिर मिलना नहीं होगा। भेद की यह स्थिति केवल धन-जीवन की झूठी माया ही पैदा कर सकती है। संतों ने गुरु को ब्रह्म रूप माना है और कहीं-कहीं गुरु को ईश्वर से भी ऊंचा स्थान दिया है-

''माधउ सतगुर सब जगचेला, अबकै विछुरैं मिलै न दुहैला।।

धन जीवन की झूठी आसा, सति सति भाषै जन रैदासा।।''[3]

5.3 62 कबीरदास के गुरु सम्बन्धी विचार

कबीरदास की गुरु के प्रति पूर्ण श्रद्धा थी। गुरु की कृपा से ही ईश्वर की प्राप्ति होती है। कबीरदास जी ने इसीलिए गुरु को गोविन्द से श्रेष्ठ माना है। गुरु आत्मा और परमात्मा में मध्यस्थ है।

---

1 सं० योगेश गुप्त- संत रैदास, पृ० 89

2 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद- रविदास दर्शन, पृ० 181

3 सं० योगेश गुप्त- संत रैदास, पृ० 68

5.3 621 गुरु – ज्ञान का मार्ग है

कबीर गुरु को ज्ञान कराने वाला मानते हैं। कबीर कहते हैं गुरुदेव से भेंट होने पर हृदय में ज्ञान का प्रकाश हो गया। ऐसे ज्ञान स्वरूप गुरु से विमुख नहीं होना चाहिए –

''ग्यान प्रकास्या गुर मिल्या, सो जिनि बीसरि जाई।''[1]

कबीर ने अनेक स्थलों पर गुरु से ज्ञान प्राप्ति का वर्णन किया है। उन्होंने 'दीपक'शब्द का प्रयोग 'ज्ञान की ज्योति' के रूप में किया है जो उन्हें गुरु से प्राप्त हुई है –

''पीछैं लागा जाइ था, लोक बेद के साथि।
आगैं थैं सतगुर मिल्या, दीपक दीया हाथि।।''[2]

''दीपक दीया तेल भरि, बाती दई अघट्ट ।
पूरा किया बिसाहुणां, बहुरि न आँवौं हट्ट।।''[3]

5.3 622 गुरु हितैषी है

कबीर का मानना है कि इस संसार में गुरु के समान कोई हितैषी और अपना सगा नहीं है –

''सतगुर सवाँन को सगा, सोधि सई न दाति।
हरिजी सवाँन को हितू, हरिजन सई न जाति।।''[4]

इसीलिए कबीर अपना तन–मन और सर्वस्त गुरु के प्रति समर्पित करते हैं जो क्षणभर में ही अपनी कृपा से मनुष्य को देवता बनाने में समर्थ है।

---

1 डॉ० पुष्पपाल सिंह – कबीर ग्रंथावाली (सटीक), पृ० 84
2 सं० श्यामसुंदरदास – कबीर ग्रंथावली, पृ० 2
3 सं० श्यामसुंदरदास – कबीर ग्रंथावली, पृ० 2
4 डॉ० पुष्पपाल सिंह – कबीर ग्रंथावली (सटीक), पृ० 81

''बलिहारी गुरु आपणैं, द्यौं हाड़ी कै बार।।
जानि मानिष तैं देवता, करत न लागी बार।''[1]

5.3 623 गुरु की महिमा

कबीर गुरु की महिमा को अपरम्पार मानते हैं। जिस पर गुरु की कृपा होती है उस पर पापों और दुष्कर्मो का कोई प्रभाव नहीं हो सकता।

''सतगुर की महिमा अनंत, अनंत किया उपगार।
लोचन अनंत उघाड़िया, अनंत दिखावणहार।।''[2]

''सतगुर के सदकै करूं, दिल अपणीं का साछ।
कलियुग हम स्यूं लडि पड्या, मुहकम मेरा बाछ।।''[3]

5.3 624 सदगुरु सच्चा शूरवीर है

कबीर ने सत्गुरु को सच्चा शूरवीर माना है। सत्गुरु अपने शब्द बाण को चलाकर शिष्य को वैसे ही धराशायी कर देता है जैसे सच्चा शूर अपने बाणों से प्रतिपक्ष को घायल कर देता है। शब्द बाण लगते ही शिष्य का अहं नष्ट हो जाता है और उसे आत्म-ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

''सतगुर सांचा सूरिवाँ सबद जुं बाह्या एक।
लागत ही मैं मिलि गया, पड्या कलेजै छेक।।''[4]

5.3 625 अज्ञानी गुरु की निन्दा

कबीर ने अज्ञानी गुरु की निंदा की है। कबीर ने अज्ञानी गुरु और जड़ शिष्य की परिणति को अभिव्यक्त करने के लिए एक सुन्दर बिम्ब सृजित किया है।

---

1 डॉ० पुष्पपाल सिंह- कबीर ग्रंथावली (सटीक), पृ० 82
2 डॉ० पुष्पपाल सिंह- कबीर ग्रंथावली (सटीक), पृ० 82
3 डॉ० पुष्पपाल सिंह- कबीर ग्रंथावली (सटीक), पृ० 82
4 सं० रामकिशोर शर्मा- कबीर ग्रंथावली (सटीक), पृ० 108

''जाका गुर भी अंधला, चेला खरा निरंध।

अंधा-अंधा ठेलिया, दून्यूँ कूप पड़ंत।।''[1]

5.3 626 भवसागर से पार लगाता है

कबीर कहते हैं कि इस संसार रूपी सागर में डूबने वालों को गुरु ही बचाता है। गुरु की कृपा या उपदेश रूपी लहर ही शिष्य को बचा सकती है। संसार के बाह्याडम्बरों की नौका पर सवार होकर भवसागर को पार नहीं किया जा सकता। कबीर कहते हैं हम तो इस भवसागर में डूबने को ही थे कि गुरु-कृपा की एक लहर ने हमें पार लगा दिया-

''बूड़े थे परि ऊबरे, गुर की लहरि चमंकि।

भेरा देख्या जरजरा, (तब) ऊतरि पड़े फरंकि।।''[2]

5.3 627 गुरु गोविंद समान

कबीर गुरु और गोविन्द (ब्रह्म) को समान मानते हैं, उनमें कोई अन्तर नहीं है। यह अपना मायाजनित शरीर ही इस भासित द्वैत का कारण है। अहं की भावना को नष्ट करके ही ब्रह्म की प्राप्ति हो सकती है।

''गुर गोविन्द तौ एक हैं, दूजा यहु आकार।

आपा मेट जीवन मरै, तौ पावै करतार।।''[3]

5.3 628 गुरु-शिष्य समान

कबीर ने जहाँ गुरु और गोविन्द में कोई अन्तर नहीं माना है। उसी प्रकार उनके अनुसार गुरु और शिष्य में भी कोई अन्तर नहीं है-

''गुरु समाना शिष्य में, निज कर लागी नेह।

बिलगाय, बिलगे नहीं, एक प्राण दुई देह।।''[4]

---

1 सं० रामकिशोर शर्मा- कबीर ग्रंथावली (सटीक), पृ० 111

2 डॉ० पुष्पपाल सिंह- कबीर ग्रंथावली (सटीक), पृ० 87

3 डॉ० पुष्पपाल सिंह- कबीर ग्रंथावली (सटीक), पृ० 87

4 डॉ० अशोक कुमार- सूफी और सन्त काव्य में गुरु सम्बन्धी परिकल्पना, पृ० 62

5.3 629 गुरु गोविंद से बड़ा

कबीर ने गुरु को गोविन्द से भी बड़ा माना है क्योंकि गुरु की कृपा से ही परमेश्वर से मिलन सम्भव हो सका-

''गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागूँ पायँ।

बलिहारी गुरु आपणे जिन्ह गोबिन्द दियो मिलाये।''[1]

5.3 6210 ईश्वर और विवेक गुरु

कबीर ने एक स्थल पर ईश्वर और विवेक को भी गुरु कहा है-

''कहु कबीर मैं सो गुरु पाइआ जा का नाम विवेक रे।''[2]

संक्षेप में कह सकते हैं कबीर ने गुरु के हर पहलू को उजागर किया है। गुरु की महत्ता दर्शाते हुए उसकी उपयोगिता का भी वर्णन किया है।

5.3 7 निष्कर्ष

भारतीय दर्शन गहरी आध्यात्मिक भावना से अनुप्राणित है। वह सत्य के अनुभव और भ्रांति के निराकरण के लिए प्रयत्नशील रहा है। भारतीय दर्शन का मूल मन्त्र आत्मा को जानने की ओर रहा है। भारतीय चिंतन का केंद्रबिन्दु आत्मा है। इसीलिए हमारे यहाँ आत्मज्ञान पर इतना बल दिया गया है। भारतीय दर्शन की वास्तविकता उसका बाहरी ढाँचा न होकर बल्कि उसका आभ्यंतर अनुभव है। वेदों को समस्त दर्शनों का आदि स्रोत कहा गया है परन्तु भारतीय दर्शन की सम्पूर्ण उपलब्धि उपनिषद्ों में सन्निहित है। हमारे संत कवि मूलत: दार्शनिक नहीं थे, वे

---

1 डॉ० अशोक कुमार- सूफी और सन्त काव्य में गुरु सम्बन्धी परिकल्पना, पृ० 62

2 डॉ० अशोक कुमार- सूफी और सन्त काव्य में गुरु सम्बन्धी परिकल्पना, पृ० 62

भक्त थे। ये सारसंग्रही व्यक्ति थे। सन्तों की दार्शनिक विचारधारा किसी शास्त्र पर आधारित न होकर आत्मानुभूति पर आधारित है। गुरु रविदास और कबीरदास के दार्शनिक विचारों में बहुत कम अंतर है, क्योंकि दोनों ही संत निर्गुण धारा के थे और उनकी मान्यताएँ एक सी थीं। गुरु रविदास और कबीरदास का लक्ष्य दार्शनिक मत-विशेष का प्रचार-प्रसार नहीं था। ये उन्हीं सिद्धान्तों को मानते थे जो सत्य की कसौटी पर खरे उतरते थे। संतों की साधना का प्रारम्भ ब्रह्म-जिज्ञासा से ही होता है। दोनों निर्गुण, निराकार ब्रह्म के उपासक थे। इनका ब्रह्म निरपेक्ष-सापेक्ष, निर्गुण-सगुण, अद्वैत-द्वैत आदि सभी कल्पनाओं के अन्तर्गत भी है और बाहर भी। गुरु रविदास और कबीरदस दोनों ही के दार्शनिक विचार अद्वैतमत के अधिक निकट दिखाई पड़ते हैं। दोनों की ब्रह्म-भावना प्राय: एक जैसी है। यह बात अवश्य है कबीर का ब्रह्म-वर्णन अधिक व्यापक है। रविदास जी ने ब्रह्म के अव्यक्त और व्यक्त दोनों रूपों को व्याख्यायित किया है। रविदास जी ने अपने ब्रह्म को 'राम' नाम से पुकारा है। उनका 'राम' निर्गुण ब्रह्म का प्रतीक है। जो सत्य स्वरूप होने के साथ-साथ घट-घट में रमण करता है। कबीर का ब्रह्म निरूपण कुछ अपनी विशेषताएँ रखता है। ब्रह्म को व्यक्त और अव्यक्त स्वरूपों में से कबीर का प्रमुख प्रतिपाद्य भगवान का अव्यक्त स्वरूप ही है। ब्रह्म के अव्यक्त स्वरूप का निरूपण जितने प्रकार से सम्भव हो सकता है, कबीर ने किया है। ब्रह्म के व्यक्त रूप के वर्णन में कबीर ने अधिकतर भावनामूलक तथा बुद्धिमूलक में ही विचार प्रकट किये हैं। रविदास जी के जीवात्मा सम्बन्धी विचार भी अद्वैत, द्वैत, जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध, ज्योति, मन, आनन्द, मनुष्य, कर्मबंधन, तक हैं। वहीं

कबीर के जीवात्मा सम्बन्धी विचार अधिक व्यापक हैं। कबीर ने जीवात्मा का वर्णन कई रूपों में भी किया है। फिर भी, दोनों संत जीव और ब्रह्म की अद्वैतता में विश्वास करते हैं। दोनों जीव को ब्रह्म का अंश मानते हैं। रविदास और कबीरदास ने अद्वैतमत की भाँति संसार को असत्य, अनस्थिर एवं निःसार माना है। दोनों की संसार विषयक धारणा अद्वैत वेदान्त की सृष्टि सम्बन्धी धारणा से मिलती-जुलती है, परन्तु संसार को पूर्णतः निःसार और मिथ्या सिद्ध करने वाली रविदास जी की वाणियाँ कबीर की अपेक्षा संख्या में कम है। माया के सम्बन्ध में रविदास जी ने उसके विधेयात्मक और निषेधात्मक रूप का चित्रण किया है, परन्तु रविदास जी ने माया के विधेयात्मक रूप की ओर कम दृष्टिपात किया है। आपने माया के निषेधात्मक रूप का ही अधिक वर्णन किया है। कबीर ने माया तत्त्व, उसके स्वरूप स्वभाव, विविध नाम, स्थान और विस्तार, उसके भेद आदि का विस्तृत चित्रण किया है। रविदास और कबीरदास के गुरु सम्बन्धी विचार प्रायः एक से हैं। गुरु के द्वारा ज्ञान की प्राप्ति, गुरु की महत्ता, भवसागर से पार, गुरु-गोविन्द की समानता आदि समान हैं। कबीर ने अज्ञानी गुरु की निन्दा भी की है। कबीरदास और रविदास के विचारों में जो अन्तर है वह व्यापकता का है कबीर जी का क्षेत्र अधिक व्यापक है वहीं रविदास जी का उनसे कम है, परन्तु यह अन्तर भी नाम मात्र के लिए है। रविदास और कबीरदास की रचनाओं में परम तत्त्व के सगुण एवं निर्गुण दोनों रूपों का वर्णन मिलता है। रविदास जी कई जगह पर सगुणवादी अधिक लगते हैं, परन्तु वास्तविकता तो यह है कि इनकी दृष्टि में परम तत्त्व सब कुछ से परे निर्विशेष एवं निरपेक्ष है। अतः यह कहा जा सकता है

कि दोनों संत कवि के विचारों में समानता है और इनके विचारों में भारतीय दर्शन की झलक सर्वत्र मिलती है। इनके विचारों पर किसी एक दर्शन का प्रभाव नहीं है। इनके विचार स्वानुभूति के स्तम्भ पर खड़े हुए हैं जो सहज, सरल और मौलिक हैं।

षष्ठः अध्याय

गुरु रविदास और कबीरदास की वाणी का सामाजिक आधार

6.1 मध्यकाल का सामान्य परिचय

मानव-हृदय अपने मूल रूप में न बुरा है और न अच्छा। हृदय और मन पर पड़े संस्कार ही उसे अच्छा और बुरा बनाने के लिये उत्तरदायी होते हैं। शेक्सपियर की यह उक्ति 'There is nothing good or bad but thinking makes it so' भी इस विचार का समर्थन करती है। साहित्य को युग की अभिव्यक्ति कहा जाता है और यह अभिव्यक्ति हृदय के माध्यम से होती है। इतिहास जहाँ अपने युग की घटनाओं की गाथा है, वहीं साहित्य उस युग की भावनाओं की। ''कवि अपने आँसुओं से युग को धोकर पवित्र करता है। कवि की कविता समझना सहज है, पर कवि को समझना संसार की शक्ति से परे है।''[1] समाज की ठोकरें खा-खाकर भी कवि जीवित रहता है, क्योंकि उसे समाज को जीवन देना होता है। कवि जब तक समाज में रहता है, समाज उसे जानने का प्रयत्न नहीं करता परन्तु उसकी मृत्यु के बाद उसे पूरा सम्मान देता है। संत और कवि का कर्म एक सा ही हुआ करता है। ''संत तत्त्वान्वेषी और कवि सौंदर्यान्वेषी होते हैं। सौंदर्य और सत्य के सामंजस्य से ही जन-कल्याणकारी भावना का प्रस्फुटन हुआ करता है। संत और कवि दोनों ही के कर्म महान् हैं। वे हमें भावना सोपानों के द्वारा स्थूल से सूक्ष्म की ओर ले जाते हैं। किसी भी वस्तु के साक्षात्कार के पश्चात् उसकी अभिव्यक्ति जब संत और कवि के द्वारा हुआ करती है तब हम प्रेम और साहित्य की धारा को विकसित हुआ पाते हैं।''[2] जिस युग में सन्तों की अनुभूति और अभिव्यक्ति जितनी गहराई के साथ

---

1 हीरालाल तिवारी- हिन्दी काव्य-दर्शन, पृ० 1

2 पुरूषोत्तम चन्द्र वाजपेयी- कबीर और जायसी का मूल्यांकन, पृ० 9

प्रतिलक्षित हुई है, उस युग का साहित्य उतना ही सजीव और स्फूर्तिदायक बन पड़ा है। संत और कवि का साहित्य-सुमन दो प्रकार के खाद्य से पोषित होता है। एक तो बाह्य परिस्थितियों से, दूसरे उसके निजी जीवन से। ऐसा माना जाता है कि ''जब समाज स्वनिर्मित बन्धनों में फँस, उत्पीड़न से त्राहि-त्राहि कर उठता है तब विश्वेश्वर उसके सम्वल तथा पथ-प्रदर्शन के लिये अपनी दिव्य ज्योतिः- सम्भूत किसी शक्ति को प्रेषित कर उसे शान्ति प्रदान करते हैं। भगवान् के वाराह रूप धारण करने से तथागत बुद्ध तक के अवतारों का यही रहस्य है। जिस काल में जैसी परिस्थितियाँ हुईं, उस काल में वैसी ही शक्ति ने उसका समाधान किया। महाभारत-काल में भगवान् बुद्ध अवतार नहीं ले सकते थे। हिरण्यकशिपु के राज्य में योगीराज कृष्ण की आवश्यकता न हो सकती थी तथा भगवान् का पशुबल-प्रधान नृसिंहावतार महात्मा बुद्ध की समकालीन परिस्थितियों का समाधान न कर सकता था।''[1] महात्माओं का अवतार परिस्थितियों के अनुसार शक्ति और संदेशों सहित होता है। परिस्थितियाँ ही अपने अनुरूप महात्माओं का निर्माण कर लेती हैं और काल की कठोर आवश्यकताएँ महात्माओं को जन्म देती हैं।

''यह तथ्य इतिहास सिद्ध है कि भारत में आर्यों से पूर्व भी एक अत्यंत समुन्नत सभ्यता तथा संस्कृति विद्यमान थी, जिसके न केवल तमाम भग्नावशेष हमें प्राप्त होते हैं, परवर्ती संस्कृति पर जिसके गहरे निशान भी विद्यमान हैं। इस पूर्ववर्ती संस्कृति की ढूह पर ही भारत में वैदिक आर्य संस्कृति विकसित और पुष्ट होती है।''[2] वैदिक संस्कृति के समानांतर बौद्ध और जैन अपनी विचार संपदा को लेकर इस चली आ रही सांस्कृतिक पूंजी में इजाफा करते हैं। हर्षवर्धन के समय तक भारत में बाहर से न जाने कितनी जातियों का आगमन होता है जिनमें से कुछ विजेता बनकर

---

1 श्रीहरिहर निवास द्विवेदी- महात्मा कबीर, पृ० 1

2 शिवकुमार मिश्र- भक्तिकाव्य और लोक जीवन, पृ० 29-30

शासक जातियों के रूप में हम पर शासन भी करती हैं। यह जातियाँ कालांतर में भारत के सामाजिक सांस्कृतिक जीवन की धारा से इतना घुल-मिल जाती हैं कि उन्हें अलग से पहचानना तक मुश्किल हो जाता है। जहाँ चले आते हुए सामाजिक-सांस्कृतिक प्रवाह ने इन्हें आत्मसात किया, वहीं अपने विशिष्ट आचार-विचारों का रंग इन्होंने सामाजिक तथा सांस्कृतिक प्रवाह पर छोड़ा और उसे एक नया रूप भी दिया। हर्षवर्धन के समय तक भारत के सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन में अनेक प्रकार के लोगों और जातियों के बीच पारस्परिक आदान प्रदान होता रहा है।

हर्षवर्धन के उपरांत भारत का इतिहास मुसलमानों के आक्रमण और तदुपरांत उनके विजेताओं के रूप में देश के शासनकर्त्ता बनने का इतिहास है। बाहरी आक्रमणों का सामना पहले भी देश ने कई बार किया था। ''ऐसे बाह्य आक्रमण भारत पर बार-बार होते आये थे और आक्रमणकारी किरात, हूण, यवन और शक आदि जातियाँ यहाँ आकर बसती भी गई थीं, लेकिन उन्होंने यहाँ के धर्म-मत और जाति-वर्ण पर आधारित समाज-व्यवस्था को कभी इस तरह नहीं झकझोरा और न समाज में उन प्रगतिशील शक्तियों को ही शक्ति और प्रेरणा दी जो उठकर रूढ़ियों से टकरातीं और दलित और वंचित लोगों को आत्म-गौरव प्रदान कर मुक्ति मार्ग पर अग्रसर करतीं। वे स्वयं अपनी विशेषता खोकर भारतीय समाज में घुलमिल गई,''[1] परन्तु इस बार ऐसा नहीं हुआ था। इस बार के आक्रमणकारी भारत की भौगोलिक विजय अथवा भारत की अपार संपत्ति लूटने के इरादे से ही नहीं आये थे, उनका लक्ष्य भारत में मुसलमानी मज़हब तथा इस्लामी राज्य की स्थापना करना था। ''इस्लाम स्वयं एक सुसंगठित सम्प्रदाय था। उसके आने से और यहाँ की अनेक दलित जातियों के धर्म परिवर्तन से दो धर्मों और संस्कृतियों "का संगम तो हुआ, लेकिन यह

---

1 शिवदान सिंह चौहान- कबीर एक विश्लेषण, पृ० 6

संगम ऐसा था जिसमें दोनों धाराएँ जीवन के हर क्षेत्र और स्तर पर एक-दूसरे से प्रभावित होकर भी अपना वैशिष्ट्य और स्वतन्त्र अस्तित्त्व बनाये रखती आई थीं। इस्लाम के एकेश्वरवाद, सामाजिक न्याय और धार्मिक समानता के सिद्धान्तों ने यहाँ की दलित, जाति-भ्रष्ट, शूद्र जातियों में सहज ही एक नई आशा का संचार किया, और एक विराट् जन-आन्दोलन को जन्म देने में परोक्ष रूप से सहायता भी दी। साथ ही उच्च वर्गो और जातियों के उदार मनोशास्त्रज्ञ विद्वानों में भी उसने यह चेतना जगा दी कि पौराणिक मत और जाति व्यवस्था के बन्धन ढीले करने में ही कल्याण है।''[1]

मुसलमानों के भारत में आने से ''भारतीय मनीषियों के समक्ष तात्कालिक सवाल तो इस बात का खड़ा हो गया कि मुसलमानों की उद्दीप्त धर्म भावना, दृढ़त्तर तथा सुव्यवस्थित सामाजिक संगठन एवं मानव जाति की समानता के उदार इस्लामी आशय से किस प्रकार अपने धर्म मत, अपने आचार विचारों, अपनी समाज व्यवस्था तथा अपनी रीति नीति की रक्षा करे। अविजेय और अपरिवर्तनीय समझी जाने वाली भारतीय जाति व्यवस्था को पहली बार जबर्दस्त ठोकर लगी थी। भारतीय जनमानस ही नहीं, समूचा भारतीय वातावरण पहली बार बुरी तरह विक्षुब्ध हो उठा था। इस्लाम कृपाण के बल पर भी, और समानता के अपने उदार आश्वासन के बल पर भी, गुहार गुहार कर उन आचार भ्रष्ट तथा आश्रम भ्रष्ट जातियों को, जो न तो हिंदू थी न मुसलमान, अपने संरक्षण में बुला रहा था।''[2] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का कहना है कि मुसलमानों के आगमन से पहले हिंदू शब्द भारत में रहने वालों के लिए एक सामान्य संज्ञा कभी नहीं रहा। ''इस्लाम के आने के पहले इस विशाल जन-समूह का एक नाम तक नहीं था! अब इसका नाम हिंदू पड़ा। हिंदू अर्थात् भारतीय अर्थात् गैर इस्लामी मत। स्पष्ट ही गैर इस्लामी मत में कई तरह के मत थे-कुछ ब्रह्मवादी

---

1 शिवदान सिंह चौहान- कबीर एक विश्लेषण, पृ० 6

2 शिवकुमार मिश्र- भक्तिकाव्य और लोकजीवन, पृ० 32

थे, कुछ कर्मकांडी थे, कुछ शैव थे, कुछ वैष्णव थे, कुछ शाक्त थे, कुछ स्मार्त थे, और भी न जाने क्या-क्या थे।''[1]

हिंदू समाज की वर्णाश्रम व्यवस्था का अब तक कोई प्रतिद्वंद्वी नहीं था। आचार भ्रष्ट व्यक्ति समाज से अलग कर दिए जाते थे और वह एक नई जाति बना लेते थे। ''इस प्रकार सैंकड़ों जातियां और उपजातियां भ्रष्ट होते रहने पर भी वर्णाश्रम व्यवस्था एक प्रकार से चलती ही जा रही थी। अब सामने एक प्रतिद्वंद्वी समाज था, जो प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक जाति को अंगीकार करने के लिए बद्ध परिकर था। उसकी एकमात्र शर्त यह थी कि वह उसके विशेष प्रकार के धर्म मत को स्वीकार कर ले। समाज से दंड पाने वाला बहिष्कृत व्यक्ति अब असहाय नहीं था। इच्छा करते ही वह एक सुसंघिटत समाज का सहारा पा सकता था।''[2] मुसलमानों के प्रारम्भिक आक्रमणों के समय से ही पूर्व और उत्तर भारत में निम्न वर्ग की जातियों की ओर से विद्रोह का झंड़ा लहराया जाने लगा था। ''बिहार में बौद्ध धर्म का प्रभाव समाप्त होते ही वज्रयान सम्प्रदाय के रूप में बौद्ध तांत्रिकों या सिद्धों का प्रभाव बढ़ा, जो अधिकतर समाज की उपेक्षित और निम्न श्रेणियों से आते थे। बिहार से लेकर बंगाल और आसाम तक इन 'चौरासी सिद्धों' का जन-साधारण पर अनन्य प्रभाव था। सिद्ध और योगी सम्प्रदाय में, जिसमें सबसे प्रमुख गोरखनाथ हैं और जिनके नाम पर नाथ सम्प्रदाय चला, वामाचार रहस्य और गुह्य प्रवृत्तियाँ प्रमुख थीं तथा और भी अनेक उच्च जातियों द्वारा आरोपित धार्मिक और सामाजिक बन्धनों के प्रति निम्न वर्ग के लोगों का अन्धा, अनियन्त्रित विद्रोह था, इसमें कोई सन्देह नहीं। यही कारण है कि इन सिद्धों और नाथ-पन्थी योगियों ने शास्त्रीय स्मार्त मत को तो ठुकराया ही, साथ ही वे उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता पर आधारित किसी भी दार्शनिक मतवाद को

---

1 हजारी प्रसाद द्विवेदी- कबीर, पृ० 180-81

2 हजारी प्रसाद द्विवेदी- कबीर, पृ० 183

मानने को तैयार न थे। नाथ सम्प्रदाय वर्णाश्रम व्यवस्था पर सीधी चोट करता था। इनकी उपासना ध्यान और ईश्वरोपासना के बाह्य-विधानों के प्रति उपेक्षा प्रकट करती थी। इनकी उपासना ध्यान और समाधि के द्वारा होती थी। वे न हिन्दू आचारों के कायल थे, न इस्लामी, यद्यपि योगी जाति के लोग कालान्तर में मुसलमान हो गये थे। वे हठयोग-साधना, अलौकिक करामातों और चमत्कारों के लिए प्रसिद्ध थे। इससे यही सिद्ध होता है कि यह विद्रोह मूलत: लक्ष्यहीन, अंध और अनियन्त्रित था। साधारण जनता इन सिद्धों और योगियों के प्रति सहज ही आकर्षित होती थी, क्योंकि उसे लगता था कि इनका हठयोग वर्ण व्यवस्था, पौराणिक धर्म और भाग्यवाद को चुनौती देता है।''[1]

मुसलमानों के भारत में जम जाने से भारत की राजनीतिक ही नहीं, सामाजिक तथा सांस्कृतिक क्षितिज पर भी, चुनौतियों के काले स्याह बादल मंडरा रहे थे, सारा देश उद्वेलित था, आगे की राह ढूंढ़ने को व्याकुल हो रहा था। एक ऐसी युगांतरकारी घटना घटित हुई जिसने देश के कोटि-कोटि संतप्त जनों को आगे का मार्ग दिखाया। यह युगांतरकारी घटना थी, उत्तर भारत में भक्ति आंदोलन का उदय। ''ग्रियर्सन ने लिखा है, बिजली की चमक के समान अचानक इस समस्त अंधकार के ऊपर एक नई बात दिखाई दी। यह भक्ति का आंदोलन था।''[2] यह ऐसा समय था जबकि सारा उत्तर भारत एक ओर इस्लाम और इस्लामी शासकों के मजहबी आवेश से, और दूसरी ओर शास्त्र वेदसम्मत आचारों की कड़ी जकड़बंदी के फलस्वरूप असहनीय प्रकार की घुटन अनुभव कर रहा था। ''देश के कोटि कोटि सामान्य जन इस्लामी प्रभाव के फलस्वरूप रूढ़ से रूढ़तर होते हुए भारतीय धर्म मतों एवं प्रखर से प्रखरतर होती हुई इस्लाम की उद्दीप्त धर्म भावना से त्रस्त, आतंकित और पीड़ित थे, सच्ची धर्म भावना के ह्रास के फलस्वरूप चमत्कारी साधुओं, सिद्धों और वामाचारियों के द्वारा उन्हें

---

1 शिवदान सिंह चौहान- कबीर एक विश्लेषण, पृ० 8-9

2 शिवकुमार मिश्र- भक्तिकाव्य और लोकजीवन, पृ० 33

गुमराह किया जा रहा था, सामान्य हिंदू और मुसलमान जन एक दूसरे के निकट आने और एक दूसरे को पहचानने को समुत्सुक थे, दक्षिण से आने वाली भक्ति आंदोलन की धारा ने दीर्घकाल से तप्त उनके मन प्राणों को जैसे भीतर तक सींच दिया। सांस्कृतिक तथा सामाजिक जीवन के अवरूद्ध प्रवाह को भक्ति आंदोलन की वेगवती धारा ने धक्का देकर गतिशील कर दिया। जो समाज टूटने और बिखर जाने के लिए जैसे कगार पर खड़ा था, वह एक नई शक्ति पा गया।''[1]

उत्तर में आने वाली भक्ति आंदोलन की यह धारा कोई आकस्मिक घटना नहीं थी। शताब्दियों पहले दक्षिण में सर्वप्रथम आलवारों और आडवारों ने चले आते हुए शास्त्रसम्मत विधि-विधानों को तोड़ते हुए शिव और विष्णु भक्ति का रास्ता सबके सामने सुलभ किया। बाद में रामानुज और उनकी शिष्य परंपरा के रामानंद ने एक कदम और आगे बढ़ाया तथा परंपरागत वैष्णव धर्म की व्यवस्था पर चोट करते हुए भगवत्भक्ति का अधिकार शूद्रों और चांडालों के साथ-साथ मुसलमानों को भी अपनी शिष्य परंपरा में स्थान देकर एक सामान्य मानव धर्म के लिए रास्ता साफ कर दिया। ''शूद्रों, अंत्यजों और मुसलमानों के बीच से, रूढ़ियों के सड़े-गले जम्बाल जाल को काटते हुए, भक्ति के सहज निर्मल प्रवाह से अवगाहन करती हुई और उपेक्षितों, पीड़ितों तथा पद दलितों की जन्म-जन्म की आकांक्षा को फलवती करती हुई संतों की, अंत्यज, शूद्र और मुसलमान संतों की, ऐसी पंक्ति की पंक्ति सामने आई, अब तक के सांस्कृतिक जीवन के इतिहास में जिसकी मिसाल नहीं है।''[2] यह भक्ति आंदोलन अपने समय की राजनीतिक, धार्मिक, और सामाजिक परिस्थितियों की अनिवार्य देन था। वह युग जीवन की ऐतिहासिक मांग बनकर सामने आया था। इसने न केवल अपने समय की राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक जड़ता को

---

1 शिवकुमार मिश्र- भक्तिकाव्य और लोकजीवन, पृ० 33

2 शिवकुमार मिश्र- भक्तिकाव्य और लोकजीवन, पृ० 34

तोड़ा, बल्कि चली आती हुई सांस्कृतिक जीवन की धारा के साथ विजेताओं की नई संस्कृति को घुलाते-मिलाते हुए पहली बार जाति धर्म, वर्ग, वर्ण, आदि से निरपेक्ष एक मानवधर्म तथा एक मानव संस्कृति की परिकल्पना सामने रखी। इसने शताब्दियों से कुंठित और अपमानित देश के करोड़ों साधारण जनों के लिए उनकी सामाजिक मुक्ति तथा आध्यात्मिक परितृप्ति के द्वार भी उन्मुक्त कर दिए, समाज तथा धर्म के ठेकेदारों ने जिन्हें उनके लिए बंद कर रखा था। ''भक्ति आंदोलन के ज्वार में न केवल उच्च वर्गों का अहंकार, वर्ण-दंभ तथा समाज, धर्म और नीति संबंधी उनकी जर्जर मान्यताएँ तिनके के समान ऊब-डूब करती दिखाई दी, सामान्य जन को वह आत्मविश्वास भी प्राप्त हुआ, जिसके सहारे वह सम्मानपूर्ण जिंदगी बिताते हुए अपने धार्मिक तथा आध्यात्मिक मानस को संतोष दे सके।''[1]

इतिहास के विद्वानों ने इस भक्ति आंदोलन के ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक प्रदेय को युगांतरकारी माना है। बहुतों ने इसे सांस्कृतिक नव जागरण की संज्ञा दी है और इस नव जागरण के नेता रामानंद को एक क्रांतद्रष्टा, युगप्रवर्त्तक व्यक्ति घोषित किया है। रामानंद निस्संदेह उत्तर भारत के सांस्कृतिक नव जागरण के अग्रदूत थे। देश के बिखरते तथा विषैले होते हुए सांस्कृतिक तथा सामाजिक जीवन को उन्होंने संजीवनी प्रदान की। ''जाति-पाति वर्ग और वर्ण की दीवालें ढहाते हुए उन्होंने भक्ति का पथ सबके लिए सुगम कर दिया और इस प्रकार समाज तथा संस्कृति की मृत होती हुई बौद्धिक तथा भावात्मक चेतना को नया जीवन प्रदान किया। सवर्ण, असवर्ण, शूद्र, चांडाल और मुसलमान, उन्होंने सबको गले लगाया और राम नाम का मंत्र देते हुए सबको समान निष्ठा तथा समान लक्ष्य के एक सूत्र में बांध दिया।''[2] राम नाम के उनके मंत्र ने सगुण और निर्गुण की जिस लहर ने रामानंद में अपना

---

1 शिवकुमार मिश्र- भक्तिकाव्य और लोकजीवन, पृ० 34-35

2 शिवकुमार मिश्र- भक्तिकाव्य और लोकजीवन, पृ० 35

स्रोत प्राप्त किया, वह उत्तर भारत में ही नहीं, पूर्व और पश्चिम में भी शतधा धाराओं में प्रवाहित हुई। भक्ति आंदोलन एक ऐसी प्राणशक्ति के रूप में उभरा था। जिसने समूचे देश को जैसे फिर से अपने पैरों पर खड़ा कर दिया। समझौते का रास्ता छोड़कर विद्रोह का रास्ता अपनाते हुए निर्गुण भक्ति की जो धारा भक्ति आंदोलन की स्रोतस्विनी से फूटी, गुरु रदिदास और कबीरदास उसकी सबसे ऊँची लहर के साथ सामने आए। महात्मा कबीर की वाणी का स्वर रविदास से कुछ भिन्न था। रविदास जहां समाज के दमन और शोषण को सहकर वाणी का शीतल संचार करते हैं, वहीं कबीर अक्खड़ मुद्रा में सामने आते हैं।

6.2 गुरु रविदास और कबीरदास के समाज का सामान्य चित्रण

हज़ारों वर्ष से भारतवर्ष में वेदों की स्थापना और उसकी परम्परा काफी दृढ़ रही है। आध्यात्मिक जीवन और लौकिक कर्म लगभग उसी से संचालित होते रहे। वेद हमारी विचारधारा के ही स्रोत नहीं थे बल्कि जीवन पद्धति के समर्थक भी रहे हैं। भारत के चिन्तक, विचारक आदि सभी वैदिक चिन्तन और लोक व्यवहार से प्रभावित रहे हैं। ''प्राचीन काल में ऋषि मनीषियों ने धर्म के नाम पर जितने मत एवं विचार प्रकट किए थे सब सामाजिक सर्वोदय के लिए थे। धर्म एवं वर्ण की सभी व्यवस्थायें मानव विकास के लिए थीं। हरेक मनुष्य अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार अपने-अपने क्षेत्र में कुशलता प्राप्त करता था। हरेक वर्ण की कुशलता उत्पादक थी और सारे देश का उत्पादन सामाजिक कल्याण के लिये होता था पर बाद के कालों में धर्म एवं वर्ण का स्वरूप विकृत हो गया। उसमें नाना प्रकार के मिथ्याचार जुड़ते गये। मध्यकाल में धर्म एवं जाति की विविध असमानता थी। सभी धर्मो में पाखण्ड भ्रष्टाचार एवं विविध ढकोसले प्रचलित थे। वैदिक काल में जो देवी देवताओं की विविध उपासना समाज में प्रचलित थी वह मध्यकाल में भी विद्यमान थी। पुराण,

उपनिषद् तथा अन्य धार्मिक ग्रन्थों की कथायें समाज में प्रचलित थीं। पूरा समाज लीला रस गान में मुग्ध था। पण्डित और पाँडे उसके प्रचारक थे। ईश्वर के अनेक अवतारों में सबकी गहन आस्था थी और उसी के आधार पर विविध भारतीय धर्म भी बने हुये थे।''[1] मध्यकालीन जनता ऐसे धार्मिक वातावरण में जी रही थी जो कि उसे परम्परा से प्राप्त हुआ था। मध्यकाल भारतवर्ष के लिए धर्म-प्रवण काल था और उस काल में सामाजिक पुनर्गठन या सुधार का कार्य धर्म की ही भाषा में सर्वश्रेष्ठ रूप से हो सकता था। उस काल के सभी समाज सुधारक, महापुरूष राजदर्शी नहीं, धर्म प्रवण या धार्मिक महापुरूष ही हुए हैं। मध्यकाल का सामाजिक ढाँचा धर्म की भित्ति पर खड़ा था। अत: मध्यकाल में कोई भी सामाजिक विचार धर्म से स्वतंत्र नहीं चल सकता था। इसीलिए समाज सुधार का कार्य पहले धर्म सुधारने से ही हो सकता था।

वैदिककाल से ही समाज में विचार की दो धारायें चली आ रही हैं। एक विचारधारा वेद सम्मत मान्यताओं में विकसित हुई और दूसरी विचारधारा उसकी प्रतिक्रिया के रूप में । बौद्ध और जैन धर्म वैदिक कर्मकाण्डों की प्रतिक्रिया के रूप में पैदा हुए। गौतम बुद्ध एक ऐसे क्रान्तिकारी और सजग चिन्तक हुए जिन्होंने उस परम्परा से भिन्न कुछ सोचा और उसे व्यावहारिक रूप दिया। बौद्ध धर्म का आविर्भाव उस काल में हुआ जब समाज में अनेक प्रकार की हिंसायें और कर्मकाण्ड प्रचलित थे और हर एक व्यक्ति को ऐच्छिक कर्म करने का अधिकार नहीं था, किन्तु कालान्तर में गौतम बुद्ध की यह क्रान्तिकारी चिन्तन धारा बहुत अधिक रूढ़िग्रस्त हो गयी और चिन्तन का स्थान परम्पराओं और रूढ़ियों ने ले लिया। 14वीं-15वीं शताब्दी में इस्लाम का प्रचार भारत में हो चुका था। शासन सत्ता मुसलमान शासकों के हाथ में होने के कारण इस धर्म का कलेवर शक्तिशाली हो चुका था। इस काल में हिन्दुओं तथा

---

1 डॉ० प्रहलाद मौर्य- कबीर का सामाजिक दर्शन, पृ० 67

मुसलमानों के बीच की लड़ाई का मुख्य कारण 'धर्म' था जिससे अर्थ, राजनीति और पूरा समाज लिपटा हुआ था। धर्म मानव समाज को विविध पाखण्डों में भुलाये था। राजनीतिक परिवर्तनों के कारण आर्थिक स्तर असमान हो गया था जिससे समाज के प्रत्येक पहलू में संघर्ष था। जिससे सामाजिक प्रगति रूक गई थी। उस समय हिन्दू-मुसलमान दो धर्मों का पारस्परिक विरोध अधिक था। उनका धर्म सत्य से दूर असत्य के निकट तथा विविध पाखण्डों के साथ वयवहृत था।

6.21 समाज की स्थिति

मध्यकाल में लोक व्यवहार को ही धर्म माना गया था। जिसका स्वरूप कर्मकाण्ड, पाखण्ड एवं बाह्यचारों से निर्मित था। यह कर्मकाण्ड पण्डितों द्वारा अशिक्षित जनता को भुलावा देने के लिए बनाये गये थे। हिन्दू धर्म यथार्थ से बहुत दूर जा चुका था। समाज में अनेक जातियां थीं और उन जातियों के अलग-अलग धर्म थे। हिन्दू-समाज में बहुत गिरावट आ चुकी थी। पण्डित लोग दूसरों से पर सेवा, पर उपकार, दान, पुण्य आदि की बातें करते थे पर स्वयं इससे कोसों दूर थे। इन पण्डितों में पवित्रता का ढोंग बहुत था पर दैनिक जीवन के व्यवहार से वे उतरे हुए थे। हिन्दू धर्म में मूर्ति पूजा की महत्ता थी। जिससे समाज में ओर पिछड़ापन आ गया था। हिन्दुओं में पत्ती, फूल तोड़कर मूर्ति पर चढ़ाना, तिलक लगाना, माला का जाप करना, देवी देवता के नाम पर एकादशी आदि पर व्रत रखना, तीर्थ करना आदि का प्रचलन था। इस प्रकार के अनेक रीति-रिवाज़ हिन्दू समाज में प्रचलित थे। बाह्यकर्मों में लोग सुख-सन्तोष का अनुभव करते थे, इसीलिए उनका आत्म-चिन्तन अधूरा था। आडम्बरों में फँसे हुये लोग आत्मा की पवित्रता को भूल कर देवों की प्रतिमाओं पर फूल चढ़ाकर, तीर्थों के जल में स्नान कर सारे मल धुल जाने में विश्वास करने लगे थे। उस समय हिन्दू समाज को अनेक प्रकार के अंधविश्वासों ने घेर रखा था। कर्म चाहे कितने ही जघन्य क्यों न हों और मन चाहे कितना ही कलुषित क्यों न

रहे, किन्तु किसी देव के नाम पर यज्ञ करा देने से या गंगा-जल का आचमन कर लेने से कोई पाप नहीं लगता। ''मूर्ति किस पत्थर की हो, उसे कौन-सी नदी के जल से स्नान कराया जाए, माथे पर किस रंग का और किस आकार का तिलक हो, माला कैसे और कितनी बार किस दिशा की ओर मुँह करके फेरी जाए-इन सबके लिए विधि-विधान बने। उनके समर्थन में पुराणों के प्रमाण दिए गए। इन नियमों पर चलना भगवान् के प्रेम से कहीं अधिक अनिवार्य था। जादुई शक्ति रखने का दावा करने वाले योगियों की भरमार थी। आदमी को तोता बना देना, लोहा का सोना बनाना, फूँक से रोगी को ठीक कर देना आदि ऐसे सैकड़ों नुस्खे इन योगियों के पास होते थे। इन उपलब्धियों के लालच में लोग इनके आस-पास चक्कर लगाते रहते थे। इस प्रकार ढोंगी साधुओं और उनके स्वार्थी भक्तों ने धर्म को भी एक लाभकारी रोज़गार बना लिया था। लंबी-लंबी जटाएँ रखना, कान फड़वाना, पैरों में लोहे की जंजीरें पहनना, गले में खोपड़ियों की माला पहनकर श्मशान भूमि पर अपना घर बनाना आदि, इन भक्तों की पहचान के चिह्न थे। ऐसे पाखंडियों की गिनती ज्ञानियों और सच्चे भक्तों में हो रही थी। रोज एक-न-एक नया पंथ जन्म ले रहा था। हर पंथ का उद्देश्य दूसरे पंथ को झूठा सिद्ध करना ही रह गया था।''[1] इस प्रकार हिन्दू समाज गिरावट की ओर जा रहा था।

इस काल में मुस्लिम समाज की स्थिति भी अत्यन्त शोचनीय थी। इस धर्म में भी अनेक पाखण्ड एवं धर्मान्धता विद्यमान थी। इसमें बच्चे का खतना कराना, मरने पर कब्र देना, खुदा के नाम पर मस्जिद में जाना और चिल्लाना, मक्का मदीना की तीर्थ यात्रा करना आदि पाखण्ड विद्यमान थे। मुस्लिम धर्म में एक अल्लाह के अतिरिक्त अन्य किसी के सम्मुख सिर झुकाना कुफ्र माना जाता था। ''मुसलमान भी मुर्ग़ी को हलाल कर, गऊ को मारकर, बिसमिल्लाहमात्र से जन्नत (स्वर्ग) में जाने के ख्वाब देखा करते थे। उनके लिये साल भर में तीस दिन के रोज़े और दिन में पाँच

---

1 प्रभा दीक्षित- कबीर, पृ० 14-15

बार की नमाज़ अल्लाहताला के दरबार में पहुँचाने का साधन रह गई थी। रोज़ा और नमाज़ के मूल तत्त्व को उस समय का मुस्लिम समाज भी भूला हुआ था। कर्मों की जघन्यता और मन की कलुषितता उसमें भी हिन्दुओं ही की तरह विद्यमान थी। उनके पीर (धर्म गुरु) बेपीर और मुल्ला मजहब के ठेकेदार, हिंदुओं के पंडों की तरह ही बने हुये थे, जो धर्म के वास्तविक तत्त्व से हीन और बाह्याडम्बरों में लीन थे। हिंदुओं के लिये सिर पर चोटी रखना, गले में जनेऊ डालना, छुआछूत का विचार करना ही धर्म हो गया था और मुसलमान किसी काफिर हिन्दू को मुसलमान बना लेना धर्म का कार्य समझे हुये थे।''[1] एक अल्लाह को मानने वाले मुसलमान भी बुराइयों और आडंबरों से मुक्त न थे। ''पैगंबर मुहम्मद साहब ने तो इस्लामी समाज में वर्ग-भेद को कोई जगह नहीं दी थी, लेकिन उनके बाद के मुसलमान अपने पैगंबर की बनाई हुई राह पर नहीं चले। मुसलमानी समाज में भी ऊँच-नीच का भेद घुस आया। गरीब, अनपढ़ भारतीय मुसलमान जनता भी वैसे ही मुल्लाओं के हाथ की कठपुतली बन गई जैसे हिन्दू जनता हिन्दू पंडितों के हाथों की। मुल्ला वर्ग भी ऐसे-ऐसे ढोंग रच रहा था जिससे उसको लाभ हो और जो इस्लाम को निरालेपन की ओर ले जाए। हिन्दू योगियों की तरह ऐसे मुसलमान फ़कीर भी पैदा हो गए जो जादुई ताकत रखने का दम भरते थे। अल्लाह इनकी हर बात मानता था। इस्लाम में पत्थर या आदमी की पूजा करना धर्म-विरूद्ध है, किन्तु भारतीय मुसलमान जनता भी बुतपरस्ती से दूर नहीं थी। सूफी संतों और फ़कीरों की कब्रों पर फूल-बताशे चढ़ाना अथवा दीपक जलाना साधारण बात हो गई थी। मिन्नत-मुरादें लेकर लोग हज़ारों मील की दूरी तय करके इन कब्रों पर जाते थे। मज़ार के पीरों को इतना ऊंचा उठाया गया कि उनकी और ईश्वर की शक्ति में कोई अंतर ही नहीं रह गया था।''[2] इस सामाजिक दुर्व्यवस्था के कारण ही समाज का ढाँचा बिगड़ गया था और समाज पतन की ओर बढ़ रहा था।

---

1 पं० लक्ष्मी कान्त 'मुक्त'- हिन्दी-साहित्य और उस के निर्माता, पृ० 56

2 प्रभा दीक्षित- कबीर, पृ० 15-16

इस युग में जातिवाद की समस्या जटिल थी। जिसने समाज को विभिन्न वर्गों में बाँट दिया था और समाज में संघर्ष की विभिन्न स्थितियाँ पैदा हो गयी थीं। तत्कालीन समाज में हिन्दू-मुसलमान का जातिगत भेद-भाव बहुत था। हिन्दू-मुसलमान के दो अलग-अलग समाज थे और दोनों की अलग-अलग व्यवस्थायें थीं। हिन्दू समाज में ब्राह्मण अपने को पवित्र और सर्वश्रेष्ठ समझते थे। हिन्दुओं में अनेक जातियाँ थीं जिनमें एक दूसरे के प्रति ऊंच-नीच, छुआछूत का भेद भाव था। मुसलमान भी अपने को कट्टरधर्मी और शक्तिशाली समझते थे। मुसलमानों में भी अनेक सम्प्रदाय होने के कारण वे एक दूसरे से अलग हो गए थे। इस प्रकार हिन्दू-मुसलमान दोनों वर्गों पर जातीयता का पक्का रंग चढ़ गया था। हिन्दू समाज में विभिन्न जातियों के सीमित कर्म और सीमित अधिकार होने के कारण उनका जीवन एकांगी हो गया था। ''ब्राह्मण केवल पठन-पाठन के अधिकारी होने के कारण धनहीन थे। क्षत्रिय अपने राज्य की रक्षा के लिये युद्ध क्षेत्र में कटते-मरते थे पर अन्य लोग सुरक्षित थे वैश्य लोग परिश्रम से खेती में काम करते थे और उनकी आय का अधिकांश भाग राजस्व में चला जाता था। शूद्र सबकी सेवा करने पर भी भूखे और वस्त्रहीन थे। चारों इन प्रमुख जातियों के कर्म एवं अधिकार एक दूसरे से भिन्न होने के कारण पारस्परिक क्षोभ था।''[1] इस प्रकार यह समाज अनेक बुराईयों से ग्रस्त था।

6.22 हिन्दू-मुस्लिम में राम-रहीम का झगड़ा

तत्कालीन समाज में ईश्वर के अनेक नाम प्रचलित थे। समाज में राम-रहीम के नाम पर बड़ा मतभेद था। हिन्दू राम के नाम को महत्त्व देते तथा मुसलमान रहीम को। एक तरफ काजी मुल्ला अपने मज़हब के पक्के थे तो दूसरी तरफ पण्डित, पाँड़े अपने धर्म के। ईश्वर के नाम पर साधारण जनता, पाडे, मुल्ला सभी टकरा जाते थे। दोनों की उपासना में भी बड़ा मतभेद था। मुल्ला मस्जिद में नमाज पढ़ते थे और अल्लाह का नाम लेकर चिल्लाते थे। दूसरी ओर हिन्दू मन्दिर में जाकर मूर्ति की

---

1 डॉ० प्रहलाद मौर्य- कबीर का सामाजिक दर्शन, पृ० 60

उपासना करते और माला का जाप करते थे। यह दोनों धर्म अपनी संकुचित विचारधारा के कारण समाज में शांति की जगह अशांति को बढ़ाते गये। जिसका प्रभाव साधारण जनता पर अधिक पड़ा।

6.23 विकारग्रस्त समाज

प्रस्तुत समाज का सारा वातावरण अनेक दुर्गुणों से दूषित था। बड़े वर्ग से लेकर छोटे वर्ग तक नैतिकता का पतन हो गया था। इस समाज में जितने क्रिया व्यापार चल रहे थे सबमें स्वार्थ की गति थी। इसी स्वार्थ के आकर्षण में समाज का सारा शरीर बँधा हुआ था। लोग एक दूसरे को धोखा देकर अपना स्वार्थ सिद्ध कर रहे थे। तत्कालीन समाज के काजी, मुल्ला व पाँड़े भी समाज के ठग ही थे जो लोगों को भ्रम में डालकर अपना स्वार्थ सिद्ध कर रहे थे। कनक, कामिनी पूरे समाज को पग-पग पर उलझाये हुये थी। जिससे समाज में विलासी वातावरण पैदा हो गया था। सुन्दरियों का बलात् अपहरण तथा राज दरबार में बहुनारी संग्रह विलासिता के प्रतीक थे। साधारण जनजीवन भी अंशत: इस प्रकार के वातावरण से प्रभावित था। वेश्यागमन तथा मद्यपान का भी प्रचलन था। चोरी, बेईमानी, घूसखोरी आदि कुकृत्यों से समाज में भ्रष्टाचार फैल रहा था। थोथे अभिमान की भावना इस समाज में काफी उग्र थी। पण्डित, योगी, सन्यासी, तपस्वी सभी अपने-अपने क्षेत्र में अपने को निपुण मानते थे। सभी अपनी-अपनी विचारधारा में जीवित थे।

तत्कालीन समाज में मानव-मानव में भेद उत्पन्न करने वाले बाह्याडम्बरों, मज़हबों, रूढ़ियों और अन्धविश्वासों का पूरा ज़ोर था। ऊंच-नीच के भेद की खाई इतनी बढ़ चुकी थी कि मनुष्य-मनुष्य के बीच घृणा का व्यापार चल रहा था। वर्णाश्रम धर्म की मर्यादा के नाम पर उस समय हिन्दू समाज में छुआछूत के साथ जातियों की अस्पृश्यता का मिथ्या प्रचार हो गया था। चारों ओर धर्म के नाम पर

मानव-मानव के बीच दु:ख-दैन्य का प्रसार हो रहा था। जिससे लोगों में एक-दूसरे के प्रति प्रेम का अभाव हो गया। प्रेम ऐसा गुण है जिसे पाकर मनुष्य स्वयं महान् बन जाता है और पूरी मानवता का उद्धार करता है। इससे व्यक्ति का ही नहीं वरन् समष्टि का विकास होता है, परन्तु तत्कालीन समाज में प्रेम का वास्तविक रूप तिरोहित हो गया था। जिससे समाज में प्रेम की ज्योति का प्रकाश बुझ गया था।

6.24 अकर्मण्यता और आर्थिक असमानता

प्रस्तुत समाज में सामाजिक विकास के लिए कोई संगठित व्यवस्था नहीं थी। जिसे जो अच्छा लगता वही करता था। कोई साधु-सन्यासी बन कर घूमने लगता तो कोई पुजारी बनकर मन्दिर या मठ में जाकर बैठ जाता। ये पलायनवादी कामचोर लोग थे जो बिना कोई काम किये अपना पेट भरना चाहते थे। वास्तव में ये लोग समाज का भार थे जो कोई भी उत्पादक कार्य नहीं करते थे। समाज में ऐसे लोगों की कमी नहीं थी जो अपने को कर्म से मुक्त कर बैठे थे। जंगलों में जाकर जीवनयापन करना तथा आश्रम में रहकर षट्कर्म करने वालों से समाज भरा पड़ा था।

तत्कालीन समाज का आर्थिक सतर बहुत असमान था। शासक और शासित, धनी और गरीब का अन्तर बढ़ता ही जा रहा था। इस अन्तर ने समाज में अनेक तरह के संघर्ष पैदा कर दिये थे। अर्थ संग्रह पर सबकी दृष्टि थी। आर्थिक स्तर पर मनुष्य छोटा-बड़ा समझा जाता था। जहाँ धनी वर्ग सम्मान पाता था तो निर्धनों का कोई आदर नहीं था। धनी वर्ग विलासी एवं सुखी जीवन जी रहा था तथा ऊँचे महलों में ऐशे-आराम ले रहा था, वहीं निर्धन वर्ग अनेक संकटों का सामना कर जीवित था। धन का असमान वितरण सामाजिक संगठन के विघटन के लिये ज़िम्मेदार था। इस सामाजिक दुर्व्यवस्था में किसी को इतनी सुविधाएँ प्राप्त थीं कि वह उचित रूप से भोजन करते थे और कई ऐसे थे जिन्हें एक समय का भोजन भी प्राप्त न होता था। कोई सुख साधनों से पूर्ण सम्पन्न था और कोई फटे पुराने वस्त्र भी नहीं पा रहा था।

आर्थिक असमानता और उसके कारण उत्पन्न संघर्ष समाज में सदैव से ही विद्यमान रहा है परन्तु मध्यकाल में यह संघर्ष काफी गतिशील हो गया था। यह युग ही सामन्तवादी युग था।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि प्रस्तुत समाज में मानव का मानव से भेद, धनियों द्वारा गरीबों का शोषण, बाह्याडम्बर, ईश्वर के नाम पर झगड़ा, विलासिता का प्रसार, प्रेम का अभाव, अकर्मण्यता सभी बुराईयाँ विद्यमान थीं। जिससे समाज का विघटित होना स्वाभाविक था।

6.3 गुरु रविदास और कबीरदास के सामाजिक विचार

भारतीय समाज की कुरीतियों में सुधार करने में तथा समाज को नई दिशा की ओर ले जाने में मध्यकालीन संतों का बड़ा योगदान रहा है। यह संत निम्न जाति से होते हुए भी उच्च विचारों वाले तथा अनपढ़ होते हुए भी महाज्ञानी थे। इन्होंने शिक्षा का अध्ययन स्वानुभूति की पाठशाला में लिया था। तभी इनका ज्ञान सच्चा तथा स्वच्छ था। इन संतों का आविर्भाव ऐसे युग के समाज में हुआ जो परम्परागत रूढ़ियों, विविध कर्मकाण्डों एवं व्यक्तिगत दुर्गुणों आदि से भरा पड़ा था। संतों ने अपने समाज को बड़े ध्यानपूर्वक देखा तथा उसकी भलाई-बुराई दोनों का पर्यवेक्षण किया। ''समाज में जो 'सुरूप' था उसका उन्होंने आदर किया और उसके प्रति सन्तोष व्यक्त किया; और जो 'कुरूप' था उसकी निन्दा की। सुरूप और कुरूप दोनों सामाजिक पक्षों पर ध्यान रखते हुए भी उन्होंने कुरूप को बड़ी सूक्षमता से देखा। समाज की छोटी से छोटी बुराई भी उनकी दृष्टि से दूर न हो सकी। उसके निकाल फेंकने के लिए उन्होंने आलोचना एवं भर्त्सना का मार्ग अपनाया।''[1] संतों का लक्ष्य आलोचना करना नहीं था, वे बुराईयों को नष्ट करने के लिए ही आलोचना करते थे।

---

1 डॉ० सरनाम सिंह शर्मा- कबीर: एक विवेचन, पृ० 153

इसीलिए इनकी आलोचना निन्दा के क्षेत्र में नहीं रखी जाती। गुरु रविदास और कबीरदास अपने समाज के बहुमूल्य रत्न थे। जिन्होंने अपने समाज की रूढ़ियों और विषमताओं को मिटाकर समाज में समता को प्रतिष्ठित करने का बीड़ा उठाया । यह संत केवल भारतीय समाज के लिए ही नहीं अपितु पूरी मानव जाति के लिये अनमोल हैं।

''भारतीय समाज अनेक श्रेणियों, वर्ग जाति वर्ण आदि में विभक्त है। भारतीय परंपरा में अपनी सामाजिक स्थिति और क्रिया-कलापों की दृष्टि से समाज के चार वर्ण माने गये हैं-ज्ञान प्रमुख, क्रिया प्रमुख, इच्छा प्रमुख और श्रम प्रमुख। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र क्रमशः इन्ही चार प्रकारों से संबंधित हैं। यही चार वर्ग बने।''[1] ''वर्णाश्रम व्यवस्था को भारतीय समाज की सामान्य भलाई हेतु और सामाजिक व्यवस्था स्थापित करने के उद्देश्य से स्वीकार किया गया था, मगर कालांतर में पुजारी वर्ग की स्वार्थ वृत्ति, पद-लोलुपता और शासकीय ऐंठ के कारण ये संस्थाएं सर्वथा विकृत हो गई। जाति-पाति, अलगाववाद, साम्प्रदायिकता, मिथ्याडम्बर, दूषित आर्थिक लूट-पाट, गैर इन्सानी सामाजिक व्यवहार, निन्दनीय नैतिक आचार-विचार हमारे समाज का अंग बनते गए अथवा ऊंच-नीच का असाध्य रोग हमारे समाज के लिए सर्वाधिक विनाशकारी सिद्ध हुआ।''[2]

मध्यकाल में समाज के ठेकेदार एक ओर पण्डे पुजारी और दूसरी ओर मुल्ला मौलवी अपने ढंग से अपने शासन-तंत्र की बागडोर संभाले हुए थे। हिन्दू समाज की तरह मुस्लिम समाज में जातियां तो थीं, लेकिन हिन्दुओं जैसी कठोर जाति-पात नहीं था। उनमें व्यापक छुआछूत भी नहीं थी। धर्म के नाम पर एक प्रकार का उन्माद छाया रहता था। मस्जिद में सभी नमाजी एक हो जाते थे। ''बाद में जब भारत में

---

1 सं० मीरा गौतम- गुरु रविदास वाणी एवं महत्त्व, पृ० 241

2 डॉ० धर्मपाल सिंहल- गुरु रविदास जीवन एवं दर्शन, पृ० 51

मुसलमानों के पैर जम गए तो उनमें भी सामाजिक-आर्थिक दृष्टि से कई श्रेणियां पैदा हो गई। इनमें 'अहले-दौलत' वर्ग सर्वश्रेष्ठ था, जिसमें शासक वर्ग, अमीर उमरा, सरदार और सेनापति आते थे। दूसरे वर्ग में 'अहले-सादत' की गिनती थी। इसमें उलेमा, काजी, सय्यद और शिक्षित वर्ग आता था। इसकी मुस्लिम संप्रदाय में खासी इज्ज़त थी। तीसरी श्रेणी में 'अहले मुराद' की थी जिसमें शायर, संगीतज्ञ, गायक, नृत्यांगनाएं आदि आते थे। मुसलमानों में निचले तबके में दस्तकार, किसान, व्यापारी, छोटे-मोटे फेरी वाले और दुकानदारों की गिनती थी। इनसे भी छोटे कलन्दर और फकीर थे। गुलामों की मुस्लिम समाज में फकीर से नीचे की श्रेणी थी।''[1] गुरु रविदास और कबीरदास जिस समाज में पले-बढ़े थे, वह समाज अनेक बुराईयों से भरा पड़ा था। जिसमें उच्च वर्ग के लोग निम्न वर्ग को अच्छी नज़र से नहीं देखते थे। उनका शोषण करते तथा उन्हें गुलाम बनाकर रखते थे। गुरु रविदास और कबीरदास की समाज दृष्टि को पूरी तरह से समझने के लिए इसे पाँच मुख्य प्रसंगों में विभाजित किया जा सकता है वे प्रसंग हैं-जाति तथा वर्ण व्यवस्था, धर्म-संप्रदाय, धन, नारी की स्थिति और मानवतावाद।

6.3 1 गुरु रविदास और कबीरदास के जाति तथा वर्ण व्यवस्था सम्बन्धी विचार

6.3 11 गुरु रविदास के जाति तथा वर्ण व्यवस्था सम्बन्धी विचार

मध्यकालीन विकट एवं घोर अंधकार पूर्ण परिस्थितियों में जिन संत भक्तों ने भारतीय समाज को, उसमें भी विशेषतया निराश एवं दलित प्रपीड़ित वर्ग को नवजीवन और आशा एवं आश्वासन भरा व्यावहारिक संदेश दिया उसमें गुरु रविदास जी अग्रणी हैं। उनका पवित्र जीवन और महान् संदेश समाज को नवीन शक्ति एवं प्रेरणा देने वाला है। उनकी वाणी दिशाहीन मानव को उचित दिशा बताने में पूरी सामर्थ्य रखती

---

1 कन्हैयालाल चंचरीक- संत रविदास जीवन और दर्शन, पृ० 96

है। रविदास जी ने समाज में फैली बुराईयों का खुलकर विरोध किया पर आपका यह खण्डनात्मक पक्ष कटु एवं उग्र नहीं था। आपने समाज में व्याप्त पाखण्ड, अनाचार, दुराचार आदि को नष्ट-भ्रष्ट करने में कोई कसर नहीं छोड़ी।

6.3 111 जातिवाद के विरोधी

गुरु रविदास जातिवाद के कट्टर विरोधी हैं। आप का मानना है लोग जाति पाति के चक्कर में फंसे हुए हैं और यह जाति भेद महारोग है जो मानवता को खाये जा रहा है। यह जन्म-जाति-भावना मनुष्य को मनुष्य नहीं समझने दे रही है, जिससे मनुष्य की मनुष्यता का नाश हो रहा है-

''जात पांत के फेर महि, उरझि रहइ सभ लोग।
मानुषता कूं खात हइ, 'रविदास'जात कर रोग।।''[1]

रविदास कहते हैं किसी की जाति मत पूछो यह जाति-पाति कुछ नहीं है ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सब की एक ही जाति है, और वह जाति है-मानव।

"'रविदास' जाति मत पूछइ, का जात का पात।
बाह्मन खत्री बैस सूद, सभन की इक जात।।"[2]

रविदास ने हिन्दू और मुसलमान दोनों जातियों में भी एकता स्थापित करने का सफल प्रयास किया है। आपके अनुसार हिंदू और मुसलमान में कोई भेद ही नहीं है। दोनों का जन्म एक ही तरह से हुआ है। दोनों की आत्मा, दोनों का शरीर और शरीर का रक्त तथा मांस सब समान ही है-

''हिंदू तुरक मंह नहीं कछु भेदा, दुइ आयहु इक द्वार।
प्राण पिंड लोहु मांस एकइ, कहि 'रविदास' बिचार।।'[3]

---

1 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद- रविदास दर्शन, पृ० 125
2 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद- रविदास दर्शन, पृ० 129
3 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद- रविदास दर्शन, पृ० 154

6.3 112 चार वर्ण सम्बन्धी विचार

रविदास जी ने चारों वर्ण की परिभाषा बड़े ही सुन्दर रूप से की है। डॉ० धर्मवीर ने अपनी पुस्तक 'सन्त रैदास का निर्वर्ण सम्प्रदाय' में रविदास द्वारा दी गई चार वर्णों की परिभाषाओं तथा मनु स्मृति में दी गई चार वर्णों की परिभाषाओं की तुलना बहुत ही आकर्षक ढंग से की है। धर्मवीर जी लिखते हैं- ''जब मनुस्मृति ने ब्राह्मण के कर्म पढ़ने और पढ़ाने के बताए हैं तो रैदास ने उसके काम, क्रोध, मद और लोभ को तजने के चारित्रिक बल पर ज़ोर दिया है। क्षत्री के बारे में मनुस्मृति ने कहा है कि उसका कर्म प्रजा की रक्षा है लेकिन रैदास ने कहा है उसका कार्य दीन-दुखियों की रक्षा का है। मनुस्मृति ने वैश्य के लिए ब्याज और खेती उसके कर्मों में गिनाए हैं लेकिन रैदास ने चाहा है कि वैश्य का काम है कि वह सच्ची तराज़ू पर सच्चा सौदा दे। जहाँ मनुस्मृति ने शूद्र का एकमात्र कर्म बाकी तीनों वर्णों की सेवा बताया है, वहाँ रैदास ने कहा है कि शूद्र वही है जो सबसे अधिक पवित्र व्यक्ति है। इस प्रकार मनुस्मृति और रैदास के सामाजिक सिद्धान्तों में धरती और आसमान का अन्तर है।''[1] रविदास ने इस वर्ण व्यवस्था का प्रबल प्रतिरोध किया है।

6.3 113 परब्रह्म – स्रोत

रविदास जी ने अपनी उदारता से समस्त मानव जाति को एकता के सूत्र में बाँध कर जातिगत भेद को व्यर्थ बताया है। आपके अनुसार सारे मनुष्यों को बनाने वाला एक है। सभी एक ही ब्रह्मबूंद से उत्पन्न हुए हैं-

"'रविदास' उपिजइ सभ इक बूंद ते, का बाह्मन का सूद।
मूरिख जन न जानइ, सभ मंह राम मजूद।।"[2]

एक अन्य स्थल पर कहते हैं-

''ब्राह्मन अरु चंडाल मंहि, 'रविदास' नंह अंतर जान।
सभ मंहि एक ही जोति है, सभ घट एक भगवान।।'[3]

---

1 डॉ० धर्मवीर- सन्त रैदास का निर्वर्ण सम्प्रदाय, पृ० 56
2 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद- रविदास दर्शन, पृ० 50
3 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद- रविदास दर्शन, पृ० 56

6.3 114 ऊंच–नीच का विरोध

रविदास जी कर्मों की महत्ता बताते हुए कहते हैं केवल जन्म से ही मनुष्य नीच नहीं होता । नीच कर्मों के कारण ही मनुष्य नीच होता है–

"'रविदास' जन्म के कारनै, होत न कोउ नीच।
नर कूं नीच करि डारि है, ओछे करम कौ कीच।।"[1]

एक अन्य स्थल पर वे कहते हैं अच्छे कर्म से मनुष्य उच्च तथा बुरे कर्म से नीच बनता है–

"'रविदास' सुकरमन करन सो, नीच ऊंच हो जाय ।
करइ कुंकरम जौ ऊंच भी, तौ महा नीच कहलाय।।"[2]

6.3 115 कर्म सम्बन्धी विचार

रविदास जी का मानना है जन्म के आधार पर जाति निश्चित करने का सिद्धांत छोड़ देना चाहिए । व्यक्ति का व्यवसाय ही प्रधान होता है। वेदों की विचारधारा के अनुसार यही सत्य है कि मनुष्य की जाति का आधार जन्म नहीं अपितु उसका कर्म है। जो वह अपने जीवन निर्वाह के लिए करता है–

''जन्म जात कूं छांड़ि करि, करनी जात परधान।
इह्यौ बेद कौ धरम है, करै 'रविदास' बखान।।'[3]

6.3 12 कबीरदास के जाति तथा वर्ण व्यवस्था सम्बन्धी विचार

हिन्दी साहित्य में कबीरदास का स्थान एक सुधारक के रूप में अक्षुण्ण है। कबीर का आविर्भाव उस समय हुआ था। जब राजनीति दूषित थी, धर्म रूढ़ियों से आक्रान्त था और सामाजिक संगठन शिथिल तथा अस्त व्यस्त था।

---

1 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद– रविदास दर्शन, पृ० 129
2 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद– रविदास दर्शन, पृ० 132
3 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद– रविदास दर्शन, पृ० 126

कबीर एक युगद्रष्टा थे। उनकी दृष्टि समग्र जीवन पर थी और जीवन समाज का एक अंग है। इसीलिए उसे भी वे अपनी दृष्टि से ओझल नहीं कर सके। कबीर का युग व्यक्तिवादी दृष्टिकोण का था। सामाजिकता उस समय थी नहीं। कबीर के आविर्भाव काल में समाज की दशा अत्यन्त विषम एवं शोचनीय थी। सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था जातिगत आचार विचार, वंशगत ऐश्वर्य-मद एवं ऊंच-नीच की भावना पर आधारित थी। सारा समाज एक प्रकार की जड़ता और मूल्य-मूढ़ता की स्थिति को पहुँच चुका था। सामाजिक क्षेत्र में कबीर के विचार बड़े क्रान्तिकारी हैं। वे वर्गीय, जातीय, सम्प्रदायगत भेदभाव के कट्टर शत्रु हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र, ऊंच, नीच आदि के भेदभाव को सहन नहीं करते। कबीर ने व्यंग्य और तर्क से इस प्रवृत्ति को निरर्थक सिद्ध किया है।

6.3 121 जातिवाद के विरोधी

कबीर के काल में वर्ण-व्यवस्था, जाति-प्रथा और ऊंच-नीच की भावना काफी दृढ़ थी। वर्ण को लेकर छुआछूत का प्रभाव काफी प्रबल था। कबीर इन बुराईयों को जड़ से मिटाना चाहते थे। वह जाति तथा वर्ण की भावना को व्यर्थ बताते हैं। कबीर का मानना है गुणीजनों के गुण की ही पूजा होती है, उनकी जाति की नहीं-

''जाति न पूछो साध की, पूछ लीजिये गियान।
मोल करो तलवार का, धरी रहन दो मियान।।''[1]

एक अन्य स्थल पर कबीर अपनी जाति को स्वीकारते हुए कहते हैं-

''तू बाह्मण, मैं काशी का जुलाहा, चीन्हि न मोर गियाना।''[2]

---

1 सं० बलदेव वंशी- कबीर एक पुनर्मूल्यांकन, पृ० 208

2 डॉ० प्रहलाद मौर्य- कबीर का सामाजिक दर्शन, पृ० 117

कबीर कहते हैं गौरवशाली गुरु के मिलने से मेरी जाति-पाति, कुल आदि सब मिट गये हैं अब मेरा कौन-सा नाम रखोगे। सच्चे गुरु के मिलने से मनुष्य के अन्दर भेद-भाव की भावनाएँ नष्ट हो जाती हैं-

''कबीर गुर गरवा मिल्या, रलि गया आटैं लूंण।
जाति पांति कुल सब मिटे, नांव धरौगे कूंण।।''[1]

कबीर हिन्दू मुसलमान दोनों का लड़ना मूर्खतापूर्ण बताते हुए कहते हैं-हम सब एक ही खुदा के बनाये हुए हैं। पंचतत्त्व से ही हिन्दू और मुसलमान दोनों के शरीरों की रचना होती है-

''हिन्दू कहूँ तो हौं नहीं, मुसलमान भी नाहिं।
पाँच तत्त्व का पूतला, गैवासैले माँहि।।''[2]

एक अन्य स्थल पर कबीर ने लोगों को सावधान करते हुए कहा कि कोई भूलकर भी इस भ्रम में न रहे कि हिन्दू और मुसलमान दो हैं। दोनों के पारस्परिक भेदभाव को झूठा करार देते हुए उन्होंने कहा-

''भूले भरमि परे मति कोई, हिन्दू तुरक झूठ कुल दोई!''[3]

6.3122 वर्णाश्रम व्यवस्था सम्बन्धी विचार

कबीर ने 'वर्णाश्रम' की धज्जियाँ उड़ती देखीं और इन सबके पीछे उन्होंने मूर्खता व अज्ञानता का आलम्बन देखा। कबीर ने ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि के आचरण में मन की शुद्धि के स्थान पर बाह्याचार का प्राधान्य ही देखा। ब्राह्मण, क्षत्रिय अपने

---

1 डॉ० पुष्पपाल सिंह- कबीर ग्रंथावली (सटीक), पृ० 84
2 डॉ० पुरूषोत्तम वाजपेयी- कबीर और जायसी, पृ० 30
3 सं० डॉ० ओमप्रकाश त्रिपाठी- भक्तिकाव्य के प्रमुख कवियों का पुनर्मूल्यांकन, पृ० 64

वास्तविक कर्म को भूलकर व्यर्थ के कार्यों में लगा हुआ है। कबीर ने दोनों के चित्र प्रस्तुत करते हुए चेतावनी दी है। वे ब्राह्मण का चित्र प्रस्तुत करते हुए कहते हैं-

''पंडित भूले पढ़ि गुन्य बेदा, आप न पावै नांनां भेदा।
x x x x x x x x x x x x x x x x x x
अति गुन गरब कैं अधिकाई, अधिकै गरबि न होइ भलाई।।''[1]

कबीर ब्राह्मण के बारे में बताते हुए कहते हैं-

''कहु 'कबीर' जो ब्रह्म बिचारै।
सो ब्राह्मण कहियत है हमारै।।''[2]

कबीर कहते हैं क्षत्रिय को अपने जुझारू होने का अभिमान है-

''खत्री करै खत्रिया धरमो, तिनकूं होय सवाया क रमो।
जीवहि मारि जीव प्रतिपारैं, देखत जनम आपनौं हारैं।।
x x x x x x x x x x x x x x x x x x
हेला करैं निसानैं घाऊ, झूझ परै तहाँ मनमथराऊ।।''[3]

कबीर क्षत्रिय के वास्तविक रूप के बारे में कहते हैं-

''सूरा सो पहिचानिए, जु लरै दीन के हेत।
पुरजा पुरजा कटि मरै, कबहुं न छाड़ै खेत।।''[4]

कबीर का मानना है कि यह संसार कर्म का बाजार है। सभी जीव वनजारे (व्यापारी) हैं-

''यह संसार हाट करि जाँनूँ, सबको बणिजण आया।''[5]

---

1 डॉ० सरनाम सिंह शर्मा- कबीर: एक विवेचन, पृ० 218
2 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद- रविदास दर्शन, पृ० 137
3 डॉ० सरनाम सिंह शर्मा- कबीर: एक विवेचन, पृ० 219
4 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद- रविदास दर्शन, पृ० 139
5 सं० रामकिशोर शर्मा- कबीर ग्रंथावली (सटीक), पृ० 451

कबीर कहते हैं सभी जीवों को इस संसार में उत्तम व्यापार करना चाहिए-

''चोखौ बनज व्यौपार करीजै।''[1]

कबीर के समय शूद्रों की स्थिति अत्यन्त शोचनीय थी। ब्राह्मण अपने को श्रेष्ठ तथा शूद्रों को निम्न से निम्नतर समझता था जिनके छूने मात्र से छूत लगने और पापी बनने का भय होता था। कबीर जी ने ऐसे पाडे को सम्बोधित करते हुए कहा-

''काहे को कीजै पाडे छोति विचारा।
छोतहि ते उपजा संसारा।।
हम कत लोहू तुम कत दूध।।
तुम कत बामन हम कत सूद।।
छोति-छोति करत तुमही जाए।।
तो गरभ वास काहे को आए।।''[2]

कबीर ने छुआछूत का विरोध किया था। छूत मानने वालों की हँसी उड़ाते हुए कबीर कहते हैं-

''पंडित देखहु मनमहँ जानी।
कहु धौं छूति कहाँ ते उपजी, तबहिं छूति तुम मानी।''[3]

6.3 123 सबका स्रोत : परब्रह्म

कबीर ने भेद-भाव का विरोध इसलिए किया है क्योंकि तत्त्वत: ये मिथ्या है। वे कहते हैं कि एक ही ज्योति सब में व्याप्त है, दूसरा कोई तत्त्व है ही नहीं-

''एकहि जोति सकल घट व्यापक दूजा तत्त न होई।''[4]

---

1 सं० रामकिशोर शर्मा- कबीर ग्रंथावली (सटीक), पृ० 450
2 सं० बलदेव वंशी- कबीर एक पुनर्मूल्यांकन, पृ० 123
3 डॉ० भोलानाथ तिवारी- कबीर जीवन और दर्शन, पृ० 98
4 डॉ० रामचन्द्र तिवारी- कबीर मीमांसा, पृ० 135

एक अन्य स्थल पर कबीर कहते हैं परमात्मा ने एक ही बूँद से सारी सृष्टि रची है, फिर ब्राह्मण और शूद्र का भेद क्यों?

''एक बूँद तैं सृष्टि रची है कौन ब्राह्मण कौन सूदा।''[1]

कबीर का विचार था कि सभी मनुष्य एक ही ज्योति से उत्पन्न है, भला किसे ब्राह्मण कहा जाय और किसे शूद्र?

''एक जोति थे सब उतपनां, कौन बाम्हन कौन सूदा।''[2]

6.3124 ऊंच-नीच का विरोध

कबीर ऊंच-नीच की भावना को व्यर्थ मानते हैं। वे कहते हैं बांस अपने आपको ऊंचा समझ कर अहंकार करता है, किंतु उसमें चंदन के छोटे वृक्ष जैसी सुगन्ध नहीं होती। एक दिन लोग उसे जला देते हैं-

''ऊंचा कुल के कारने बंस बधिया अधिकार।
चंदन घास भेंदे नहीं, जालिया सभ संसार।''[3]

कबीर का मानना है कि ऊंचे कुल में जन्म लेने से क्या जब मनुष्य के कर्म ऊंचे न हों-

''ऊंचे कुल क्या जनमियां, जे करणी ऊंच न होइ।
सोवन कलस सुरै भरा साधू निंद्या सोइ।।''[4]

---

1 डॉ० रामचन्द्र तिवारी- कबीर मीमांसा, पृ० 135

2 डॉ० आशा गुप्ता- मध्ययुगीन सगुण और निर्गुण हिन्दी साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० 112

3 सं० बलदेव वंशी- कबीर एक पुनर्मूल्यांकन, पृ० 124

4 सं० बलदेव वंशी- कबीर एक पुनर्मूल्यांकन, पृ० 119

6.3 125 कर्म सम्बन्धी विचार

''कबीर कर्मवाद के साक्ष्य हैं। राम के नाम का ताना और राम के नाम का बाना। इस प्रकार अपने जुलाहा-कर्म में रत रहते हुए, अजपा-जाप करते हुए अपने कर्म को सर्वोच्च गरिमा कबीर ने प्रदान की।''[1]

6.3 2 गुरु रविदास और कबीरदास के धर्म-संप्रदाय सम्बन्धी विचार

गुरु रविदास और कबीरदास कालीन समाज जिस प्रकार जात-पात में बँटा था, उसी प्रकार अलग-अलग संप्रदायों और धर्मों में भी विभाजित हो गया था। उस समय जैसे हिंदुओं के यहाँ शैव, वैष्णव, शाक्त, जोगी, मौनी, दिगंबर आदि संप्रदाय थे, वैसे मुसलमानों के यहाँ शिय्या, सुन्नी आदि संप्रदाय। इन संप्रदायों का सम्बन्ध पूजा-पाठ के तरीकों, साधना के ढंग, संप्रदाय की सूचना देने वाली वेशभूषा आदि बातों से है। इन धर्म-संप्रदाय से समाज खण्डित हो गया था। संतों के युग में विभिन्न संप्रदायों के आपसी मतभेदों से भी अधिक बड़ी समस्या हिंदुओं और मुसलमानों के आपसी मतभेदों की थी। समाज में हिन्दू धर्म और मुसलमान धर्म तथा उनके रीति-रिवाज़ों में काफी असमानता थी। इसके कारण इनमें आपसी वैमनस्य और संघर्ष था। संतों ने तटस्थ होकर समाज के इस बाह्य और अन्तरंग को देखा था। संत मानव समुदाय को विशुद्ध सामाजिकता की दृष्टि से देखना चाहते थे इसीलिए वे समाज में से बुराईयों को बाहर निकालना चाहते थे। वह मानव जीवन के व्यवहार को एक धर्म के रूप में तथा समाज में प्रचलित सारे कर्मकाण्डों का तिरस्कार कर समाज को नवीन रूप देना चाहते थे। हमारे संत कवियों का विरोध किसी धर्म या संप्रदाय से न होकर उनमें व्याप्त उन बुराईयों से था जिसने समाज को एक भयंकर रूप प्रदान कर दिया था।

6.3 21 गुरु रविदास के धर्म-संप्रदाय सम्बन्धी विचार

गुरु रविदास उन महान् संतों में से हैं जिन्होंने अपना जीवन दूसरों के जीवन को संवारने में लगाया। इनके विलक्षण व्यक्तित्व में स्वतन्त्र विचारक, उदार

---

[1] सं० बलदेव वंशी- कबीर एक पुनर्मूल्यांकन, पृ० 13-14

धर्म-गुरु, महान् समाज-सुधारक आदि गुण विद्यमान थे। आपके चिन्तन का स्रोत कोई ग्रन्थ या परम्परा न होकर इनका अपना स्वानुभूति ज्ञान था। आपकी दृष्टि ग्रन्थपरक न होकर वरन् समाजपरक थी, लोकवादी थी। इनके महान् विचारों के आगे सभी को नत-मस्तक होना पड़ा।

6.3 211 ईश्वर नाम

रविदास जी के समय ईश्वर के अनेक नाम प्रचलित थे। समाज में ब्रह्म के नाम को लेकर सबका अपना-अपना मत था। उसकी उपासना अनेक रूपों में की जाती थी। रविदास जी ने समस्त धर्मों के बीच एकता स्थापित करने का प्रयास किया। आपका कहना है कि उस ब्रह्म को कोई अल्लाह कहकर पुकारता है, और कोई उसे राम के नाम से याद करता है। उसी को केशव, कृष्ण और करीम भी कहते हैं, वही माधव भी है और मुकुंद भी ये सब नाम तो उसी एक बह्म के हैं-

"'रविदास' कोउ अल्लह कहइ, कोउ पुकारइ राम।
केसउ क्रिस्न करीम सभ, माधउ मुकुंदह नाम।।"[1]

एक अन्य स्थल पर आप कहते हैं कि मैंने बहुत विचार करने के पश्चात् यह जान लिया है, कि उस अव्यक्त और अदृश्य ब्रह्म के अनेक नाम हैं-

''अलख अलह खालिक खुदा, क्रिस्न करीम करतार।
रामह नाउं अनेक हैं, कहै 'रविदास' बिचार।।'[2]

6.3 212 हिन्दू-मुसलमान

रविदास जी हिन्दू-मुसलमान को एक रूप और एक समान मानते हैं। आप कहते हैं जब इनके सभी अंग समान है, जब दोनों के बराबर दो हाथ, दो पांव, दो आंखे और दो कान हैं, तब फिर ये भिन्न और अलग-अलग कैसे हो गये?

---

1 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद- रविदास दर्शन, पृ० 62
2 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद- रविदास दर्शन, पृ० 64

''जब सभ करि दोउ हाथ पग, दोउ नैन दोउ कान।
'रविदास' पृथक कैसे भये, हिंदू मुसलमान।।''[1]

रविदास जी सोने और सोने से बने कंगन का उदाहरण देकर समझाते हुए कहते हैं-

"'रविदास' कंगन अरु कनक मंहि, जिमि अंतर कछु नांहि।
तैसउ ही अंतर नहीं, हिंदुअन तुरकन मांहि।।"[2]

6.3 213 मन्दिर – मस्जिद तथा मुल्ला – पंडित

रविदास जी के अनुसार मंदिर और मस्जिद एक ही ईश्वर की पूजा के दो स्थान हैं, इनमें कोई अंतर नहीं है, इनमें केवल नाम का ही भेद है। इसलिए राम और रहमान में भी कोई झगड़ा नहीं है।

''मंदिर मसजिद दोउ एक है, इन मंह अन्तर नांहिं।
रविदास राम रहमान का, झगड़उ कोउ नांहि।।''[3]

रविदास जी का मानना है वह प्रभु मन्दिर-मस्जिद की सीमाओं से बाहर है, वह तो सर्वव्यापक है-

''तुरुक मसीति अल्लह ढूँढइ, देहरे हिंदू राम गुसांई।
रविदास ढूँढिया राम रहीम कूं, जंह मसीत देहुरा नांहि।।''[4]

रविदास जी मुल्ला तथा पंडित से सम्बन्धी अपने विचारों को व्यक्त करते हुए कहते हैं कि जिस मुल्ला का मन विकार रहित नहीं है, और जिसके मन में शैतान ने

---

1 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद- रविदास दर्शन, पृ० 150
2 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद-रविदास दर्शन, पृ० 153
3 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद- रविदास दर्शन, पृ० 146
4 डॉ० रमेशचन्द्र मिश्र- सन्त रैदास वाणी और विचार में उद्धृत, पृ० 130

डेरा जमा रखा है, उसे कभी भी खुदा का दीदार नहीं हो सकता, चाहे वह हजारों वर्ष तक अजान क्यों न देता रहे-

''देता रहे हज्जार बरस, मुल्ला चाहे अजान।

'रविदास' खुदा नंह मिल सकइ, जौ लौं मन शैतान।।''[1]

एक अन्य स्थल पर वे कहते हैं-

''उजू पाक किया मुंह धोया, क्या मसजिद सिर नाया।

दिल में कपट नमाज़ पढ़े क्या, क्या हज काबे जाया?''[2]

इसी प्रकार रविदास जी ने पण्डित द्वारा प्रचारित बाह्याचार तथा मिथ्याचार का विरोध एवं खण्डन करते हुए पाडे को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि हरि भक्ति और हरि के हित किए गए कर्म काण्डों में बहुत अंतर है, अत: तुम्हारा यह सिर छोन-मोन करना, मूर्ति की सेवा-अर्चना करना सभी वहमों-भ्रमों में फंसाने वाले दीर्घ बंधन है-

''पाडे! हरि विचि अंतर डाढ़ा, मुंड मुडावै सेवा पूजा, भ्रम का बंधण गाढ़ा।।''[3]

एक अन्य स्थल पर वे पंडित और उसकी वाणी को मिथ्या कहते हैं-

''थोथा पंडित, थोथी वाणी हरि बिन सबै कहानी।

थोथा मंदिर भोग विलासा, थोथी आन देव की आसा।।''[4]

6.3 214 माला, तिलक, तीर्थ, व्रत, मूर्तिपूजा

रविदास जी दिखावे की भक्ति का विरोध करते थे। इसीलिए उन्होंने कहा माथे पर लंबा सा टीका, हाथ में पकड़ी हुई माला, यह सब भक्ति का दिखावा मात्र

---

1 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद- रविदास दर्शन, पृ० 76

2 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद- रविदास दर्शन, पृ० 76

3 डॉ० बी० पी० शर्मा- संत गुरु रविदास-वाणी, पृ० 133

4 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद- युग प्रवर्त्तक संत गुरु रविदास में उद्धृत, पृ० 190

है। यह तो संसार के लोगों को ठगने के लिए एक अच्छा स्वांग ही है। इस कुमार्ग पर चलकर क्यों भटकते हो? सच्ची भक्ति के मार्ग पर चलने से ही राम की प्राप्ति होती है।

''माथै तिलक हाथ जप माला, जग ठगने कूं स्वांग बनाया।

मारग छांड़ि कुमारग डहकै, सांची प्रीत बिनु राम न पाया।।''[1]

रविदास जी ने धर्म के विशेष पक्ष के अन्तर्गत विशिष्ट वेष धारण, तिलक, माला, धूप आदि को परम सत्य की प्राप्ति के मार्ग के लिए निरर्थक घोषित किया-

''भेष लियो पर भेद न जान्यो,

तिलक कियो पै तपनि न जाई, माला पहिरि, घणेरी लाई।।

कह रविदास मरम जु पाऊं, देई निरंजन तन का ध्याऊं।।''[2]

रविदास जी ने अपने समय में प्रचलित बाह्याचार, कर्मकांड और पूजा-अर्चना के रूढ़ विधान को कभी महत्त्व नहीं दिया। उस समय लोग तीर्थ-स्नान, व्रत धारण करने, कथा वार्त्ता सुनने और अनेक वस्तुओं की छान-बीन करने में ही मोक्ष-द्वार समझ रहा था। रविदास जी इस सम्बन्ध में कहते हैं-

''तीरथ बरतु करई बहुतेरे, कथा बसत बहु साने।

कहि रविदास मिलयो गुरु पुरौ, जिह अंतर हरि मिलाने।।''[3]

एक अन्य स्थल पर कहते हैं-

''तीरथ बरत न करौं अंदेसा, तुम्हरे चरन कंवल के भरौसा''[4]

---

1 डॉ० रमेश मेहरा- भक्त रविदास, पृ० 54

2 सं० आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद- युग प्रवर्त्तक संत गुरू रविदास में उद्धृत, पृ० 198

3 डॉ० धर्मपाल सिंहल- गुरु रविदास जीवन एवं दर्शन, पृ० 65

4 सं० आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद- युग प्रवर्त्तक संत गुरु रविदास में उद्धृत, पृ० 162

रविदास जी ने तीर्थों में नहाकर अथवा देवी-देवताओं की पूजा करके अपने को आचरण की दृष्टि से पवित्र प्रयत्नशील सामाजिकों को भी सतर्क किया है-

''जे ओहु अठिसठि तीरथ नहावै।
जे ओहु दुआदस सिला पुजावै।
जे ओहु कूप तटा दवावै।
करै निंद सभ बिरथा जावै।''[1]

एक अन्य स्थल पर वे परमात्मा का वास अपने हृदय में ही बताते हैं-

''का मथुरा का द्वारिका, का कासी हरिद्वार।
रविदास खोजा दिल आपना, तउमिलिया दिलदार।।''[2]

रविदास जी ने मूर्ति पूजा का भी बहिष्कार किया है। रविदास ने अवतारों की मूर्ति-पूजा के विधान में 'सत्य' का अभाव देखा। इन्होंने मूर्ति-पूजा को सत्य धर्म की प्राप्ति में अवरोधक होने के कारण इसे छोड़ने का परामर्श दिया-

''पांडै कैसी पूजि रची रे।
सत्ति बोलै सोई सत्तिवादी। झूठी बात बची रै।।
याकी सेव सूल नहिं भाजै, कटै न संसै पास रे।
सोचि विचारि देखि या मूरति, यूं छाड़ी रविदास रे।।''[3]

एक अन्य स्थल पर वे मूर्ति पूजा का विरोध करते कहते हैं-

''तोरौं न पाती पूजौं न देवा,
सहज समाधि करौं हरि सेवा।''[4]

---

1 सं० आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद- युग प्रवर्त्तक संत गुरु रविदास में उद्धृत, पृ० 109
2 डॉ० रमेशचन्द्र मिश्र- सन्त रैदास वाणी और विचार, पृ० 130
3 सं० आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद- युग प्रवर्त्तक संत गुरु रविदास में उद्धृत, पृ० 198
4 सं० आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद- युग प्रवर्त्तक संत गुरु रविदास में उद्धृत, पृ० 162

6.3 215 योगी सम्बन्धी विचार

गुरु रविदास जी का समकालीन समाज़ अनेक प्रकार के पाखण्डों से परमात्मा की खोज कर रहा था। रविदास जी कहते है जोगी अपना प्राण अनेक प्रकार से दसवें द्वार तक ले जाने को ही प्रभु-प्राप्ति का एक मात्र मार्ग बता रहा था, कोई सुन्न समाधि लगाकर बैठने और पंचाग्नि साधने में ही कल्याण समझ रहा था तो कोई कनपटा जोगी शरीर पर भस्म रमा कर ही समझता था कि उसने ब्रह्म के दर्शन कर लिए हैं-

''सासं उसासं चढ़ावै बहु विध, बैठहिं सूंनि समाधि।
फाट्यों कान भभूत तनु लाई, अनिक भरमत बैरागी।।''[1]

6.3 216 काबा कासी समान

रविदास जी के युग में हिन्दू-मुस्लिम के विचारों में काफी भेद था। आपने इन दोनों के भेद को समाप्त करने का प्रयत्न किया है। रविदास जी कहते हैं हमारा राम और तुम्हारा रहमान दोनों एक ही हैं। जब राम और रहमान दोनों एक ही हैं, तो फिर काबा और काशी को भी एक समान समझो-

'' 'रविदास' हमारो राम जोई, सोई है रहमान।
काबा कासी जानी यहि, दोउ एक समान।।''[2]

6.3 22 कबीरदास के धर्म-संप्रदाय सम्बन्धी विचार

कबीर का आविर्भाव ऐसे समाज में हुआ था। जब प्रत्येक क्षेत्र में अन्धकार, अस्तव्यस्तता और विशृंखलता फैली हुई थी। ''कबीर का युग व्यक्तिवाद का युग था। ''जिसकी लाठी उसकी भैंस'' और ''अपनी अपनी ढफली अपना अपना राग'' वाली

---

1 डॉ० धर्मपाल सिंहल- गुरु रविदास जीवन एवं दर्शन, पृ० 65
2 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद- रविदास दर्शन, पृ० 147

कहावतें प्रत्येक क्षेत्र में पूर्ण रूप से चरितार्थ हो रही थीं। जिसका मन जिसमें लगा हुआ था वह उसी को अच्छा समझता था।''[1] मुसलमानों के आगमन के पूर्व ही भारत के अनेक धार्मिक सम्प्रदाय अपनी विषम परिस्थितियों में अपने पारस्परिक विरोध को लेकर प्रकट हो चुके थे। ऊंच-नीच का बोलबाला समाज में व्याप्त था। यह देश के दुर्दिन और दुर्भाग्य का आह्वान था। देश की विफलता और अशान्ति के उपकरणों में आपसी भेदभाव प्रमुख था। हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे को देख नहीं सकते थे। दोनों को अपने-अपने धर्म का अभिमान था। हिन्दू-मुसलमानों के बीच जो संघर्ष था, उससे भयानक ज्वालाएँ निकल रही थीं। इन्हें शान्त करने के लिए कबीर की वाणी ने वारिधारा का काम किया। जिसमें दो भिन्न संस्कृतियों को मिलाने की चेष्टा थी।

6.3 221 ईश्वर नाम

कबीर के युग में ईश्वर नाम सम्बन्धी झगड़ा लोगों को एक दूसरे से अलग कर रहा था। हिन्दू राम को तथा मुसलमान रहीम नाम को महत्ता देते। दोनों यह समझने को तैयार नहीं कि राम और रहीम एक ही ईश्वर के अलग-अलग नाम हैं। कबीर धार्मिक भेदभाव और कट्टरता के लिए दोनों को फटकारते हुए कहते हैं-

''हिदूं कहै मोहि राम पियारा, तुर्क कहै रहिमाना
आपस में दोउ लरि-लरि मूए, मर्म नकाहू जाना''[2]

एक अन्य स्थल पर कबीर कहते हैं- राम-रहीम या अल्लाह, खुदा आदि नामों के फेर में न पड़कर उस परम तत्त्व को स्वीकार करना चाहिए। यह सत्य सर्वत्र व्यापक है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई शक्ति नहीं है।

---

1 डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत- कबीर की विचारधारा, पृ० 367

2 सं० राजकिशोर- कबीर की खोज, पृ० 63

''जोगी गोरख गोरख करै,

हिंदू राम राम उच्चारै।

मुसलमान कहै एक खुदाई,

कबीर को स्वामी घटि घटि रह्यौ समाई।''[1]

6.3 222 हिन्दू – मुसलमान

कबीर हिन्दू-मुसलमान की सीमा से परे थे। इसलिए उन्होंने जो कुछ भी कहा है दोनों के लिए कहा है। वे हमेशा ज्ञान या विचार को महत्त्व देते थे। जाति या धर्म के वे बिल्कुल पक्षपाती नहीं थे। उनका कहना था कि हिन्दू वही है, मुसलमान वही है जिसका ईमान ठीक हो-

''सो हिन्दू सो मुसलमान। जिसका दुसर रहै ईमान।।''[2]

6.3 223 मन्दिर – मस्जिद तथा मुल्ला – पंडित

कबीर जानते थे कि मन्दिर और मस्जिद समाज की एकता को खण्डित करने वाले थे, अतएव उनके सम्बन्ध में जो भ्रम था, उसके विरूद्ध उन्होंने आवाज उठाई। यदि परमात्मा मूर्ति में रहता है, मन्दिर में उसका निवास है और अल्लाह मस्जिद में रहता है, तो दूसरे स्थानों में किसका वास है, उनका स्वामी कौन है-

''अल्लह एकु मसीति बसतु है, अवर मुलकु किसु केरा।
हिन्दू मूरति नाम निवासी, दुहुमति ततु न हेरा।।''[3]

एक अन्य स्थल पर कबीर व्यंग्य करते हुए कहते हैं-

''कंकड़ पत्थर जोड़ के मसजिद लई बनाय।
तापर मुल्ला बांग दे, क्या बहिरा हुआ खुदाय।।''[4]

---

1 डॉ० पुष्पपाल सिंह- कबीर ग्रंथावली (सटीक), पृ० 59

2 डॉ० प्रहलाद मौर्य- कबीर का सामाजिक दर्शन, पृ० 114

3 रजनी कान्त पाण्डेय- कबीर एवं निराला के काव्य में विद्रोह चेतना में उद्धृत, पृ० 169

4 डॉ० पुष्पपाल सिंह- कबीर ग्रंथावली (सटीक), पृ० 66

कबीर ने धर्म के ठेकेदारों को भी सचेत किया है। पंडित, मुल्ला, अवधू आदि धर्म-प्रतिनिधि हैं। कबीर ने इन्हीं को सम्बोधित करके इनके रूढ़ाचारों की आलोचना की है। कबीर के सम्बोधन व्यंग्य प्रधान है। मुल्ला को सम्बोधित करते हुए कबीर कहते हैं-

''मुल्ला कहां पुकारे दूरि, राम रहीम रह्या भरि पूरि ।

यहु तो अलह गूंगा नाहीं, देखे खलक दुनी दिल माही।।''[1]

कबीर ने मिथ्याचार को नष्ट करने का भरसक प्रयत्न किया है। इसी प्रयत्न में मुल्ला, पांडे और काजी को खरी-खरी बातें सुनाई हैं। पांडे वेद पड़ता है, परन्तु उस पर उसका कोई प्रभाव नहीं दिखता। यह देखकर कबीर क्षुब्ध हो उठते हैं-

''पांडे कौन कुमति तोहि लागी,

तू राम न जपहि अभागी।

वेद पुरान पढ़त अस पांडे खर चन्दन जैसे भारा।

राम नाम तत समझत नाहीं, अंति पड़ै मुखि छारा।।''[2]

6.3224 माला, तिलक, तीर्थ, व्रत, मूर्तिपूजा

कबीर अंत:शुद्धि एवं आत्मिक पवित्रता के प्रशंसक थे। वे बाह्य साधना को महत्त्व नहीं देते थे। इसी कारण से उन्होंने हाथ में माला घुमाते-घुमाते रामनाम की रट लगाने वाले सन्यासी पर व्यंग्य करते हुए कहा है-

''माला फेरत जुग भया, फिरा न मन का फेर।

कर का मनका डारि दे मन का मनका फेर।।''[3]

---

1 रजनी कान्त पाण्डेय- कबीर एवं निराला के काव्य में विद्रोह चेतना में उद्धृत, पृ० 170

2 रजनी कान्त पाण्डेय- कबीर एवं निराला के काव्य में विद्रोह चेतना में उद्धृत, पृ०170

3 डॉ० एन. पी. कुट्टन पिल्लै- सन्त कबीर में उद्धृत, पृ० 128

कबीर एक अन्य स्थल पर कहते हैं-

''माला पहरै मनमुखी, तबै कछु न होय।
मन माला को फेरता, जुग उजियारा सोय।।''[1]

कबीर माला, छापा तिलक लगाने वालों को तथा आत्मज्ञान शून्य सारवी, सबदी गाने वालों की आलोचना करते हुए कहते हैं-

''माला पहिरे टोपी पहिरे छापा तिलक अनुमान।
सारवी शब्दी गावत भूले आत्म ज्ञान न जाना।''[2]

कबीर हिन्दुओं की माला, मुसलमानों की तसबी सम्बन्धी कहते हैं-

''राम रहीम जपत सुधि गई। उनि माला उनि तसबी लई।।''[3]

कबीर बाह्य कर्मकाण्डों को करने वालों को खरी बात कहते थे। आप तीर्थव्रत को व्यर्थ मानते थे। कबीर इन सबसे ऊपर साधु-संगति करने का उपदेश दिया करते थे। साधु-संगति से मनुष्य को सुमति मिलती है। उसकी दुरमति का नाश होता है। कबीर मथुरा, द्वारिका तथा जगन्नाथ की ओर जाने वालों को कहते हैं कि इन सबसे मुक्ति नहीं मिलती। मुक्ति तो साधु-संगति और हरि-भगति से ही सम्भव है-

''मथुरा जावै द्वारिका भावै जावै जगनाथ।
साध संगति हरि भगति बिन कछू न आवै हाथ।।''[4]

कबीर हिन्दुओं की मूर्तिपूजा तथा मुसलमानों की नमाज़, हिन्दुओं के व्रत-उपवास, मुसलमानों के रोज़ा, हिन्दुओं की तीर्थ यात्रा मुसलमानों के हज आदि के विरोधी थे।

---

1 डॉ० पुष्पपाल सिंह- कबीर ग्रंथावली (सटीक), पृ० 60
2 युगेश्वर- कबीर साहब में उद्धृत, पृ० 184
3 डॉ० प्रहलाद मौर्य- कबीर का सामाजिक दर्शन में उद्धृत, पृ० 120
4 डॉ० प्रहलाद मौर्य- कबीर का सामाजिक दर्शन में उद्धृत, पृ० 137

''रोजा करे नमाज गुजारैं क्या हज काबे जायै।''[1]

''तीरथ बरत सब बेलड़ी सब जग मेल्या छाइ।
कबीर मूल निकंदिया कौण हलाहल खाइ।।''[2]

एक स्थल पर कबीर मेंढक का उदाहरण देकर कहते हैं-

''जल के मंजनिं जे गति होई, नित-नित मेडुक नावहि।
जैसे मेडुक तैसे ओइ नर, फिर-फिर जोनी आवहि।।''[3]

कबीर मूर्तिपूजा, तीर्थाटन एवं तीर्थस्नान की कटु निन्दा करते हैं। ये सब अज्ञान की उपज है। कबीर पत्थर की मूर्ति को भगवान समझने वालों पर तीखा प्रहार करते हुए कहते हैं-

''पाहन पूजै हरि मिलै तो मैं पूजूं पहार।
तातै यह चक्की भली, पीस खाय संसार।।''[4]

एक अन्य स्थल पर कबीर कहते हैं पाहन को क्यों पूजते हो? वह तो जड़ है। जीवन भर उपासना करने पर भी वह जवाब देने वाला नहीं। यह मनुष्य ही अन्धा है जो विविध आशाएँ लेकर जड़ पत्थर के सामने नत मस्तक होता है। वह व्यर्थ ही अपनी प्रतिष्ठा खो देता है-

''पाहन को का पूजिये जनम न देई जाब।
अंधा नर आशामुखी यों ही खोवै आब।।''[5]

---

1 डॉ० प्रहलाद मौर्य- कबीर का सामाजिक दर्शन में उद्धृत, पृ० 120
2 डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत- कबीर की विचारधारा में उद्धृत, पृ० 370
3 डॉ० भोलानाथ तिवारी- कबीर जीवन और दर्शन, पृ० 99
4 डॉ० एन. पी. कुट्टन पिल्लै- सन्त कबीर, पृ०127
5 डॉ० प्रहलाद मौर्य- कबीर का सामाजिक दर्शन में उद्धृत, पृ० 110

6.3 225 योगी सम्बन्धी विचार

कबीर ने योगियों के पाखण्डी आचरण पर भी प्रहार किया है। सिंहल द्वीप को सिद्धिपीठ मानकर सिद्धि की खोज में जाने वाले नाथ योगियों पर व्यंग्य कसा गया है -

''कबीर खोजी रांम का, गया जु सिंहल दीप।
रांम तो घटि भीतरि रह्या, जु आवै परतीत।।''[1]

एक अन्य स्थल पर कबीर बाल मुड़ाने, बाल बढ़ाने, गेरुआ वस्त्र पहनने या नग्न रहने आदि के बारे में कहते हैं -

''केसौ कहा बिगाड़िया जो मूड़े सौ बार।
मन को काहे न मूँड़िये जामें विषै विकार।''[2]

''नगन फिरत जो पाइअ जोगु।
बन का मिरगा कति सभु होगु।''[3]

''मन न रँगायो रँगायो जोगी कपड़ा।
दाढ़ी मूछ बढ़ाय जोगी बन गयो बन को बकरा।''[4]

6.3 226 वैष्णव, शाक्त सम्बन्धी विचार

कबीर के मन में वैष्णवों के प्रति सद्भावना अवश्य थी, लेकिन फिर वैष्णवों में जो बुराई है, उसकी निन्दा करने से वे नहीं चूकते। उनका वैष्णव वह व्यक्ति है जो सच्चा विवेकी एवं राम का सेवक है, किन्तु जो वैष्णव मात्र छापा

---

1 डॉ० एन. पी. कुट्टन पिल्लै - सन्त कबीर, पृ० 129
2 डॉ० भोलानाथ तिवारी - कबीर जीवन और दर्शन, पृ० 97
3 डॉ० भोलानाथ तिवारी - कबीर जीवन और दर्शन, पृ० 97
4 डॉ० भोलानाथ तिवारी - कबीर जीवन और दर्शन,, पृ० 97

तिलक लगाकर घूमता है, उसकी कटु निन्दा करते हुए कबीर की वाणी मुखरित हुई है -

''वैष्णव भया तो का भया बूझा नहिं बिबेक।
छापा तिलक बनाय कर, दग्धा लोक अनेक।।''[1]

कबीर के समय शाक्त सबसे अधिक पतित हो गए थे। मांस, मद्य आदि पंच मकारों का उनकी उपासना-पद्धति में महत्त्वपूर्ण स्थान था। इसीलिए कबीर कहते हैं -

''साकत से सूकर भला, सूचा राखे गाँव।''[2]

''साकत बाँभण मत मिलै, बैस्नो मिले चण्डाल।''[3]

''पापी पूजा बैसि करि भाषे माँस मद दोर।''[4]

6.3 227 काबा कासी समान

कबीर ने सभी प्रकार के भेद-भावों को कृत्रिम और मानवकृत बताकर सच्चे मार्ग का निर्देश किया। आपने भेद-भाव की दीवारों को तोड़कर समता और एकता का प्रतिपादन किया। कबीर का मानना है सम्प्रदायगत आग्रहों को छोड़कर मध्यम मार्ग अपनाने से काबा काशी हो जाता है और राम रहीम बन जाते हैं। सम्प्रदायों की रूढ़ियाँ समाप्त हो जाती हैं। भेदों का मोटा आटा अभेद का मैदा बन जाता है -

''काबा फिर कासी भया, रामहि भया रहीम।
मोट चून मैदा भया, बैठ कबीरा जीभ।।''[5]

---

1 डॉ० एन. पी. कुट्टन पिल्लै- सन्त कबीर, पृ० 129
2 डॉ० भोलानाथ तिवारी- कबीर जीवन और दर्शन, पृ० 98
3 डॉ० भोलानाथ तिवारी- कबीर जीवन और दर्शन, पृ० 98
4 डॉ० भोलानाथ तिवारी- कबीर जीवन और दर्शन, पृ० 98
5 सं० डॉ० ओमप्रकाश त्रिपाठी- भक्ति काव्य के प्रमुख कवियों का पुनर्मूल्यांकन, पृ० 44

6.3 3 गुरु रविदास और कबीरदास के धन सम्बन्धी विचार

गुरु रविदास और कबीरदास कालीन समाज में धन का असमान वितरण था। शासक और शासित, धनी और गरीब का अन्तर दिनोदिन बढ़ता जा रहा था। इस अन्तर के कारण ही समाज में अनेक तरह के संघर्ष थे। आर्थिक स्तर पर मनुष्य छोटा-बड़ा समझा जाता था। धनी समाज के प्रतिष्ठित व्यक्ति थे और निर्धन तिरस्कृत। धनी वर्ग विलासी एवं सुखी जीवन व्यतीत कर रहा था। निर्धन वर्ग अनेक संकटों का सामना कर रहा था। धनी ऊँचे महलों में रहकर सुख ले रहे थे और निर्धन छनिहर घर में। धनी गरीब के इस महान अन्तर से समाज में एक भारी भेदभाव की खाई बनती जा रही थी। जिसका विरोध संतों ने अपनी वाणी में किया।

6.3 3 1 गुरु रविदास के धन सम्बन्धी विचार

गुरु रविदास ने दु:ख का एक बड़ा कारण धन इकट्ठा करना भी माना है। वास्तविक सुख तो धन के त्याग में ही है। जो मनुष्य यह चाहता है कि वह अपने जीवन में परमसुख को प्राप्त करे उसे सदा संतोष रखना चाहिए। इन्द्रियों के संयम के साथ मनुष्य का आत्म विश्वास बढ़ता है। अविवेकी होने पर मनुष्य पथभ्रष्ट हो जाता है। जिससे उसमें भोगवाद की अनेक दुष्प्रवृत्तियां जन्म ले लेती हैं। अपने सुखों को पूर्ण करने के लिए मनुष्य का लक्ष्य धन संचय करना रह जाता है। जो दु:ख का सबसे बड़ा कारण बनता है। जो धन-संग्रह अपनी आवश्यकता से अधिक हो, दूसरों के शोषण से इकट्ठा किया गया हो ऐसा धन-संचय सुख की बजाय दु:ख का कारण बनता है।

6.3 3 11 धन त्याग में सुख

रविदास जी दु:ख का कारण धन का इकट्ठा करना मानते हैं और सच्चा सुख धन के त्याग में। रविदास कहते हैं गुरुदेव की भी यही सीख है कि धन जमा

मत करो। धन कमाओ और जन-सेवा में लगाते जाओ। धन कमाने की सार्थकता इसी में है।

''धन संचय दुख देत है, धन त्यागे सुख होय।
'रविदास' सीख गुरुदेव की, धन मति जोरे कोये।''[1]

6.3 3 12 सत धर्म

रविदास जी कहते हैं कि मनुष्य को यह समझ लेना चाहिए, कि धन संचय तो निरी दु:खों की खान है। सच्चा सुख धन के संग्रह करने में नहीं है। यह सुख तो सत्य धर्म का पालन करने से ही प्राप्त होता है और सत्य धर्म का सार है-त्याग!

''सच्चा सुख सत धरम मांहि, धन संचय सुख नांहि।
धन संचय दुख खान है, 'रविदास' समुझि मन मांहि।।''[2]

6.3 3 13 समानता

रविदास जी भेद-भाव को समाप्त करना चाहते हैं वे कहते हैं कि मैं तो ऐसा राज्य चाहता हूँ, जहां सबको खाने के लिए अन्न मिल सके, जहां कोई निवासी भूखा न रहे, और जहां छोटे-बड़े समझे जाने वाले सब लोग एक समान सुखमय जीवन बिता सकें-

''ऐसा चाहौं राज मैं, जहां मिलै सबन कौ अन्न।
छोटा बड़ो सभ सम बसैं, 'रविदास' रहैं प्रसन्न।।''[3]

6.3 3 2 कबीरदास के धन सम्बन्धी विचार

''कबीर की समाज दृष्टि का महत्त्वपूर्ण अंग उनकी पद और धन संबंधी दृष्टि है। कबीर यह नहीं मानते कि कोई राजा, सुलतान या राज्य का अधिकारी होने से बड़ा हो जाता है। वह यह भी नहीं मानते कि कोई धनी होने से ऊंचा और गरीब

---

1 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद- रविदास दर्शन, पृ० 166
2 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद- रविदास दर्शन, पृ० 167
3 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद- रविदास दर्शन, पृ० 192

होने से नीचा हो जाता है। जाति और धर्म के भेद की तरह वह राजा और प्रजा या धनी और निर्धन जैसे भेद को भी अस्वीकार करते हैं। उनका विचार है कि हर व्यक्ति बराबर है। सब ईश्वर के बनाये हुए हैं, इसलिये सब का मूल्य-महत्त्व एक-जैसा है।''[1] कबीर के समय में समाज में जाति और धर्म की तरह पद और धन भी गैर-बराबरी के कारण रहे हैं। जो धनी है वह निर्धन को तुच्छ समझता है। कबीर ने ऐसी असमानता को स्वीकार नहीं किया। अपने शब्दों के द्वारा इन्हें सही मार्ग दिखाने का प्रयत्न किया है।

6.3 3 21 निर्धन की स्थिति

कबीर निर्धन की स्थिति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि उसे कोई आदर नहीं देता-

''निर्धन आदर कोई न देई, लाख जतन करै ओहु चित न धरेई।
जो निर्धन सरधन के जाई, आगे बैठा पीठ फिराई।।''[2]

6.3 3 22 धनी-निर्धन की स्थिति में अन्तर

कबीर कहते हैं धनी वर्ग विलासी एवं सुखी जीवन व्यतीत करता है तथा निर्धन अनेक कष्टों का सामना करता है। धनी ऊंचे-ऊंचे प्रासादों में निवास करते हैं, जबकि निर्धन छनिहर घर में-

''कबीर कहा गरनियां ऊंचे देखि आवास।
छिनहर घर अरु छिनहर टाटी।
घन गरजत कंपै मोरी छाती।।''[3]

---

1 सं० राजकिशोर- कबीर की खोज, पृ० 66
2 रजनी कान्त पाण्डेय- कबीर एवं निराला के काव्य में विद्रोह चेतना में उद्धृत, पृ० 69
3 रजनी कान्त पाण्डेय- कबीर एवं निराला के काव्य में विद्रोह चेतना में उद्धृत, पृ० 70

धनी तथा निर्धन की वेशभूषा में भी काफी अन्तर था। धनी व्यक्ति दुशाले पहना करते थे, जबकि गरीब को फटे-पुराने वस्त्र जुटाने में भी असुविधा होती थी-

''उजल कपड़ा पहरि कर पान सुपारी खाहिं।''[1]

कबीर को धनी और निर्धन का भेद अनुचित और दुःखद लगता है। कबीर इस सामाजिक यथार्थ का वर्णन करते हुए कहते हैं कि भगवान् ने किसी को मुक्ताहल मोती दिये हैं, तो किसी को रोग दिया है। उसने किसी को पहनने और बिछाने को रेशमी कपड़े दिये हैं, तो किसी को सोने के लिए नीवार का बिछावन। उसने किसी के गले में गूदड़ी दी है और किसी को पुआल (पयाल) की सेज-

''एकनि को मुकताहल मोती, एकनि व्याधि लगाई
एकनि दीना पाट पटंबर, एकनि सेज निवारा
एकनि दीनी गरे गूदड़ी, एकनि सेज पयारा''[2]

6.3 3 2 3 भाग्य

कबीर कहते हैं यह बात स्पष्ट है कि धनी या गरीब होना किसी के अपने वश में नहीं है। अपने भाग्य और भोग को नहीं बदला जा सकता। भगवान् ने जिसके लिए जितना भोग रचा है, उसे उतना ही मिलता है। कोई कितना ही सर पटके, वह न रत्ती भर घट सकता है, न तिल भर बढ़ सकता है-

''जाकौ जेता निरमया, ताकौ तेता होइ
रत्ती घटै न तिल बढ़ै, जो सिर कूटै कोइ''[3]

---

1 रजनी कान्त पाण्डेय- कबीर एवं निराला के काव्य में विद्रोह चेतना में उद्धृत, पृ० 70
2 सं० राजकिशोर- कबीर की खोज, पृ० 66
3 सं० राजकिशोर- कबीर की खोज, पृ० 66

6.3 3 24 धन अभिमान व्यर्थ

कबीर कहते हैं जब धनी या गरीब होना अपने हाथ में नहीं है, तो धन मिलने पर अभिमान करना व्यर्थ है। यह कोई नहीं जानता कब तक उसका धन, पद बना रहे और कब उसके हाथ से छिन जाये। इसीलिये अपने को धनी या बड़ा और दूसरों को छोटा या निर्धन मानना व्यर्थ है। पता नहीं, किस वृक्ष के नीचे शरीर की हड्डियाँ कूड़े का ढेर बन कर रह जायें-

''आपनपौ न सराहिये, और न कहिये रंक
ना जानौं किस बिरिख तलि, कूड़ा होइ करंक''[1]

6.3 3 25 धन संचय व्यर्थ

कबीर ने धन-संचय करने वालों को मृतक कहा और खाने-पीने पर खर्च करने वालों को जीवित-

''सोइ मुये धन संचते, सो उबरे जे खाइ।''[2]

कबीर कहते हैं संचित धन को मरने के पश्चात् कोई सिर पर बांध कर ले नहीं जाता, सब कुछ यहीं रह जाता है-

''कबीर सो धन संचिये जो आगे कूं होइ।
सीस चढ़ाये पोटली ले जात न देख्या कोइ।।''[3]

कबीर कहते हैं इतना सम्पन्न रावण भी अपने साथ क्या लेकर गया है-

''का मांगूं कुछ थिर न रहाई।

---

1 सं० राजकिशोर- कबीर की खोज, पृ० 67
2 रजनी कान्त पाण्डेय- कबीर एवं निराला के काव्य में विद्रोह चेतना में उद्धृत, पृ० 70
3 रजनी कान्त पाण्डेय- कबीर एवं निराला के काव्य में विद्रोह चेतना में उद्धृत, पृ० 70

देखत नैन चल्या जाय जाई।।
इक लष पूत सवा लष नाती।
ता रावण घर दिया न बाती।।
x x x x x x x x x
कहें कबीर अंत की बारी।
हाथ झाड़ि जैसे चले जुआरी।।''[1]

6.3 3 26 धन की कामना

कबीर कहते हैं जीवन जीने के लिए जितना वित्त या धन जरूरी है, मनुष्य को उतने ही धन की कामना करनी चाहिए। स्वयं कबीर अपने लिये प्रभु से उतना ही माँगते हैं, जितना घर-परिवार चलाने के लिए जरूरी है-

''साईं इतना दीजिये जामैं कुटुम समाय
मैं भी भूखा न रहूँ साधु न भूखा जाय''[2]

एक अन्य स्थल पर वे कहते हैं सम्पत्ति उतनी ही चाहिए, जितने से अपना पेट-पालन हो सके-

''अध सेर मांगौ दाले, मोको दोनों बखत जिवाले।''[3]

प्रत्येक व्यक्ति को भोजन और वस्त्र मिल जाए, यही सबसे बड़ी सम्पत्ति है।

6.3 4 गुरु रविदास और कबीरदास का नारी सम्बन्धी दृष्टिकोण

गुरु रविदास और कबीरदास कालीन समाज जहाँ अनेक बुराईयों से ग्रस्त था। वहीं ऐसे समाज में नारी की दशा अत्यन्त शोचनीय थी। स्त्री को समाज में कोई महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त न था। उसे सीमित स्वतन्त्रता प्राप्त थी। हिन्दू और मुस्लिम

---

1 रजनी कान्त पाण्डेय- कबीर एवं निराला के काव्य में विद्रोह चेतना में उद्धृत, पृ० 71
2 सं० राजकिशोर- कबीर की खोज, पृ० 68
3 रजनी कान्त पाण्डेय- कबीर एवं निराला के काव्य में विद्रोह चेतना में उद्धृत, पृ० 72

समाज दोनों में नारी को कोई स्थान प्राप्त न था। सिद्धों और नाथों ने नारी को योग-मार्ग की बाधा तथा उसके संसर्ग से पुरूषों को नष्ट करने वाली घोषित किया था।

सन्तों के नारी-विषयक उल्लेख हमें उनके उपदेशों में प्राप्त होते हैं। सन्तों के वचन तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों की उन पर हुई प्रतिक्रियाओं की उद्भावना मात्र हैं। सन्त कालीन समाज में विलासिता का काफी प्रचार हो चुका था। शासक स्वच्छन्द एवं विलासी थे, अतः उनका प्रभाव सर्व-साधारण पर पड़ना स्वाभाविक था। परिणामस्वरूप राजा से लेकर प्रजा तक विलासी वातावरण हो गया था। इसी विलासिता के कारण समाज का सर्वनाश हो रहा था। मनुष्य अपना गन्तव्य विस्मृत कर चुका था। वह इन्द्रिय-सुख हेतु प्यासा था। यह वासना की लिप्सा स्त्री-पुरूष दोनों में ही थी। पुरूष आचरण-भ्रष्ट थे, तो स्त्रियाँ भी व्यभिचार करती थीं। पुरूष पर-स्त्रीगामी थे। विलासिता का मुख्य कारण स्त्रियाँ ही थीं। सन्तों ने जहाँ एक ओर नारी को साधना और मोक्ष मार्ग में बाधक मानकर उसकी तीखी आलोचना और घोर निन्दा की है तो दूसरी ओर सती या पतिव्रता नारी को अतिशय आदर भी दिया है।

6.3 41 गुरु रविदास के नारी सम्बन्धी विचार

गुरु रविदास वाणी की यह विलक्षणता रही है आपने स्त्री जाति की निंदा वैसी नहीं की जो अधिकांश अन्य संतों ने की है। ''नारी की झाई परत अंधा होत भुजंग'', ''नारी बड़ा विकार'', ''ढोल, गंवार, शूद्र, पशु, नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी'' जैसे निंदा-वाचक शब्द अपने ही समाज के लोगों द्वारा कहे गये हैं। रविदास वाणी में ऐसे वाक्य कहीं देखने को नहीं मिलते। आपने जहाँ नारी के विषय में कुछ कहा भी है वहाँ कटु शब्दों का प्रयोग नहीं किया है। आपने नारी के सती,

सुहागन रूप का बहुत सुन्दर शब्दों में वर्णन किया है। रविदास जी के नारी वर्णन को दो भागों में बाँटा जा सकता है - निन्दनीय रूप और सुस्त्री रूप।

6.3 411 निन्दनीय रूप

6.3 4111 पर - स्त्री गमन की निंदा

रविदास जी ने समाज के लिए काम - वासना को बहुत बुरा माना है। इनके विचारानुसार काम - वासना से प्रभावित होकर मनुष्य समाज में अनैतिकता, अराजकता और विश्रृंखलता को जन्म देता है। इससे न केवल दाम्पत्य - जीवन नष्ट होता है बल्कि पारिवारिक झगड़े भी बढ़ते हैं। नारी जाति की रक्षा में यह बाधा - स्वरूप है। इन बातों को समाप्त करने के लिए रविदास जी ने पर - स्त्री के सम्बन्ध को बुरा कहा है -

''जम है डिगणि डोरि है कंकण, परतिय गालो जाणि रे।
ह वै रस लुबुउ रमें यौं मूरिख, मन पछतावै न्याणि रे।
परतिय संग भलौ जौ होवै, तो राणो रावन देखि रे।।''[1]

6.3 4112 नारी निन्दा

विषय - वासना प्रवृत्ति - कारिणी के रूप में ही नहीं, वरन् माया - जाल में फँसाने वाली होने के कारण भी नारी निन्दा की गयी है। यह माया रूपिनी नारी अपने कई रूप दिखाती है। रविदास जी ने देखा है कि मरने पर पुरूष को उसकी प्रियतमा पत्नी भी त्याग देती है -

''घर की नारि उरहि तन लागी। उह तौ भूतु भूतु करि भागी।।''[2]

---

1 डॉ० धर्मपाल सिंहल - गुरु रविदास जीवन एवं दर्शन, पृ० 59

2 डॉ० गजानन शर्मा - भक्तिकालीन काव्य में नारी, पृ० 44

6.3 412 सुस्त्री रूप

6.3 4121 पति – पत्नी प्रेम

रविदास ने नारी के 'पतिपरायणा' रूप का वर्णन भी किया है। आपके मन में नारी के प्रति श्रद्धा है। रविदास जी पति – साहचर्य के अनिर्वचनीय सुख की ओर संकेत करते हैं –

''सह की सार सुहागन जानै। तजि अभिमान सुख रलीआ मानै।।''[1]

6.3 4122 पति – पत्नी सम्बन्ध

गुरु रविदास जी पतिव्रता की यह विशेषता बताते हैं कि वह पति से बिल्कुल अन्तर नहीं रखती। तन – मन सब समर्पण कर देती है –

''तनु मनु देह न अन्तर राषै। अवरा देषि न सुने अभाषै।''[2]

6.3 4123 सती रूप

पति – परमेश्वर के प्रेम में अनुरक्त, अपना अस्तित्त्व मिटाकर, गर्व – गुमान त्यागकर, एक रस, एक चित्त, एक प्राण होने वाली सती सतवंती नारी का वर्णन गुरु रविदास जी करते हैं –

''बौरि करि लै राम सनेहा।
संग सहेली व्याह चली सब, छांडि नैहरि रा गेहा।।
x x x x x x x x x x x x x x x x x x x
जो लौ पिअ रा मननहि आई, का सारेह संयगार बनाई।
सोई सती रविदास बरवानी, तन मन सयूं पिअ रंग समानी।।''[3]

---

1 डॉ० गजानन शर्मा – भक्तिकालीन काव्य में नारी, पृ० 54
2 डॉ० गजानन शर्मा – भक्तिकालीन काव्य में नारी, पृ० 59
3 डॉ० धर्मपाल सिंहल – गुरु रविदास जीवन एवं दर्शन, पृ० 59

6.3 42 कबीरदास के नारी सम्बन्धी विचार

कबीर की वाणी में जहाँ धर्म-संप्रदाय, जाति-पाति आदि का वर्णन हुआ है, वहीं कबीर ने नारी को भी अपनी वाणी में स्थान दिया है। कबीर के नारी सम्बन्धी विचारों को देखकर लोग उन्हें अकसर नारी-निंदक की उपाधि दे देते हैं। इतनी व्यापक संवेदना-दृष्टि सम्पन्न महापुरूष को नारी-निंदक की उपाधि देना उन्हें छोटा बनाने का प्रयास है। उन्होंने केवल कबीर वाणी में नारी के एक पक्ष को ही देखा है। कबीर कालीन समाज में कनक और कामिनी के कारण सर्वत्र विलासिता का वातावरण छाया हुआ था। मनुष्य की बुद्धि विवेक एवं स्वास्थ्य का ह्रास हो रहा था। समाज की ऐसी परिस्थिति देखकर ही कबीर ने नर-नारी दोनों की कामुकता को नरक कहा है। जहाँ कबीर ने कामुकता रूप की निंदा की है वहीं उससे जननी, सतवंती, पतिव्रता आदि रूपों को सराहा भी है। कबीर के नारी चित्रण को हम दो भागों में बाँट सकते हैं- निन्दनीय रूप और सुस्त्री रूप ।

6.3 421 निन्दनीय रूप

6.3 4211 पर-स्त्री गमन की निन्दा

कबीर कहते हैं कि जो लोग काम-भावना के वश में होते हैं, वे मार्ग-भ्रष्ट हो जाते हैं, उन्हें किसी प्रकार मुक्ति का लाभ नहीं हो सकता है। कबीर का मानना है दूसरे की पत्नी तथा दूसरे की सुन्दर नारी के आकर्षक प्रभाव से कोई विरला ही मुक्त होगा। परस्त्री संसर्ग-सुख के समान मधुर है, किन्तु जिस प्रकार खांड बाद में पेट को हानि पहुँचाती है, इसी प्रकार यह परस्त्री-प्रेम अन्ततः विषदायक सिद्ध होता है-

''पर-नारी पर-सुन्दरी, बिरला बंचै कोइ ।
खातां मींठी खाँड सी, अति कालि विष होइ।।''[1]

---

1 डॉ० पुष्पपाल सिंह- कबीर ग्रंथावली (सटीक), पृ० 186

6.3 4212 नारी निन्दा

कबीर नारी-निन्दा करते हुए कहते हैं नारी-संसर्ग नरक के कुण्ड के समान यातनामय एवं घृणास्पद है। कोई विरला मनुष्य ही अपने मन रूपी अश्व की लगाम को उधर ले जाने से रोक सकता है-

''नारी कुंड नरक का, बिरला थंभै बाग।

कोइ साधू जन ऊबरै, सब जग मूवा लाग।।''[1]

एक अन्य स्थल पर कबीर नारी को समस्त सांसारिक विषयों की जूठन कहते हैं-

''जोरू जूठणि जगत की, भले बुरे का बीच।

उत्यम ते अलगे रहैं, निकटि रहैं तैं नीच।।''[2]

6.3 4213 कनक और कामिनी रूप

कबीर कहते हैं एक तो स्वर्ण अर्थात् धन और दूसरे नारी-ये दोनों विषाक्त फलों के समान हैं। एक को (स्त्री को) देखने से ही विष चढ़ जाता है और दूसरे (धन) को भोगने से विष चढ़ता है-

''एक कनक अरू कांमनीं, विष कल कीएउ पाइ।

देखै ही थैं विष चढ़ै, खाँयैं सूं मरि जाइ।।''[3]

6.3 4214 माया रूप

सन्तों की दृष्टि में नारी माया का प्रतिरूप है और हरि-स्मरण में बाधक है। कबीर माया के रूप में नारी का वर्णन करते हुए कहते हैं-

---

1 डॉ० पुष्पपाल सिंह- कबीर ग्रंथावली (सटीक), पृ० 188

2 डॉ० पुष्पपाल सिंह- कबीर ग्रंथावली (सटीक), पृ० 188

3 डॉ० पुष्पपाल सिंह- कबीर ग्रंथावली (सटीक), पृ० 187

''माया महाठगिनी हम जानी।
केशव के कमला ह्वै बैठी, शिव के भवन भवानी ।।
योगी के योगिन ह्वै बैठी, राजा के घर रानी।
भक्तां के भक्तिन ह्वै बैठी, ब्रह्मा के ब्रह्मानी।।''[1]

6.3 4215 नर – नारी

कबीर केवल नारी के विलासी रूप की ही निन्दा नहीं करते अपितु नर – नारी दोनों के इस रूप की निन्दा करते हैं। कबीर कहते हैं कि जब तक शरीर विषय – वासनाओं में संलिप्त है तब तक नर – नारी सभी नरक में पड़े हुए हैं। वास्तविक प्रभु – भक्त वे ही हैं जो राम को विषय – वासनाओं की कामना से रहित होकर भजते हैं –

''नर नारी सब नरक है, जब लग देह सकाम।
कहै कबीर ते राम के, जे सुमिरैं निहकाम।।''[2]

6.3 422 पूजनीय रूप

6.3 4221 जगत् जननी

कबीर नारी के 'कंचन – कामिनी' के निंदक हैं, सतवंती सुपूत उत्पन्न करने वाली के नहीं। कबीर नारी को जगत् जननी कहते हैं और स्त्री के प्रति विकृत धारणा को मूर्खता कहते हैं –

''नारी जननी जगत की, पाल पोष दे तोष।
मूरख राम बिसार कर, ताहि लगावै दोष।।''[3]

---

1 सं० बलदेव वंशी – कबीर एक पुनर्मूल्यांकन, पृ० 106
2 डॉ० पुष्पपाल सिंह – कबीर ग्रंथावली (सटीक), पृ० 186
3 सं० बलदेव वंशी – कबीर एक पुनर्मूल्यांकन, पृ० 19

6.3 4222 माता रूप

कबीर नारी के माता रूप की प्रशंसा करते हैं क्योंकि उसमें सात्विकता है-

''धन्य सो माता सुन्दरी, जिन जाया साध पूत।
नाम सुमिरि निर्भय भई, अस सब गया अबूत।।''[1]

6.3 4223 सती रूप

नारी का सती रूप कबीर के लिए प्रेम-भक्ति-निष्ठा का प्रतिमान है। एकमात्र अपने पिया का ध्यान करके सती नारी जलने के लिए निकली। उसने अपना तन-मन सब प्रियतम को समर्पित कर दिया और जलकर उससे एकाकार हो गई-

''सती जलन कूं नीकली, चित धरि एकबमेख।
तन-मन सौप्या पीव कूं, तब अंतर रही न रेख।।''[2]

6.3 4224 पतिव्रता

कबीर पतिव्रता स्त्री की प्रशंसा करते हैं। वे कहते हैं पतिव्रता स्त्री अपने पति को छोड़कर और किसी अन्य पुरूष की ओर देखती भी नहीं। कबीर पतिव्रता धर्मपरायणा नारी पर कोटिश: सुन्दरियों को भी न्यौछावर करने के लिए तत्त्पर हैं-

''पतिव्रता मैली भली काली कुचिल कुरूप।
पतिव्रता के रूप पर वारौं कोटि सरूप।।''[3]

6.3 5 गुरु रविदास और कबीरदास के मानवतावाद सम्बन्धी विचार

''मानवतावाद का आधारभूत या मूल-सिद्धान्त है, समस्त प्राणियों को 'आत्म' से भिन्न न समझना, समस्त जीवों में दया-भाव का समान रूप से प्रसार

---

1 सं० बलदेव वंशी- कबीर एक पुनर्मूल्यांकन, पृ० 174
2 सं० बलदेव वंशी- कबीर एक पुनर्मूल्यांकन, पृ० 113
3 सं० बलदेव वंशी- कबीर एक पुनर्मूल्यांकन, पृ० 174

करना, सबकी दुःख की अनुभूति को आत्मानुभूति बनाना।''[1] संत साहित्य का मूल मंत्र है 'मानवतावाद'। संतों की बानियों का मूलाधार यही मानवतावाद है। संतों ने अपने मानवतावाद का प्रसार मनुष्य जाति तक ही न कर अपितु पशुपक्षी, जीव-जन्तु तथा वनस्पति जगत तक किया है। भारतीय निर्गुण सन्त कवियों ने मानवतावाद की ओर अधिक से अधिक ध्यान दिया। प्रेम, अहिंसा, सत्य, शान्ति, त्याग, क्षमा, दया, सहनशीलता ही मानवतावाद के गुण हैं। सन्त कवियों ने इन सब पर काफी प्रकाश डाला है। सन्तों के मानवतावाद का केन्द्र-बिन्दु है, अद्वैत ब्रह्म। जो सम्पूर्ण जगत् का नियंता है। समस्त सृष्टि का विकास केन्द्र है। वही सबका रचयिता है। ''आध्यात्मिक-पक्ष में इन सन्तों ने निर्गुण-ब्रह्म को ही ग्रहण किया और उपासना के क्षेत्र में निर्गुण-ब्रह्म की प्रतिष्ठा करके तथा परमार्थ सिद्धि में वेदों-पुराणों तथा कुरान आदि को गौणता प्रदान करके, इन सन्त कवियों ने एक ऐसी भूमिका प्रस्तुत की, जिस पर हिन्दू-मुसलमान दोनों ही समान भाव से खड़े हो सकते हैं। इस प्रमुख तत्त्व ने हिन्दू-मुसलमानों को अत्यधिक निकट लाकर खड़ा कर दिया। इसी भाव ने मानवतावादी विचारों को जन्म दिया।''[2]

6.3 51 गुरु रविदास के मानवतादःद सम्बन्धी विचार

गुरु रविदास जी अतिशय मानवतावादी थे। वे मानव को मानव होने के नाते महत्त्व देते हैं, धन, मान, मर्यादा, कुल आदि के कारण नहीं। रविदास जी ने मानव-मानव में ऊंच-नीच, जाति-विजाति आदि भेदभाव तथा विद्वेष भावना देख आपने मानव एकता का संदेश दिया था। इस संदेश का दृढ़ आधार रहा है प्रत्येक मनुष्य का परब्रह्म द्वारा एक ही प्रकार से और एक से तत्त्वों से उत्पन्न होना। मानवतावाद की स्थापना के लिए सत्य, अहिंसा, प्रेम, अहंकार का त्याग, दया आदि

---

1 डॉ० सावित्री शुक्ल- संत साहित्य की सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, पृ० 250

2 डॉ० सावित्री शुक्ल- संत-साहित्य की सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, पृ० 255

का बहुत महत्त्व है। गुरु रविदास जी ने अपनी वाणी के द्वारा इन सबका प्रचार अपने समाज में किया।

6.3 511 सत्य

रविदास जी ने सत्य को जीवन में बहुत महत्ता प्रदान की है। सत्य ईश्वर का ही स्वरूप है। सत्य में एक अपार शक्ति है। सत्य को धारण करने से सभी पापों की निवृत्ति हो जाती है-

'' सत्त ईश कहुं रूप है, सत्त सक्ति अत अपार।
'रविदास' सत्त कूं धारणा, देइहिं पाप निबार।।''[1]

एक अन्य स्थल पर वे कहते हैं जिन मनुष्यों ने सत्य का त्याग कर दिया है उनका जीवन मृतक के समान है-

''जिन्ह नर सत्त तिआगिआ, तिन्ह जीवन मिरत समान।
'रविदास' सोई जीवन भला, जहं सभ सत्त परधान।।''[2]

6.3 512 अहिंसा और प्रेम

रविदास जी जीव-हत्या के विरूद्ध थे। आप अहिंसा के समर्थक थे। इससे सम्बन्धित रविदास जी अपने विचारों को व्यक्त करते हुए कहते हैं-

''रविदास जीव कूं मारि के कैसे मिले खुदाइ
पीर, पैगम्बर, औलिया कोई न कहै समझाइ।''[3]

---

1 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद- रविदास दर्शन, पृ० 26
2 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद- रविदास दर्शन, पृ० 29
3 कन्हैयालाल चंचरीक- संत रविदास जीवन और दर्शन, पृ० 97

एक अन्य स्थल पर हिन्दुओं को मांस न खाने की प्रेरणा देते हुए कहा है कि हर जीव में ब्रह्म का वास है किसी भी प्राणी का मांस खाना तो दूर रहा, उसकी हत्या को ही ब्रह्म हत्या की संज्ञा दी है -

''प्राणी वध मत कीजिए,जीव ब्रह्म समान।

रविदास पाप न छूटहिं, करोर गउँन करि दान।।''[1]

रविदास जी कहते हैं उस प्रीतम प्यारे को वन में क्यों खोज रहे हो? वह ईश्वर तो वहाँ रहता है जहां मानवता के लिए प्यार हो। उस प्रीतम प्यारे को पाने के लिए मनुष्य मात्र से प्यार करना चाहिए। मनुष्य मात्र से प्यार करना ही उसकी भक्ति है -

''बन खोजइ पिअ न मिलहिं, बन मंह प्रीतम नांह।

'रविदास' पिअ है बसि रह्यो, मानव प्रेमंहि मांह।।''[2]

6.3 513 अहंकार का त्याग तथा दया भाव

अहंकार - अभिमान, वह चाहे किसी प्रकार का भी हो, और चाहे किसी भी कारण से हो, सामाजिक जीवन के लिए अहंकार - वृत्ति को रविदास ने हानिकारक बताया है -

''पुत्र कलत्र का करहि अहंकारू । ठाकरू लेखा मगनहारू।।

फेड़े का दुखु सहै जीउ। पाछे किसहि पुकारहि पीउ।।''[3]

---

1 सं० मीरा गौतम - गुरु रविदास: वाणी एवं महत्त्व, पृ० 163

2 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद - रविदास दर्शन, पृ० 19

3 डॉ० रमेशचन्द्र मिश्र - सन्त रैदास वाणी और विचार पृ० 129

रविदास जी ने दया को महत्ता प्रदान करते हुए कहा है कि जिन लोगों के हृदय में दया धर्म नहीं है, और हृदय में दया धर्म के स्थान पर पाप का कीचड़ भरा हुआ है, वे महापापी और नीच है-

''दया धर्म जिन्ह में नहिं, हिरदै पाप को कीच।
'रविदास' तिन्हहिं जानि हो, महा पातकी नीच।।''[1]

रविदास जी दया भाव रहित लागों को नरक का भागी मानते हुए कहते हैं-

''दया भाव हिरदै नहीं, भरवहिं पराया मास।
ते नर नरक मंह जाइहिं, सत्त भाषै 'रविदास'।।''[2]

6.3 52 कबीरदास के मानवतावाद सम्बन्धी विचार

कबीर मानव प्रेमी और मानवतावादी महापुरूष थे। ''भगवान् में अटूट विश्वास के कारण नर में नारायण की प्रतीति ने उन्हें मानवतावाद की ओर उन्मुख किया था, इसलिए कभी किसी मानव से उन्होंने घृणा या द्वेष का व्यवहार नहीं किया। नर में नारायण को देखने के कारण ही उनकी दृष्टि सच्ची आस्तिक भावना से ओतप्रोत हो गई थी।''[3] मानवतावाद के लिए जिन गुणों की आवश्यकता है वह सभी कबीर में पाये जाते हैं। कबीर ने अपने जीवन में दूसरों के लिए कष्ट को स्वीकार किया था। उनका जीवन जनता के उद्‌बोधन में ही व्यतीत हुआ। संसार के जीवों के लिए उन्होंने अपना अस्तित्त्व समर्पित कर दिया था।

6.3 521 सत्य

सत्य के प्रति सभी संतों ने बड़ी श्रद्धा प्रकट की है। सत्य-व्यवहार, सत्य-कर्म, सत्य-वचन, सत्य-अनुभूति जीवन को उदात्त बनाने में सहायक होती है

---

1 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद- रविदास दर्शन, पृ० 132
2 आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद- रविदास दर्शन, पृ०187
3 सं० विजयेन्द्र स्नातक- कबीर, पृ० 235

और इस प्रकार मानव समाज सुखी और सम्पन्न बनता है। इसीलिये कबीर ने कहा है-

''सांच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
जाके हिरदै सांच है, ताके हिरदै आप।।''[1]

6.3 522 अहिंसा और प्रेम

अहिंसा मानवतावाद की प्राण-शक्ति है। सन्त-कवियों की अहिंसा भावना बड़ी व्यापक है। कबीर ने तो कटु वचन तक बोलने को मना किया है-

''घट-घट में वह सांई रमता,
कटुक वचन मत बोल रे''[2]

एक अन्य स्थल पर कबीर बकरी का उदाहरण देते हुए कहते हैं कि बकरी तो सिर्फ पत्ते खाती है तब भी उसकी खाल निकाली जाती है, किन्तु जो नर बकरी खाते हैं उनका क्या होगा-

''बकरी पाती खात है ताकी काढ़ी खाल।
जे नर बकरी खात हैं तिनको कौन हवाल।।''[3]

कबीर मनुष्य जन्म की सफलता एवं सार्थकता प्रेम के सम्बन्ध से ही मानते हैं। जिसमें क्षीण होने की तनिक भी प्रवृत्ति हो, ऐसे प्रेम को कबीर प्रेम नहीं मानते। प्रेम तो दिन-दूना रात चौगुना होता है। वह तो दिन-दिन नवल ज्योति से ज्योतिर्मय होता चला जाता है-

''दास कबीर पल प्रेम न घटई।
दिन दिन प्रीति नई।।''[4]

---

1 डॉ० सावित्री शुक्ल-संत- साहित्य की सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, पृ० 256
2 डॉ० सावित्री शुक्ल-संत- साहित्य की सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, पृ० 258
3 डॉ० सावित्री शुक्ल-संत- साहित्य की सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, पृ० 259
4 डॉ० सरनाम सिंह शर्मा- कबीर: एक विवेचन, पृ० 238

एक स्थल पर कबीर कहते हैं प्रेम कोई बाहरी वस्तु नहीं है। यह किसी के लिए भी सुलभ है जो इसे खरीदना चाहता है उसे अपना सिर देना पड़ता है-

''प्रेम न खेतौं नीपजै, प्रेम न हाट बिकार।

राजा परजा जिस रूचै, सिर दे सो ले जाइ।।''[1]

6.3 523 अहंकार का त्याग तथा दया भाव

''कबीर जी ने मनुष्य को इस जीवन की क्षणभंगुरता बतलाते हुए अहंकार को व्यर्थ बताया है। कबीर कहते हैं हे मानव! तू अपने वैभव और ऐश्वर्य सूचक ऊंचे-ऊंचे महल और अट्टालिकाओं को देखकर व्यर्थ गर्व करता है। तू नहीं जानता कि शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त होकर तुझे कब्र में लेटना पड़ेगा, अर्थात् तू मिट्टी में मिल जायेगा और उस पर घास खड़ी हो जायेगी जिसे तू आज पैरों से कुचलता है-

"कबीर कहा गरबियौ, ऊँचे देखि अवास।

काल्हि पर्युभ्वैं लेटणां, ऊपरि जामै घास।।''[2]

कबीरदास ने दया को धर्म का मूल माना है। आपके अनुसार जहाँ दया है वहीं धर्म का निवास है-

''जहाँ दया तहाँ धर्म है''[3]

6.4 निष्कर्ष

मध्यकाल में संत कवियों का आविर्भाव मध्यकालीन समाज के लिए एक वरदान था। जो समाज अनेक श्रेणियों में बँट चुका था, जिसमें पाखण्ड, अनाचार, दुराचार का बोलबाला था। उस समाज को निम्न जाति से उत्पन्न संतों ने रास्ता दिखाया । मध्यकाल में जातिवाद, हिन्दू-मुस्लिम में बढ़ता भेद-भाव, ऊंच-नीच आदि संकुचित विचारों ने

---

1 डॉ० सरनाम सिंह शर्मा- कबीर: एक विवेचन, पृ० 238

2 डॉ० पुष्पपाल सिंह- कबीर ग्रंथावली (सटीक), पृ० 144

3 डॉ० सरनाम सिंह शर्मा- कबीर: एक विवेचन, पृ० 216

मानव को मानव से अलग कर मानवता की भावना को खत्म कर दिया था। धर्म एवं सम्प्रदाय अपने द्वारा बनाये गये विधि-विधानों से स्वयं ही खोखले होते जा रहे थे। सच्च का स्थान झूठ ने ले लिया था। साधना के विभिन्न ढंग, अनेक तरह के रीति-रिवाज़ तथा आपसी वैमनस्य और संघर्ष ने समाज को तोड़ कर रख दिया था। ईश्वर के नाम को लेकर विभिन्न मत थे। मन्दिर-मस्जिद में तथा मुल्ला-पंडित में भक्ति का दिखावा ज्यादा था। भगवान् के नाम पर गरीब तथा भोले-भाले लोगों को लूटा जाता था समाज में धन के असमान वितरण से धनी और गरीब का अन्तर बढ़ता जा रहा था। संतों ने धन त्याग में सुख, सत धरम, समानता तथा धन के अभिमान को व्यर्थ बताया। संतों का समाज जहाँ अनेक बुराईयों से भरा पड़ा था, वहाँ नारी की स्थिति भी अत्यन्त शोचनीय थी। नारी भोग-विलास की वस्तु बनकर रह गयी थी। इसी विलासिता ने समाज का नाश कर दिया था। यह वासना स्त्री-पुरूष दोनों में समान थी। संतों ने जहाँ नारी के विलासी रूप की निंदा की है, वहीं उसके सती रूप, जगत् जननी, पतिव्रता, माता-रूप को सराहा है। निर्गुण सन्त कवियों ने अपने समाज में मानवता की भावना का प्रचार तथा प्रसार किया। प्रेम, अहिंसा, सत्य, शान्ति, त्याग आदि गुणों पर प्रकाश डाला तथा मानवतावादी विचारों को जन्म देकर अपनी वाणी के द्वारा समाज में स्थापित किया।

गुरु रविदास और कबीरदास एक ही धारा से जुड़े हुए होने के बावजूद दोनों के व्यक्तित्वों में अन्तर रहा है। कबीर ने जहां खंडन-मंडन की प्रणाली का आश्रय ग्रहण किया, वहीं रविदास विनम्र ढंग से अपना मत व्यक्त करते चले गये। रविदास जहां समाज के दमन और शोषण को सहकर भी वाणी का शीतल संचार करते हैं, वहीं कबीर अक्खड़ मुद्रा में सामने आते हैं। रविदास जी अत्यन्त विनम्र व मधुर स्वभाव वाले महात्मा थे। वे कथनी और करनी के पूरे थे मगर उन्होंने अपनी कोई बात तीखे स्वर में नहीं की। कबीर का स्वर तीखा तथा व्यंग्यपूर्ण था आप किसी भी स्थिति का डटकर विरोध करते थे।

गुरु रविदास और कबीरदास के सामाजिक विचार लगभग एक जैसे हैं। दोनों ही सामाजिक साम्य के प्रबल पक्षधर हैं। दोनों में सामाजिक विषमता के प्रति तीव्र रोषभाव

है। किन्तु अपने इस रोष को प्रकट करने की शैली में दोनों में पर्याप्त अन्तर है। कबीर एक उग्र स्वभाव वाले थे जो सामाजिक भेदभाव के विरूद्ध आवाज बुलन्द करके बोलते थे। किन्तु रविदास सामाजिक दुर्बलताओं के प्रति सादगीपूर्ण असंतोष व्यक्त करते हुए, धार्मिक जीवन में बाह्याचारों का विरोध करते हुए सत्य धर्म को अपनाने की प्रेरणा देते हैं। रविदास जी में सामाजिक भेद-भाव तथा बाह्याडम्बर विरोधी अभिव्यक्ति में कबीर जैसी व्यापकता नहीं है। दोनों संत कवियों ने वेद-शास्त्र की मर्यादा जप, तप, तीर्थ, व्रत, पूजा-पाठ आदि प्राय: सभी बाह्य-क्रियाओं एवं मिथ्याचारों को अस्वीकारा है। कबीर ने इन बाह्याचारों पर तीखे व्यंग्य के निर्मम प्रहार किये हैं, किन्तु रविदास में न तीखापन है न आक्रमकता ही। रविदास जी बड़े ही सरल प्रकृति के संत रहे हैं, इसीलिए उनकी कथनशैली में कड़वापन नहीं है। फिर भी आपकी कृतियों में इन बाह्याचारों की व्यर्थता सिद्ध करने वाली बहुसंख्यक उक्तियाँ पायी जाती हैं।

गुरु रविदास और कबीरदास के जाति तथा वर्ण व्यवस्था, धर्म-संप्रदाय, धन, मानवता आदि सम्बन्धी विचार काफी मिलते-जुलते हैं, किन्तु नारी के प्रति दृष्टिकोण में कबीर का क्षेत्र काफी व्यापक है। जबकि रविदास का क्षेत्र उतना व्यापक नहीं है। दोनों संत कवियों ने नारी के सती रूप, पतिव्रता रूप की प्रशंसा की है, परन्तु जहाँ वह माया का रूप धारण कर लेती है वहाँ उसके प्रति काफी कठोर दृष्टिकोण है। रविदास ने फिर भी नारी के प्रति इतनी कठोर दृष्टि नहीं रखी वहीं कबीर ने नारी को बाधिन, सर्पिणी, विषवैल, नरककुंड आदि बिम्बों से प्रस्तुत किया है। दोनों संत कवियों के सामाजिक विचारों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि आप सत्य धर्म का पालन करने वाले थे, पाखण्डों से दूर थे, स्वानुभूति पर आपका भवन खड़ा हुआ था। अत: यह कहा जा सकता है दोनों कवियों के विचार लगभग समान हैं यद्यपि रविदास जी ने कबीर जैसी उग्र खंडन-मंडनात्मक प्रणाली को नहीं अपनाया, किन्तु बाह्याचार, कर्मकांड और पूजा-अर्चना के रूढ़ विधान को कभी महत्त्व नहीं दिया। इसीलिए यह कहा जा सकता है कि गुरु रविदास और कबीरदास सम्पूर्ण मानव जाति के अमूल्य रत्न हैं।

सप्तम : अध्याय

उपसंहार : शोधसार

मध्यकालीन हिन्दी भक्ति साहित्य भारत की महिमामयी परम्परा का अक्षय है और हिन्दी साहित्य के इतिहास का महत्त्वपूर्ण अंग है। भक्तिकाल में निर्गुण और सगुण दो धाराओं का विकास हुआ जिसमें ब्रह्म के प्रति भावना में भिन्न मत, विश्वास, विचार और मान्यतायें थीं। भक्तिकाल के साहित्य ने जन-जीवन को बड़ी सबलता से प्रभावित किया। इसकी यही विशेषता सर्वाधिक महान् और ग्राह्य है। इस काल के साहित्य की दोनों धाराओं में कई विशेषताएँ समान रूप से विद्यमान थीं जैसे-गुरु का महत्त्व, नाम स्मरण तथा गुण कीर्तन, भक्ति की प्रधानता, लोकभाषा की प्रमुखता, नैतिकता आदि को विशेष रूप से अपनाया गया। भक्ति साहित्य का निर्माण आत्मा-परमात्मा के समन्वय के लिए ही रचा गया है। जिसमें जीवन के सत्य, सुन्दर और शिव का समन्वित रूप देखने को मिलता है।

निर्गुण और सगुण दोनों ही भावनाओं का उद्‌गम उस एक 'सत्य' की अनुभूति के पश्चात् ही हुआ है। भक्तिकाल में मुख्य रूप से दो काव्य धाराएं प्रवाहित हुईं-निर्गुण काव्य धारा और सगुण काव्य धारा। निर्गुण ब्रह्म का संबंध ज्ञान-मार्ग के साथ तथा सगुण ब्रह्म का भक्ति के साथ माना गया। निर्गुण काव्यधारा का उदय रूढ़िवादी अंधविश्वास प्रधान धार्मिक संप्रदायों की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ था। निर्गुण काव्यधारा की सन्त काव्य परम्परा बहुत कुछ उस युग की माँग का उपयुक्त उत्तर है। इसमें ईश्वर के उस रूप को मान्यता मिली जो हिन्दू-मुसलमान दोनों को ग्राह्य हो। निर्गुण सन्तों ने परमात्मा के निराकार रूप को प्राथमिकता दी तथा बहुदेववाद, अवतारवाद और ईश्वर के साकार रूप का विरोध किया। सन्त मत का भवन 'कागद लेखि' पर आधारित न होकर 'आंखिन देखी' की नींव पर आधारित

है। इसमें अनुभव ज्ञान को बड़ी महत्ता दी गई है। सन्तों ने कर्मण्य जीवन व्यतीत कर समाज में अकर्मण्यता का परिहार करने का प्रयत्न किया। सन्तों के निर्भीक स्वभाव ने समाज को निर्भीकता प्रदान की। सन्तों का आविर्भाव ऐसी विषम परिस्थितियों में हुआ, जब अज्ञान के अन्धकार और शोषण के साम्राज्य में डूबते हुए समाज को बचाने वाला कोई नहीं था। सन्तों ने अपने अदम्य साहस, नैतिक बल और क्रान्तिकारी विचारों से मानवीय मूल्यों को प्रतिष्ठित कर मानवता का उद्धार किया। बौद्ध धर्म की विकृत शाखाओं से उदय होने वाले सन्त मत पर विभिन्न सम्प्रदायों एवं धर्मों का प्रभाव होना स्वाभाविक था। सन्तों ने किसी एक धर्म को नहीं माना बल्कि प्रत्येक धर्म में से इन महापुरूषों ने उन्हीं विचारों को ग्रहण किया जो अनुभव की कसौटी पर खरे उतरे। सन्त साहित्य के प्रमुख प्रवर्त्तक कबीर अपने समय के सच्चे प्रतिनिधि होने के साथ एक सरल मनुष्य, ऊंचे संत तथा विकट आलोचक थे। संस्थापक के रूप में इस शाखा के आदि कवि जयदेव, नामवेद, कबीर, रैदास को महत्त्व प्राप्त है। जिन्होंने निम्न जाति में जन्म लेकर अपने उच्च कार्यों के द्वारा समाज में से बुराईयों को खत्म करने का प्रयास किया।

हिन्दी साहित्य के भक्ति-साहित्य में जो स्थान महात्मा कबीर का है वही गुरु रविदास का है मध्ययुग के संतों में, संत रविदास जी का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। गुरु रविदास और कबीरदास दोनों ही अपने काल के महान् संत, युगद्रष्टा एवं भक्त कवि हुए हैं। यह दोनों संत महासागर हैं। जिन्होंने उत्तरी भारत के निर्गुण भक्ति आन्दोलन को पुष्ट करने में सर्वाधिक योगदान दिया। कबीर जी ने रविदास जी की संतों में श्रेष्ठता बताई है। गुरु रविदास जी सत्यनिष्ठ, आत्मनिष्ठ अनन्य भक्त थे जो मधुरता, विनम्रता, कोमलता आदि गुणों के धनी थे। क्रोध तथा अहंकार से वे कोसों दूर थे। भक्तिकालीन संतों की प्रवृत्ति 'स्व' की नहीं है इसीलिए उनके निजी जीवन के विषय में विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं होती। रविदास जी का युग अशांति

और अव्यवस्था का था। धार्मिक कट्टरता के पक्षधर मुस्लिम तथा वर्ण में बंटे हुए भारतीय समाज में आपने आंखे खोलीं। रविदास का व्यक्तित्व भी तद्युगीन समाज परिस्थितियों और परिवेश से अछूता नहीं रहा। रविदास अपनी कर्मठता, उदार प्रेम-भावना तथा निर्द्वन्द्वता से अपने समाज का आदर्श बने और मानव को जाति, धर्म और सम्प्रदाय आदि की निर्मित दीवारों को पार कर देवत्व के मार्ग पर चलने की प्रेरणा दे सके। आपका व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली था। जिससे केवल शूद्र समाज ही नहीं अपितु ब्राह्मण भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। रविदास जी एक अत्यंत विनीत, राग-द्वेष विहीन, खंडन-मंडन की प्रवृत्ति से रहित उच्च कोटि के संत थे। आपकी वाणी सरस, सरल एवं सुबोध होने होने के साथ-साथ उदात्त भावों, विचारों तथा भक्ति-भावना से परिपूर्ण थी, उसमें कहीं भी कटु भावना एवं उत्तेजना नहीं है। रविदास वाणी प्रेम भक्ति से ओतप्रोत है जो सभी शंकाओं को सुलझाने में, सद्सद् का विवेक कराने में परम सहायक है। रविदास जी एक धर्म-नेता थे। जिन्होंने लोक कल्याण के लिए अपने विचारों को वाणी रूप प्रदान किया। रविदास वाणी की जड़ें जहाँ भारतीय-दर्शन से प्रभाव ग्रहण करती हैं, वहीं एक बिन्दु पर आकर उनका चिंतन और दर्शन पूर्ण रूपेण स्वतंत्र दिखाई देने लगता है। रविदास जी की वाणी में उनके व्यक्तित्व, भक्ति साधना तथा उनकी विचारधारा के व्यापक दर्शन होते हैं। आपकी वाणी में जहाँ जन-जन की पीड़ा का वर्णन है वहीं समाज में व्याप्त बुराईयों के प्रति समाज-सुधार की भावना भी है।

मध्यकालीन भारत जहां कि राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक दुरावस्था का मुख्य कारण यहाँ के समाज का रूढ़िग्रस्त, अंधविश्वासी, कर्मकांडी और बाह्याडम्बर-पुजारी एवं वहमों-भ्रमों का शिकार होना था। वहीं रविदास जी की सबसे महान् देन अपने समाज में प्रचलित कुप्रथाओं, रूढ़ियों और कर्मकाण्ड आदि बुराईयों से मुक्त कराना था। बनारस जो कि एक भारी धर्म और दर्शन का केन्द्र था, वही

कर्मकाण्ड का मुख्य गढ़ भी था। उसी क्षेत्र में जन्म लेकर रविदास जी ने इन धर्म के ठेकेदारों को सत्य का पाठ पढ़ाया। रविदास जी ने समकालीन धर्म-सम्प्रदायों और मत-मतान्तरों पर तीक्ष्ण कटाक्ष करते हुए हरि मिलन की बात का उपदेश देते हुए भक्ति का सरल मार्ग दिखाया। रविदास जी का परम व चरम साध्य 'भक्ति' है। आप दुर्लभ मानव जन्म की सफलता भक्ति में मानते हैं। रविदास जी जिस युग में अवतरित हुए थे, उसमें उच्च समझे जाने वाले लोगों ने भक्ति पर अपना एकाधिकार मान लिया था। वह भक्ति के वास्तविक रूप से अनजान थे। उन्होंने ईश्वर की सत्ता को सीमित कर दिया था। रविदास जी ने ऐसे व्यक्तियों के झूठे अभिमान को खत्म किया तथा ईश्वर की भक्ति का मार्ग जन-जन के लिए खोल दिया। आपने मानव जीवन की सफलता प्रभु-भक्ति में बताई। प्रभु का नाम सत्य है वह सृष्टि के आदि, मध्य और अंत में सदा विद्यमान रहता है। रविदास जी ने सभी को समानता का पाठ पढ़ाया। अपनी भक्ति-पद्धति द्वारा अन्धकारपूर्ण मध्ययुग में प्रताड़ित एवं उपेक्षित समाज को ईश्वर-भक्ति का सच्चा मार्ग दिखाया।

रविदास वैष्णव प्रकृति के निर्गुणिया संत थे। आप मन, वाणी एवं कर्म से एक महान् ''वैष्णव जन'' थे। स्वामी रामानन्द के प्रमुख शिष्यों में रविदास भी थे जिन्हें ''परम वैष्णव संत'' स्वीकार किया जाता है, परन्तु आपका ब्रह्म निर्गुण निराकार है। वैष्णव मत के भक्ति-तत्त्व जिसमें प्रेम का विशेष महत्त्व है को रविदास वाणी में देखा जा सकता है। रविदास जी की भक्ति वैष्णव भक्ति की धारणी थी। रहस्यवाद का मूलाधार भी प्रेम है। जिसमें विश्व-प्राणी परोक्ष-सत्ता के लिए अनुभव करता है। 'रहस्यवाद' हिन्दी साहित्य में संत-कवियों की एक अपूर्व देन है। अपनी रहस्यवादी उक्तियों से संत कवियों ने हिन्दी-काव्य-लोक में एक नई सृष्टि तथा नई परम्परा का सूत्रपात किया। संतों ने अपनी अनुभूति तथा भावनाओं को व्यक्त करने के लिए अनेक प्रकार अपनाए। रविदास जी ने अपनी वाणी में भावनात्मक, साधनात्मक तथा

दाम्पत्य रूपक रहस्यवाद का सुन्दर वर्णन किया है। आपके रहस्यवाद में प्राप्त अनुभूति बहुत गहन और मार्मिक है। जिसमें ऐकानितकता न होकर प्रवृत्यात्मकता की प्रतीति होती है। यह इसलिए है क्योंकि रविदास जी विचारक, सुधारक होने के साथ-साथ गृहस्थ भी थे। आपके रहस्यवाद में प्रेम की छटा चारों तरफ दिखाई देती है। इस प्रेम तत्त्व ने आपके रहस्यवाद को एक आलौकिक आनन्द तत्त्व प्रदान किया है जिसका आधार अद्वैत भावना है।

निर्गुण सन्त साहित्य की महान् परम्परा 'धार्मिकता' है। संत कवियों ने धर्म के शाश्वत रूप की व्याख्या की है। सन्तों ने धर्म के क्षेत्र में एक क्रांति उपस्थित कर दी और कठोरता से रूढ़ियों का विरोध किया। संतों ने 'पुस्तकीय ज्ञान' की अपेक्षा स्वानुभूति को अपना सम्बल बनाया था। रविदास जी अपने उदात्त विचारों के कारण सदा वन्दनीय रहे हैं। रविदास का धार्मिक चिन्तन अपनी निजी विशेषताओं को लिए हुए है। इन्होंने धार्मिक क्षेत्र में अपने सहज धर्म के द्वारा जन-साधारण को स्वतन्त्र चिन्तन के लिए अनुप्रेरित किया था। आपके काल में धार्मिक वातावरण अत्यन्त शोचनीय था। धर्म में बाह्याडम्बर और मिथ्याचार का बोलबाला था। हिन्दू और मुसलमानों में पाखण्ड की भावना प्रधान हो गई थी। रविदास जी ने दोनों धर्मों में सुधार करने का प्रयत्न किया। इनके धार्मिक विचारों से प्रभावित होकर ब्राह्मणों तक ने इन्हें समादृत किया। रविदास मानव-धर्म के संस्थापक थे, आपके धार्मिक चिन्तन में सुधार, समन्वय और मौलिकता की भावना मिलती है। रविदास जी की वाणी में सांस्कृतिक राष्ट्रीयता की भावना अपने उदात्त रूप में मिलती है। इसमें विभिन्न धर्मों और वर्गों में समत्व पैदा करने का प्रयत्न किया गया है। रविदास जी पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने मनुस्मृति की वर्णव्यवस्था को तोड़ते हुए शिक्षा-दीक्षा देने के ब्राह्मणों के एकाधिकार को चुनौती दी तथा वेद वाक्य को चुनौती देते हुए जिसमें स्त्री और शूद्र को शिक्षा ग्रहण करने का अधिकार नहीं है, आपने स्त्री तथा शूद्रों के लिए द्वार खोल

दिये। रविदास जी के द्वारा भारतीय संस्कृति को जो रूप प्राप्त हुआ वह सदा आदरणीय रहेगा।

भक्ति आंदोलन एक ऐसी प्राणशक्ति के रूप में उभरा था जिसमें समूचे देश को जैसे फिर से अपने पैरों पर खड़ा कर दिया। रामानंद ने राम नाम का जो बीज अपने शिष्यों को दिया, वह दो आयामों पर प्रस्फुटित हुआ। एक निर्गुण राम के रूप में तथा दूसरा सगुण राम के रूप में। समझौते का रास्ता छोड़कर विद्रोह का रास्ता अपनाते हुए निर्गुण भक्ति की जो धारा भक्ति आंदोलन की स्रोतस्विनी से फूटी, कबीर उसकी सबसे ऊंची लहर के साथ सामने आए। सिर पर कफन बांधकर, अपना घर फूंककर वे अलख जगाने निकले थे। कबीर का जीवन-वृत्त अनेक दैवी कल्पनाओं, संभावनाओं एवम् लोक गल्पों पर आधारित है। जिन सूत्रों से कबीर के जीवन वृत्त को गढ़ा गया है, वे अविश्वसनीय अधिक, विश्वसनीय कम है। कबीर का जीवन वृत्त कुछ घटनाओं, किंवदन्तियों और यदा-कदा उल्लेखों के रूप में हमारे सामन आता है। अन्त: साक्ष्य और बाह्यर्साक्ष्य के आधार पर जो कुछ प्राप्त होता है उसी से इनके जीवन के बारे में जानकारी मिलती है।

संत साहित्य के पन्ने पलटने से ज्ञात होता है कि जो काम कबीर अपने युग में कर गये वह काम आने वाले वर्षों में किसी भी लेखक के द्वारा शायद इतनी सफलता से नहीं सम्पन्न हुआ। कबीर के समय में हिन्दू-मुसलमान वैमनस्य धार्मिक कट्टरता को बढ़ा रहा था। दोनों धर्मों में अनेक प्रकार की जटिलताओं का समावेश हो रहा था। इस विषम स्थिति में एक ऐसे सबल व्यक्तित्व की अपेक्षा थी जो समाज में समरसता स्थापित कर सके। कबीर का व्यक्तित्व इतना समुन्नत था कि वे इस आवश्यकता की पूर्ति में सक्षम था। कबीर का व्यक्तित्व जीवन की ज्योति से जगमग था। वे एक ही साथ निर्भीक, स्पष्टवादी और विनीत थे। दम्भ और पाखंड उनको प्रिय नहीं थे। वे लोक-जीवन के अधिक निकट थे। कबीर का जीवन अन्धविश्वासों का

विरोध करने में ही व्यतीत हुआ। कबीर एक सन्त तथा ऊँचे दर्जे के महात्मा थे। इसलिए उनके व्यक्तित्व में सरल और गूढ़, दोनों रेखाओं का अनूठा मिलन है। कबीर ने अपनी भक्ति के द्वारा अपने समय की परिस्थितियों को सुलझाने की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम बढ़ाया तथा साथ ही भक्ति को भी विकार-मुक्त किया । साधारण जनता में कबीर उसी भक्ति के प्रचारक माने जाते रहे हैं जिसका आंदोलन द्रविड़ देश में उभाड़ पर आया और उसे दूसरे शब्दों में 'वैष्णव भक्ति' कह सकते हैं। भक्ति ही ऐसा मूल तत्त्व है जो कबीर को नाथपंथियों की परम्परा से अलग करता है। कबीर हिन्दी साहित्य के इतिहास में उत्तर भारत की निर्गुण भक्ति परम्परा के प्रवर्त्तक के रूप में मान्य हैं। कबीर की भक्ति अपनी पूर्णता में एक सच्चे मानव धर्म का रूप ले लेती है, जिसमें बाह्याचरणों के लिए कोई स्थान नहीं है।

अनादि काल से भारत में योग-साधना प्रचलित रही है। विभिन्न साधना-संप्रदायों में भी योग का विवेचन मिलता है। कबीर का समस्त जीवन सत्य के प्रयोगों में बीता था। योग-सम्बन्धी अभ्यास में उन्होंने अपने जीवन का बड़ा भाग लगाया। कबीर योगी थे, किन्तु सिद्धों और नाथों के ढंग के योगी नहीं थे। कबीर ने योग को एक मार्ग के रूप में ही स्वीकार किया है तथा उसको 'मध्यम मार्ग' की सीमाओं में स्वीकार करते हुए उसके मानसिक और आध्यात्मिक पक्ष पर ही विशेष बल दिया था। वह उनका लक्ष्य नहीं था बल्कि उन्होंने साधना रूप में योग की उन्हीं बातों को स्वीकार किया जो अध्यात्म सिद्धि में भी सहायक होती हों । कबीर का लक्ष्य सदैव ही जटिलता से सरलता स्थापित करना था। यही काम उन्होंने योग के क्षेत्र में भी किया।

यदि जीव और ब्रह्म के अलौकिक सम्बन्ध को अनुभव करने का नाम ही रहस्यवाद है तो उपनिषद् भारतीय रहस्यवाद के आदि स्रोत हैं। वेद और उपनिषदों में रहस्यवाद की झलक विद्यमान है। सिद्धों और योगियों की वाणी में भी रहस्य भावना

के दर्शन होते हैं किन्तु वहाँ भावना की अपेक्षा साधना प्रमुख है । सूफियों और सन्तों के द्वारा रहस्यवाद में प्रेम की मधुर भावना प्राप्त होती है । कबीर का रहस्यवाद भारतीय परंपरा का रहस्यवाद है जिसमें सभी प्रकार के रहस्यवादों का समन्वय है। कबीर के रहस्यवाद में एक सुन्दर संगम दिखलाई देता है। आपका रहस्यवाद किसी विशेष प्रकार के रहस्यवाद की कोटि के अन्दर नहीं रखा जा सकता। कबीर के रहस्यवाद में प्रेम की प्रधानता है । इस प्रेमतत्त्व ने कबीर के सभी प्रकार के रहस्यवादों में एक अलौकिक आनन्द तत्त्व उत्पन्न कर दिया है। उलटवासी शैली का प्रयोग भी सहजयानी सिद्धों, नाथ योगियों तथा संत कवियों के द्वारा वैविध्य के साथ हुआ है। 'उलटवासी' शब्द, शैली के रूप में, अपने विभिन्न नामों द्वारा हिन्दी साहित्य के आदिकाल से ही प्रयोग में आता रहा है। हिन्दी उलटवाँसी शैली के प्रयोग के सुदीर्घ इतिहास में 'उल्टी चर्चा' गाने वाले गोरखनाथ को विवेचय शैली का प्रथम प्रयोक्ता माना जा सकता है। गोरखनाथ के पश्चात् कबीर का ऐसा व्यक्तित्व है, जो विवेच्य-शैली के प्रयोग के लिए सर्वप्रमुख कहा जा सकता है । जिस प्रकार कबीर की वाणी बेजोड़ है उसी प्रकार उनके उलटवासी-पद विशेष हैं। कबीर की उलटवासियों में प्रयुक्त प्रतीक मर्म तथा परिस्थिति अभिव्यक्त करने में समर्थ हैं। कबीर की उलटवासियाँ इसी प्रकार प्रसिद्ध हैं जिस प्रकार अमीर खुसरों की मुकरियां । कबीर के काव्य में उलटवासियों का विशिष्ट स्थान है। कबीर की उलटवासियों में निहित गूढ़ विचार और रहस्य की भावना असाधारण स्तर की है जिसके लिए असाधारण ज्ञान की आवश्यकता है।

कबीर जैसे सत्यान्वेषक ने सत्य को समझने और उसे असत्य से अलग करने का भरसक प्रयत्न किया है। वे धर्म के बाहरी रूप को दिखावा समझते थे, इसीलिए आपने पंडित-मौलवी, मंदिर-मस्जिद, सभी को समान रूप से फटकारा। आपके 'कर्म और धर्म' में एकता थी, 'कथनी और करनी' में साम्य था तथा 'कहनी और रहनी'

में समरूपता थी। कबीर का धर्म 'सहज धर्म' है। कबीर मानव-धर्म के अग्रदूत थे जिन्होंने भारतीय जनता को पारस्परिक प्रेम और सद्भावना का सन्देश दिया तथा मिथ्याडम्बरों और पाखण्डों को चुनौती देते हुए जनता की विचार शक्ति को बढ़ाया।

निर्गुण काव्यधारा के संतकवि मूलतः दार्शनिक नहीं थे। संत कवियों की बानियों में अनेक 'वाद' किसी न किसी रूप में अवश्य प्राप्त हो जाते हैं। दार्शनिक वादों की इस पंचमेल खिचड़ी में कोई भी वाद अपने शुद्ध रूप में नहीं है। यह स्थिति इस परंपरा के साहित्य में सर्वत्र मिलती है। संत सारसंग्रही व्यक्ति थे। उनके सिद्धान्तों को किसी एक वाद के साथ नहीं जोड़ा जा सकता। सन्तों की दार्शनिक विचारधारा किसी विशेष शास्त्र पर आधारित न होकर आत्मानुभूति पर आधारित थी। सन्त स्वतन्त्र चिन्तक थे और चिन्तन के परिणाम स्वरूप उन्हें जो भी सत्य खण्ड मिले उसी को अपनी वाणी के द्वारा प्रकट करते चले गये। सन्तों ने जटिलता एवं कृत्रिमता के आवरण को चीर कर अपनी एक सहज, सरल और मौलिक विचारधारा प्रस्तुत की। सन्तों की प्रवृत्ति समन्वयवादी थी तथा आपने बिना भेद-भाव के सभी मतों, ग्रन्थों और सम्प्रदायों के सत्य तत्त्व को ग्रहण भी किया। जो ज्ञान सर्वसाधारण की पहुँच से बाहर हो उन्हें वह मान्य नहीं था। उन्हें वही ज्ञान मान्य था जो सभी के लिए उपयुक्त हो।

सन्तों की साधना का प्रारम्भ ब्रह्म-जिज्ञासा से ही होता है। उन्होंने अनेक प्रकार से परम तत्त्व को जानने का प्रयत्न किया है। गुरु रविदास और कबीरदास दार्शनिक नहीं थे, ये एक मौलिक और महान् विचारक अवश्य थे। अपने आध्यात्मिक सिद्धान्तों के लिये इन्होंने स्वानुभूति को अपना सम्बल बनाया। इसी स्वानुभूति को अपनी वाणी के माध्यम से अभिव्यक्ति प्रदान की । इन संतों का लक्ष्य दार्शनिक मत-विशेष का प्रचार-प्रसार नहीं था। ये उन्हीं सिद्धान्तों के पोषक थे जो सत्य की

कसौटी पर खरे उतरने वाल थे। अपने जीवन की सहज पाठशाला में अर्जित ज्ञान को इन्होंने अपनी दार्शनिक व आध्यात्मिक सोच का आधार बनाया।

भारतीय चिन्तन परम्परा में प्रधानतया ब्रह्म के दो रूप मिलते हैं- अव्यक्त और व्यक्त। रविदास जी ने मुख्यत: ब्रह्म के अव्यक्त रूप का वर्णन किया है, परन्तु कहीं-कहीं पर ब्रह्म के व्यक्त रूप का निरूपण भी मिल जाता है। ब्रह्म के अव्यक्त-स्वरूप का निरूपण, वर्णन और विश्लेषण दो प्रकार से हुआ है- अव्यक्त निर्गुण तथा अव्यक्त सगुण। अव्यक्त निर्गुण में रविदास जी ने ब्रह्म को अनिर्वचनीय तत्त्व-रूप, शब्द-रूप, शून्य-रूप, निरंजन-रूप में व्यक्त किया है। अव्यक्त सगुण में रविदास जी ने ब्रह्म को एक, सतिनाम, ज्योति-स्वरूप में व्यक्त किया है। ब्रह्म के व्यक्त रूप अर्थात् सगुण रूप में रविदास जी ब्रह्म का भावना-निर्मित दिव्य स्वरूप, ब्रह्म का विराट-स्वरूप, प्रतीकमय स्वरूप तथा सुलतान व राजा स्वरूप को माना है। परम्परा से प्राप्त एवं वातावरण में परिव्याप्त सभी ब्रह्म विषयक नामों को रविदास ने स्वीकारा परन्तु 'राम' नाम का प्रयोग आपने अधिक किया है तथा 'राम' नाम को ही आपने सर्वाधिक महत्ता दी है। आपका 'राम' लोक-प्रसिद्ध दशरथ का पुत्र न होकर, सर्वव्यापक रमने वाला है जो निर्गुण निराकार है तथा सत्य स्वरूप है। कबीर का वास्तविक उपास्य अव्यक्त ब्रह्म ही है। जिसके चार प्रकार मिलते हैं- अव्यक्त सगुण, अव्यक्त निर्गुण, अव्यक्त सगुण-निर्गुण तथा अव्यक्त अद्वैत विलक्षण, परात्पर और नेति मूलक। अव्यक्त निर्गुण में आपने ब्रह्म को शब्द रूप, शून्य रूप, अनिर्वचनीय तत्त्व रूप, सहज रूप आदि में वर्णित किया है। ब्रह्म के व्यक्त रूप में तीन प्रकार के आश्रय को बताया है-भावना विनिर्मित, बुद्धि विनिर्मित तथा प्रतीक रूप में। कबीर की वाणी में राम-नाम का अनेक स्थलों पर उल्लेख है जो निर्गुण ब्रह्म के लिए किया गया है। आपका राम सर्वव्यापी, अरूप है जो दाशरथि राम न होकर पारमार्थिक सत्य, अजन्मा, निराकार ब्रह्म ही है।

भारतीय चिन्तन में जीवात्मा को जानने और समझने का प्रयास बहुत प्राचीन काल से होता आ रहा है। रविदास जी ने आत्मा का वर्णन अद्वैत वेदान्त के अनुसार किया है। आप ब्रह्म तथा जीवात्मा में कोई तात्विक भेद नहीं मानते। उनके मतानुसार ब्रह्म और जीव में अद्वैत भाव है। उनमें कोई अंतर नहीं है। ब्रह्म और आत्मा का द्वैतभाव भ्रम जन्य है। यह माया के कारण होता है। रविदास जी ने जीव को ब्रह्म का अंश स्वीकार किया है। जीव और ब्रह्म में अंशांशिभाव प्रकट किया है। रविदास जी ने आत्मा का ज्योति, मन, आनन्द आदि रूपों में भी वर्णन किया है। रविदास जी कहते हैं परमात्मा ने मनुष्य का निर्माण पाँच तत्त्वों से किया है। इसी शरीर में जीवात्मा निवास करती है तथा मनुष्य को अपने जीवन में ही आत्मा को प्रबुद्ध कर परमात्मा में लीन होना चाहिए। रविदास जी कर्म-बन्धन से शीघ्रातिशीघ्र मुक्ति की प्रार्थना करते हैं क्योंकि वे जीव को कर्म के लिए विवश करता है। रविदास जी का मानना है मनुष्य-जीवन प्रभु-प्राप्ति के निमित्त ही प्राप्त होता है। अत: इसका सदोपयोग करना चाहिए। कबीरदास जी ने भी जीव और ब्रह्म में अद्वैतभाव तथा जीव को ब्रह्म का अंश माना है। कबीर ने जीवात्मा का वर्णन कई प्रकार से किया है। उसके स्वरूप को व्यक्त करने के लिए उसे प्राण, ज्योति, वाणी, पवन, शब्द, मन, प्रकाश आनन्द रूपों में वर्णित किया है । जीव और ब्रह्म का तादात्म्य तीन प्रकार का हो सकता है- भावात्मक, यौगिक तथा ज्ञानात्मक। कबीर आत्मतत्त्व की अद्वैतता और एकता में पूर्ण विश्वास करते हैं।

अद्वैतवादियों की ही भांति संतकवि जगत् की पारमार्थिक सत्ता स्वीकार नहीं करते। पारमार्थिक सत्ता तो केवल ब्रह्म की है और ब्रह्म ही सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त हो रहा है। रविदास जी ने जगत् का निरूपण दो रूपों में किया है- सैद्धान्तिक रूप तथा व्यावहारिक रूप । रविदास जी ने जहाँ सैद्धान्तिक रूप से संसार को मिथ्या, स्वप्नवत् और नश्वर कहा है, वहीं व्यावहारिक रूप में संसार को कर्मक्षेत्र माना है। कबीर की

सृष्टि सम्बन्धी जिज्ञासा अत्यन्त तीव्र है। कबीर का सृष्टि विकास बहुत कुछ वेदान्तानुकूल ही है। कहीं पर उन पर सांख्यों का प्रभाव भी दिखाई पड़ता है। जगत् के सम्बन्ध में कबीर अद्वैत वेदान्त के अनुसार विवर्त्तवादी हैं और शंकराचार्य के मायावाद के ही अधिक निकट जान पड़ते हैं। संतों के माया विषयक विचार स्वामी शंकराचार्य के माया निरूपण से मिलते जुलते हैं। सन्तों ने अपने विचारों में माया की कटु एवं तीव्र निन्दा की है। रविदास जी ने माया को स्वतन्त्र सत्ता न मानकर परमात्मा के अधीन माना है। माया के स्थूल और सूक्ष्म दोनों रूप भ्रम हैं, मिथ्या हैं। इनसे बचने के लिए गुरु की शरण लेनी चाहिए। रविदास जी ने माया के विधेयात्मक रूप की ओर कम दृष्टिपात किया है। आपने माया के निषेधात्मक रूप का ही अधिक वर्णन किया है। कबीरदास जी ने माया को अज्ञान तथा भ्रमरूप माना है। जो बुद्धि में भ्रम उत्पन्न कर उसे विकारयुक्त बना देती है। कबीर ने माया तत्त्व, उसके स्वरूप स्वभाव, विविध नाम, स्थान और विस्तार, उसके भेद आदि का विस्तृत चित्रण किया है। कबीर ने माया के स्वरूप और स्वभाव में उसे अनिर्वचनीय, काल्पनिक और सारहीन, प्रसवधर्मिणी, व्यभिचारिणी, दुराचारिणी, पापिनी आदि का वर्णन किया है। गुरु रविदास और कबीरदास के गुरु सम्बन्धी विचार लगभग एक जैसे हैं। गुरु के द्वारा ज्ञान की प्राप्ति, उसकी महत्ता, भवसागर से पार कराने वाला, गुरु-गोविन्द में समानता आदि एक से हैं, परन्तु कबीर ने अज्ञानी गुरु की निन्दा भी की है। गुरु रविदास और कबीरदास के विचार प्राय: एक समान हैं। जहाँ कबीर जी का क्षेत्र व्यापक है वहीं रविदास जी का उनसे कम है, परन्तु यह अन्तर केवल नाम के लिए है। इनके विचार स्वानुभूति पर आधारित हैं जिनमें सत्य की सुगन्ध है।

महात्माओं का अवतार परिस्थितियों के अनुसार शक्ति और सदेशों सहित होता है। परिस्थितियाँ ही अपने अनुरूप महात्माओं का निर्माण कर लेती हैं तथा काल की कठोर आवश्यकताएं महात्माओं को जन्म देती हैं। गुरु रविदास और कबीरदास भी

अपने समय की उपज थे। मध्यकाल का सामाजिक ढांचा धर्म की भित्ति पर खड़ा था और कोई भी सामाजिक विचार धर्म से स्वतंत्र नहीं चल सकता था। इसीलिए समाज सुधार का कार्य धर्म सुधार से ही संभव था। वैदिककाल से ही समाज में विचार की दो धारायें चली आ रही हैं। एक वेद सम्मत मान्यताओं में विकसित हुई और दूसरी उसकी प्रतिक्रिया के रूप में। मध्यकाल में लोक व्यवहार को ही धर्म के रूप में मान्यता प्राप्त हुई। जिसका स्वरूप कर्मकाण्ड, पाखण्ड एवं बाह्याचारों से निर्मित था। यह कर्मकाण्ड पण्डितों द्वारा काफी फला। हिन्दू धर्म यथार्थ से बहुत दूर जा चुका था। समाज में अनेक जातियाँ तथा उपजातियाँ विद्यमान थीं। हिन्दू समाज में काफी गिरावट आ चुकी थी। इस काल में मुस्लिम समाज की स्थिति भी अत्यन्त शोचनीय थी। इस धर्म में भी अनेक पाखण्ड एवं धर्मान्धता विद्यमान थी। एक अल्लाह को मानने वाले मुसलमान भी बुराईयों तथा आडम्बरों से मुक्त न थे। समाज में राम-रहीम के नाम पर बड़ा मतभेद था। हिन्दू राम के नाम को महत्त्व देते तथा मुसलमान रहीम को, दोनों की उपासना में भी बड़ा मतभेद था। यह दोनों धर्म अपनी संकुचित विचारधारा के कारण समाज में अशांति को बढ़ाते चले गये। जिसका प्रभाव साधारण जनता पर पड़ना स्वाभाविक था। प्रस्तुत समाज का सारा वातावरण अनेक दुर्गुणों से दूषित था। नैतिकता का पतन हो गया था, जिससे समाज का विघटित होना स्वाभाविक था।

भारतीय समाज की कुप्रथाओं, रूढ़ियों, आडम्बरों आदि में सुधार करने का श्रेय मध्यकालीन संतों को जाता है। यह सन्त निम्न जाति से होते हुए भी उच्च विचारों वाले तथा अनपढ़ होते हुए भी महाज्ञानी थे। इनका ज्ञान सच्चा तथा स्वच्छ था। गुरु रविदास और कबीरदास जी ऐसे महान् संतों में से थे। जिन्होंने समाज को नवीन शक्ति एवं प्रेरणा दी । आपने दिशाहीन मानव को उचित दिशा दिखाई। आपने समाज

में फैली बुराईयों का खुलकर विरोध किया। गुरु रविदास और कबीरदास दोनों ही जातिवाद के कट्टर विरोधी थे। आप हिन्दू-मुस्लिम एकता के समर्थक थे।

रविदास जी ने समाज में व्याप्त चारों वर्णों की सुस्पष्ट व्याख्या की। कबीर जी ने 'वर्णाश्रम' की धज्जियाँ उड़ती देखीं और इन सबके पीछे उन्होंने मूर्खता व अज्ञानता का आलम्बन देखा। आपने एक ब्रह्म से सभी की उत्पत्ति मानी है। दोनों ने ऊंच-नीच की भावना का विरोध किया तथा कर्म को प्रधानता दी। रविदास और कबीरदास जी के धर्म सम्प्रदाय सम्बन्धी विचार भी एक समान हैं। आपने ईश्वर के नाम, हिन्दू-मुसलमान, मन्दिर-मस्जिद सभी को एक समान बताया है। तीर्थ, व्रत, माला, तिलक, मूर्तिपूजा आदि का विरोध किया। काबा-कासी को एक समान मानने के लिए कहा। कबीर के मन में वैष्णवों के प्रति सद्भावना तो थी, परन्तु वैष्णवों में जो बुराई थी, उसकी निन्दा करने से वे चूके नहीं।

रविदास जी दुःख का कारण धन का संचय मानते हैं तथा वास्तविक सुख धन त्याग में मानते हैं। सत्य धर्म का पालन करने से ही मनुष्य को सच्चा सुख प्राप्त होता है। रविदास जी समानता के पक्षपाती हैं। जहाँ सब को खाने के लिए अन्न मिले, जहाँ कोई भूखा न रहे। कबीर जी निर्धन की स्थिति का वर्णन करते हुए कहते हैं उसे कोई आदर नहीं देता। धनी वर्ग विलासी एवं सुखी जीवन व्यतीत करता है तथा निर्धन अनेक कष्टों को सहता है। कबीर जी के अनुसार मनुष्य अपने भाग्य को नहीं बदल सकता। जब धनी या गरीब होना अपने हाथ में नहीं है तो धन मिलने पर अभिमान करना व्यर्थ है। धन को संचित करने वाले मृतक हैं और खाने-पीने पर खर्च करने वाले जीवित। कबीर जी कहते हैं जीवन जीने के लिये जितना धन जरूरी है मनुष्य को उतने की ही कामना करनी चाहिए।

गुरु रविदास और कबीरदास कालीन समाज में नारी की दशा अत्यन्त शोचनीय थी। स्त्री को समाज में कोई महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त न था। रविदास वाणी की यह

विलक्षणता रही है आपने स्त्री जाति की निंदा वैसी नहीं की जैसी अन्य संतों ने की है। आपने नारी के प्रति कटु शब्दों का प्रयोग नहीं किया है। कबीर को लोग अक्सर नारी-निन्दक कहते हैं जबकि ऐसा नहीं है, उन्होंने कबीर वाणी में केवल नारी के एक पक्ष को देखा है जहाँ कबीर पर-स्त्री गमन, उसके कनक और कामिनी रूप, माया रूप, नर-नारी दोनों के विलासी रूप की निन्दा करते हैं वहीं उन्होंने जगत् जननी, माता रूप, सती रूप, पतिव्रता नारी की प्रशंसा भी की है। संत साहित्य का मूल मंत्र 'मानवतावाद' है जिसका क्षेत्र काफी व्यापक है। यह मनुष्य जाति तक ही न रह कर अपितु पशुपक्षी, जीव-जन्तु तथा वनस्पति जगत् तक व्याप्त हैं। प्रेम, अहिंसा, सत्य, शान्ति, त्याग, क्षमा, दया, सहनशीलता ही मानवतावाद के गुण हैं। सन्तों ने इन पर काफी प्रकाश डाला है। रविदास जी अतिशय मानवतावादी थे। वे मानव को मानव होने के नाते महत्त्व देते हैं धन, मान, मर्यादा, कुल आदि के कारण नहीं। रविदास जी ने सत्य को ईश्वर का ही स्वरूप माना है। सत्य धारण करने से सभी पापों की निवृत्ति हो जाती है। आप अहिंसा, प्रेम, अहंकार त्याग तथा दया भाव में विश्वास रखते थे। कबीर मानव प्रेमी और मानवतावादी महापुरूष थे। आप सत्य तथा अहिंसा के समर्थक थे। कबीर मनुष्य जन्म की सफलता तथा सार्थकता प्रेम के सम्बन्ध से ही मानते हैं। कबीर जी ने अहंकार को व्यर्थ बताया है तथा दया को धर्म का मूल माना है।

निष्कर्षत: में यह कहा जा सकता है कि गुरु रविदास और कबीरदास जी के जीवन में काफी समानता रही है। दोनों एक ही काल में पैदा हुए तथा निम्न कुल से सम्बन्धित थे। दोनों को गुरुभाई भी माना जाता है। गुरु रविदास और कबीरदास ने ब्रह्म के निर्गुण रूप को मान्यता दी । निर्गुण काव्य धारा की सन्त शाखा में दोनों का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। आपके धार्मिक, दार्शनिक, सामाजिक आदि विचारों

में काफी समानता पायी जाती है। स्वानुभूति पर आपका भवन खड़ा हुआ था। इतनी समानता होते हुये भी दोनों संतों में जो अन्तर पाया जाता है वह है अपनी बात को कहने का ढंग। कबीर जी ने जहाँ खंडन-मंडन की प्रणाली का आश्रय ग्रहण किया वहीं रविदास जी ने विनम्र ढंग से अपना मत व्यक्त किया। रविदास जहां समाज के दमन और शोषण को सहकर भी शीतल वाणी का संचार करते हैं, वहीं कबीर अक्खड़ मुद्रा में सामने आते हैं। अत: यह कहा जा सकता है भक्तिकाल के यह अमूल्य रत्न भारतीय समाज के लिये जहाँ हमेशा रोशनी के मीनार का काम करेंगे, वहीं इनकी वाणी हर युग में भटके हुए मनुष्य का पथ-प्रदर्शन करेगी।

परिशिष्ट

सहायक ग्रन्थ सूची

अग्रवाल, सं० पद्मचन्द्र : विचार, दृष्टिकोण एवं संकेत, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, 1965

'अंचल', रामेश्वर शुक्ल : हिन्दी साहित्य का सरल इतिहास, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सन् 1975 ई० ।

आज़ाद, आचार्य पृथ्वीसिंह : रविदास दर्शन, श्री गुरु रविदास संस्थान, चण्डीगढ़, 1973 ई० ।

आज़ाद, आचार्य पृथ्वीसिंह : गुरु रविदास, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, 1975 (शक 1896) ।

आज़ाद, आचार्य पृथ्वीसिंह : युग प्रवर्त्तक संत गुरु रविदास, दीपक पब्लिशर्ज, जनवरी, 1983

आडकर, डॉ० शं० के० : हिन्दी निर्गुण-काव्य का प्रारम्भ और नामदेव की हिन्दी कविता, रचना प्रकाशन, इलाहाबाद, 1972

इन्द्र (अनु०) : धम्मपद, राजपाल, दिल्ली, 1956 ई०।

उपाध्याय, अयोध्या सिंह : कबीर वचनावली, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संवत् 2008 वि० ।

उपाध्याय, डॉ० वेदप्रकाश : वैदिक साहित्य एक विवेचन, प्रदीप प्रकाशन, इलाहाबाद, 1989 ई०।

उपाध्याय, डॉ० सन्त नारायण : हिन्दी सन्त साहित्य का केन्द्र-बिन्दु, डॉ० संत नारायण उपाध्याय, कलकत्ता, 1999

उपाध्याय, विश्वम्भरनाथ : हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि, साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा, चैत्र 2012

उपाध्याय, आ० बलदेव : भारतीय धर्म और दर्शन, वाराणसी, चौखम्भा औरियनालिय, 1977

कपूर, श्याम : प्राचीन कवि तथा उनका काव्य-वैभव, आर्य बुक डिपो, नई दिल्ली, 1972

कमलेश, डॉ० नगेन्द्र सिंह : मध्ययुगीन हिन्दी काव्य में वैष्णव संस्कृति और समाज, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1994

कान्तिकुमार, डॉ० : कबीरदास, किताब घर, ग्वालियर, 1972

कुमार, डॉ० कृष्ण : वैदिक साहित्य का इतिहास, साहित्य भण्डार, मेरठ, 1976

कुमार, डॉ० अशोक : सूफी और सन्त काव्य में गुरु सम्बन्धी परिकल्पना, शांति प्रकाशन, अहमदाबाद, 2005

कुमारी, डॉ० विनीता : हिन्दी सन्त साहित्य के स्रोत, संजय प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004

'कौशिक' पुष्पा कुमारी शर्मा : कबीर, कुमार सन्ज़, सोलन ।

कौशिक, डॉ० मीता : सामाजिक बुराइयों के उन्मूलन में कबीर का योगदान, नमन प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005

गुप्त, सं० बालमुकुन्द : कबीर-काव्य-कौस्तुभ, साहित्य संगम, आगरा, 1966

गुप्त, डॉ० मदनगोपाल : मध्यकालीन हिन्दी काव्य में भारतीय संस्कृति, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1968

गुप्त, सं० योगेश : संत रैदास, हिन्दी पॉकेट बुक्स, दिल्ली, 1989

गुप्ता, डॉ० आशा : मध्ययुगीन सगुण एवं निर्गुण हिन्दी साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, शकाब्द 1892: सन् 1970 ई० ।

गुरुदत्त : श्रीमद्भगवद्गीता एक अध्ययन, शाश्वत संस्कृति परिषद्, नई दिल्ली ।

गुलाबराय : हिन्दी काव्य विमर्श, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, 1955

गौतम, डॉ० मीरा : संत रविदास की निर्गुण-भक्ति, मोनू प्रकाशन, दिल्ली, 1999

गौतम, सं० मीरा : गुरु रविदास:वाणी एवं महत्त्व, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003

गौड़, राजेन्द्र सिंह : संत कबीर दर्शन, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद सन् 1955 ई० ।

गौड़, राजेन्द्र सिंह : प्राचीन कवियों की काव्य-साधना, साधना-सदन, इलाहाबाद, जुलाई, 1952

चतुर्वेदी, परशुराम : उत्तरी भारत की संत-परम्परा, भारत-भण्डार, प्रयाग, संवत् 2008 वि०

चतुर्वेदी, परशुराम : कबीर साहित्य की परख, भारती भंडार इलाहाबाद सं०, 2011

चतुर्वेदी, परशुराम : संत काव्य, किताब महल, इलाहाबाद, 1952

चतुर्वेदी, राजेश्वर प्रसाद : संत कबीर, भारतीय साहित्य मन्दिर, दिल्ली ।

चतुर्वेदी, सं० सत्यदेव : साहित्य दर्शन, हिन्दी-साहित्य-सृजन-परिषद्, उत्तरप्रदेश।

चौरसिया, डॉक्टर केशनीप्रसाद : मध्यकालीन हिन्दी सन्त विचार और साधना, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, 1965 ई० ।

चौहान, प्रताप सिंह : सन्तमत, ग्रन्थम, कानपुर, 1973

चौहान, शिवदान सिंह : कबीर: एक विश्लेषण, पब्लिकेशन डिवीज़न, 1956

चंचरीक, कन्हैयालाल : संत रविदास जीवन और दर्शन, यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 1999

'चन्द्र', रामचन्द्र श्रीवास्तव : कबीर-साखी-सुधा, श्रीराम मेहरा एण्ड कम्पनी, आगरा, संवत् 2015 वि० ।

चन्द्र, डॉ० सोती शिवेन्द्र : मानव व्यक्तित्व: अवधारणाएँ एवं सिद्धान्त, कनिष्का पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 2002

चन्द्रगुप्त, डॉ० गणपति : हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, भारतेन्दु-भवन, चण्डीगढ़ ।

जयरामन, डॉ० पी० : भक्ति के आयाम, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003 ई० ।

जार्ज, एम : भक्ति आन्दोलन और साहित्य, प्रगति प्रकाशन, आगरा, 1978

जैन, (श्री) फूलचन्द ''सारंग'' : हिन्दी और उसके कलाकार, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा-1955

जैन, डॉ० बारेलाल : हिन्दी-साहित्य की सन्त काव्य-परम्परा के परिप्रेक्ष्य में आचार्य विद्यासागर के कृतित्त्व का अनुशीलन, श्री निर्ग्रन्थ साहित्य प्रकाशन समिति, कलकत्ता, 1998 ई० ।

जोशी, बाबूराव : सन्त काव्य में परोक्षसत्ता का स्वरूप, कैलाश पुस्तक सदन, 1968 ई० ।

टंडन, सं० प्रेमनारायण : रहस्यवाद और हिन्दी कविता, विद्या मंदिर, लखनऊ जून, 1945

ठुकराल, डॉ० उमा : कबीरपंथ: साहित्य, दर्शन एवं साधना, हिन्दी बुक सेंटर, नई दिल्ली, 1998

तिवारी, डॉ० पारसनाथ : कबीर-वाणी संग्रह, राका प्रकाशन, इलाहाबाद, 1978

तिवारी, डॉ० भोलानाथ : कवि प्रसाद, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1958

तिवारी, डॉ० भोलानाथ : कबीर जीवन और दर्शन, साहित्य भवन, इलाहाबाद, 1978

तिवारी, डॉ० भोलानाथ : कबीर और उनका काव्य, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, अप्रैल, 1961

तिवारी, डॉ० भगवानदास : हिन्दी काव्य के विविध परिदृश्य, साहित्य भवन, इलाहाबाद, 1976

तिवारी, डॉ० मुक्तेश्वर : मध्ययुगीन सूफी और संत साहित्य, सरस्वती प्रकाशन मन्दिर, इलाहाबाद, 1980

तिवारी, डॉ० रामचन्द्र : कबीर और भारतीय संत साहित्य, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2001 ई० ।

तिवारी, डॉ० रामचन्द्र : कबीर मीमांसा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1999

तिवारी, हीरालाल : हिन्दी-काव्य-दर्शन, साहित्य-रत्न-माला कार्यालय, बनारस, संवत् 2010

तुलसीदास : श्रीरामचरित्मानस, हनुमान प्रसाद पोद्दार ,गीताप्रेस, गोरखपुर।

दाधीच, ज्योत्स्ना : कबीर का दार्शनिक चिंतन, अलंकार प्रकाशन, नई दिल्ली, 1996

द्वायर, विलियम : कबीर की भक्ति भावना, दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इण्डिया लिमिटेड, नई दिल्ली, 1976

द्विवेदी, सं० श्री गणेश प्रसाद : हिन्दी सन्तकाव्य संग्रह, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद, 1952

द्विवेदी, रामअवध : हिन्दी साहित्य के विकास की रूप-रेखा, भारती भण्डार, इलाहाबाद, संवत् 2013

द्विवेदी, डॉ० हजारीप्रसाद : हिन्दी साहित्य की भूमिका, हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर, बम्बई, 1940 ई०।

द्विवेदी, हजारी प्रसाद : कबीर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1976

द्विवेदी, हजारी प्रसाद : मध्यकालीन धर्म-साधना, साहित्य भवन, इलाहाबाद, 1962 ई० ।

द्विवेदी, श्री हरिहर निवास : महात्मा कबीर, सूरी ब्रदर्स, लाहौर ।

दीक्षित, प्रभा : कबीर, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, नई दिल्ली, 1971

दीक्षित, त्रिलोकीनारायण : हिन्दी सन्त-साहित्य, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1963 ई० ।

दीक्षित, त्रिलोकीनारायण : संत दर्शन, साहित्य निकेतन, कानपुर, 1953 ई० ।

दयानन्द : ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली, 1984 ई० ।

धर्मवीर, डॉ० : सन्त रैदास का निर्वर्ण सम्प्रदाय, संगीता प्रकाशन, दिल्ली, 1999

नगेन्द्र, सं० डॉ० : हिन्दी साहित्य का इतिहास, मयूर पेपरबैक्स, नौएडा, 1999

नाभादास : श्रीभक्तमाल, वेंकटेश्वर प्रेस, मुंबई।

'नलिन', डॉ० जयनाथ : भक्तिकाव्य में माधुर्य भाव का स्वरूप, बंसल एण्ड कम्पनी, अक्तूबर, 1966

पाण्डेय, डॉ० कपिलदेव : मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, वि० संवत् 2020

पाण्डेय, रजनी कान्त : कबीर एवं निराला के काव्य में विद्रोह चेतना, पब्लिकेशन ब्यूरो, पंजाब यूनिवर्सिटी, चण्डीगढ़, 1988

पाण्डेय, डॉ० राजकुमार : साहित्यिक निबन्ध, पदम बुक कम्पनी, जयपुर ।

'पाण्डेय', राम प्रसाद : लोक वेद और वेदान्त, आर्य बुक डिपो, नई दिल्ली, 1981 ई०।

पाण्डेय, डॉ० रामनारायण : भक्तिकाव्य में रहस्यवाद, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1966 ई० ।

पाण्डेय, डॉ० रामसजन : सन्तों की सांस्कृतिक संसृति, उपकार प्रकाशन, दिल्ली, 1995

पाण्डेय, डॉ० रामसजन : निर्गुण काव्य की सांस्कृतिक भूमिका, दिल्ली, संजय प्रकाशन, 2004 ई० ।

प्रेमशंकर : भक्तिचिन्तन की भूमिका, साहित्य भवन, इलाहाबाद, 1977

प्रेमशंकर : भक्तिकाव्य की भूमिका, नई दिल्ली, राधाकृष्ण प्रकाशन, 1977 ई० ।

प्रेमशंकर : भक्तिकाव्य का समाज दर्शन, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000

प्रसाद, डॉ० रामाशीष : सन्त काव्य में रहस्यवाद, अनुपम प्रकाशन, पटना, 1981

पिल्लै, डॉ० एन० पी० कुट्टन : सन्त कबीर, श्री प्रकाशन, सिकन्दराबाद, 1977

पोद्दार, हनुप्रसाद : संतवाणी, गीताप्रेस, गोरखपुर ।

फिलिप, डॉ० वी० एन० : मध्यकालीन हिन्दी भक्ति साहित्य की प्रासंगिकता, जवाहर पुस्तकालय, मथुरा, 2000 ई० ।

बड़थ्वाल, पीताम्बरदत्त : हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, अवध पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ।

बाजपेयी, डॉ० नारायणप्रसाद : भक्ति काव्य की दार्शनिक चेतना, राज पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1978

ब्रह्मवर्चस, सं० : महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग (भाग-1), अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा ।

भनोत, डॉ० सरनदास : रविदास वचन सुधा, लोक सर्म्पक विभाग, हरियाणा, 1981

भटनागर, रामरतन : कबीर: एक अध्ययन, किताब महल, इलाहाबाद, 1946

भटनागर, डॉ० रामरतन : हिन्दी-कविता, किताब महल, इलाहाबाद, 1948

भटनागर, डॉ० रामरतन : कबीर-साहित्य की भूमिका, रामनारायण लाल, इलाहाबाद, 1950

भटनागर, डॉ० रामरतन : हिन्दी कविता की पृष्ठभूमि, इंडियन प्रेस, प्रयाग, 1951

भारद्वाज, डॉ० मैथिली प्रसाद : मध्यकालीन साहित्य-चिन्तन, पब्लिकेशन ब्यूरो, पंजाब यूनिवर्सिटी, चण्डीगढ़, 1992

मदान, इन्द्रनाथ : हिन्दी कलाकार, आत्मा राम एण्ड सन्ज़, दिल्ली।

मजीठिया, डॉ० सुदर्शन सिंह : संत साहित्य, रूप कमल प्रकाशन, दिल्ली, 1962

'माधव', डॉ० भुवनेश्वरनाथ मिश्र : सन्त साहित्य और साधना, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1969

'मालविका', डॉ० विद्यावती : हिन्दी सन्त-साहित्य पर बौद्ध धर्म का प्रभाव, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, फरवरी, 1966

माचवे, डॉ० प्रभाकर : हिन्दी और मराठी का निर्गुण सन्त-काव्य, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, संवत् 2019 वि० ।

मिश्र, डॉ० जयराम : श्री गुरु ग्रन्थ-दर्शन, साहित्य भवन, इलाहाबाद, 1960 ई० ।

मिश्र, डॉ० रमेशचन्द्र : सन्त रैदास वाणी और विचार, सन्त साहित्य संस्थान, नई दिल्ली, 2002

मिश्र, डॉ० रमेशचन्द्र : सन्त कबीर वाणी और विचार, सन्त साहित्य संस्थान, नई दिल्ली, 2001

मिश्र, शिवकुमार : भक्तिकाव्य और लोकजीवन, पीपुल्स लिटरेसी, दिल्ली, 1983

मिश्र, रामप्रसाद : हिन्दी साहित्य का वस्तुपरक इतिहास, साहित्य भंडार, दिल्ली, 1998

मिश्र, दुर्गाशंकर : भक्तिकाव्य के मूल स्रोत, नवयुग ग्रंथागार, लखनऊ,1958 ई० ।

मिश्र, दुर्गाशंकर : साहित्य साधना के सोपान, रामा प्रकाशन, लखनऊ, अक्टूबर 1961

मिश्र, डॉ० रमेशचन्द्र : हिन्दी सन्तों का उलटवाँसी साहित्य, आर्य बुक डिपो, नई दिल्ली, 1969

मिश्र, डॉ० रमेशचन्द्र : सन्त साहित्य प्रवाह, सन्त साहित्य संस्थान, नई दिल्ली, 2002

मिश्र, डॉ० उमेश : भारतीय दर्शन, राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन हिन्दी भवन, लखनऊ, 1975

मिश्र, डॉ० विद्या : वाल्मीकि रामायण एवं राम-चरित-मानस का तुलनात्मक अध्ययन, विश्वविद्यालय हिंदी प्रकाशन, लखनऊ

मिश्रबंधु : संक्षिप्त हिन्दी-नवरत्न, गंगा पुस्तकमाला कार्यालय, लखनऊ, सं० 2005 वि० ।

मीतल, डॉ० मिथिलेश शरण : निर्गुण सम्प्रदाय के कवियों में मधुरा भक्ति, राज्यश्री प्रकाशन, मथुरा, 1976-77

'मुक्त', पं० लक्ष्मीकांत : हिन्दी-साहित्य और उस के निर्माता, रोशन बुक डिपो, दिल्ली, सं० 2006 वि० ।

मुहम्मद, डॉ० नज़ीर : कबीर के काव्यरूप, भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़, 1971

मेहरा, डॉ० रमेश : भक्त रविदास, कुनाल पब्लिकेशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण ।

मैनी, धर्मपाल : रैदास, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 1979

मैनी, धर्मपाल : संतों के धार्मिक विश्वास, नवजोत पब्लिकेशन्स, मालेर कोटला (पंजाब), 1966

मैनी, धर्मपाल : कबीर के धार्मिक विश्वास, चण्डीगढ़, 1964 ई० ।

मौर्य, डॉ० प्रहलाद : कबीर का सामाजिक दर्शन, पुस्तक संस्थान, कानपुर, 1973

यादव, डॉ० भगीरथ प्रसाद : कबीर-काव्य के स्रोत, अनुपम प्रकाशन, पटना, 1979

युगेश्वर, डॉ० : कबीर समग्र, हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी, 1994

युगेश्वर : कबीर साहब, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1999

रजनीश, सं० डॉ० गोविंद : रैदास रचनावली, अमर सत्य प्रकाशन, दिल्ली, 2003

राकेश, डॉ० विष्णुदत्त : उत्तर भारत के निर्गुण पंथ साहित्य का इतिहास, साहित्य भवन, इलाहाबाद, 1975 ई० ।

रामनाथन, डॉ० के० : हिन्दी और तेलुगु वैष्णव भक्ति साहित्य: तुलनात्मक अध्ययन, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, 1968 ई०।

रामबक्ष : दादूदयाल, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 1985

राजकिशोर, सं० : कबीर की खोज, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2001

रावत, अशोक : भक्ति साहित्य: समाज शास्त्रीय अध्ययन की संभावनायें, रचना प्रकाशन, मथुरा, 1989 ई० ।

वर्मा, रामकुमार : संत कबीर, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, 1947

वर्मा, रामकुमार : कबीर का रहस्यवाद, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, 1948

वर्मा, डॉ० रामकुमार : हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, रामनारायणलाल बेनीमाधव, इलाहबाद 1971

वाजपेयी, डॉ० पुरुषोत्तम : कबीर और जायसी, चन्द्रलोक प्रकाशन, कानपुर, 2001 ई० ।

वाजपेयी, पुरुषोत्तमचन्द्र : कबीर और जायसी का मूल्यांकन, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, 1961

वाजपेयी, डॉ० नारायण प्रसाद : कबीर-चिन्तन, भावना प्रकाशन, दिल्ली, 1979

वार्ष्णेय, डॉ० लक्ष्मीसागर : हिन्दी साहित्य का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद ।

विवेकानन्द, स्वामी : भक्तियोग, अशोक प्रकाशन, लखनऊ, 1955 ई० ।

वंशी, डॉ० बलदेव : कहत कबीर कबीर, अनंग प्रकाशन, दिल्ली, 1996

वंशी, सं० डॉ० बलदेव : कबीर एक पुनर्मूल्यांकन, आधार प्रकाशन, पंचकूला (हरियाणा), 2006

शर्मा, कामेश्वर : बोध और व्याख्या, नोवेल्टी एण्ड कम्पनी, पटना,1962 ई० ।

शर्मा, डॉ० गजानन : भक्तिकालीन काव्य में नारी, रचना प्रकाशन, इलाहाबाद, 1972

शर्मा, डॉ० गिरिधरप्रसाद : मध्ययुगीन हिन्दी भक्तिकाव्य का विवेचन, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली, 1985 ई० ।

शर्मा, डॉ० गणेश दत्त : ऋग्वेद में दार्शनिक तत्त्व, विमल प्रकाशन गाजियाबाद, 1977

शर्मा, डॉ० तिलकराज : हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास, आर्य बुक डिपो, नई दिल्ली।

शर्मा, डॉ० बी० पी० : संत गुरु रविदास-वाणी, सूर्य प्रकाशन, दिल्ली, संवत् 2035

शर्मा, डॉ० बी० पी० : संत गुरु रविदास, सूर्य-प्रकाशन, दिल्ली ।

शर्मा, डॉ० मुंशीराम : भक्ति का विकास-चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, सं० 2015, ई० 1958

शर्मा, डॉ० मुंशीराम : भक्तितरंगिणी, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, 1959

शर्मा, यज्ञदत्त : कबीर साहित्य और सिद्धान्त, अक्षरम् सोनीपत (हरियाणा), 1990

शर्मा, सं० रामकिशोर : कबीर ग्रंथावली (सटीक), लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2005

शर्मा, डॉ० वेंकट : भक्तिकाव्य का अंतर्दर्शन, पल्लव प्रकाशन, दिल्ली।

शर्मा, वेणीमाधव : हमारा हिन्दी साहित्य, नन्दकिशोर एण्ड ब्रदर्स, काशी, 1948

शर्मा, डॉ० शिवकुमार : हिन्दी साहित्य युग और प्रवृत्तियाँ, अशोक प्रकाशन, दिल्ली, 1998

शर्मा, डॉ० सरनाम सिंह : कबीर: एक विवेचन, हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली, जून, 1960

शर्मा, सरनाम सिंह : कबीर विमर्श, उषा-बुक एजेंसी, जयपुर ।

शर्मा, डॉ० सरनाम सिंह : कबीर व्यक्तित्व, कृतित्त्व एवं सिद्धान्त, भारतीय शोध-संस्थान, गुलाबपुरा राज-1, 1969

शर्मा, डॉ० सरनाम सिंह : भक्ति दर्शन, कृष्णा ब्रदर्स, अजमेर, 1957

शर्मा, सं० प्रो० श्रीमती सन्तोष कुमारी : सौम्य सन्त गुरु रविदास, पब्लिकेशन ब्यूरो पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़, 2004

शर्मा, डॉ० सुमन : मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलन का सामाजिक विवेचन, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1974 ई० ।

शर्मा, डॉ० हरवंशलाल : मध्यकालीन निर्गुण-भक्ति साधना, मंगल प्रकाशन, दिल्ली, 1960 ई० ।

शास्त्री, आचार्य चन्द्रशेखर : संत रविदास, त्रिमूर्ति प्रकाशन, दिल्ली, 2004

शास्त्री, स्वामी रामानन्द : संत रविदास और उनका काव्य, श्री भारतीय रविदास सेवा संघ, हरिद्वार, प्रथम संस्करण ।

शास्त्री, डॉ० बी० पी० शर्मा : संत रविदास की भक्ति साधना, विश्वभारती प्रकाशन, चण्डीगढ़, संवत् 2037

शास्त्री, भागीरथ : हिन्दी साहित्य-तरंगिणी, दिल्ली, 1949

शास्त्री, पं० परमानन्द : शान्ति और क्रान्ति के कवि, सूरी ब्रदर्स, लाहौर, 1940

शिवांगी, उषा : भारत के भक्तिकालीन संत, स्नेह साहित्य सदन, दिल्ली, 2004

शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र : चिन्तामणी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1985

शुक्ल, डॉ० सावित्री : संत-साहित्य की सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, विश्वविद्यालय हिन्दी प्रकाशन, लखनऊ विश्वविद्यालय, अगस्त 1963

शुक्ल, श्याम सुन्दर : हिन्दी काव्य की निर्गुण धारा में भक्ति, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी ।

शुक्ल, डॉ० प्रेमनारायण : संत साहित्य, ग्रन्थम, कानपुर, 1965 ई०।

शुक्ल, रामबहोरी : हिन्दी साहित्य का उद्‌भव और विकास, हिन्दी भवन, जालन्धर और इलाहाबाद, 1958 ई०।

शुक्ल, श्री कृष्णलाल : आलोचना-समुच्चय, हिन्दी भवन, लाहौर।

शुक्ल, रामचंद्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ।

'शोभा', डॉ० सावित्री चन्द्र : समाज़ और संस्कृति, नेशनल पब्लिशिंग हास, नई दिल्ली, 1976

श्यामसुंदरदास, सं० : कबीर ग्रंथावली, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, सं० 2016

श्यामसुंदरदास : हिन्दी साहित्य, इंडियन प्रेस, प्रयाग, 1987 ई० ।

सकसेना, श्री शंभुदयाल : काव्यालोचन, अर्चना-मंदिर, लाहौर ।

सरस्वती, महर्षि दयानन्द : ऋग्वेद भाषा भाष्य, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि-सभा, नई दिल्ली ।

सहगल, डॉ० मननोहन : संत-काव्य का दार्शनिक विश्लेषण, भारतेन्दु भवन, चण्डीगढ़, 1965

'सहायक', डॉ० रामजीलाल : कबीर-दर्शन, हिन्दी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, 1962

सिंह, कृष्णकुमार : संत काव्य के विकास में वर्ण, जाति और वर्ग की भूमिका, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, 1989 ई० ।

सिंह, सं० गोपेश्वर : भक्ति आंदोलन के सामाजिक आधार, भारतीय प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2002

सिंह, डॉ० पदम गुरचरन : संत रविदास विचारक और कवि, नव-चिन्तन प्रकाशन, जालन्धर, 1977 ई० ।

सिंह, डॉ० योगेन्द्र : संत रैदास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1998

सिंह, डॉ० पुष्पपाल : कबीर ग्रन्थावली (सटीक), नमन प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004

सिंह, डॉ० महीप : आदिग्रन्थ में संगृहीत सन्त कवि, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2003

सिंह, योगेन्द्र प्रताप : कबीर की कविता, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2001

सिंह, डॉ० राजदेव : संतों का भक्तियोग, हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी, 1968 ई० ।

सिंह, सं० डॉ० शुकदेव : रैदास बानी, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 2003

सिंह, डॉ० राजदेव : संत साहित्य की भूमिका, आर्य बुक डिपो, नई दिल्ली, 1974 ई० ।

सिंह, डॉ० रामेश्वर प्रसाद : संत-काव्य में योग का स्वरूप, अनुपम प्रकाशन, 1977 ई० ।

सिंह, उदयभानु : तुलसी-दर्शन-मीमांसा, विश्वविद्यालय, लखनऊ, सं० 2038

सिंह, डॉ० शोभनाथ : भक्तिकाल में रीतिकाव्य की प्रवृत्तियाँ और सेनापति, आदर्श साहित्य प्रकाशन, दिल्ली, अक्टूबर, 1972

सिंह, प्रो० वासुदेव : हिन्दी संत-काव्य समाजशास्त्रीय अध्ययन, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2001 ई० ।

सिंह, नामवर : इतिहास और आलोचना, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1978

सिंह, डॉ० जयदेव : कबीर वाणी पीयूष, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1985 ई० ।

सिंह, मोती : निर्गुण साहित्य सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, संवत् 2019 वि० ।

सिंहल, डॉ० धर्मपाल : गुरु रविदास का जीवन-दर्शन, सूचना एवं लोक सम्पर्क विभाग, पंजाब, चण्डीगढ़, जनवरी 1994

सिंहल, डॉ० धर्मपाल : गुरु रविदास जीवन एवं दर्शन, पब्लिकेशन ब्यूरो पंजाब यूनिवर्सिटी, चण्डीगढ़, 1993

सिंहल, सं० डॉ० धर्मपाल : गुरु रविदास: जीवन और रचना, सूचना एवं लोक सम्पर्क विभाग, पंजाब चण्डीगढ़, फरवरी 1992

सूरती, उर्वशी : कबीर जीवन और दर्शन, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2004

सेन, आचार्य चतुर : हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास, गौतम बुक डिपो, देहली, सन् 1949 ईस्वी ।

स्नातक, सं० डॉ० विजयेन्द्र : कबीर वचनामृत, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, 1986

स्नातक, सं० विजयेन्द्र : कबीर, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1965

सिंघ, टीकाकार सोढी तेजा : सलोक भगत कबीर जी सटीक, भाई चतर सिंघ जीवन सिंघ, बज़ार माई सेवा, अमृतसर, जून 1994

हंस, डॉ० कृष्णलाल : हिन्दी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास, ग्रन्थम, कानपुर, 1974

हरिमोहन, डॉ० : हिन्दी निबन्ध के आधार स्तम्भ, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली, 1988

त्रिगुणायत, डॉ० गोविन्द : कबीर की विचारधारा, साहित्य-निकेतन, कानपुर, सं० 2009

त्रिगुणायत, डॉ० गोविन्द : कबीर और जायसी का रहस्यवाद तुलनात्मक विवेचन, साहित्य सदन, देहरादून ।

त्रिगुणायत, गोविन्द : हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि, साहित्य निकेतन, कानपुर, 1961 ई० ।

त्रिपाठी, ओम प्रकाश : संत साहित्य और लोकमंगल, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1993

त्रिपाठी, सं० डॉ० ओम प्रकाश : भक्तिकाव्य के प्रमुख कवियों का पुनर्मूल्यांकन, विद्या प्रकाशन, कानपुर, 2004 ई० ।

त्रिपाठी, मन्जु : कबीर एवं उनके समसामयिक निर्गुण-संतों की भक्ति पद्धति एक तुलनात्मक विवेचन, नमन प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005

त्रिपाठी, शान्तिस्वरूप : शांकर अद्वैत वेदान्त का निर्गुण काव्य पर प्रभाव, रणजीत प्रिण्टर्स एण्ड पब्लिशर्स, दिल्ली ।

श्रीमद्भगवद्गीता : 'गुजराती' प्रिन्टिंग प्रेस, मुंबई ।

श्रीवास्तव, पुरुषोत्तमलाल : कबीर साहित्य का अध्ययन, साहित्य-रत्न माला कार्यालय, बनारस, संवत् 2008

श्रीवास्तव, डॉ० राधा मोहन : भारत की संत परम्परा, विभोर प्रकाशन, इलाहाबाद, 2000 ई० ।

पत्र – पत्रिकाएँ

कल्याण : (संपादक) हनुमान प्रसाद पोद्दार, गीताप्रेस, गोरखपुर, वर्ष 29 संख्या 4

चिन्तन सृजन : (सम्पादक) बी०बी० कुमार, आस्था भारती, दिल्ली, त्रैमासिक, वर्ष – 3, अंक – 2, अक्टूबर – दिसम्बर 2005

बौद्ध धर्म प्रचारक : (सम्पादक) रमेश सिद्धू, पंजाब बौद्ध महासभा, होशियारपुर पंजाब, वर्ष : 4, अंक – ii, जनवरी, 2006

साहित्य संदेश : भाग – 11, आगरा – अक्टूबर, 1949 अंक 4

साहित्य संदेश : भाग – 11, आगरा – जनवरी, 1950 अंक 7

हिन्दुस्तानी ज़बान : (प्रधान संपादक) डॉ० सुशीला गुप्ता, हिन्दुस्तानी प्रचार सभा, (त्रैमासिक – शोध – पत्रिका), वर्ष 37 जनवरी – मार्च 2005 अंक: एक

५५५१८२